॥ ओम् ॥

श्रीमहाकविभवभूतिप्रणीतम्

उत्तररामचरितम्

[सरल संस्कृत व्याख्या, हिन्दी अनुवाद, टिप्पणी, सर्वांगपूर्ण भूमिका आदि से सवलित]

व्याख्याकार

तारिणीश झा

व्याकरणवेदान्ताचार्य

प्रकाशक

रामनारायणलाल बेनीप्रसाद

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद-२

द्वितीय संशोधित संस्करण] १६६२ [मूल्य ४.५० रुपये

प्रकाशक
. रामनारायणलाल बेनीप्रसाद
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
इलाहाबाद-२

३ म १२ ६२

मुद्रक •
आजाद प्रेस,
प्रयाग

विषय-सूची

पात्रों का परिचय

पुरुषपात्र

सूत्रधार—नाटक का प्रारम्भकर्ता, रंगमंच का अध्यक्ष।
नटः—सूत्रधार का सहयोगी।
रामः (रामभद्रः)—अयोध्यापति सूर्यवंशीय राजा।
लक्ष्मण—राम के छोटे भाई।
शत्रुघ्नः—लक्ष्मण के छोटे भाई।
जनकः—राम के श्वशुर।
अष्टावक्रः—एक मुनि।
वाल्मीकिः—रामायण के रचयिता।
सौधातकि—वाल्मीकि का शिष्य।
दण्डायनः—वाल्मीकि का शिष्य।
कुशलवौ—राम के पुत्र।
चन्द्रकेतु—लक्ष्मण-पुत्र।
सुमन्त्रः—सारथि।
विद्याधर—देवयोनिविशेष।
कञ्चुकी—अन्तःपुर में रहने वाला वृद्ध ब्राह्मण।
दुर्मुखः—गुप्तचर।
शम्बूकः—शूद्र तपस्वी।
मुनिकुमार और सैनिक आदि।

स्त्रीपात्र

सीता—राजा जनक की पुत्री, महाराज राम की पत्नी।
वासन्ती—वनदेवता, सीता की सखी।
आत्रेयी—एक ब्रह्मचारिणी।
तमसा—एक नदी की अधिष्ठात्री देवी।
मुरला—एक नदी की अधिष्ठात्री देवी।
भागीरथी—गंगाजी।
कौशल्या—राम की माता।
पृथिवी—सीता की माता।
अरुन्धती—वसिष्ठ मुनि की पत्नी।
विद्याधरी—विद्याधर की पत्नी।
प्रतीहारी—अन्तःपुर की द्वारपालिका।

भूमिका

१ नाटक (रूपक) की रचना

नाट्यशास्त्र की प्राचीनता

यद्यपि नाटक को पञ्चम वेद कह कर वेदों के बाद नाट्यशास्त्र के अस्तित्व और उसकी महती लोकप्रियता का निर्देश किया गया है, किन्तु यदि हम दूर तक सोचें तो पञ्चम वेद की प्रतिष्ठा के पहले भी नाटक लोक-जीवन का प्रमुख अंग था। लोक-जीवन में इसकी सर्वप्रियता देख कर ही नाट्यशास्त्र की छान-बीन और आविर्भाव की बात सोची गई। पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार उनके पहले नाट्यशास्त्र का स्वरूप निर्धारित हो चुका था। अष्टाध्यायी के सूत्रों में नाट्यशास्त्र के दो आचार्य शिलालिन् और कृशाश्व का उल्लेख मिलता है—'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। पा० ४, ३, ११०। कर्मन्दकृशाश्वादिनिः। पा० ४, ३, १११।' पश्चात् भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' नाम से नाटकरचना सम्बन्धी विशाल ग्रन्थ का निर्माण किया। इस ग्रंथ में नाटकसंबंधी सभी विवरणों और तथ्यों का उल्लेख एवं विवेचन उपात्त है। ऐसा मालूम पड़ता है कि भरतमुनि के पहले भी नाट्यशास्त्र के संबंध में बहुत-कुछ विवेचन हो चुका था। उन सब सामग्रियों को लेकर भरत ने एक सर्वांगपूर्ण ग्रंथ का निबन्धन किया। नाट्यशास्त्र के श्लोकों से इसका संकेत स्पष्ट होता है। एक श्लोक में ऋषियों ने भरतमुनि से पूछा है—

योऽयं भगवता सम्यग्ग्रथितो वेदसम्मितः।
नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य च कृते॥

[हे ब्रह्मन्! आपने जो यह वेद सम्मित (नवीन) नाट्यवेद (सूत्रों में) ग्रथित किया है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई और वह किसके लिए है?]

इससे स्पष्ट कहा गया है कि भरत ने नाट्य के सिद्धान्तों को सूत्रों में गूँथ अथवा निबद्ध किया।

यद्यपि हमें सबसे प्राचीन नाटक भास के ही उपलब्ध हुए हैं; किन्तु नाटकों के अभिनय की चर्चा वाल्मीकि-रामायण और महाभारत में भी मिलती है। वाल्मीकि-रामायण में अयोध्या को 'वधूनाटकसंघैश्च संयुक्ताम्' कहा गया है। महाभारत के हरिवंशपर्व में रामायण नाटक और कौवेररम्भाभिसार नाटक के अभिनय का उल्लेख मिलता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त पुराणों एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी नाटक और उसके अभिनय का प्रसंग आया है। इन तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाट्यशास्त्र बहुत ही प्राचीन है और इसका प्रणयन सर्वप्रथम भारतवर्ष में हुआ। भारत के बाद यूनान के नाट्य-शास्त्र की चर्चा की जा सकती है, जिसका प्रथम उल्लेख अरस्तू ने किया है। उसका समय ३८४—३२२ ई० पू० है।

नाट्यकला की उत्पत्ति

यह तो नाट्यशास्त्र के इतिहास की बात हुई। नाटक या अभिनय की कला का जन्म कैसे हुआ, इस पर भी विचार करना आवश्यक है। इस विषय पर भिन्न-भिन्न देशों में अपने अलग-अलग सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं। यूनानी आचार्यों के मत में नाटक की उत्पत्ति धर्मोत्सवों से हुई है। रोम में एक प्रकार के ग्राम्य खेल से नाटक का आविर्भाव स्वीकृत किया गया है। चीनी लोग नृत्य और गीत के संयोग से उसकी उत्पत्ति मानते हैं। लोक के मनोरंजन और भलाई के लिए नाटक का प्रादुर्भाव हुआ, यह जापानियों का मत है। इनके अतिरिक्त मलाया, जावा और सुमात्रा आदि सभी देश, जहाँ प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के प्रतीक पाए जाते हैं, इस विषय में भारतीय मत से प्रभावित हैं।

हमारे यहाँ कुछ लोग पुत्तलिका-नृत्य से नाटक की उत्पत्ति मानते हैं। कुछ ऋग्वेद के संवाद, कुछ इन्द्रध्वजोत्सव और कुछ कर्मकाड-सूक्त के द्वारा नाट्यकला का सूत्रपात स्वीकार करते हैं। परन्तु महामुनि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया है कि त्रेतायुग के प्रारंभ में देवों ने मनोरंजन की सामग्री के लिए ब्रह्मा से निवेदन किया। ब्रह्मा ने उनकी प्रार्थना पर नाट्य नामक पंचम वेद की सृष्टि की। इस नाट्यवेद की रचना चारों वेदों से भिन्न-भिन्न तथ्यों को लेकर हुई। उनमें ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गायन

यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लिया गया। सबसे अधिक सहायता ऋग्वेद से ली गई। क्योंकि उसमें निबद्ध वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियों के आख्यान, पुरूरवा, उर्वशी आदि के अपने कहे गये कथोपकथन तथा इन्द्र, मरुत्, सूर्य, उषस् आदि देवों की प्रार्थना में गाए गये गीत नाट्यकला के मूल तत्त्व स्वीकृत हुए। कथोपकथन अथवा संवाद नाटक का सबसे आवश्यक अंग है। वह केवल ऋग्वेद में ही नहीं, उपनिषदों एवं ब्राह्मण ग्रंथों में भी बड़े सुंदर रूप में पाया जाता है। भरतमुनि के उल्लेख का यह भी तात्पर्य है कि संवाद, संगीत, अभिनय और रस-निर्वाह—ये चार नाटक के मूल तत्त्व हैं। नाट्यशास्त्र के वे श्लोक इस प्रकार हैं—

> एवं संकल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
> नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्॥
> जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
> यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥
> वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
> एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मकम्॥

[इस प्रकार संकल्प करके भगवान् ब्रह्मा ने सभी वेदों का स्मरण करते हुए चारों वेदों के अंगों से आविर्भूत होने वाले नाट्यवेद की रचना की। उन्होंने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से शृंगार आदि रसों को लिया। फिर सुन्दरताओं से भरा हुआ, वेदों और उपवेदों से संबद्ध यह नाट्यवेद उनके द्वारा रचा गया।]

इस प्रकार सभी सिद्धान्तों का अनुशीलन कर लेने के बाद हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि शुरू-शुरू में सामाजिक मनोरंजन नाटक की उत्पत्ति का मूल हेतु था और उस समय उसका रूप ग्राम्य नाटक का रहा होगा। उस लोक-नाट्य को परिष्कृत करने के बाद मनोरंजन के माध्यम से लोक की भलाई और दुश्चिन्ताओं के निवारण के उद्देश्य से उसे समन्वित करके नाटक का शास्त्रीय रूप खड़ा किया गया। प्रारंभ में केवल अभिनय अथवा संगीत लोक-नाट्य के मुख्य तत्त्व रहे होंगे। शास्त्रीय रूप मिलने पर उसमें कथावस्तु का समावेश हुआ और संगीत, कथा तथा अभिनय के संयोग से नाटक का परिष्कृत रूप सामने आया, जिसने लोक के प्रेय और श्रेय दोनों का सम्पादन किया।

नाटक (रूपक) की परिभाषा

नाट्यकला के आविर्भाव की यह कहानी अपने मूल में अनेक प्रकार से सम्पादित की जा सकती है। लेकिन बहुत बाद में आचार्यों ने इसे काव्य का एक भेद स्वीकृत किया और नाटक लिखने वाले को नाटककार न कहकर संस्कृत साहित्य में कवि ही कहा गया। इस नाटक का नाम दृश्यकाव्य है और काव्य की भाँति रस यहाँ भी आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित है। इतिहास काव्य की तरह नाटक का भी उपजीव्य होता है। भरतमुनि ने कहा है—

नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।

[इतिहास के साथ मिला हुआ यह नाट्यसंज्ञक वेद मैं बनाता हूँ।]

फिर नाटक की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा—

अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्।

[अर्थात् किसी भी अवस्था का अनुकरण नाटक कहलाता है।]

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में काव्य के दो भेदों को बताते हुए दृश्यकाव्य (नाटक) की यही परिभाषा दी है—

दृश्यं तत्राभिनेयं, तद्रूपारोपात्तु रूपकम्।

[दृश्य काव्य (नाटक) अभिनय के लिए होता है। (उसमें नट लोग राम आदि का रूप धारण कर उनके चरित का अभिनय प्रदर्शित करते हैं। उस समय हम उनको राम आदि के रूप में ही मानते हैं।) इस रूप-आरोप के कारण इस काव्य रचना को रूपक कहते हैं।]

लोक-जीवन से पूर्ण इस विस्तृत विश्व के किसी भाग या अंग में जो कुछ हुआ है या संभव हो सकता है, उन घटनाओं का अभिनय या अनुकरण नाट्य कहलाता है। इस प्रकार सत्य और कल्पना दोनों नाट्य के आधार हैं—

प्रसिद्धकल्पितकृतानुकरणं नाट्यम्। (अभिनव नाट्यशास्त्र)

[सत्य और काल्पनिक जगत् की अनुकृति नाट्य है।]

दूसरे प्रकार से हमें यह कहना चाहिए कि यह दृश्य काव्य श्रव्य काव्य से भी अधिक सफल हुआ। इसे पढ़ कर और अभिनय देख कर भी आनंद लिया जा सकता है। यह अभिनेय काव्य जगत् की विभिन्न मानव-प्रवृत्तियों ए

ज्ञान, विज्ञान, कला आदि को मनोरञ्जक रूप में उपस्थित करके सभी को प्रभावित करता है। इसलिए भरतमुनि ने कहा है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते ॥

नाट्यशास्त्र १—११३

साहित्यदर्पणकार ने अभिनय के चार प्रकार बताये हैं—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः।
आंगिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥

[अवस्था का अनुकरण ही अभिनय है और वह चार प्रकार से होता है—आंगिक (अंगों से), वाचिक (वाणी द्वारा), आहार्य (वेश-भूषा की बनावट से) और सात्त्विक (रस, भाव के प्रदर्शन से)।]

नाटक और अभिनय

इस अभिनय का नाटक में बहुत बड़ा महत्त्व है। या यों कहना चाहिए कि नाटक अभिनय की ही वस्तु है। काव्य, उपन्यास आदि से केवल पढ़े-लिखे लोग ही आनन्द ले सकते हैं, परन्तु नाटक का अभिनय होने से पढ़े-अनपढ़े सभी समान आनन्द और लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए नाटक से जन-रुचि का जितना परिष्कार संभव है, उतना काव्य आदि द्वारा नहीं। अत. अभिनय से ही नाटक को सजीव किया जाता है। रंगशाला में कुशल अभिनेता अपने नृत्य, गीत अथवा कथोपकथन के माध्यम से शारीरिक चेष्टाओं और स्वरों का नितान्त स्वाभाविक प्रयोग करके दर्शकों को आत्म-विभोर कर देता है। उसके अभिनय को ध्यान में रख कर रस, संवाद अथवा गीति के माध्यम से कथावस्तु का सफल विन्यास करना नाटककार का कौशल है।

नाटक के अभिनय में सार्वजनिक मनोरंजन की यह उपस्थिति देखकर ही महाकवि कालिदास ने *मालविकाग्निमित्र* में कहा है—

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

[मुनियों ने कहा है कि नाटक तो देवताओं की आँखों को शान्ति प्रदान करनेवाला सुहावना यज्ञ है। भगवान् शंकर ने भी पार्वती के साथ विवाह करके नाटक को अपने शरीर में ताण्डव और लास्य दो भागों में बाँट लिया है। नाटक में सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से युक्त और अनेक रसों से पूर्ण लोक-जीवन के चरित्र दिखाई पड़ते हैं। इसलिए अलग-अलग रुचि रखने वाले लोगों के लिए नाटक ही एक ऐसा उत्सव है जिसमें सभी एक समान आनन्द पा सकते हैं।]

सुखान्त और दुःखान्त नाटक

आँखों का सुहावना यज्ञ होने के कारण ही भारतीय नाटकों की परम्परा सुखान्त होने की है तथा हत्या, मारकाट आदि का प्रदर्शन रंगमंच पर नहीं किया जाता। इसके विपरीत पाश्चात्य नाटककार दुःखान्त नाटक लिखने में ही अपनी नाट्यकला का उत्कर्ष मानते हैं। प्रायः वे यथार्थवादी विचार को लेकर चलने वाले कवि हैं, जिनकी दृष्टि में मनुष्य का जीवन दुःखमय ही दिखाई देता है। अतः वे सत्य की रक्षा करने के लिए दुःखमय जीवन का वास्तविक रूप उपस्थित करते हैं। किन्तु ऐसा उद्देश्य रखने पर नाटक में जन-मनरंजन की कल्पना हमें नहीं करनी चाहिए। हो सकता है कि समाज में कुछ लोगों का मनोविनोद हत्या, मारपीट, युद्ध और कलह से ही होता है, लेकिन यह सिद्धान्त सार्वजनिक या सार्वत्रिक नहीं हो सकता है। दुःखान्त नाटकों में जब प्रधान नायक की हत्या या न्याय पर चलने वाले लोगों की मारपीट द्वारा कथा दिखाई जाती है तब दर्शकों की आस्था सत्य और न्याय से डिगने लगती है। कहते हैं कि एक बार ऐसे ही एक दुःखान्त नाटक के अभिनय में एक करुणाजनक दृश्य देखकर एक महिला जोर-जोर से रोने लगी और नाटक का अभिनय विरस हो गया। एक बार एक नाटक में प्रतिनायक एक बालक को बेंत से पीटने का अभिनय कर रहा था और बालक भी बड़ी कुशलता के साथ चोट से पीड़ित होकर चिल्ला रहा था। यह करुणाजनक दृश्य देखकर एक दर्शक अपने को न सँभाल सका और उसने जूता खींच कर प्रतिनायक को मार दिया।

नाटकों के अभिनय द्वारा हमारे यहाँ जन-रुचि के परिष्कार और उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा के साथ मनोरंजन का विधान किया जाता है और हमारी

साहित्य-परम्परा सुखान्त नाटक लिखने की ही प्रणाली है। भरतमुनि ने कहा है—

सुश्लिष्टं सन्धियोग च सुप्रयोग सुखाश्रयम्।
मृदुशब्दाभिधान च कविः कुर्यात्तु नाटकम्॥

[कवि को ऐसा नाटक लिखना चाहिए जिसकी सब संधियों का जोड़ ठीक हो, जिसके अभिनय करने मे सरलता हो, जिसका विषय सुखात्मक हो और जिसमें कोमल शब्दों का प्रयोग किया गया हो।]

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त आचार्य नन्दिकेश्वर का अभिनय-दर्पण, धनञ्जय का दशरूपक, शारदातनय का भावप्रकाश और विश्वनाथ का साहित्यदर्पण नाट्यशास्त्र के अन्य ग्रंथ हैं, जिनमें नाटक के संबंध में विस्तृत सामग्री और सिद्धान्तों की परिभाषा के साथ अपने समय के हुए नाटककारों की रचनाओं के उदाहरण स्पष्टीकरण के लिए दिये गये हैं।

नाटक (रूपक) के भेद

नाटक (रूपक) के मुख्य दस भेद होते हैं—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः।
ईहामृगाङ्कवीथ्य. प्रहसनमिति रूपकाणि दश॥

(सा० दर्पण ६—३)

[नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अंक, वीथी और प्रहसन ये दस रूपक हैं।]

इन दसों के लक्षण, कथावस्तु आदि में प्राय मिन्नता रहती है। नाटक की कथावस्तु कोई प्रसिद्ध पौराणिक या ऐतिहासिक होती है और उसका नायक लोक-प्रसिद्ध होता है। रूपक की अधिकांश रचनायें इसी भेद का लक्षण लेकर लिखी गई है। प्रकरण का कथावस्तु काल्पनिक होती है। प्रायः नाटक और प्रकरण इन दो भेदों की रचनायें ही अधिक प्रचलित हैं। अन्य भेदों के लक्षण इन्हीं से मिलते-जुलते हुए होते हैं। भाण और प्रहसन व्यंग और हास्य प्रधान होते हैं। इनमें समाज के पाखण्डियों और वैदिक धर्म के न मानने वाले नास्तिक-धर्मावलंबियों की संस्कृत-कवियों ने बड़ी हँसी उड़ाई है। व्यायोग एक अंक का होता है। ईहामृग चार अंक और तीन संधियों का होता है। वीथी का कथानक भी भाण के समान होता है। इसमें शृंगार रस और कैशिकी वृत्ति प्रधान

होती है। पात्र एक दो ही रहते हैं। अङ्क में युद्ध का वर्णन रहता है। करुण रस की प्रधानता होती है। कथा इतिहास या पुराण से ली जाती है। डिम और समवकार के उदाहरण रूप में क्रमशः त्रिपुरदाह और समुद्र मथन संस्कृत में आदर्श माने जाते हैं। इन रूपकों के अतिरिक्त १८ उपरूपक होते हैं। इनमें से अधिकांश एक अङ्क के होते हैं। सभी लक्षणों को लेकर संस्कृत में रचनायें की गई हैं। हमें इस विषय की विशेष जानकारी के लिए ऊपर निर्दिष्ट किये गये संस्कृत के लक्षणग्रन्थों को देखना चाहिए।

नाटक के प्रमुख तत्त्व

नाटक की सफलता के लिए उसके तीन प्रमुख तत्त्व—कथावस्तु, नायक और रस का भली भांति निर्वाह कवि को करना चाहिए। यद्यपि ये तीनों बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु उत्तरोत्तर इनका महत्त्व अधिक होता है। लेकिन कथावस्तु का समुचित निर्वाह नायक और रस के निर्वाह को स्वतः सिद्ध कर देता है। इसलिए प्रायः कथावस्तु की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। काव्य के नव रसों में से शान्त रस को छोड़ कर आठ रस नाटक में व्यवहृत होते हैं। वीर या शृंगार रस प्रायः नाटक के प्रधान रस होते हैं। धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त ये चार नाटक के भेद बताये गये हैं।

कथावस्तु

कथावस्तु का विन्यास नाटक का मूलतत्त्व है। यह जितना स्वच्छ और नाटकोपयोगी होगा उतना ही अधिक नाटक प्रभावशाली होगा। उपादेयता की दृष्टि से कथावस्तु दो तरह से विभक्त होती है—मुख्य कथावस्तु और उसकी अङ्गभूत कथावस्तु, जिससे मुख्य कथा के विकास में सहायता मिलती है। दोनों को क्रमशः आधिकारिक और प्रासङ्गिक कथावस्तु कहते हैं—

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते।
आधिकारिकमेकं स्यात् प्रासङ्गिकमथापरम्॥
अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते॥
अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते।

सा० दर्पण ६, ४२—४३

प्रासङ्गिक कथावस्तु दो तरह की होती है—एक वह जो मुख्य कथावस्तु के साथ दूर तक चलती रहती है और दूसरी वह जो स्थान-विशेष पर ही मुख्य कथावस्तु की सहायक होती है। दोनों को पारिभाषिक शब्दों में क्रमशः पताका और प्रकरी कहते हैं।

प्रकार या प्रकृति की दृष्टि से भी कथावस्तु रूपक में तीन तरह की होती है—(१) इतिहास आदि पर अवलम्बित प्रख्यात कथावस्तु; प्रायः 'नाटक' की कथावस्तु ऐसी ही होती है। (२) कवि द्वारा कल्पित उत्पाद्य कथावस्तु; जैसी कि 'प्रकरण' में होता है। (३) इतिहास के अंश और कविकल्पना दोनों से मिश्रित मिश्रकथावस्तु, रूपक के अनेक भेदों में ऐसी ही कथावस्तु होती है।

रंगमंच पर प्रदर्शन की दृष्टि से कथावस्तु के दो भेद हैं—(१) अभिनेय-व वस्तुएँ, जिनका अभिनय रंगमंच पर घटना और संवाद के रूप में किया जाता है। (२) सूच्य—वे वस्तुएँ, जिनका रंगमंच पर प्रदर्शन न होकर केवल पात्रों के संवाद के माध्यम से सूचना दे दी जाती है। ऐसी सूच्य वस्तुओं की सूचना के लिए शास्त्रीय दृष्टि से पाँच प्रकार की व्यवस्था है जिससे रूपक की स्वाभाविकता बनी रहती है और वह नीरस नहीं होने पाता। इस व्यवस्था या उपाय को अर्थोपक्षेपक कहते हैं—(१) बीती हुई और आने वाली घटनाओं की सूचना मध्यम श्रेणी के पात्रों द्वारा दिये जाने को विष्कम्भक कहते हैं। किन्तु जहाँ विष्कम्भक में एक या दो मध्यम कोटि के पात्र आते हैं, उसे शुद्धविष्कम्भक कहते हैं और जहां उसमें नीच एवं मध्यम दोनों कोटि के पात्र आते हैं, उसे मिश्रविष्कम्भक कहते हैं। विष्कम्भक में संस्कृत भाषा का ही प्रयोग होता है। (२) ऊपर कही हुई घटनाओं की सूचना जब निम्न श्रेणी के पात्रों द्वारा दी जाती है तब उसे प्रवेशक कहते हैं। यहाँ प्राकृत भाषा का प्रयोग होता है। (३) पर्दे के पीछे बैठे हुए पात्रों द्वारा कथा की सूचना देने को चूलिका कहते हैं। (४) अंक की समाप्ति पर निष्क्रान्त होने वाले पात्रों द्वारा अगले अंक की कथा की सूचना अंकास्य है। (५) अंक समाप्त होने के पहले ही आगामी अंक की कथा प्रारंभ कर देने से अंकावतार अर्थोपक्षेपक होता है।

रंगमंच पर कथोपकथन में पात्र भी कथावस्तु को तीन तरह से व्यवहार में

लाते हैं—(१) जो बात सब के सामने कही जाय, उसे सर्वश्राव्य या प्रकाश कहते हैं। प्राय अनेक रूपकों के सर्वांश में ऐसी ही कथावस्तु होती है। (२) जो दूसरे पात्रों के सुनने योग्य न होकर केवल अपने ही सुनने योग्य हो और उसे वह पात्र अपने मन के लिए ही कहे, वह स्वगत—या अश्राव्य—है। भाण और प्रहसन में प्राय ऐसी कथावस्तु होती है। (३) जो केवल कुछ पात्रों के सामने कही जा सके, वह नियतश्राव्य है। नियतश्राव्य में ही जब दो पात्र हाथ की ओट करके बात करते हैं तो उसे जनान्तिक, जब कोई पात्र मुँह फेर कर दूसरे पात्र की गुप्त बात कहता है तो उसे अपवारित और जब आकाश की ओर देख कर किसी से बातचीत करने का अभिनय करते हुए कोई अपने आप प्रश्न और उत्तर दोनों कहता चला जाता है तो उसे आकाशभाषित कहते हैं।

मुख्य घटनायें या कथायें प्राय अंकों के अन्तराल में आती हैं। कथावस्तु के विभाग के अनुसार रूपक अंकों में विभक्त होता है। अंक का अर्थ होता है एक काल की निरन्तर चलने वाली कथा का विभाग। प्राय पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान द्वारा इस कथा विभाग के प्रसंग में नवीनता होती रहती है।

अर्थ प्रकृति, अवस्था और संधियाँ

रूपक की कथावस्तु प्राय मानव जीवन के किसी तथ्य की अभिव्यक्ति लेकर पल्लवित होती है। रूपक में इस तथ्य का विकास कथावस्तु की अर्थ प्रकृति बन जाता है अर्थात् इस तथ्य को अर्थ (मुख्य प्रयोजन) कहते हैं। इस अर्थ के विकास में कार्यक्रम या व्यापार की जो शृंखला होती है, उस अवस्था और इस अवस्था के संयोग से अर्थ प्रकृति के रूप में विस्तृत कथानक को जो पाँच अंशों में विभक्त रहता है, आपस में परस्पर सम्बद्ध करने को संधि कहते हैं। इस प्रकार अर्थ प्रकृति, अवस्था और संधि के पाँच पाँच भेद होते हैं, जो नीचे दिये जा रहे हैं। इनमें रूपक की कथावस्तु पूर्ण विस्तृत, नियमित और रमणीय बन जाती है।

अर्थ-प्रकृतियाँ—

१ बीज—मुख्य फल का कारणभूत कथाभाग, जिसका पहले बहुत संक्षेप में कथन किया जाता है और आगे वह क्रमश विस्तृत होता जाता है।

२. बिन्दु—कारण बनकर आने वाली वह बात बिन्दु कहलाती है, जिससे समाप्त होने वाली अवान्तर कथा आगे बढ़ती है और प्रधान कथा अविच्छिन्न बनी रहती है।

३. पताका—इसका परिचय पहले दिया जा चुका है। वह प्रासङ्गिक कथावस्तु, जो दूर तक नाटक में चलती रहे। इसका फल भी प्रायः वही होता है, जो प्रधान कथा का होता है। जैसे—बालरामायण में सुग्रीव की कथा और उनकी राज्य-प्राप्ति।

४ प्रकरी—इसका भी परिचय पहले दिया जा चुका है। प्रासङ्गिक कथा-वस्तु के छोटे-छोटे वृत्तों को प्रकरी कहते हैं।

५ कार्य—कार्य का अर्थ फल है। जिस फल की प्राप्ति के लिए यत्न किया जाता है और जो साध्य होता है, वह कार्य है। इसी को अंतिम लक्ष्य या मुख्य प्रयोजन कहते हैं।

अवस्थायें—

१. आरम्भ—जहाँ कार्य के आरम्भ की सूचना मिले। कार्य की सिद्धि के लिए नायक में जो उत्सुकता होती है, उसे आरम्भ कहते हैं।

२ प्रयत्न—कार्य को सिद्ध होता न देखकर उसके लिए शीघ्रता के साथ उपाय करना।

३ प्राप्त्याशा—उपाय और विघ्न दोनों के बीच की अवस्था, जब दोनों की खींचातानी में फल-प्राप्ति का निश्चय न किया जा सके।

४ नियताप्ति—विघ्न के नष्ट हो जाने से जहाँ फल-प्राप्ति का पूर्ण निश्चय हो जाय।

५ फलागम—पूर्ण रूप से उद्देश्य की प्राप्ति।

सन्धियाँ—

१. मुख-सन्धि—'आरभ' नामक अवस्था और 'बीज' अर्थप्रकृति का जहाँ संयोग होता है, उसे मुख-संधि कहते हैं।

२. प्रतिमुख-सन्धि—रूपक के प्रधान फल का साधक कथानक जिसमें कभी गुप्त और कभी प्रकट होता दिखाई पड़े, वह प्रतिमुख-संधि है। यह संधि 'प्रयत्न' अवस्था और 'बिन्दु' अर्थप्रकृति की कार्य-शृंखला को आगे बढ़ाती है।

३. गर्भ सन्धि—इस संधि में प्रतिमुख-सन्धि का किंचित् आविर्भूत बीज बार बार प्रकट, गुप्त और अन्वेषित होता रहता है। यह संधि 'प्राप्त्याशा' अवस्था और 'पताका' अर्थप्रकृति के बीच की स्थिति होती है।

४. विमर्श (अवमर्श) सन्धि—वहाँ होता है जहाँ बीज के अधिक विस्तृत होने पर उसके फलान्मुख होने में विघ्न उपस्थित होते हैं। इसमें 'नियताप्ति' अवस्था और 'प्रकरी' अर्थप्रकृति होती है।

५. निर्वहण सन्धि—इसमें 'फलागम' अवस्था और 'कार्य' अर्थप्रकृति होती है। यह रूपक की समाप्ति के सन्निकट, जहाँ पूर्व की संधियों और अवस्थाओं के अर्थों का समाहार होता है, स्थित होती है।

रङ्गमञ्च

रंगमंच भी नाट्यशास्त्र का एक प्रमुख अंग है। वस्तु, नायक और रस के बाद संगीत, वाद्य, नृत्य तथा फिर रङ्गमंच का ही क्रम आता है। भरतमुनि ने रङ्गमंच के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत विवेचन किया है। इसके तीन प्रकार बताए गए हैं—

१. विकृष्ट रङ्गमंच जो १०८ हाथ लम्बा होता है। २. चतुरस्र अर्थात् चौकोर रङ्गमंच जो ६४ हाथ लम्बा और उसका आधा ३२ हाथ चौड़ा होता है। ३. त्र्यस्र अथवा त्रिकोण रङ्गमंच जिसमें पास, आस के लोग ही बैठ कर अभिनय देखते थे। रङ्गमंच की बनावट आदि के सम्बन्ध में भी बहुत से निर्देश दिये गये हैं, जिनमें अभिनय में होने वाले संगीत आदि की ध्वनि अधिक गूँजकर सुनाई पड़े। प्रायः आधे भाग में रङ्गमंच होता था और आधे भाग में दर्शकों के बैठने का स्थान। रंगमंच का पिछला भाग रंगशीर्ष कहलाता था। उसके पृष्ठ में नेपथ्य होता था, जहाँ पात्र अपनी वेशभूषा आदि ठीक करते थे।

कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय नाट्यकला पर यूनानी नाट्यकला का प्रभाव पड़ा है। लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए कि जिस समय यूनान में खुले मैदान में रङ्गमंच स्थापित किये जाते थे, हमारे यहाँ रङ्गमंच की व्यवस्था सुनिश्चित थी और नाट्यकला का विकास बहुत ऊँचाई पर पहुँच चुका था। प्रथम शताब्दी ईसवीय से पूर्व हुए कालिदास के पहले भी भास, सौमिल्लक जैसे अनेक नाटककार संस्कृत साहित्य में हो चुके थे, जिनकी कृतियाँ आज

लुप्त हो गई हैं। इधर परदे के लिए 'यवनिका' शब्द का प्रयोग यूनान और यवन शब्द की ओर सकेत कर लोगों को भारतीय नाट्यकला पर यूनानी नाट्य-कला का प्रभाव आभलक्षित कर रहा था। किन्तु 'यवनिका' शब्द ही भ्रान्ति से लिखा जाने लगा। भारतीय नाट्यशास्त्र का शब्द तो 'जवनिका' है, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है—'जूयते आच्छाद्यते यया यस्या वा सा जवनिका, जु+ल्युट्—अन+ङीप्+कन्—टाप्, ह्रस्व'। जु धातु का अर्थ वेग से चलना भी होता है। तदनुसार 'जवनिका' का अर्थ है—जिसके भीतर लोग दौड़ कर जल्दी से छिप जायें। अथवा अभिनय में परदे वेग से गिराये और उठाये जाते थे, जिनके लिए 'जवनिका' शब्द का प्रयोग होता था। बात केवल 'यवनिका' और 'जवनिका' की ही नहीं है, अपितु ऐतिहासिक प्रमाण और यहाँ-वहाँ की नाटकीय प्रवृत्तियाँ सभी यह सिद्ध करते हैं कि भारतीय नाट्यकला के विकास में कोई भी यूनानी प्रभाव नहीं पड़ा है। हमारे यहाँ के नाटकों की प्रवृत्ति आनन्द, विनोद, शान्ति तथा उपदेश मूलक है और वहाँ के नाटक इसके विपरीत मारकाट, हत्या, पीड़ा तथा दुःखान्त गाथाओं से भरे होते हैं। सिकन्दर ने भारत पर ३२७ ई० पू० आक्रमण किया था और लड़ते हुए वापस चला गया था। बाद में सिल्यूकस भी चन्द्रगुप्त से पराजित हुआ था। अतः भारत में यूनानी नाट्यकला के प्रश्रय मिलने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता, जब कि इसके बहुत पहले भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र' लिखा जा चुका था। पाणिनि की अष्टाध्यायी के कृशाश्व और शिलालिन् नाम के नाटकाचार्य भी हो चुके थे।

नाटक आदि शब्दों के शास्त्रीय लक्षण

१. नाटक—

> नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम्।
> विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः॥
> सुखदुःखसमुद्भूतनानारसनिरन्तरम्।
> पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः॥
> प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्।
> दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः॥

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः।
गोपुच्छाग्रसमग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्॥

नाटक उसे कहते हैं जिसका कथानक प्रसिद्ध हो और जिसमें मुख, प्रतिमुख आदि पाँचों संधियाँ हों। इसमें विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिए। सुख और दु:ख की उत्पत्ति दिखाई जाय और अनेक रसों से उसे पूर्ण होना चाहिए। नाटक में पाँच से लेकर दस तक अङ्क होते हैं। इसका नायक प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न धीरोदात्त, प्रतापी और गुणवान् राजर्षि होता है। वह दिव्य हो या दिव्य और अदिव्य दोनों प्रकार के गुणों से मिश्रित हो। शृंगार या वीर में से एक रस यहाँ मुख्य होता है और अन्य सब रस उसके अङ्गभूत रहते हैं। इसे निर्वहण संधि में अद्भुत बनाना चाहिए। इसमें चार या पाँच कार्य रत पुरुष प्रधान हों और गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान इसकी रचना हो।

२. अङ्क—

अङ्क इति रूढिशब्दो भावै रसैश्च रोहयत्यर्थान्।
नानाविधानयुक्तो यस्मात् तस्माद् भवेदङ्कः॥
यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः।
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदाऽवगन्तव्यः॥

जो भावों और रसों के द्वारा अर्थों को प्रस्फुरित करता है, जो अनेक प्रकार के विधानों से युक्त होता और जहाँ एक अर्थ की समाप्ति होती है तथा बीज का उपसंहार होता है पर अंशतः बिन्दु का सम्बन्ध बना रहता है, उसे 'अङ्क' कहते हैं।

३. गर्भाङ्क—

अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान्।
अङ्कोऽपरः सगर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि॥

जो अङ्क के बीच में ही प्रविष्ट हो, जिसमें रंगद्वार तथा आमुख आदि अंग हों और बीज एवं फल का स्पष्ट आभास होता हो, उसे गर्भाङ्क कहते हैं।

४. पूर्वरङ्ग—

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवा. प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ।।

नाटकीय कथा के प्रारभ स पूर्व रगमच के विघ्नो की शान्ति के लिए नतक या अभिनेता गण जो मगलाचरण आदि करत है, उसे पूर्वरग कहते हैं।

५. नान्दी—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ।।
मंगल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशाभरष्टाभिर्वा पदैरुत ।।

देवता, ब्राह्मण तथा राजा आदि का आशीर्वादयुक्त स्तुति इससे की जाती है अत इसे नान्दी कहते है। इसमे मागलिक वस्तु, शख, चद्र, चक्रवाक और कुमुद आदि का वर्णन होना चाहिए और यह बारह या आठ पदों से युक्त होना चाहिए।

६. सूत्रधार—

नाट्यस्य यदनुष्ठानं तत्सूत्रं स्यात् सबीजकम् ।
रङ्गदैवतपूजाकृत् सूत्रधार उदीरितः ।।

बीज सहित नाटक के अनुष्ठान को सूत्र कहते है। उसका धारण अर्थात् सचालन करने वाला तथा रगमच के अधिष्ठाता देव की पूजा करने वाला व्यक्ति सूत्रधार कहलाता है।

७. नेपथ्य—

कुशीलवकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते ।

जहाँ नर्तक या अभिनेतागण नाटकोपयोगी वेश-भूषा धारण करते है, उसे नेपथ्य कहते हैं।

८. आमुख या प्रस्तावना—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ।।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ।।

जहाँ नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक (सूत्रधार का सहायक नट) सूत्रधार के साथ अपने कार्य के विषय में विचित्र वाक्यों द्वारा इस प्रकार बातचीत करें, जिससे प्रस्तुत कथा की सूचना हो जाय, उसे आमुख कहते हैं और उसी का नाम प्रस्तावना भी है। 'भास ने प्रस्तावना' शब्द का प्रयोग किया है)।

९. कञ्चुकी—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते॥

अथवा

ये नित्यं सत्त्वसम्पन्नाः कामदोषविवर्जिताः।
ज्ञानविज्ञानकुशलाः काञ्चुकीयास्तु ते स्मृताः॥

कचुकी उसको कहते हैं, जो अंतःपुर में जाने वाला, वृद्ध, गुणी, ब्राह्मण तथा सब कार्यों के करने में कुशल होता है। अथवा, जो सदा सात्त्विक प्रकृति वाले पवित्र आचरण वाले और ज्ञान विज्ञान में प्रवीण होते हैं, उन्हें कचुकी कहते हैं।

१०. नायक—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान् नेता॥

जो त्यागी, विद्वान्, कुलीन, समृद्ध, युवा, उत्साही, चतुर, लोकप्रिय, तेजस्वी, निपुण एवं सुशील हो, वही नायक है अर्थात् नायक में ये गुण होने चाहिए।

(क) धीरोदात्त नायक—

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥

अपनी प्रशंसा स्वयं न करने वाले, क्षमावान्, अत्यंत गंभीर, महापराक्रमी, स्थिर, गर्व को छिपा कर रखने वाले और दृढ निश्चय वाले व्यक्ति को धीरोदात्त नायक कहते हैं। जैसे राम और युधिष्ठिर।

(ख) धीरोद्धत नायक—

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः॥

हते हैं।

मायावी, प्रचण्ड, चंचल, अतिगर्वी तथा स्वयं अपनी प्रशंसा करने वाले को धीर पुरुष धीरोद्धत नायक कहते हैं। जैसे भीमसेन, दुर्योधन आदि।

(ग) धीरललित नायक—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।

निश्चिन्त, कोमल और दिन रात नाच-गान में रत रहने वाला नायक धीरललित कहलाता है। जैसे रत्नावली में वत्सराज।

(घ) धीरप्रशान्त नायक—

सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्।

सामान्य गुणों से अत्यन्त युक्त ब्राह्मण या क्षत्रिय को धीरप्रशान्त नायक कहते हैं। जैसे मालतीमाधव में माधव।

११. नायिका—

नायकसामान्यगुणैर्युक्ता नायिका।

नायक में अपेक्षित गुणों से युक्त नायिका होती है।

२. भवभूति और उनकी कवि-कृति

क्रान्तिधर्मा कवि

संस्कृत के कवियों में भावप्रवणता और गाम्भीर्य की दृष्टि से महाकवि कालिदास के बाद महाकवि भवभूति का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। कुछ दृष्टियों से भवभूति कालिदास से भी ऊँचे हैं। इन्होंने केवल तीन नाटक लिखे हैं, जिनमें नाट्यकला की अपेक्षा कविकर्म बहुत उदात्त रूप में सामने आया है। प्राकृतिक वर्णनों में ये कालिदास की अपेक्षा अधिक आकृष्ट मालूम पड़ते हैं और इनका प्रकृति चित्रण कालिदास से ऊँचा, उद्दम एवं आदिकवि वाल्मीकि के समकक्ष है। इसके अतिरिक्त जीवन की यथार्थ स्थिति के सन्निकट जितने भवभूति हैं और दुःख एवं सुख के भाव का जितना अनुभव इस कवि को है, कालिदास को उससे कम है। ये ही कुछ ऐसी मोटी मोटी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण इस कवि की काव्य-वाणी संस्कृत साहित्य के अगाध-समुद्र-गर्जन के ऊपर अपने आकर्षण के साथ मुखरित हो रही है और संस्कृत-काव्य-वाणी के शृंगार विश्वकवि कालिदास की प्रतिस्पर्धा में भवभूति को भी बिठाया जाता है।

साथ ही संस्कृत के साहित्य ममज्ञों का इनकी ओर विशेष ध्यान देने का एक कारण और है। अब तक संस्कृत कवियों ने भगवान् राम और कृष्ण के चरित्र को लेकर एकमात्र मानवीय भावों का चित्रण परम्परा की मर्यादा के विपरीत समझा था। किन्तु भवभूति ने उस मर्यादा को तोड़ दिया। उनके 'महावीरचरित' और विशेष कर 'उत्तररामचरित' में भगवान् राम एक दिव्य चरित के रूप में नहीं आते। वे भावों की धारा में ऐसे ही बहे हैं जैसे सामान्य मानव प्राणी दुःख या वियोग की स्थितियों से आक्रान्त होकर अपने को स्वयं के वश में नहीं रख पाता। भवभूति ऐसे काव्य निबन्धन के कारण विद्वानों की दृष्टि में वाममार्गी साहित्यकार की तरह विशेष रूप से लक्ष्यीभूत हुए और समय बीतने पर, उनका नाम सभी की जबानों पर चाहे किसी भी रूप में हो, अधिक प्रचरित हुआ।

जन्म और निवास

भवभूति की जन्म भूमि मध्यदेश थी। जैसा कि उन्होंने अपने नाटक 'महावीरचरित' में उल्लेख किया है, वे दक्षिणापथ (विदर्भ प्रान्त) में पद्मपुर नगर के रहने वाले थे। इनके पितामह का नाम महाकवि भट्टगोपाल, पिता का नाम नीलकण्ठ, माता का नाम जतुकर्णी और स्वयं इनका नाम श्रीकण्ठ था। भवभूति नामकरण इनका बाद में या तो उपाधि रूप में प्राप्त हुआ या शिव का भक्त होने के कारण स्वयं रखा गया। जहाँ तक उपाधि रूप में ही प्राप्त हुआ, क्योंकि इनकी रचनाओं से इनके बहुत अधिक शिव भक्त होने का प्रमाण नहीं मिलता, जैसा कि कालिदास की रचनाओं में पद पद पर, आरम्भ में भी, समाप्ति में भी, उपमा और उत्प्रेक्षा में भी शिव-भक्ति की भावना ओत प्रोत पाई जाती है।

भवभूति का कुल विद्वानों की परम्परा से पूर्ण था। स्वयं उन्होंने अपने को पद वाक्य प्रमाणज्ञ कहा है और अपने पितामह को महाकवि, साथ ही उनका कुल परम श्रोत्रिय और पंक्तिपावन था। वे कृष्णयजुर्वेद की तैत्तरीय शाखा के अध्ययन करने वाले थे। उदुम्बर इनकी उपाधि थी। इन्होंने बड़े स्वाभिमान के साथ अपने कुल को पंचाग्नि-पवित्र, सोमपायी और ब्रह्मवादी कहा है। इनके पितामह ने वाजपेय यज्ञ भी किया था।

भवभूति का जन्म तो दक्षिणापथ में हुआ, किन्तु उनका कवि-जीवन कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मा के कन्नौज में बीता। यशोवर्मा के यहाँ प्राकृत भाषा के कवि वाक्पतिराज भी रहते थे। कश्मीर-नरेश ललितादित्य के साथ यशोवर्मा का युद्ध ऐतिहासिक विद्वानों के अनुसार 'विक्रमी संवत् ७६७ (७४० ई०) में हुआ था। ललितादित्य से यशोवर्मा पराजित हो गए और दोनों की सन्धि हो गई। कहते हैं, कश्मीर नरेश सन्धि के समय महाकवि भवभूति से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने भेंट रूप कोई राज्य या धन-राशि न माँग कर केवल इस महाकवि को ही आग्रह के साथ दरबार में रहने की प्रार्थना की। कश्मीर का इतिहास लिखने वाले कल्हण ने अपनी 'राजतरंगिणी' में इस युद्ध की चर्चा की है और यशोवर्मा की राजसभा में भवभूति और वाक्पतिराज के रहने का उल्लेख किया है—

कविर्वाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्॥[1]

यशोवर्मा स्वयं भी कवि थे। इनका समय वि० स० ७६० से ८१० तक है। अतः भवभूति का समय भी वि० स० ७६० से ८०० तक माना जाना चाहिए। जहाँ तक इनका सारा समय कान्यकुब्ज नरेश की राजसभा में ही बीता। लेकिन यह भी निश्चित है कि जीवन के प्रारंभ में भवभूति भटकते रहे। तब इन्हें कहीं इस राजसभा का आश्रय मिला। और उसके बाद ही उन्होंने नाटकों की रचना की।

भवभूति कन्नौज राजदरबार के आश्रित थे, इस सम्बन्ध में उनके एक उल्लेख से सदेह उत्पन्न किया जाता है। जैसा कि उनके नाटकों में सूत्रधार कहता है—उनके सभी नाटक कालप्रियानाथ के यात्रा-महोत्सव में अभिनीत हुए थे। प्रश्न यह है कि ये कालप्रियानाथ कौन थे। प्रायः इतिहासकार यह लिखते आये हैं कि उज्जैन के महाकाल ही कालप्रियानाथ हैं और उन्हीं के यात्रा-महोत्सव में ये नाटक खेले गए। लेकिन तब भवभूति को उज्जैन के

[1] वाक्पतिराज और भवभूति आदि कवियों से सेवित और स्वयं भी (कन्नौजनरेश) यशोवर्मा (कश्मीर-नरेश ललितादित्य) से पराजित होकर भाटों की भांति उनकी स्तुति करने लगा।

किसी राजदरबार में रहना चाहिए और उनका वहाँ किसी राजदरबार में रहना सिद्ध नहीं होता, तथा न ऐसे किसी राजा या सम्राट् का अस्तित्व उस समय वहाँ उज्जयिनी में पाया जाता है।

वस्तुतः 'कालप्रियानाथ' से भवभूति का अभिप्राय उज्जैन के महाकाल से नहीं है। इसका बड़ा सप्रमाण उल्लेख इधर पण्डित केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' के अनुवाद में किया है[1]। राजशेखर का जन्म भी उसी विदर्भप्रान्त में हुआ था, जहाँ भवभूति का। और राजशेखर भी कन्नौजनरेश महेन्द्रपाल एवं उनके पुत्र महीपाल की राजसभा में रहे। वस्तुतः इनका समय भवभूति के डेढ़ सौ वर्ष बाद आता है। इन्होंने 'काव्यमीमांसा' के कविरहस्य खंड के भौगोलिक देश विभाग के प्रसंग में 'कालप्रियानाथ' का उल्लेख किया है। यह उल्लेख कन्नौज की चौहद्दी बताने में हुआ है—

'अनियतत्वाद्दिशामनिश्चितो दिग्विभाग' इत्येके। तथाहि—यो वामनस्वामिनः पूर्वः स ब्रह्मशिलायाः पश्चिमो, यो गाधिपुरस्य दक्षिणः स कालप्रियस्योत्तर इति। 'अवधिनियमविदं रूपमितरस्त्वनियतमेव।' इति यायावरीयः।[2]

इस उल्लेख के अनुसार कालप्रिय, वामनस्वामी, गाधिपुर (कन्नौज) और ब्रह्मशिला—ये कन्नौज की चार सीमायें थीं। इनमें कालप्रिय कन्नौज के दक्षिण पड़ता था। वहीं कालप्रियानाथ (शंकर) की किसी मन्दिर में स्थापना हुई होगी, जिसकी प्रतिष्ठा उज्जैन के महाकाल मन्दिर की भाँति कान्यकुब्ज नरेश करते रहे होंगे और इसीलिये भवभूति के नाटकों का अभिनय कालप्रियानाथ के यात्रा महोत्सव में किया गया।

---

१ काव्यमीमांसा—प्रका० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना; पृष्ठ ३०२

२ कुछ लोगों का यह मत है कि दिशायें अनियत हैं इसलिए उनका विभाग भी अनिश्चित है। जैसे—जो देश वामनस्वामी से पूर्व है, वह ब्रह्मशिला के पश्चिम है। जो कन्नौज से दक्षिण है, वह कालप्रिय से उत्तर है। यायावरीय (राजशेखर) का इस विषय में यह उत्तर है कि ऊपर जो मैंने दिशाओं का विभाग किया है, वह एक स्थान को अवधि मान कर उदाहरण प्रदर्शन के लिए; वैसे तो दिशाओं का विभाग अनिश्चित ही है।

इस प्रकार महाकवि भवभूति के जन्म तथा निवास के सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट उल्लेख हमें मिल जाते हैं, और इस विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता।

कवि भवभूति

भवभूति का जन्म ऐसे प्रदेश में हुआ था, जो प्राकृतिक सौन्दर्यों से परिपूर्ण था। विदर्भ विन्ध्याचल की उपत्यका में बसा हुआ है। वैसे विन्ध्याचल पर्वत के शिखर पुरान हैं और वे हिमालयीय शिखरों की भाँति रञ्जक एवम् आकर्षक नहीं हैं, किन्तु दूसरी ओर पञ्चवटी, अमरकण्टक, रामगिरि, चित्रकूट जैसे जल और वनस्पतियों से परिपूर्ण परम रमणीय स्थान भी इस विन्ध्याचल की गोद में प्रकृति ने प्रदान किए हैं। जिनमें से कितने ही भगवान् राम के निवास से तीर्थ बन गए हैं। पञ्चवटी भवभूति क' जन्म-भूमि के पास ही है। इस प्रदेश की दुरंगी रमणीयता का प्रभाव भवभूति के मानस-पटल पर ज्येष्ठ और आषाढ़ की संधि की तरह पड़ा है। वैसे वे जन्मजात प्रकृति-प्रेमी हैं और उन्होंने प्रकृति के सुन्दर तथा भीषण इन दोनों रूपों का बड़ा ही मार्मिक चित्रण अपने नाटकों में किया है।

जन्मभूमि की इस प्राकृतिक विशेषता के अतिरिक्त भवभूति का जीवन भी प्रारंभ में सुख समृद्धि की दृष्टि से ऐसा ही दुरंगा रहा है। इन दोनों विशेषताओं के कारण भवभूति के हृदय पर करुण और ओज दोनों का समान असर है।

वाल्मीकि की भाँति वे एक ओर क्रौञ्ची के विरहगान से द्रवीभूत हैं और दूसरी ओर व्याध को शापाभिभूत करने के लिए उनकी वाणी में ओज भी भरा है। हृदय की इस भावधारा का असर उनके नाटकों पर पड़ा है, जिनमें करुण और वीर रस की बड़ी उत्कट अभिव्यक्ति हुई है। किन्तु वे करुण रस के बड़े समर्थक हैं और सभी रसों को करुण रस की ही विशेष स्थिति या भिन्न-भिन्न परिणाम मानते हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्।
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्॥
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा।
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्॥ (उत्तर० ३,४७)

इस तथ्य को यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कालिदास और भवभूति के नाटकों में कलात्मकता, भाषा और शैली में अन्तर पाया जाएगा। भवभूति के नाटकों में घटनाओं की विचित्रता तो है ही नहीं। एक ही घटना या कथानक को उन्होंने अपनी भवभूति से समृद्ध करने का कौशल दिखाया है। जहाँ व्यञ्जना द्वारा चुने हुए शब्दों में रस की अभिव्यक्ति कालिदास करते हैं, वहाँ भवभूति व्यञ्जना का सहारा न लेकर अभिधा के विस्तार में ही प्रवृत्त दिखाई देते हैं।

साथ ही कलात्मकता और घटना वैचित्र्य से दूर हट कर भवभूति ने जो भावप्रवणता को ही अपने नाटकों में अधिक प्रश्रय दिया है, उसके कारण और करुण रस के प्रति निष्ठा, मालतीमाधव में रंगमंच पर व्याघ्र के दर्शन तथा मांस विक्रय द्वारा नाटकीय विधान का उल्लंघन एवं प्रकृति के भाव विभोर कर देने वाले सूक्ष्मदर्शी विस्तृत वर्णन आदि कारणों से भी वे नाटक स्रष्टा की अपेक्षा कवि ही अधिक हैं और महाकवि हैं।

महाकवि की अपनी इस प्रतिभा का उपयोग उन्होंने जो किसी महाकाव्य या गीतिकाव्य की रचना में न करके केवल नाटकों की रचना में किया, उसका कारण उस समय के संस्कृत कवियों की परम्परा की अव्यवस्था थी। प्रायः अच्छी कवि प्रतिभा रखने वाले संस्कृत कवियों ने उस युग में अपनी शक्ति का उपयोग नाटकों के प्रणयन में ही किया अथवा प्राकृत काव्यों के लिखने में। राजशेखर, भट्टनारायण और वाक्पतिराज इसके प्रमाण हैं। काव्यपरम्परा की आन्तरिक अव्यवस्था का रहस्य यह था कि काव्यों से भावाभिव्यक्ति का निष्कासन करके वहाँ अतिशयोक्तिमूलक या श्लेषमूलक अलंकारों में कोरी कल्पना की उड़ान भरी जाने लगी। अथवा अनेक शास्त्रों की जानकारी के प्रदर्शन के चक्र सीधे सादे काव्यों में वर्णित किए जाने लगे। भारवि, माघ से लेकर श्रीहर्ष तक के काव्य जो कि अलंकारों की छटा और पाण्डित्य प्रदर्शन से भरे पड़े हैं, इस परम्परा का ठीक ठीक रहस्य उद्घाटन करते हैं। फलतः हमें इस निर्णय को स्वीकार करना पड़ता है कि महाकवि भवभूति को काव्य परम्परा की अव्यवस्था के कारण काव्य प्रणयन से हटकर नाटक-स्रष्टा बनना पड़ा, क्योंकि वे भावप्रवण, सहृदय, साहित्य-स्रष्टा थे। नाटकों की रचना-कला कुछ ऐसी है कि उससे भाव और रस का प्रभाव हटाना बड़ा

कठिन है। जब पात्र संवाद करते हुए आमने-सामने आ जाते हैं तब उनमें परिस्थिति के अनुसार यदि बहुत कुछ उपेक्षा की जाय तो भी भाव-कणों के छींटे प्रसंग पर पड़ ही जाते हैं। आज हिन्दी-साहित्य में भी कविता के क्षेत्र में तो भाव और रस समाप्त कर दिए गए हैं, किन्तु नाटकों में उनका समादर बना हुआ है।

भवभूति की कृतियाँ

भवभूति की केवल तीन कृतियाँ प्राप्त हुई हैं और तीनों ही रूपक (नाटक) हैं। रचना के काल-क्रम के अनुसार उनका विवरण यों है—

(१) महावीरचरित—यह भवभूति का प्रथम नाटक है। इसमें भगवान् राम का चरित प्रारंभ से लेकर लंका-विजय और अयोध्या प्रत्यागमन तक वर्णित है। यह नाटक वीर रस प्रधान है और इसमें राम का चरित अत्यन्त ही वीरभावापन्न तथा उदात्त है। भवभूति ने राम को एक आदर्श महावीर रूप में चित्रित किया है, जो लोक-कल्याण को बाधा पहुँचाने वालों का नाश करके समाज को अभय प्रदान करता है। राम का चित्रण लोकोत्तर शक्ति सम्पन्न भगवान् के रूप में न होकर महान् वीरता से युक्त आदर्श पुरुष के रूप में हुआ है। राम-कथा में शूर्पणखा और वालि आदि के चरित, जिनसे राम पर लाञ्छन लगता है, भवभूति ने दूसरे रूप में उपस्थित किए हैं। वालि रावण का मित्र है और रावण की ओर से राम से लड़ने आता है।

यह नाटक भवभूति की प्रथम कृति है। इसी कारण भाषा, शैली और काव्यत्व आदि में श्रेष्ठ होते हुए भी नाटकीय दृष्टि से उतना सफल नहीं है। राम और परशुराम का मौखिक विवाद दो अंकों तक चला गया है। और जहाँ-तहाँ लंबे संवाद भी रखे गए हैं। नाटक में कुल सात अंक हैं।

(२) मालतीमाधव—यह कवि-कल्पना प्रसूत दस अंकों का प्रकरण रूपक है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त भयानक, वीभत्स आदि रस भी आए हैं। माधव विदर्भ के राजा के मंत्री देवरात का पुत्र है। मालती पद्मावती के राजा के मंत्री भूरिवसु की पुत्री है। दोनों के प्रेम और अनेक विघ्न बाधाओं के उपरान्त दोनों के विवाह का वर्णन इस प्रकरण में है। साथ ही माधव के मित्र मकरन्द और मालती की सखी मदयन्तिका

के विवाह का भी कथानक इसमें जुड़ा हुआ है। भवभूति ने प्रेम की बहुत ऊँची कल्पना और उसका निर्वाह दर्शकों के सामने रखा है। धर्म के विरोध करने वाले प्रेम को उन्होंने समाज के लिए हानिकारक समझा है, अतः उसकी उपेक्षा की है। प्रेम के प्रसंग में वियोग शृंगार, करुण रस आदि के वर्णन बड़े ही प्रभावशाली हैं।

इस नाटक में मंत्र, तंत्र और कापालिकों का भी वर्णन आया है। नाट्यीय विधान के विरुद्ध भी कुछ बातें भवभूति ने दिखला दी हैं। जैसे—रंगमंच पर व्याघ्र का आना, मांस का बेचना आदि।

(३) उत्तररामचरित—यह नाटक भवभूति की अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ कृति है। उनकी नाट्य-प्रतिभा का सर्वोच्च प्रमाण है। लंका विजय के बाद राम के अयोध्या में राज्याभिषेक के अनन्तर प्रजा वर्ग के (किसी धोबी के) इस संदेह पर कि सीता कई मास रावण के यहाँ रही तो फिर राम ने अपने यहाँ उन्हें कैसे रख लिया है, सीता की पवित्रता और अग्नि शुद्धि की बात जानते हुए भी राम ने प्रजा के अनुरंजन के लिए अनुकूल बहाना ढूँढ़कर सीता को वन में निर्वासित कर दिया। इस नाटक की कथा यहीं से आरम्भ होती है। और अश्वमेध यज्ञ के समय राम सीता का पुनर्मिलन होने पर समाप्त होती है। इस नाटक में करुण रस की प्रधानता है। उसके हृदयस्पर्शी वर्णन में भवभूति कालिदास से भी आगे बढ़ गए हैं। इसलिए सहृदय जनों को हठात् यह कहना पड़ा है—

उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।

इस नाटक के सम्बन्ध में आगे विस्तृत समीक्षण किया गया है। इसलिए यहाँ इतना परिचय ही पर्याप्त है।

भवभूति का पाण्डित्य और उनकी लोक-दृष्टि।

भवभूति का पाण्डित्य बहुत बढ़ा चढ़ा हुआ था। उन्होंने, जैसा संकेत किया है कि—वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग, मीमांसा आदि के गहन अध्ययन से अपनी प्रतिभा को समृद्ध बनाया था—

यद्वेदाध्ययनं तथोपनिषदां सांख्यस्य योगस्य च।
ज्ञानं तत्कथनेन किं नहि ततः कश्चिद् गुणो नाटके।

प्रौढत्वमुदारता च वचसा यच्चार्थतो गौरवं
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः ॥
—मालतीमाधव १, ७ ।

वेद तथा दर्शन के ज्ञान और लोक के अनुभव दोनों में वे अगाध थे। अतः लोकदृष्टि उनकी कालिदास से भी अधिक पैनी थी। वाणी और ज्ञान की विदग्धता का अपूर्व समन्वय भवभूति की कृतियों में ही मिलता है। दर्शन के पारिभाषिक शब्द भवभूति की भाषा में दूध में पानी की भाँति एक जातीय हो गए हैं। उन्होंने अपने वैदिक ज्ञान का उपयोग नाटकों के संवादों में किया है और कहीं मन्त्र भी उद्धृत कर दिए हैं। साथ ही कहीं उनकी व्याख्या करवा दी है, लेकिन यह सब योजना उनकी नाट्यशैली में घुलमिल कर अलग नहीं प्रतीत होती। 'महावीरचरित' में पुरोहित की प्रशंसा में ऐतरेय ब्राह्मण का 'राष्ट्रगोपाः पुरोहिताः' प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया गया है। 'उत्तररामचरित' में जनक से ईशावास्योपनिषद् के 'असूर्या नाम ते लोका' छन्द की व्याख्या कराई गई है। 'विद्याकल्पेन मरुताम्' (-उत्तररामचरित ६, ६) श्लोक में अद्वैतवाद का तात्विक वर्णन है। केवल 'मालतीमाधव' को छोड़कर 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' में जो नान्दी दिये गए हैं, उनमें 'चैतन्य-ज्योतिष्' तथा 'वाग्देवता' की अभिस्तुति भवभूति में वैदिक ज्ञान की प्रतिष्ठा का प्रभाव है।

अपने युग की धारा में तांत्रिकों और कापालिकों का प्रभाव देखकर उन्होंने तंत्र और योगशास्त्र का भी अध्ययन किया था। यह हमें मालतीमाधव के अनुशीलन से प्रतीत होता है। मीमांसा और कर्मकाण्ड की परम्पराओं की पूर्ण जानकारी भवभूति को थी।

कालिदास और भवभूति

जैसा कि पहले कहा गया है, कालिदास की प्रतिस्पर्धा में रससिद्ध भवभूति को ही उपस्थित किया जा सकता है। कालिदास के बाद नाटक-स्रष्टाओं में भवभूति की ही प्रतिष्ठा है। नाटक-स्रष्टा ही क्यों! कवि-परम्परा में हमें कालिदास के पार्श्व में भवभूति का स्थान निर्धारित करना चाहिए।

जहाँ तक रस-निर्वाह का प्रश्न है, दोनों ही रस-सिद्ध कवि हैं। दोनों में

ही वेद, शास्त्र, दर्शन आदि का अगाध पाण्डित्य है। दोनों ही लोक अनुभव में बढ़े चढ़े हुए हैं। उपदेशात्मक सूक्तियाँ दोनों की उच्च कोटि की हैं।

किन्तु कालिदास का अनुभव जहाँ तहाँ काल्पनिक है और वे पूर्ण आशावादी हैं, पर भवभूति का अनुभव अधिक सांसारिक तथा वास्तविक है। उन्हें संसार के कटु अनुभवों से होकर गुजरना पड़ा था और उन्होंने दुःखों को भुगत कर निराशा के भी दर्शन किए थे। यही कारण है कि जहाँ कालिदास थोड़े से शब्दों में व्यञ्जना द्वारा सब कुछ अभिव्यक्त कर देते हैं वहाँ भवभूति बिना व्यापक और ओजस्वी वर्णन के अपनी वाणी को विश्रान्ति नहीं देते।

कालिदास शील, विनय के प्रति जितने निष्ठावान् हैं भवभूति उतने नहीं। इन दोनों महाकवियों का यह गुण उनके पात्रों में सहज ही अभिलक्षित होता है। 'उत्तररामचरित' में जनक सीता की अग्नि परीक्षा की बात पर जीवन विरक्त होते हुए भी नितान्त रोष में आ जाते हैं, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में दुष्यन्त द्वारा अकारण ही शकुन्तला का त्याग किए जाने पर कण्व में उस रोष का प्रदर्शन कवि ने नहीं किया है। इसका प्रभाव यहीं तक न रहा, भवभूति ने 'मालतीमाधव' की रचना में नाटकीय नियमों का भी उल्लंघन किया। साथ ही भगवान् राम को भगवान् रूप में न चित्रित करके महावीर एवं आदर्श मर्यादापुरुष के रूप में ही प्रतिष्ठित रखकर अवतारवाद की परम्परा के प्रति सङ्कुचित दृष्टि अपनाई है। परशुराम भी उनके लिए केवल त्रिभुवनैकवीर हैं। कालिदास की भाँति भवभूति के राम 'रामाभिधानो हरिः' नहीं केवल रामभद्र हैं।

कालिदास ने प्रकृति के केवल कोमल रूप को अपनाया है, किन्तु भवभूति की कवि आत्मा प्रकृति के रमणीय रूप से अधिक भयावह स्वरूप में रमी है। 'उत्तररामचरित' में दण्डकारण्य का वर्णन इसका उदाहरण है। प्रकृति का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण, जिसमें उसका एक चित्र ही हमारे सामने खिंच जाय, कालिदास से भवभूति में अधिक पाया जाता है और वह आदिकवि की टक्कर का है। शम्बूक को मारने के लिए जब राम दण्डकारण्य में गए और उन्होंने चिरकाल तक निवास किए हुए उस वन को बारह वर्षों के बाद पुनः देखा तब उनका यह उक्त प्रकृति के हृदय में बैठने वाले कवि की अनुभूति

होकर निकलती है तथा भूत एवं वर्तमान दोनों का चित्र सामने खिंच जाता है—

एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि ।
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीपनिचुलानि सरित्तटानि ॥

(उत्तर० २, २३)

भूगोल के अनुभव से कवि शून्य नहीं है। आगे वह फिर ऐसा ही एक मार्मिक चित्रण उपस्थित करता है—

पुरा यत्र स्रोत पुलिनमधुना तत्र सरिता
विपर्यासो यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम् ।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदम्
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धि द्रढयति ॥

(उत्तर० २, २७)

ऐसे वर्णन कालिदास के नाटकों में नहीं, उनके 'मेघदूत' और 'कुमार-सम्भव' में ही हैं। किन्तु वहाँ भी प्रकृति का कोमल पक्ष ही कालिदास ने लिया है। हिमालय जैसे पहाड़ के वर्णन में भी उन्हें रौद्र और भयानक रस की अनुभूति का कोई माध्यम न दिखाई पड़ा। भवभूति ने 'उत्तररामचरित' के दूसरे अंक में दण्डकारण्य के उन चित्रों को अपनी आँखों से बाहर नहीं जाने दिया है। यही कारण है कि भवभूति ने राम के पराक्रम और वीरता का जैसा ओजस्वी वर्णन अपने 'महावीरचरित' में किया है अथवा 'उत्तररामचरित' में 'लव' का जो ओजस्वी रूप दिखाई पड़ता है, कालिदास के वीर पात्रों में वीर रस की मार्मिक अनुभूति होने हुए भी यह ओजस्विता नहीं पाई जाती।

एक प्रकार से भवभूति ने अब तक आती हुई संस्कृत-कवियों की परम्परा में क्रान्ति पैदा की। पर वे उस क्रान्ति में पूर्ण सफल न हो सके, क्योंकि पूर्ण सफलता तो तभी होती जब वे काव्य प्रणयन में भी कालिदास की भाँति प्रवृत्त होते।

इस प्रकार यदि विस्तृत विचार किया जाय तो भवभूति अनेक बातों में

कालिदास से बढ़े चढ़े हैं। लेकिन इतने पर भी वे कालिदास के बहुत पीछे रह जाते हैं। सहृदय पाठक को इस बात पर आश्चर्य होगा, पर यह बात कुछ ऐसी ही महत्त्वपूर्ण है। भवभूति प्रतिक्रियावादी एवं अपने जीवन के कटु अनुभवों से प्रभावित होने के कारण उतने व्यापक क्षेत्र में अपनी कवि-प्रतिभा को न उतार सके जितने व्यापक क्षेत्र में कालिदास ने अपनी कविता को उतार दिया। उनकी नाट्यकला और काव्य-प्रतिभा देश एवं काल की सीमा में बाँधी नहीं जा सकती। उनकी कृतियों में (विशेषतः अभिज्ञानशाकुन्तल, मेघदूत, रघुवंश और कुमारसम्भव में) सांस्कृतिक एवं भौगोलिक दृष्टि से अपने राष्ट्र के एक समन्वित स्वरूप की उदात्त कल्पना तथा प्रतिष्ठा है। भवभूति में इसकी कमी है। वे तो जीवन के दुःख-दर्दों से, प्रणय भावनाओं से यदि कुछ ऊँचे उठे हैं तो उन्होंने लोक के लिए केवल एक महावीर पुरुष की निष्ठा अपनी कृतियों में व्यक्त की है। कालिदास और भवभूति का यह अन्तर ऐसा है कि हम भवभूति की प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए भी उन्हें कालिदास की तुलना में नहीं रख सकते। सहृदय जनों की 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते' यह भावपूर्ण उक्ति समालोचक की कसौटी पर खरी न उतरेगी। लेकिन कालिदास के प्रतिस्पर्धी भवभूति उनके बाद नाटक स्रष्टाओं में सर्वदा अग्रगण्य हैं।

भवभूति का सम्मान

भवभूति यदि बहुत नहीं तो कुछ अवश्य ही अपने से पूर्व की आती परम्परा के प्रति प्रतिक्रियावादी थे। अपनी पहली कृति 'महावीरचरित' में राम को भगवान् से केवल महावीर एवम् आदर्श मर्यादापुरुष के रूप में चित्रित करके उन्होंने लोक की भावना को एक धक्का दिया था। ऐसी ही कुछ बातें मालतीमाधव में भी आई हैं। लेकिन इनकी पहली ही कृति ने इन्हें विद्वानों के समक्ष पूर्ण सम्मान पाने से वंचित कर दिया, और उस अनादर के प्रति स्वाभिमानी भवभूति भी अपना रोष मालतीमाधव की प्रस्तावना में व्यक्त करने से चूके नहीं—

> ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
> जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।

उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा
कालोऽह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥[1]

लेकिन मालतीमाधव की रचना के बाद भी इन्हें विद्वद्गोष्ठियों में सम्मान मिला होगा, कवि-गोष्ठियों मे भले मिला हो। फिर भी भवभूति अपने पथ से चलित न हुए। उसका कारण था, उन्होंने वेदों और शास्त्रों का अध्ययन या था। साथ ही लोक-जीवन की सच्ची अनुभूति उन्होंने अपने हृदय मे चेत की थी। उन्होंने जिन विशेष परम्पराओं (राम का केवल मनुष्य-रूप मे त्रण, रंग मंच पर वर्जित दृश्यों का विधान आदि) को अपने नाटक मे ीत किया, वह उनकी मौलिक उपज थी और उस उपज का आधार उनका तेज्ञान था। इसीलिए उन्होंने अपने नाटकों के नान्दी में किसी भगवदवतार स्तुति न करके ब्रह्म और आद्या शक्ति का ही चिन्तन किया है। उन्होंने ालतीमाधव' के बाद भी रूढ़ियों के उल्लंघन से अपने को विरत नहीं किया ार करुण रस प्रधान 'उत्तररामचरित' नाटक की रचना की। 'उत्तररामचरित' केवल करुण-रस-प्रधान होकर परम्पराओं को तोड़ने वाला हुआ, वरन ामें राम को और भी अधिक मानवीय रूप दिया गया। परन्तु भवभूति के वन में ही उनके समानधर्मा अभिलक्षित होने लगे और 'उत्तररामचरित' खने के बाद भवभूति का सम्मान किया जाने लगा। यही नहीं, भवभूति की ...लिक प्रतिभा का लोहा लोग मान गये। तब इस नाटक की रचना में लोग हें कालिदास से भी श्रेष्ठ मानने लगे—'उत्तरे रामचरिते भवभूति-शिष्यते'।

भवभूति के साथ ही कान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्मा के दरबार मे रहने वाले वे वाक्पतिराज, जिन्होंने प्राकृत मे 'गउडवहो' नामक महाकाव्य लिखा है, भूति की कविता से अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने आगे की उक्ति मे न ल भवभूति की कविता की प्रशंसा की है, बल्कि अपना हृदय ही उनकी व्य-कला पर निछावर कर दिया है—

१. मेरा यह प्रयत्न (नाट्य-रचना) उनके लिए नहीं है, जो केवल हमारी अवज्ञा ना ही जानते हैं और जो एकमात्र कुछ जानने वाले (किञ्चिज्ज्ञ) हैं। मेरे इस प्रयत्न समझने वाला कभी कोई मेरा समानधर्मा पैदा होगा। (उसी के लिए यह परिश्रम है)। कि काल (समय) असीम है और पृथ्वी भी बहुत विस्तृत है।

भवभूइजलहिनिग्गयकव्वामयरसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्ज वि वियडेसु कहाणिवेसेसु॥
[भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु॥]

भवभूति के सम्भवत डेढ़ शताब्दी बाद कवि और आचार्य राजशेखर भवभूति के सम्मान और प्रतिष्ठा के महान् समर्थक हुए। वे भारत की अनेक भाषाओं के पण्डित, विविध शास्त्रों के विद्वान्, बहुज्ञ, नाटककार, स्रष्टा, कवि और आचार्य थे। भवभूति की जन्म भूमि विदर्भ प्रान्त में ही थी, और कान्यकुब्ज नरेश यशोवर्मा के ही वंशज महेन्द्रपाल तथा महीपाल की राजसभा में राजशेखर ने भी आश्रय प्राप्त किया था। इतना निश्चित है कि राजशेखर को अपने जीवन-काल में भवभूति से अधिक सम्मान प्राप्त हुआ था। पर राजशेखर अपनी जन्म भूमि के उस महाकवि को अपने हृदय के बहुत ऊँचे आसन पर बिठाये हुए थे। इन्होंने अपने नहीं, बल्कि भवभूति के सम्मान में यह गर्वोक्ति की थी, जिसमें कालिदास की कोई गणना ही नहीं की गई है—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥[1]

इस गर्वोक्ति में प्रत्यक्ष रूप से तो राजशेखर ने अपने को भवभूति का अवतार कहने में गर्व का अनुभव किया है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से भवभूति को ही आदि कवि का अवतार कहकर बहुत ऊँचे उठाया है।

काव्य के दो भेदों में नाटक को रमणीय माना जाता रहा। अब तक इन नाटक कृतियों में कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' को जो सम्मान प्राप्त था, वह किसी नाटककृति को नहीं मिला था। यह बात वस्तुतः स्वयं नाटक लिखने वाले आचार्य राजशेखर को अच्छी न लगी होगी और भवभूति जैसे

---

१ जो पहले वल्मीक से पैदा होकर आदि कवि हुआ था पुनः पृथ्वी पर जो महाकवि भर्तृमेण्ठ के रूप में आया इसके बाद भवभूति होकर जो आविर्भूत हुआ, वह इस समय राजशेखर के रूप में वर्तमान है।

नाटक-स्रष्टा की उपेक्षा उसे कदापि सह्य न थी। अतएव उसने यह गर्वोक्ति करके आदि-कवि वाल्मीकि से लेकर अब तक के श्रेष्ठ चार कवियों की गणना में कालिदास का नाम निकाल दिया और भवभूति को वाल्मीकि का अवतार बताकर उन्हें बहुत ऊँचे आसन पर बैठा दिया। करुण रस का आदि-काव्य लिखने वाले वाल्मीकि और करुण रस का नाटक लिखने वाले भवभूति दोनों की समानता भी ठीक हो थी। राजशेखर की इस गर्वोक्ति का बहुत प्रभाव पड़ा। स्वयं उसकी प्रतिष्ठा करने वाले विद्वानों और कवियों ने अब तक उपेक्षित महाकवि भवभूति को उससे भी अधिक सम्मान दिया।

राजशेखर के बाद तो भवभूति की प्रशंसा में अनेक उक्तियाँ कही गईं। उनके छन्दों तक की प्रशंसा की गई। ग्यारहवीं शताब्दी में होने वाले क्षेमेन्द्र ने उनके शिखरिणी छन्द के विषय में कहा है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥

[भवभूति का शिखरिणी छन्द अवरोध से रहित प्रवाहित होने वाली नदी है जो बादलों के बीच मनोहर मयूरी के समान नृत्य करती है।]

भवभूति के करुण रस की प्रशंसा करते हुए गोवर्धनाचार्य ने लिखा है—

भवभूतेः सम्बन्धाद्भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

[भवभूति के सम्बन्ध से वाणी मानों पर्वतीय भूमि ही बन गई है, अन्यथा इनके द्वारा कारुण्य उत्पन्न करने पर पत्थर क्यों रोता है?]

कालिदास के शृङ्गार में अपने को खोये हुए काव्यरसिकों को जब भवभूति के लोकानुभव की बानगी मिली तब वे भवभूति के आदर में भी अपना हृदय लुटाने लगे, इसमें सन्देह नहीं। यद्यपि कालिदास के ऊपर भवभूति की प्रतिष्ठा इन सबकी उक्तियों से न हो सकी, लेकिन कालिदास के बाद दूसरा स्थान भवभूति को छोड़कर दूसरे को मिल ही न सका। हाँ, कहने वालों ने तो वाल्मीकि से भी ऊपर इनकी प्रतिष्ठा करने में कसर न रखी—

सुकविद्वितयं मन्ये निखिलेऽपि महीतले।
भवभूतिः शुकश्चायं वाल्मीकिस्तु तृतीयकः॥

[सम्पूर्ण भूतल पर मैं दो ही सुकवियों को मानता हूँ। एक तो भवभूति है और दूसरे ये शुक कवि। तीसरे वाल्मीकि हैं।]

३. उत्तररामचरित—कथावस्तु और पात्र

कथावस्तु का मूल आधार

उत्तररामचरित का मूल कथानक वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड से लिया गया है। प्रायः कथा तो ज्यों की त्यों है, किन्तु स्थिति और वातावरण को नाटक के अनुरूप बनाने में उसे कुछ सँवारा और पल्लवित किया गया है। मूल कथानक और नाटक की कथावस्तु का अन्तर समझने के लिए यहाँ वाल्मीकि रामायण से कुछ कथांश उद्धृत किया जा रहा है—

राम लङ्का विजय करके अयोध्या लौटे। उनका राज्याभिषेक हुआ और वे धर्म, नीति तथा राजशास्त्र के अनुसार प्रजा-पालन एवं राज्य शासन सञ्चालित करने लगे। इसी समय सीता को गर्भवती जानकर उन्हें तथा राज-कुल को बड़ा हार्दिक आनन्द हुआ। उन्होंने सीता से कहा—'प्रिये! मैं इस समय तुम्हारा कौन-सा अभिलषित काम पूरा कर सकता हूँ!' उनके ऐसा पूछने पर सीता ने ऋषियों के पवित्र तपोवन देखने की इच्छा प्रकट की—

किमिच्छसि वरारोहे! कामः किं क्रियतां तव।
स्मितं कृत्वा तु वैदेही रामं वाक्यमथाब्रवीत्॥
तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव!
(उत्तरकांड, सर्ग ४२। ३२—३६)

इस पर राम ने प्रेम में बड़े कष्ट से एक दिन का वियोग स्वीकार कर सीता को वन देखने के लिए आज्ञा प्रदान की। किन्तु उसी दिन ऐसी घटना घट गई कि राम को सीता का चिर वियोग सहन करना पड़ा। सीता के पास से राम अपने विशेष सुहृद्जनों की गोष्ठी (दीवानखास) में चले गये, जहाँ अनेक तरह की गुप्त वार्ताओं पर विचार-विमर्श हुआ करता था। अचानक किसी वार्त्ता के प्रसंग में राम ने अपने नगर और राज्य के लोगों की अपने विषय में क्या धारणा है, यह जानने की इच्छा प्रकट की। उनके यह पूछने पर भद्र नामक सभासद ने पौर-जानपदों में राम की जो यशोगाथा गाई जा रही थी पहले उसकी प्रशंसा की। बाद में सीता के लोकापवाद की बात भी बताई—

हत्वा च रावणं सख्ये सीतामाहृत्य राघवः ।
अमर्षं पृष्ठत: कृत्वा स्ववेश्म पुनरानयत् ॥
कीदृशं हृदये तस्य सीतासम्भोगजं सुखम् ।
अङ्कमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम् ॥
लङ्कामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम् ।
रक्षसां वशमापन्नां कथां रामो न कुत्स्यति ॥

(म० ४३ । १४-१८)

पौर-जानपदों की यह बात सम्राट् राम और सीतापति राम दोनों के हृदय के मर्मों को बेध देने वाली हुई । राम इस बात को सीता से कह भी नहीं सकते थे । लेकिन सयोगवश इसके पूर्व ही सीता ने उनसे तपोवन देखने की इच्छा प्रकट की थी । राम को सम्राट् के धर्म के अनुसार सीता को निर्वासित करने के लिए अच्छा-सा बहाना मिल गया । राम ने गोष्ठी समाप्त कर द्वारपाल को लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न को शीघ्र बुलाने का आदेश दिया । तीनों भाई राम के समीप आये तो उन्होंने राम को बहुत उदास पाया । राम ने शीघ्र ही लक्ष्मण को आदेश दिया कि आज मुझे जो कुछ करना पड़ रहा है उससे अधिक कष्ट-कारक बात और कभी नहीं हुई थी । वह यह है कि तुम कल प्रात:काल ही सुमन्त्र के साथ सीता को रथ पर बैठाकर गङ्गा के उस पार तमसा-तीर पर स्थित वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आओ । मेरी ओर से सीता के प्रति कुछ कहना नहीं है और न तुम इस विषय में कुछ विचार कर सकते हो । यदि तुम मुझे इस कर्म से रोकोगे तो तुम्हारे प्रति मेरी बहुत अप्रीति हो जायगी ।

राम ने जैसा कहा, प्रभात काल में दु:ख-सतप्त होकर भी लक्ष्मण ने वैसा ही किया । सीता अकेली वाल्मीकि के आश्रम के पास छोड़ दी गई । लक्ष्मण ने सारा रहस्य उस समय उनसे स्पष्ट किया और रोते हुए प्रणाम करके नाव से गङ्गा पार कर चले आये । बाद में वहाँ रोती हुई सीता को मुनि-बालकों ने देखा और उन्होंने यह समाचार महर्षि वाल्मीकि को दिया । वाल्मीकि स्वयं आये और सीता को सब प्रकार से आश्वासन देकर अपने आश्रम में ले गये—

तां सीतां शोकभारार्तां वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः ।
उवाच मधुरां वाणीं ह्लादयन्निव तेजसा ॥

(सर्ग ४६)

सीता अब वाल्मीकि के आश्रम में रहने लगीं। उन्हें पहुँचा कर लक्ष्मण और सुमन्त्र अयोध्या लौट आये। उन्होंने राम से सब समाचार कहा। रामचन्द्र ने सीता की व्यथा-कथा सुनकर बहुत पीड़ा का अनुभव किया।

इसके थोड़े ही दिन बाद ऋषियों ने आकर मधुपुर में लवण के अत्याचारों की कथा रामचन्द्र से निवेदन की। रामचन्द्र ने लवणासुर के विनाश के लिए शत्रुघ्न को सेना देकर मधुपुर के लिए प्रेषित किया। जाते समय शत्रुघ्न ने वाल्मीकि के आश्रम में विश्राम किया। उसी समय वहाँ रात्रि में सीता के दो पुत्र उत्पन्न हुए। वाल्मीकि ने जातकर्म संस्कार यथोचित रूप से किये। शत्रुघ्न और सीता में बातचीत भी हुई—

यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां समाविशत्।
तामेव रात्रिं सीतापि प्रसूता दारकद्वयम् ॥११॥

× × ×

अर्धरात्रे तु शत्रुघ्नः शुश्राव सुमहत्प्रियम्।
पर्णशालां ततो गत्वा मातर्दिष्ट्येति चाब्रवीत् ॥१२॥

(सर्ग ६६)

लवणासुर का दमन कर बारह वर्ष के बाद अयोध्या लौटते समय शत्रुघ्न ने पुनः वाल्मीकिआश्रम में निवास किया। उस समय तक सीता के पुत्र कुश और लव भी बारह वर्ष के हो रहे थे और उन्होंने वाल्मीकि के लिखे रामायण-काव्य को कंठ कर लिया था। शत्रुघ्न और उनकी सेना ने उन बालकों द्वारा आश्रम में कहीं पर ताल और स्वर के साथ गाया जाता हुआ वह अपूर्व काव्य सुना, जिससे वे बहुत प्रभावित हुए।

दूसरे ही दिन वे अयोध्या चले गये। राम ने उनका प्रेमपूर्ण स्वागत किया और पुनः मधुपुर का शासन करने के लिए उनको भेज दिया।

शत्रुघ्न के जाने के बाद राज्य में किसी ब्राह्मण का पुत्र मर गया। वह ब्राह्मण मृत पुत्र को लेकर राम के पास अयोध्या पहुँचा और उन्हें उलाहना दिया कि आपके राज्य में ऐसी असमय की घटनायें हो रही हैं। राजदोष और राजा के विधिहीन शासन से ही प्रजा पीड़ित होती है। यह बाल-मृत्यु भी इन्हीं कारणों से हुई है। वह ब्राह्मण इस उलाहना के साथ फूट-फूट कर रोने लगा।

रामचन्द्र ने बड़े दुःख का अनुभव करते हुए इस समस्या को मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, जाबालि, गौतम और नारद के सामने उपस्थित किया। विचार-विमर्श के बाद नारद ने राम से कहा कि आपके राज्य में कहीं शूद्र तपस्या कर रहा है और उसी पाप से इस ब्राह्मण-कुमार की मृत्यु हुई है। उसे खोज कर आप मार डालें तो विप्र-बालक जीवित हो जायगा। रामचन्द्र तीर-धनुष और तलवार लेकर पुष्पक विमान पर सवार हुए और उस तपस्वी की खोज करते-करते दक्षिण दिशा में पहाड़ की उत्तरी सीमा पर पहुँचे, जहाँ शम्बूक नामक शूद्र अधोमुख होकर घोर तप कर रहा था। राम ने तलवार से उसका शिर काट दिया। उसके मारे जाने के साथ ही ब्राह्मण का बालक जी उठा।

शूद्र का वध करने के बाद रामचन्द्र अगस्त्य मुनि का दर्शन करते हुए अयोध्या लौटे। वहाँ उन्होंने भाइयों से विमर्श करके अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में वाल्मीकि भी निमन्त्रित किये गये। उनके साथ लव और कुश भी आये। उन्होने वहाँ रामचरित का गायन किया। राम उस काव्य को सुनकर बहुत मुग्ध हुए। फिर परिचय पूछने पर उन्हें बताया गया कि यह कुश और लव सीता के पुत्र हैं। यह जानकर उन्होंने दूतों को आज्ञा दी 'तुम शीघ्र महर्षि के पास जाओ और निवेदन करो कि यदि सीता निर्दोष है और महामुनि की भी यह शुभ सम्मति है तो कल प्रातःकाल सभा के बीच अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने के लिये सीता यहाँ आकर शपथ ग्रहण करें।'

दूतान् शुद्धसमाचारानाहूयात्ममनीषया।
मद्वचो ब्रूत गच्छध्वमितो भगवतोऽन्तिके॥
यदि शुद्धसमाचारा यदि वा वीतकल्मषा।
करोत्विहात्मनः शुद्धिमनुमान्य महामुनिम्॥
श्वः प्रभाते तु शपथं मैथिली जनकात्मजा।
करोतु परिषन्मध्ये शोधनार्थं ममैव च॥

(सर्ग ९५)

दूत गये और महर्षि वाल्मीकि के साथ सीता यज्ञ-भूमि में पधारीं। वाल्मीकि ने सीता के पवित्राचरण की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अनन्तर सीता ने अपने चरित्र के सबंध में शपथ लेती हुई प्रार्थना की—

यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १४ ॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १५ ॥
यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात् परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥ १६ ॥
तथा शपन्त्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत् तदद्भुतम्।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम् ॥ १७ ॥
तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम्।
स्वागतेनाभिनन्द्यैनामासने चोपवेशयत् ॥ १८ ॥
तामासनगतां दृष्ट्वा प्रविशन्तीं रसातलम्।
पुष्पवृष्टिरविच्छिन्ना दिव्या सीतामवाकिरत् ॥ १९ ॥
(सर्ग ९७)

पृथ्वी फट गई और भूतल से एक दिव्य सिंहासन ऊपर उठता हुआ आया। उस पर पृथ्वी ने सीता को अपनी गोद में भरकर बैठा लिया। फिर सिंहासन रसातल में प्रविष्ट हो गया। देवों ने उस पर पुष्पवृष्टि की।

यह अपूर्व दृश्य देख कर वानर और ऋषिगण बड़े खेद के साथ राम के पास सीता के चरित्र की सराहना करने लगे। राम को अत्यंत मार्मिक वेदना हुई और वे बहुत देर तक रो-रो कर आँसू बहाते रहे।

वाल्मीकि रामायण की इस कथा से नाटक की कथावस्तु में क्या भेद है यह आगे नाटक की संक्षिप्त कथावस्तु पढ़ने से स्पष्ट हो जायगा। यहाँ केवल दोनों मुख्य भेदों का दिग्दर्शन कराया जा रहा है। भवभूति ने कुश और लव को तो वाल्मीकि के आश्रम में रखा है, किन्तु सीता को गङ्गा देवी की संरक्षता में ही रहने दिया है। 'उत्तररामचरित' में सीता रसातल में नहीं प्रविष्ट होतीं, बल्कि उनका मिलाप राम से हो जाता है। नाटक में शत्रुघ्न लवणासुर के दमन के लिए जाते हुए वाल्मीकि आश्रम में नहीं ठहरते। जनक के आगमन की कल्पना भी भवभूति की अपनी है। इस प्रकार भवभूति के नाटक की ये कई विभिन्नतायें, जो वाल्मीकि रामायण से मेल नहीं खातीं, पद्मपुराण में

मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि पद्मपुराण को बहुत अंशों में भवभूति ने ज्यों का त्यों अपना लिया है।

Vale dhamma 1293

नाटक की कथावस्तु

नाटक सात अकों में विभाजित है। पहले अक के बाद दूसरे अंक की घटनाओं में बारह वर्ष का अन्तर है। फिर दूसरे अक से लेकर सातवें अक तक की सभी घटनायें एक मास के भीतर की हैं। दूसरे, तीसरे, चौथे और छठे अक में विष्कम्भक द्वारा घटनाओं को सम्बद्ध करके कथा-क्रम को आगे बढ़ाया गया है। प्रत्येक अंक की संक्षिप्त कथावस्तु इस प्रकार है—

प्रथम अंक

MA R.A.Ron

अपने से पूर्व कवियों को प्रणाम करके नाटककार प्रस्तावना उपस्थित करता है, जिसमें कवि-परिचय के साथ नटों द्वारा प्रथम अक की दो घटनाओं का निर्देश होता है—एक यह है कि राम की मातायें वशिष्ठ और अरुन्धती के साथ जामाता के यज्ञ में गयी हुई हैं और दूसरी घटना है सीता के विषय में लोकापवाद।

सम्प्रति सीता के गर्भवती होने के कारण राम अधिक समय उनकी रुचि पूर्ण करने तथा बातचीत करने में बिताया करते हैं। इधर उन्हें दिखाने के लिए लक्ष्मण ने राम के अब तक के जीवन की घटनाओं को लेकर एक चित्र-पट तैयार करवाया है।

राम के साथ बैठी हुई सीता माताओं के वियोग में व्याकुल थीं। उसी समय अष्टावक्र ऋष्यशृङ्ग के यज्ञ से अरुन्धती तथा शान्ता आदि का राम के प्रति यह सदेश लेकर आये कि वे गर्भिणी अवस्था में महारानी सीता की सभी अभिलाषाओं को पूर्ण करने का उपाय करें। यह कहकर अष्टावक्र चले गये। तब लक्ष्मण ने आकर चित्रपट दिखाते हुए सीता का मनोविनोद करना प्रारम्भ किया। चित्रपट देखने के बाद वनवास-जीवन की पवित्र स्मृतियाँ सीता के हृदय में जाग उठीं और उन्होंने राम से अपना यह दोहद व्यक्त किया कि—मै पुन: सुहावनी वनभूमि और उसके बीच प्रवाहित होने वाली भगवती भागीरथी में अवगाहन करना चाहती हूँ। राम ने लक्ष्मण से कहा—देखो, गुरुजनों ने मुझे सीता की सभी इच्छाओं को पूर्ण करने का आदेश दिया है। इसलिए शीघ्र रथ में बैठाकर सीता को वनभूमि में घुमा ले आओ। इसके

उपरान्त सीता गर्भ भार से क्लान्त होने के कारण शयन की इच्छा करती हैं और राम अपनी बाँह पर उनका सिर रखकर सुला देते हैं।

इस बीच दुर्मुख नामक एक गुप्तचर सीता के विषय में लोकापवाद का समाचार लेकर राम के पास उपस्थित हुआ। (पुरवासियों में यह संशयात्मक विचार पुष्ट हो गया था कि सीता रावण के घर दस महीने तक रही हैं और फिर उन्हें सम्राट् राम ने बिना किसी संकोच के जैसे अपना लिया है, यह हम सब सामाजिकों के गृहस्थ धर्म के आदर्श को बिगाड़ने वाला है।)

राम ने जब इस समाचार को सुना तो वे सीता के निर्वासन के लिए मन में कृतसंकल्प हो उठे और दूसरी ओर उनकी अवस्था सीता के भावी वियोग की कल्पना से अत्यंत अधीर हो उठी। लेकिन वे क्या करते? जब सीता की अग्नि परीक्षा पर भी लोक विश्वस्त न हुआ तब उन्हें लोक के रंजन और विश्वास का उपाय करना ही था। अतएव उन्होंने निश्चय किया कि लोक का अनुरंजन करना सज्जनों का श्रेष्ठ धर्म है। इसी कार्य के हेतु तो पिता जी ने मुझे और अपने प्राण दोनों को त्यागा था। ऐसा सोचकर सीता की उस सुप्त अवस्था में उन्होंने दुर्मुख द्वारा लक्ष्मण के पास (सीता के निर्वासन का) आदेश भेजा और स्वयं बहुत विलाप करने लगे।

इसी समय यमुना-तट के निवासी ऋषिगण लवणासुर के अत्याचारों से संत्रस्त होकर शरण के लिए उपस्थित हुए हैं, यह समाचार पाकर राम सीता को छोड़कर अत्याचार के दमन के लिए शत्रुघ्न को भेजने चले गये। उनके जाने के बाद ही सीता जाग उठीं। तब तक दुर्मुख आया और उसने कहा—'देवि! कुमार लक्ष्मण कहते हैं कि रथ तैयार है। देवी आकर चढ़ें।' सीता (अपने निर्वासन का रहस्य बिना जाने ही) रघुकुल देवताओं को प्रणाम करके रथ पर चढ़ने के लिए चली जाती हैं। (उन्हें तो यह विश्वास था कि मैं वनभूमि में घूमने और ऋषियों के दर्शन के लिए जा रही हूँ।)

द्वितीय अंक

इस अंक में पहले एक शुद्ध विष्कम्भक है, जिसमें आत्रेयी और दण्डकारण्य की वनदेवता (वासन्ती) के संवाद के माध्यम से कई घटनाओं की सूचना दी जाती है। आत्रेयी पुराण ब्रह्मवादी प्राचेतस महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में रहकर अध्ययन करती थीं। किन्तु वहाँ अध्ययन संबंधी विघ्न उपस्थित हो

जाने से इन्हें दण्डक-वन में आना पड़ा। इन्होंने वासन्ती से कहा कि किसी देवता विशेष के द्वारा भगवान् वाल्मीकि को दो बालक मिल गये हैं, जो मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षियों के अन्त:करण को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। उन्हें जन्म से ही सरहस्य जृम्भकास्त्र सिद्ध हैं। कुश और लव उनका नाम है। भगवान् वाल्मीकि ने पहले उन्हें आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्डनीति का अध्ययन कराया, पश्चात् ग्यारह वर्ष की अवस्था में उनका उपनयन करके वेद भी पढ़ा दिया। वे इतने प्रतिभा सम्पन्न और ज्ञानयुक्त हैं कि उनके साथ हम लोगों का पढ़ना कठिन है। इसी बीच एक दिन तमसा नदी के तट पर व्याध द्वारा क्रौञ्च पक्षी के जोड़े में से एक का वध देखकर महर्षि वाल्मीकि का हृदय उद्वेलित हो उठा और अकस्मात् उनके मुँह से यह छन्द फूट पड़ा—

मा निषाद ! प्रतिष्ठा त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

जो कि वेद से विभिन्न बिलकुल नये छन्द का आविर्भाव था। फिर स्वयं ब्रह्मा उनके पास उपस्थित हुए और उन्होंने वाल्मीकि को आदि-कवि कहकर रामचरित्र का वर्णन करने के लिए कहा। वाल्मीकि ने अब रामायण नाम का वैसा इतिहास लिख डाला है।

आत्रेयी ने वासन्ती से सीता के निर्वासन की बात बताई और कहा कि इस समय राम ने अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ किया है, जिसमें वे सुवर्णमयी सीता की मूर्ति से धर्मचारिणी का काम लेंगे। लक्ष्मण-पुत्र चन्द्रकेतु चतुरंगिणी सेना के साथ अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की रक्षा के लिए भेजे गये हैं। सीता का निर्वासन हो जाने के कारण दु:ख सन्तप्त भगवान् वशिष्ठ, माता अरुन्धती और कौशल्या आदि मातायें दामाद के यज्ञ से लौटने पर अयोध्या न जाकर इस समय वाल्मीकि-आश्रम में पहुँच गई हैं। शम्बूक नामक कोई शूद्र तपस्या कर रहा है, जिससे एक ब्राह्मण-बालक की मृत्यु हो गई है। उस शूद्र को मार कर ब्राह्मण-पुत्र को जीवित करने के लिए राम पुष्पक विमान पर चढ़कर उस शूद्र की खोज कर रहे हैं।

वासन्ती को यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि अब पुनः रामभद्र के दर्शन होंगे, क्योंकि शम्बूक इसी दण्डकारण्य में तपस्या कर रहा है।

राम शम्बूक को खोजते हुए दण्डक-वन में आये और उसे पाकर तलवार से काट दिया। मरने के बाद ही वह दिव्य पुरुष के रूप में राम के सामने उपस्थित हुआ और राम को प्रणाम कर अपने भाग्य की सराहना करने लगा। राम ने उसे वैराज लोक में पहुँचने का आशीर्वाद दिया। फिर दण्डकवन की प्रकृति-शोभा को दर्शन-विह्वल होकर राम बहुत देर तक देखते रहे। शम्बूक उन्हें स्वयं रमणीय स्थानों का परिचय देता रहा। दण्डकवन में सीता के निवास की स्मृति से राम की आँखों में आँसू आ गये। राम ने शम्बूक को चले जाने का आदेश दिया और स्वयं पहले निवास किये हुए उस वन की नई शोभा, नई स्थिति देखकर आत्मविभोर हो उठे। वे अनुभूति में मग्न होकर प्रकृति का दर्शन जब तक कर रहे थे, पुन शम्बूक ने प्रवेश किया और महर्षि अगस्त्य का संदेश कहा—'लोपामुद्रा और सभी महर्षि आपका स्वागत करने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। आकर हमें प्रतिष्ठत करें और फिर वेगवान् पुष्पक से अयोध्या पहुँच कर अपने अश्वमेघ यज्ञ में तत्पर हों।'

राम ने अगस्त्य के आदेश को स्वीकार कर फिर पञ्चवटी-वन में प्रवेश किया।

तृतीय अंक

पञ्चवटी के वन में आयी हुई मुरला और तमसा नदियाँ परस्पर एक दूसरे से मिल गईं। मुरला ने कहा—'मुझे भगवती लोपामुद्रा ने यह सदेश कहकर गोदावरी के पास भेजा है कि इस समय पञ्चवटी में रामभद्र आये हुए हैं। वनवास के समय जिन स्थानों में वे सीता के साथ रहे हैं, आज उन्हें अवश्य देखेंगे। अत' सीता के विरह के कारण शोक की अधिकता से उनकी रक्षा के लिए गोदावरी को सावधान रहना चाहिए।'

तमसा ने भी कहा—'मुझे गंगादेवी ने सीता की रक्षा के लिए आज्ञा दी है। सीता जब वाल्मीकि-आश्रम के पास लक्ष्मण द्वारा निर्वासित हुई थीं तब लक्ष्मण के जाने के बाद वे शोक व्याकुल होकर गंगा में कूद पड़ीं। तत्काल ही उनके दो बालक पैदा हुए। उस समय पृथ्वी और गंगा उनको सँभाल कर रसातल ले गईं और शिशुओं को गंगादेवी ने महर्षि वाल्मीकि को सौंप दिया। आज शम्बूक को मारने के लिए दण्डकारण्य में रामभद्र का आना जानकर गंगादेवी भी सीता को साथ लेकर गोदावरी के पास आयी

हुई हैं। उन्होंने सीता से कहा है कि आज तुम्हारे चिरञ्जीव कुश और लव का बारहवीं वर्षगाँठ है। इसलिए तुम अपने कुल के आदिकारण श्वशुर भगवान् सूर्य की अपने हाथ से तोड़े गये पुष्पों से पूजा करो। मेरे प्रभाव से तुम्हें पृथ्वी पर देवता भी नहीं देख सकेंगे।'

यह सुनकर मुरला ने कहा—अच्छा, मैं यह समाचार चल कर भगवती लोपामुद्रा से कहती हूँ, और मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि रामभद्र भी आ गये।

गोदावरी में स्नान करने के बाद जब सीता फूल तोड़ रही थीं, उसी समय उनकी वनवास-काल की सखी वासन्ती ने यह उद्घोषणा की—सीता देवी ने जिस हाथी के बच्चे को अपने हाथ से सल्लकी लतायें खिलाकर बढ़ाया था, उस पर एक दूसरे मतवाले हाथी ने आक्रमण कर दिया है। सीता यह सुनकर शोकावेग से भर उठीं। उन्हें ध्यान न रहा और वे आर्यपुत्र का नाम लेकर पुकारने लगीं कि मेरे पुत्रक की रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। तब तक राम वहाँ पहुँच गये और पुष्पक को सम्बोधित करके कहा—'विमानराज! यहीं पर रुक जाओ।' राम वाणी को सीता ने तुरत पहचान लिया। तब तमसा ने कहा—'सुना जाता है कि दण्डकारण्य में तपस्या करने वाले शूद्र को दण्ड देने के लिए इक्ष्वाकुवंशी राजा यहाँ आये हुए हैं।' पञ्चवटी में प्रवेश करने पर राम की सीता विषयक विरह वेदना अत्यंत बढ़ गई और वे 'हा प्रिये जानकि! हा विदेहराजपुत्रि!' कहकर मूर्च्छित हो गये। तब तमसा के निवेदन करने पर सीता ने अपने स्पर्श से उन्हें सचेत किया। गंगादेवी के प्रभाव से सीता को राम या अन्य कोई देख न पाये, लेकिन जैसे सीता ने राम के शब्दों की पहचान कर ली थी वैसे राम ने भी कहना शुरू किया कि यह स्पर्श सीता देवी के अतिरिक्त किसी दूसरे का हो नहीं सकता। उन्होंने कहा—'यहीं कहीं पर सीता विद्यमान हैं।'

तब तक वासन्ती ने प्रवेश किया और राम से कहा—'महाराज! जल्दी कीजिये। जटायुशिखर की दक्षिण ओर गोदावरी के सीताघाट पर पहुँचकर मतवाले हाथी से आक्रान्त सीता के सपत्नीक कलभ की रक्षा कीजिये।' राम उधर पहुँचे तो देखा कि सीता का पाला हुआ हाथी का बच्चा मतवाले हाथी को पराजित कर चुका है। सीता और तमसा भी पीछे-पीछे उधर

ही गई। अपने पुत्र की विजय देखकर सीता को बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर वासन्ती ने सीता द्वारा पाले गये मोर को अपनी मोरनी के साथ कदम्बवृक्ष पर बैठे हुए, राम को दिखलाकर उसका परिचय दिया। कदम्ब के उस वृक्ष को भी सीता ने ही सींचकर बढ़ाया था। यह सब देखकर राम का सताप ही बढ़ रहा था। वासन्ती ने फिर वह शिला दिखाइ, जिस पर बैठकर सीता मृगों को घास खिलाती थीं। अनन्तर बातचीत के प्रसग में वासन्ती ने राम को अपनी प्रिय सखी सीता के निर्वासन का बड़ा उलाहना दिया। राम का भी शोक सीता का स्मरण होने से बढ़ता गया। वे पुन अचेत हो गये। सीता ने अपने कर स्पर्श से उन्हें पुन उज्जीवित किया। राम ने स्पष्ट सदेह किया कि यह स्पर्श सीता का ही है। लेकिन सीता उन्हें नहीं दिखाई पड़ीं।

न केवल राम का शोक बल्कि सीता का अन्तःकरण भी राम के सन्ताप से अनुतप्त हो रहा था। सीता को अपने प्रति राम के हृदय के निर्मल सात्विक प्रेम का पता यहा चला। उस समय करुणा से ओतप्रोत दोनों की अवस्था उस वनभूमि को करुणा के समुद्र में डुबो रही थी, जिसे ही लक्ष्य कर तमसा ने कहा—

एको रस करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्न पृथ पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

इसके बाद राम अपने विमान पर चढ़ कर अगस्त्याश्रम की ओर चले गये।

चतुर्थ अक

यह अक मिश्र विष्कम्भक से प्रारभ होता है। जिसमें सौधातकि और दाण्डायन दो तपस्वी बालक बातचीत करते हुए आते हैं। प्रसग वाल्मीकि आश्रम का है। जहाँ वशिष्ठ अरुन्धती और राम की माताओं के साथ पहले पहुँच चुके थे और अब जनक का भी आगमन वहाँ हुआ। बालक इन्हीं अतिथियों के स्वागत समारोह की व्यग्रता के सबब में थी, जिनके कारण विद्यार्थियों का अनध्याय हो गया था। सौधातकि ने दण्डायन से पूछा—'ये अनेक स्त्रियों को साथ में लेकर आये हुए धुरन्धर अतिथि कौन हैं, जिनके

मधुपर्क के लिए गोवत्सा का आलभन किया गया है ? जब कि आज ही आये हुए राजर्षि जनक के लिए भगवान् वाल्मीकि ने बिना मांस के दधि-मधु से मधुपर्क की विधि सम्पन्न की है।' दण्डायन ने उत्तर दिया—'जिन्होंने मांस खाना नहीं छोड़ दिया है, उनके लिए मांस सहित मधुपर्क की व्यवस्था की जाती है। राजर्षि जनक ने सीता के भाग्य का दुष्परिणाम सुनकर वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर लिया है। इसलिये उन्हें बिना मांस का मधुपर्क दिया गया है।'

वस्तुतः सौधातकि वशिष्ठ जी के आने से बहुत रुष्ट था, क्योंकि उनके आगमन के कारण कपिला बछिया भेंट हो गई थी। अतः वह इस अतिथि-समारोह पर व्यंग्य कर रहा था। उसने कहा—'आओ, जैसे ये वृद्ध लोग परस्पर मिल रहे हैं, उसी तरह हम बटु भी परस्पर मिलकर खेलते हुए अनध्याय का उत्सव मनावें।

जनक सीता के निर्वासन से बहुत दु:खी हो रहे थे। उसी समय अरुन्धती के साथ कौशल्या उनसे मिलने आयीं। उनके बीच राम और सीता की चर्चा चलती रही। परस्पर करुणा में वे विगलित होते रहे। तब तक ब्राह्मण बटुओं के साथ वहाँ लव आ गये। कौशल्या और जनक ने लव को सीता और राम के शारीरिक गुणों से तुलना करते हुए बड़ी उत्कंठा से देखा। जनक ने कंचुकी को भेजकर वाल्मीकि से लव का परिचय जानना चाहा। लेकिन उन्होंने सूचना दी कि उपयुक्त समय पर परिचय मिल जायगा। लव ने आकर विनयपूर्वक सबका अभिवादन किया। राजर्षि और कौशल्या के साथ लव की बातचीत होने लगी। वे लव के प्रति बड़े स्नेह-सिक्त होते जा रहे थे। लव ने केवल इतना मात्र अपना परिचय दिया कि मैं और मेरे भाई कुश दोनों जन वाल्मीकि के शिष्य हैं।

इसी बीच अश्वमेध के घोड़े और उसके रक्षक लक्ष्मण-कुमार चन्द्रकेतु की चर्चा होने लगी। तब तो लव ने वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण काव्य और उसके एक विशेष अंश के वाल्मीकि द्वारा नाट्याचार्य भरत के पास भेजने की बात, जिसमें उनके बड़े भाई कुश रक्षक बनकर गये हैं, उन लोगों के सामने कही। इतने में विप्रबटु अश्वमेध का घोड़ा देखकर आश्चर्य के साथ लव को यह सूचना देने आये और वह घोड़ा दिखाने ले गये। लव ने घोड़ा

देखकर कहा—'निश्चय ही यह अश्वमेध-यज्ञ का घोड़ा है।' बाद में जब अश्व रक्षकों ने यह घोषणा की—

योऽयमश्वः पताकेयमथवा वीरघोषणा।
सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विपः॥

तब तो लव को क्रोध आ गया और उन्होंने कहा कि क्या यह पृथ्वी अक्षत्रिया हो गई है, जो ऐसी घोषणा कर रहे हो। फिर उन्होंने अपने साथियों से कहा—'ढेलों से मारकर इस घोड़े को पर्णशाला के समीप ले चलो। आश्रम के मृगों साथ यह भी चरा करेगा।' इस पर रक्षकों ने धमकाया तो लव धनुष सँभालते हुये युद्ध के लिए तैयार हो गए।

पचम अंक

लव की बाण-वर्षा से सैनिक विचलित होने लगे। लेकिन तब तक उन्हें कुमार चन्द्रकेतु के आने का समाचार और ललकार सुनायी पड़ी। सेना भागने से रुक गई। कुमार चन्द्रकेतु जब युद्धक्षेत्र में आये तो वे पहले सारथि सुमन्त्र से कुमार लव की वीरता और क्रोध एवं ओज पूर्ण मुखश्री की बरबस प्रशंसा करने लगे। सुमन्त्र ने उत्तर में कहा—

'कुमार! मैं तो इस बालक को देखकर विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा में सुबाहु आदि राक्षसों के मारने वाले रामभद्र की याद कर रहा हूँ।'

चन्द्रकेतु और लव में परस्पर युद्ध प्रारभ होने पर बीच में अवसर पाकर चन्द्रकेतु के सैनिकों ने लव पर आक्रमण कर दिया। लव ने वीरता और कौतूहल के साथ उस आक्रमण को शान्त करने के लिए जृम्भकास्त्र का प्रयोग किया। जृम्भकास्त्र का प्रयोग देखकर सुमन्त्र और चन्द्रकेतु दोनों को विस्मय हुआ। चन्द्रकेतु ने कहा—'जृम्भकास्त्र इसे वाल्मीकि से मिले होंगे।' सुमन्त्र ने कहा—'नहीं, इन अस्त्रों की प्राप्ति वाल्मीकि से सभव नहीं है। क्योंकि ये अस्त्र गुरुपरम्परा से ही प्राप्त होते हैं। इन अस्त्रों की प्राप्ति पहले कृशाश्व को हुई थी। उनसे विश्वमित्र को और विश्वामित्र से रामभद्र को ये प्राप्त हुए थे। इस बालक को इनकी प्राप्ति कैसे हुई, यह आश्चर्य की बात है।

लव सैनिकों को जृम्भकास्त्र से शान्त करके चन्द्रकेतु के सामने युद्ध के लिए उपस्थित हुए। दोनों कुमार जब परस्पर आमने-सामने हुए तो स्वभावतः मूल में एक वंश के होने के कारण उनमें अनुराग उमड़ पड़ा। फिर चन्द्रकेतु

ने सुमन्त्र से कहा कि मैं इस वीर के सम्मान में रथ से नीचे उतर रहा हूँ। या तो ये भी रथ पर चढ़ें, नहीं तो दोनों जन पैदल युद्ध करेंगे। चन्द्रकेतु के रथ से उतर जाने पर लव भी प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—'आप की शोभा रथ पर ही है। मेरा बहुत अधिक सम्मान करने की जरूरत नहीं है और मैं रथ पर चढ़ने में अभ्यस्त भी नहीं हूँ।' लव की विनयशीलता ने सुमन्त्र को प्रभावित किया। उन्होंने कहा—'आपका यह विनय-आचार यदि इक्ष्वाकुवंशी राजा रामभद्र देखेंगे तो उनका हृदय वात्सल्य से पिघल जायगा।'

राम के वात्सल्य की बात सुनकर एवं चन्द्रकेतु तथा सुमन्त्र की सज्जनता देखकर लव कुछ लज्जित हुए। उन्होंने अपनी धृष्टता को छिपाते हुए कहा—ये राजर्षि (रामभद्र) सज्जन हैं, ऐसा सुना जाता है। हम लोग भी यज्ञद्वेषियों के शत्रु रामभद्र पर प्रीति रखते हैं। अतः उनके अश्वमेधयज्ञ के घोड़े को पकड़ने की धृष्टता हम नहीं करते, किन्तु अश्व के रक्षकों ने सम्पूर्ण क्षत्रियों के तिरस्कार से भरे हुए वाक्य कहकर जो क्रूरता की, उससे मेरे हृदय में भी विकार उत्पन्न हो गया।

सुमन्त्र ने कहा—'अच्छा भाई, वाल्मीकि ऋषि के ये शिष्य तिरस्कृत होने के कारण क्रोध की वासना से भर उठे हैं।' लव ने कहा—'नहीं मेरे तिरस्कार की बात नहीं है। लेकिन क्षत्रिय का शरणधर्म केवल एक व्यक्ति में ही तो सीमित नहीं है, जो राम को ही सप्तलोकैक वीर कहा जाय।' सुमन्त्र ने इस प्रसंग को समाप्त करने के लिए इंगित करते हुए कहा—'कुमार! तुमने जृम्भकास्त्र से सैनिकों को परास्त करके तेजस्वी का आचरण किया है। लेकिन परशुराम का दमन करने वाले राम के विषय में यह अनुचित वचन मत बोलो।' लव ने हँसते हुए उत्तर दिया—'परशुराम ब्राह्मण को शस्त्र-बल में परास्त करने से क्षत्रिय राम की कोई प्रशंसा नहीं। लव के इस कथन से दुःखी होकर चन्द्रकेतु ने व्यंग्यपूर्वक कहा—'अब उत्तर-प्रत्युत्तर की आवश्यकता नहीं है। इस समय ये कुमार कोई अपूर्व पुरुषावतार आविर्भूत हुए हैं, जिनके लिए परशुराम भी वीर नहीं हैं और ये सात लोकों को अभयदान देने वाले पिता जी के पवित्र चरित्र को भी नहीं जानते।' लव ने कहा—'अब वे (रामचन्द्र) वृद्ध हो गये हैं। इसलिये उनके चरित्र की आलोचना नहीं करनी चाहिए। लेकिन ताडका स्त्री को मारने में और खर के साथ युद्ध में तीन पग पीछे हट

कर उन्होंने जो वीरता दिखाई है, उसे सभी लोग जानते हैं।' चन्द्रकेतु को इस अशिष्टता से क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—'अब तुम पिता जी की निन्दा करके शिष्टाचार का उल्लंघन कर रहे हो।' चन्द्रकेतु का यह क्रोध लव के लिये भी उत्तेजक हो गया। उसने वीरता के साथ कहा—'कुमार! आओ और अब हम दोनों युद्ध-क्षेत्र में उतरें।'

षष्ठ अंक

यह अंक एक विद्याधर दम्पती के परस्पर वार्तालाप के विष्कम्भक द्वारा प्रारंभ होता है। युद्ध रंगमंच पर नहीं दिखाया जा सकता। इसलिए इनके संवाद के माध्यम से लव और चन्द्रकेतु के तुमुल युद्ध का वर्णन कराया गया है। इस युद्ध में वे परस्पर आग्नेय, वारुण और वायव्य अस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे। इसी बीच शम्बूक को मारकर लौटते हुए रामचन्द्र युद्ध स्थल में पहुँच गये।

राम चन्द्रकेतु को देखकर वात्सल्य में भर उठे और पुष्पक से उतरते ही उसे गोद में भरकर आलिंगन किया। चन्द्रकेतु ने पिता का अभिवादन किया। जब राम ने उससे कुशल मंगल पूछा तो उसने आश्चर्यजनक कर्म करने वाले प्रिय मित्र (लव) की प्राप्ति को कुशल रूप में बताया। तब राम की दृष्टि लव के ऊपर पड़ी। लव को देखकर वे स्नेहार्द्र हो उठे और चन्द्रकेतु से कहा—'सौभाग्य से तुम्हारा यह मित्र अत्यंत गंभीर, मधुर एवं शुभ आकृति वाला है। लोक की रक्षा के लिए यह धनुर्वेद का मूर्त रूप है और वेद की रक्षा के लिए शरीरधारी क्षत्रिय धर्म सा है। पराक्रम का समूह, धैर्य आदि गुणों का सञ्चय और लोकधर्मानुष्ठान इसमें एक साथ मूर्तिमान् हैं।' राम के द्वारा अपनी यह प्रशंसा सुनकर तथा राम के दर्शन से प्रभावित होकर लव ने मन ही मन कहा—'वास्तव में ये महापुरुष पवित्र प्रभाव और दर्शन से युक्त हैं। इन्हें देखकर ही मेरा वैर शान्त हो गया, मुझ में अनुराग उमड़ रहा है। मेरा औद्धत्य भागता जा रहा है और नम्रता मुझे झुका रही है।' उधर राम का भी लव के प्रति आकर्षण बढ़ता गया। उन्होंने कहा—'यह बालक तो मेरे दुःख को विश्राम दे रहा है।'

इस बीच लव ने चन्द्रकेतु से राम का परिचय पूछा। यह जान लेने पर कि ये चन्द्रकेतु के ज्येष्ठ पिता हैं, लव ने कहा—'तब तो धर्म से ये मेरे भी

पूज्य पिता हैं, क्योंकि आपने मुझे प्रिय मित्र कहा है।' इतना कहने के साथ ही लव ने राम के सामने नम्रता से झुककर कहा—'पिता जी! महर्षि वाल्मीकि का शिष्य लव आपको प्रणाम करता है।' राम तो पहले से ही लव के अनुराग में डूब रहे थे। अब तो उन्होंने उसे अपनी छाती से लगा लिया। राम का यह अगाध प्रेम देखकर लव ने पश्चात्तापपूर्वक अपने अपराध की क्षमा माँगी, जिसलिए कि उसने अभी राम के विरोध में शस्त्र उठाया था। राम ने बड़ी प्रसन्नता के साथ कहा—'यह कौन-सा अपराध है। यह कार्य तो क्षत्रिय का भूषण है।'

अब चन्द्रकेतु ने लव के पराक्रम की प्रशंसा करते हुए कहा—'पिताजी! लव के द्वारा छोड़े गये जृम्भकास्त्र से आपकी सेना स्तब्ध हो गई है।' राम को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने लव से कहा—'वत्स! अस्त्र का निवारण करो।' लव ने ध्यानपूर्वक अस्त्र का संहरण किया। राम ने सोचा कि कृशाश्व ने हजारों वर्ष की तपस्या के बाद ये अस्त्र महर्षि विश्वामित्र को दिये थे और उनसे मुझे मिले थे। कुमार को इन अस्त्रों का उपदेश कहाँ से मिला? बिना गुरुपरम्परा के इनका प्राप्त होना कठिन था। राम ने लव से इनकी प्राप्ति के विषय में जब पूछा तब उसने कहा—'हम दोनों भाइयों को ये अस्त्र स्वतः आविर्भूत हुए हैं।' राम ने पूछा—'क्या तुम दो भाई हो?' राम के यह पूछने के साथ ही कुश भी लव के साथ सेना के युद्ध का समाचार सुनकर वहाँ आ पहुँचे। लव ने बताया कि ये मेरे बड़े भाई हैं और भगवमुनि के आश्रम से लौटे हैं। कुश ने क्रोध और ओज के साथ उस वातावरण में प्रवेश किया। लेकिन लव ने आगे से मिलकर उन्हें राम के शील-स्वभाव का परिचय देकर उनसे प्रणाम करने के लिए कहा। राम ने कुश को आलिंगन किया।

दोनों बालकों को देखकर राम का प्रेम बढ़ता ही गया। उन्होंने बालकों के रूप में सीता के अंगों की ममता देखी और सोचा कि यह वाल्मीकि आश्रम है और यहीं सीता का निर्वासन किया गया था। फिर वे सीता के वियोग में व्याकुल हो उठे। उन्होंने विचार किया कि शायद ये सीता के ही पुत्र हैं। उनकी आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। लव ने रोने का कारण पूछना चाहा कि कुश ने लव को सम्बोधित करके कहा—'तुम नहीं जानते कि

महारानी सीता के वियोग में राम को कौन सा पदार्थ दु खजनक नहीं है। तुम तो ऐसा पूछ रहे हो, जैसे रामायण न पढ़ी हो।' रामायण का नाम सुनकर राम ने उसक कुछ स्थल सुनाने की इच्छा प्रकट की। कुश और लव ने रामायण के सीता सम्बन्धी ही कुछ श्लोक सुनाए, जिससे राम की सीता सम्बन्धी वेदना और भी जागरित हो उठी।

तब तक सेना के साथ लव के युद्ध करने का समाचार सुनकर वशिष्ठ, वाल्मीकि, जनक, अरुन्धती और राम की मातायें वहाँ आ पहुँचीं। उनके आने का समाचार सुनकर राम को लज्जा और खेद दोनों हुए। वे उन बालकों क साथ उनके स्वागत क लिए आगे बढे।

सप्तम अङ्क

वाल्मीकि ने भरत मुनि के निर्देश के अनुसार अपने लिखे हुए नाटक को अप्सराओं द्वारा खेले जाने का प्रबन्ध किया। राम की आज्ञा से लक्ष्मण न नाटक खेले जाने की सारी व्यवस्था सम्पन्न की। लोग यथास्थान बैठ गये। राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने कुश और लव को भी चन्द्रकेतु के बराबर आसन देकर बैठाया।

सब व्यवस्था सम्पन्न हो जाने क बाद नाटक प्रारम्भ हुआ। नेपथ्य म हिंस्र जन्तुओं स घिरी और प्रसव वेदना से पीडित सीता की वाणी सुनाई पड़ी कि मैं गगाजी म कूदकर मर जाऊँगी। यह सुनकर दर्शकों में बैठे राम व्याकुल हो उठे। लक्ष्मण न उन्हें सान्त्वना दी।

पृथ्वी और गगा ने सीता को सहारा देकर रगमच पर प्रवेश किया और सीता के उत्पन्न दो पुत्रों का सूचना दी। सीता ने पृथ्वी और गगा से उनका परिचय पूछा। परिचय प्राप्त हो जाने पर सीता ने माता पृथ्वी से कहा—'माता! तुम मुझे अपने अगों में लीन कर लो।' पृथ्वी ने कहा—'नहीं, तुम्हें इन पुत्रों का देख रेख करनी चाहिए। इसी बीच प्रदीप्त जृम्भकास्त्र दिखायी पड़े और उन्होंने सीता से कहा—'चित्र देखने क अवसर पर जैसा कि राम ने कहा था, हम लोग आपके पुत्रों का आश्रय ग्रहण करते हैं।' सीता के यह चिन्ता व्यक्त करने पर कि मेरे पुत्रों का क्षत्रियोचित सस्कार कौन करगा गगा ने वाल्मीकि का नाम बताकर आश्वासन दिया।

दर्शकों में बैठे लक्ष्मण ने राम से कुश और लव के सीता पुत्र होने की सम्भावना व्यक्त की।

सीता ने पुनः पृथ्वी से अपने अंगों में लीन करने की प्रार्थना की। पृथ्वी ने अनुरोध किया—'नहीं, जब तक ये बालक दुधमुँहे हैं, तुम्हें इनकी रक्षा करनी होगी। बाद में चाहे जैसा तुम करना।' इसके बाद सीता पृथ्वी और गंगा के साथ रंगमंच से चली गईं।

दर्शकों में बैठे राम ने यह निश्चय किया कि सीता अब इस लोक में नहीं हैं। वे मूर्च्छित हो गये।

तब तक नेपथ्य में फिर सुनाई पड़ा—'देवी अरुन्धती! हम पृथ्वी और गंगा दोनों पवित्र व्रतवाली वधू सीता को आपको अर्पण कर रही हैं। आप हमें अनुगृहीत करें।'

इसके बाद सीता के साथ अरुन्धती ने रंगमंच पर प्रवेश किया और दर्शकों के बीच राम को मूर्च्छित देखकर सीता से स्पर्श कराकर उन्हें सचेत किया। राम अपने समीप अरुन्धती, शान्ता और ऋष्यशृंग आदि गुरुजनों को देखकर लज्जित हो गये।

नेपथ्य से क्रमशः गंगा और पृथ्वी ने राम को सम्बोधित करके कहा—'चित्रदर्शन [प्रथम अंक] के अवसर पर आपने सीता की रक्षा के लिए जो हम से प्रार्थना की थी, सो हमने सीता की रक्षा की। अब आप सीता को सँभालें।'

तब अरुन्धती ने 'राम सीता को ग्रहण करें या नहीं' इस विषय में जनमत जानना चाहा। लक्ष्मण ने सूचना दी कि सभी नागरिक और देशवासी सतीशिरोमणि सीता को प्रणाम कर रहे हैं। लोकपाल और सप्तर्षिगण पुष्पों की वर्षा कर रहे हैं। यह सुनकर अरुन्धती ने राम से सीता को स्वीकार करने के लिए कहा। राम ने स्वीकृति दे दी। लक्ष्मण ने सीता को प्रणाम किया। वाल्मीकि ने कुश और लव को लेकर परिजन के साथ राम को अर्पण किया। माता और पिता से मिलकर दोनों पुत्र बहुत प्रसन्न हुए। इसी बीच लवणासुर को मारकर शत्रुघ्न भी वहाँ पहुँच गये। चारों ओर प्रसन्नता का वातावरण छा गया। वाल्मीकि ने आशीर्वाद दिया और राम ने भरत-वाक्य के

साथ कल्याण बढ़ाने वाली वाल्मीकि द्वारा रचित इस कथा के लिए लोक में आदर पाने की कामना प्रकट की।

प्रमुख पात्र

'उत्तररामचरित' नाटक में कवि का उद्देश्य दो रूपों में व्याप्त है। एक तो उसे राम की आदर्श शासन व्यवस्था का संकेत करना है और दूसरे सीता के उदात्त चरित्र की व्यापक भाव व्याख्या प्रस्तुत करनी है। इस दृष्टि से नाटक में राम, सीता, लक्ष्मण, वाल्मीकि, जनक, चन्द्रकेतु, कुश, लव और शम्बूक प्रमुख पात्र के रूप में आते हैं। शेष पात्र गौण रूप से नाटक की कथावस्तु में स्थित हैं। यद्यपि वाल्मीकि सातवें अंक में ही रंगमंच पर आते हैं तो भी उनका स्थान नाटक में प्रमुख रूप से ही वर्तमान है। उनके रचित रामायण का कुश-लव द्वारा राम को सुनाया जाना और सातवें अंक में अप्सराओं द्वारा उनके नाटक का अभिनीत होना नाटक की मुख्य घटनाओं में है।

अन्य पात्रों में शत्रुघ्न, अष्टावक्र, सौधातकि, दण्डायन, विद्याधरदम्पति, दुर्मुख, वासन्ती, आत्रेयी, तमसा, मुरला, अरुन्धती और कौशल्या नाटक की कथा को आगे बढ़ाने वाले पात्र हैं। सुमन्त्र को ऐसा पात्र कहा जा सकता है जो केवल एक मात्र सहायक बनकर आया है। वशिष्ठ के नाम की चर्चा और वाल्मीकि-आश्रम में उनकी उपस्थिति का निर्देश तो है किन्तु उनका प्रवेश नाटक में नहीं कराया गया है।

नाटक के कुछ प्रमुख पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध में परिचयात्मक टिप्पणी दी जा रही है—

राम

राम एक सम्राट् के रूप में इस नाटक में आये हुए हैं। उन्हें कहीं भगवान् नहीं कहा गया। प्राय रामभद्र कहकर उनके नाम का प्रयोग भवभूति ने करवाया है। अपने पूर्व के नाटक 'महावीरचरित' में भवभूति ने राम का एक आदर्श महान् वीर के रूप में उपस्थित किया था। परन्तु इस नाटक में वे प्रजा का आदर्श और उत्तरदायित्व वहन करने वाले ऐसे प्रजा अनुरञ्जक सम्राट् हैं, जिन्हें वीरता से भी अधिक गुरुतर उत्तरदायित्व निभाना पड़ रहा है। प्रजा के भाग्यचक्र का वही केन्द्र हैं। प्रजा के भाग्य में, प्रजा की नैतिकता

में तनिक भी त्रुटि आने पर सारा दोष सम्राट् का होगा, इसे राम भली-भाँति स्वीकार करते हैं।

इसीलिए प्रजा की नैतिकता और प्रजा के चरित्र की रक्षा के लिए वे बहुत सावधान हैं। प्रजा को चरित्र के संबंध में उच्छृंखल होने का कहीं अवकाश न मिल जाय, इस संबंध में राम कितने जागरूक हैं, यह तो हम तब समझते हैं जब सीता के संबंध में लंका-निवास के कारण प्रजा की संदिग्ध भावना गुप्तचर से सुनकर वे सीता को अपने घर से निर्वासित करने में जरा भी संकोच नहीं करते। स्वयं वे और कितने ऋषि, विचारक सभी पवित्र चरित्र वाली सीता की महत्ता से परिचित थे। लेकिन प्रजावर्ग में जब उस महत्ता का स्पष्टीकरण न हो सका या सीता के प्रति विश्वास न हो सका तब राम को सम्राट् के विश्वास की लाज रखनी पड़ी। हृदय में निवास करने वाली सीता का ध्यान त्यागकर राज्य में बसने वाली प्रजा का आग्रह पहले रखना पड़ा।

सीता को निर्वासित करने के समय का वातावरण बड़ा ही करुणाजनक है। राम के हृदय में जो द्वन्द्व उपस्थित हुआ है, वह देखते ही बनता है। सीता गर्भवती हैं। ऋष्यशृंग के यज्ञ में गये हुए गुरुजनों ने आदेश दिया है कि राम को सब प्रकार से सीता की अभिलाषाओं को पूर्ण करना है। जिस समय राम उनके निर्वासन का निश्चय कर रहे हैं, सीता उनकी बाँह पर ही सो रही है। सीता की यह करुणाजनक स्थिति देखकर राम का हृदय द्रवीभूत हो उठता है और अंत में वे सीता के पैरों पर अपना सिर रखकर रोने लगते हैं—

(सीतायाः पादौ शिरसि कृत्वा) अयं पश्चिमस्ते रामशिरसि पादपङ्कजस्पर्शः। (इति रोदिति)

[प्रथम अङ्क]

किन्तु सीता के प्रति इस प्रियतम भाव को ऊपर से सम्राट् का चरण दबाये जा रहा है और राम के लिए सिवा रोने के दूसरा मार्ग नहीं है। रोने के पहले ही उन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी है—

शैशवात्प्रभृति पोषितां प्रियां सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम् ।
छद्मना परिददामि मृत्यवे शौनिके गृहशकुन्तिकामिव ॥

[प्रथम अंक ४५]

सम्राट् के दोष से प्रजा का भाग्य फूटता है । राम के राज्य में एक ब्राह्मण के लड़के की मृत्यु हो जाती है । ऋषियों से पूछने पर पता चलता है कि एक शूद्र के तपस्या करने के कारण यह असामयिक घटना हुई है । राज्य में यह विधिहीनता सम्राट् का उत्तरदायित्व है । राम इस उत्तरदायित्व का पालन करते हैं । उस शूद्र तपस्वी को खोजते हुए वे दण्डकवन में पहुँचते हैं और जब उसे मारने के लिए तलवार उठाते हैं तो उन्हें कुछ कठोरता का अनुभव होता है । पर उस शूद्र तपस्वी को मारने पर ही ब्राह्मण का पुत्र जीवित हो सकता है । अतएव यह कठोरता उन्हें करनी पड़ती है । लेकिन सीता के निर्वासन में उन्होंने इससे भी कठोर कार्य किया था । जैसे शम्बूक को मारते समय वे अपने दाहिने हाथ को सम्बोधित करके कहते हैं कि रे दक्षिण हस्त ! गर्भ के भार से अलसाई सीता के निर्वासन में पटु तुम में अब करुणा कहाँ है—

रे हस्तदक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य बाहुरसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटोः करुणा कुतस्ते ?॥

[द्वितीय अङ्क]

इसके बाद तो नाटक में राम का सारा प्रसंग करुणा में डूबा हुआ दृष्टिगत होता है । राज्य का प्रबंध संचालन करते हुए भी वे सीता की करुणा से अपने को नहीं बचा सके हैं । मर्यादा पालन के लिए वे कठोर से कठोर हो सकते हैं और सज्जनता, शालीनता आदि के संबंध में विनम्र से विनम्र हो सकते हैं । अश्वमेधयज्ञ के समय वे सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा रखवा कर शास्त्र-विधि का पालन करते हैं । उनका यह चरित्र इतना विलक्षण है कि विरला ही कोई उस गहराई में पैठ सकता है । अतः भवभूति अपने एक पात्र से राम के विषय में कहलाते हैं—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥

[द्वितीय अङ्क ७]

दूसरे अंक के बाद राम का प्रवेश तीसरे, छठे और सातवें अंक में होता है। सर्वत्र उन्हें सीता के वियोग की करुणा-धारा बहाये जा रही है। दण्डकवन को देखकर सीता के साथ वनवास काल की स्मृतियाँ जाग उठती हैं। वे अचेत हो जाते हैं। कदाचित् सीता के प्रति उनकी इसी अनन्यप्रियता को जानकर भगवती भागीरथी ने सीता को अपने स्पर्श से राम को सचेत करने के लिए तमसा के साथ भेजा था।

राम को अपने वंश की मर्यादा और उसकी गौरवमय परम्परा के सभी लक्षणों का पूर्ण अभिज्ञान है। इसलिए लव-कुश को देखकर उनके अंगों की पहचान कर वे कहते हैं कि मैं इन दोनों कुमारों में बहुत कुछ रघुवंशोत्पन्न कुमार की समानता देख रहा हूँ—

भूयिष्ठं च रघुकुलकौमारमनयोः पश्यामि।
कठोरपारावतकण्ठमेचकं वपुर्वृषस्कन्धसुबन्धुरंसयोः।
प्रसन्नसिंहस्तिमितं च वीक्षितं ध्वनिश्च माङ्गल्यमृदङ्गमांसला॥

[षष्ठ अङ्क २५]

इसके बाद उन्हें ध्यान होता है कि इनके अंग तो सीता के अंगों के सदृश हैं—

अपि जनकसुतायास्तच्च तच्चानुरूपम्।
स्फुटमिह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयमस्ति॥

[षष्ठ अङ्क २६]

राम सुख-दुःख के अतिशय आश्चर्य में डूब जाते हैं। क्या ये सीता के ही पुत्र हैं? सुख का यह अतिरेक उस धरती के सम्राट् को आत्मसात् कर लेता है। और हम इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि राम का दाहिना हाथ सीता के निर्वासन में पटु हो सकता है, शूद्रमुनि के ऊपर तलवार चलाने में उद्यत हो सकता है लेकिन उसमें यह साहस नहीं है कि उन बालकों को राम की छाती से आलिंगन कराने में अस्वीकार कर दे। प्रजावत्सल सम्राट् को उसकी प्रजा

ने मोद लिया और चाहता है कि किसी प्रकार यह सिद्ध हो जाय कि ये पुत्र सीता के ही हैं—

अयं विस्मयमम्लानमानसुखदुःखातिशयो हृदयस्य मे विप्रलम्भः। यमाविति च भूयिष्ठमसंवादः। जातद्वयापत्यचिह्ना हि देव्या गर्भिणीभाव आसीत्। [पष्ठ अङ्क]

संक्षेप में राम ने सीता का निर्वासन करके अपने सम्राट् पद को जितना गौरव प्रदान किया, उससे अधिक गौरव सीता को अपनी अपार करुणा व्यक्त करके प्रदान किया है। भवभूति को राम के इस चरित्र अंकन में बड़ी सफलता मिली है।

सीता

राम के सिंहासनारूढ़ होने के बाद लोकोत्तर आनन्द के साथ प्रजा के दिन बीत रहे थे। सीता गर्भवती हुई। जिसके कारण भविष्य की आनन्द-कल्पना में राजकुल डूब गया। मातायें, अरुन्धती और वशिष्ठ जामाता के यज्ञ से अष्टावक्र को भेजकर यह संदेश राम के लिए पहुँचाते हैं कि गर्भवती सीता की सभी अभिलाषाओं को राम पूर्ण करें। उन्हें कोई कष्ट न होने पाये। राम भी सीता के प्रति यही स्नेह रखते हैं और सीता की इच्छा पर ही उन्हें वनभूमियों का एक बार पुनः दर्शन कराने के लिए तैयार होते हैं। लेकिन दैव की कुछ दूसरी इच्छा थी। वनभूमि का दर्शन नहीं, सदैव के लिए गर्भवती अवस्था में ही सीता को वनवास दे दिया गया। वह भी बहाना बनाकर धोखे से। इतना सब होने पर भी भगवान् राम में सीता की एकनिष्ठता थी। राम के प्रति उनमें अलौकिक पूज्यभाव थे। राम ने कहा था—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

[प्रथम अंक १२]

राम के इस वाक्य का समर्थन करती हुई सीता ने उसी समय उत्तर दिया—

अतएव राघवकुलधुरन्धर आर्यपुत्रः।

[वहीं]

तत्काल सीता के सामने यह परिस्थिति आ गई। राम को प्रजा के अनु-

रजन के लिए जानकी को छोड़ना पड़ा और राम की रघुकुलश्रेष्ठता सीता को स्वीकार करनी पड़ी। सीता वनवास-सेवन करती हुई पति के विरह का कष्ट भोग रही थीं, किन्तु इससे भी बढ़कर कष्ट उन्हें यह था कि भगवान् उनके विरह में व्यथा का भार ढो रहे हैं।

नाटक के दूसरे और तीसरे अङ्क में कवि ने राम और सीता के अनन्यप्रेम का दर्शन कराया है। दण्डकवन में राम सीता सम्बन्धी पुरानी स्मृतियों में डूब रहे थे और उन्हें निश्चय हो गया था कि वनभूमि में गर्भवती सीता को हिंस्र जन्तुओं ने खा डाला होगा। उस समय भागीरथी की आज्ञा से तमसा के साथ सीता भी वहाँ पहुँची थी। उन्हें वहाँ सब की दृष्टि से अदृश्य होकर केवल इसलिए उपस्थित होना था कि राम को मूर्च्छा आ जाये तो वे अपने स्पर्श से उनकी रक्षा करेंगी। राम वन की पुरानी परिचिता देवी वासन्ती के साथ वार्तालाप करते हुए सीता के वियोग में भीतर ही भीतर व्याकुल हो रहे थे और वासन्ती उनके वियोग को अपने सीता-विषयक समर्थन से और बढ़ा रही थी। पर सीता को वासन्ती का यह समर्थन तनिक भी सह्य नहीं हो रहा था। वे मन ही मन वासन्ती को कोस रही थीं—

'त्वमेव सखि वासन्ति! दारुणा कठोरा च या एवमार्यपुत्र प्रदीप्तं प्रदीपयसि।'

इधर सीता की पति में एकनिष्ठता, उधर राम का उनके प्रति असीम अनुराग दोनों की विरहाग्नि को दूने रूप से प्रदीप्त कर रहे हैं। विरहावस्था में दोनों सज्ञाहीन होते हैं, किन्तु प्रजावत्सल राम का कार्य प्रजारञ्जन था और सीता का धर्म था उनकी मनोवृत्तियों का अनुसरण। राम उस अवस्था में जब सीता का स्मरण करके मूर्च्छित होते हैं तब सीता अपने आपको कोसती हुई दुखी हो रही हैं कि मैं ही इस समय आर्यपुत्र के दुःख का कारण हो रही हूँ—

'एवमस्मि मन्दभागिनी पुनरपि आयासकारिणी आर्यपुत्रस्य।'

राम के प्रति सीता के अनुराग की यह पराकाष्ठा है।

सातवें अङ्क में जब सब का सम्मेलन होता है। तब माता अरुन्धती पुत्र राम को आदेश देती हैं—

जगत्पते रामभद्र !

नियोजय यथाधर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम् ।
हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे ॥
[सप्तम अंक २०]

तब सीता मन में कहती हैं—

'जानाति आर्यपुत्र सीतादुःखं प्रमार्ष्टुम् ।'

ऐसी अलौकिक रत्ना पुत्री के प्रति राजर्षि जनक को गर्व है । वे कहते हैं—

'आः, कोऽयमग्निर्नाम अस्मत्प्रसूतिपरिशोधने ? कष्टम्, एवंवादिना जनेन रामभद्रपरिभूता अपि पुनः परिभूयामहे ।'

सीता की तुलना में अग्नि को अति तुच्छ मानती हुई अरुन्धती ने कहा है—

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं जनयति ।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥
[चतुर्थ अंक ११]

नाटक का कोई ऐसा पात्र नहीं है, जो सीता के पावन चरित्र की स्तुति न करता हो । एक तरह से यदि ध्यान से देखा जाय तो 'उत्तररामचरित नाटक' सीता के यशोगान का ही काव्य है । यदि हम इसे 'सीताचरित' नाम से पुकारें तो कोई अत्युक्ति न होगी ।

लव

बालक लव का वीर दर्प पूर्ण और विनम्रता तथा श्लक्ष्णता से भरा हुआ चरित्र बड़ा ही मनोमोहक है । भवभूति ने इस चरित्र को बालस्वभाव की दृष्टि से इतना स्वाभाविक अंकित किया है कि कहीं दूसरे नाटक या काव्य में इसकी तुलना दृष्टिगत नहीं होती । कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में आया हुआ बालक भरत का चरित्र तो इसके सामने कृत्रिम प्रतीत होता है ।

लव की विनम्रता और मर्यादानिष्ठता तो पिता राम के उत्तराधिकार से जन्म के साथ प्राप्त निधि है । चौथे अंक में वाल्मीकि आश्रम में अतिथि की

भाँति आये हुए जनक, कौशल्या, अरुन्धती के सामने जब लव पहली बार पहुँचता है तो वहाँ उसे मर्यादा और शिष्टाचार का ध्यान हो उठता है। वह कैसे अभिवादन करे, इसकी उसे चिन्ता है—

(प्रविश्य स्वगतम्) अविज्ञातवयःक्रमौचित्यात् पूज्यानपि ततः कथमभिवादयिष्ये ? (विचिन्त्य) अयं पुनरविरुद्धप्रकार इति वृद्धेभ्यः श्रूयते। (सविनयमुपसृत्य) एष वो लवस्य शिरसा प्रणामपर्यायः।

[चतुर्थ अंक]

अश्वमेधयज्ञ के घोड़े को देखकर आये हुए बटु जब उसे घोड़ा दिखाने के लिए ले जाना चाहते हैं और वह भी मन ही मन इसके लिए लालायित है तब भी वह शिष्टाचार के भंग होने से भयभीत है और उन पूज्यों को सम्बोधित करके बाल-स्वभाव से कहता है—

(सकौतुकोपरोधविनयम्) आर्याः ! पश्यत। एभिर्नीतोऽस्मि।

[चतुर्थ अंक]

बालकोपयुक्त कितना स्वाभाविक शिष्टता-गर्भित उत्तर है यह !

राम के विरुद्ध संग्राम करके भी जब लव को राम का प्रत्यक्ष दर्शन और उनके स्वभाव का परिचय होता है तब लव ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वह उसकी महत्ता और विचार-समझता का द्योतक है। देखिये, वह राम की प्रशंसा में, जिसके विरुद्ध अभी तक वह संग्राम कर रहा था, कह रहा है—

(स्वगतम्) अहो ! पुण्यानुभावदर्शनोऽयं महापुरुषः।
आश्वास इव भक्तीनामेकमायतनं महत्।
प्रकृष्टस्येव च धर्मस्य प्रसादो मूर्तिसुन्दरः॥

[षष्ठ अंक १०]

फिर तो लव के हृदय में—

विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निर्वृतिघनः।

[वही ११]

लव में वीरता तो कूट-कूट कर भरी हुई है। वह किसी प्रकार अपनी पराजय सहने के लिए तैयार नहीं है। राम के अश्वमेधयज्ञ के रक्षकों का सप्तलोकैकवीर राम विषयक विजय-घोषणा सुनकर वह ओज और क्रोध में भर उठता है—

भो. भो', तत् किमक्षत्रिया पृथिवी ! यदेवमुद्घोष्यते ।

युद्ध करना तो जैसे उसके लिए कौतुक है। वह बड़ी प्रसन्नता के साथ चन्द्रकेतु को युद्ध के लिए आह्वान करता है—

कुमार ! कुमार ! एह्येहि । विमर्दक्षमां भूमिमवतरावः ।

[पञ्चम अंक]

लव के चरित्र का नाटक में बड़ा रमणीय एवम् उदात्त अङ्कन भवभूति द्वारा किया गया है। उसकी तुलना किसी अन्य संस्कृत नाटक में नहीं मिलती।

कुश

कुश लव का बड़ा भाई है। लेकिन लव की भाँति विनम्रता उसमें नहीं है। वह विशेष उद्धत प्रतीत होता है। नाटककार ने भी उसके चरित्र को विशेष व्यापक रूप से नाटक में नहीं रखा है। अपने भाई के प्रति उसमें अत्यंत अनुराग और क्षात्र धर्म के प्रति दृढ़ आस्था है। भाई के साथ सैनिकों के युद्ध की बात सुनकर वह राजा और क्षत्रिय जाति को आमूल नष्ट करने पर उतारू हो जाता है—

अद्यास्तमेतु भुवनेषु च राजशब्दः
क्षत्रस्य शस्त्रशिखिनः शममद्य यान्तु ।

[षष्ठ अंक]

चन्द्रकेतु

लव की भाँति ही विनम्रता और वीरता चन्द्रकेतु में भी विद्यमान है। उसमें लव की अपेक्षा शालीनता अधिक दृष्टिगत होती है। वह सच्चा वीर है। इसीलिए लव की वीरता की प्रशंसा वह स्वयं करता है। बालसुलभ समवयस्कों के प्रति प्रेम और अनुराग की भावना भी उसमें समायी है। पिता रामचन्द्र के आने पर वह स्वयं उनसे कहता है—पिता जी ! जैसे आप मुझे विशेष स्नेहपूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं उसी प्रकार इस अकुटिल दुष्कर कर्म करने वाले वीर को भी स्नेहार्द्र दृष्टि से देखें—

तद्विज्ञापयामि मामिव विशेषेण स्निग्धेन चक्षुषा पश्यतम् धीरमनराालसाहसं तावः ।

[षष्ठ अंक]

शेष पात्रों के चरित्र की व्याख्या यहाँ विस्तार-भय से नहीं लिखी जा रही है।

प्रकृति-चित्रण

उत्तररामचरित नाटक की एक सबसे बड़ी विशेषता उसके प्रकृति-चित्रण की है। वह दो प्रकार का है—प्रकृति का उग्र रूप और प्रकृति का रमणीय रूप। कवि इसमें दो रूप से प्रवृत्त हुआ है—एक ओर तो पुरानी स्मृतियाँ जागरित हुई हैं जिससे वह जगत का अभिनव रूप देखकर पुराने रूप की याद में मुग्ध हो उठता है और दूसरी ओर पहाड़ एवम् वन की वर्तमान रमणीयता तथा दर्शनीयता को देखकर वह कवि कर्म में प्रवृत्त हुआ है। पुरानी स्मृति की जागरिति की हृदयस्पर्शी अनुभूति भुलाई नहीं जा सकती—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति॥

[द्वितीय अंक २७]

संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि और कालिदास के 'मेघदूत' के बाद भवभूति का यह प्रकृति चित्रण ही बिम्बग्राही चित्रण के रूप में प्राप्त होता है। इसके बाद के कवियों में ऐसे चित्रणों का अभाव-सा ही है।

उत्तररामचरित में भाव और रस

कालिदास को कविता कामिनी का विलास और भास को उसका हास कहा जाता है—'भासो हासः कविकुलगुरु कालिदासो विलासः।' भास के नाटकों में भाव और रस अल्हड़ कविता के हास की भाँति और कालिदास के नाटकों में प्रौढ़ कविता के विलास की भाँति अभिव्यक्त होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। पर जीवन में केवल हास और विलास ही नहीं हैं। नाना भाव और रूप वाली इस प्रकृति के अन्तराल में जीवन सदा एकरस नहीं रहता। सही बात तो यह है कि जीवन के विपुल विस्तार में भाव और विलास जीवन की नन्हीं क्यारियों से ही लगते हैं। जीवन का सच्चा रूप तब सामने आता है जब उसे संघर्ष, दुःख, निराशा, वेदना, भय और बाधाओं के बीच से

निकलना पड़ता है। भवभूति के नाटकों में ऐसे जीवन की झाँकी हमें मिलती है। उस जीवन के नाना भावों और उनके रसों की मूर्तिमान् अभिव्यक्ति भवभूति की वाणी में हमें श्लथ-श्रान्त भी बनाती है और रस में बोर कर निर्भर विश्राम भी देती है।

मालतीमाधव और महावीरचरित की अपेक्षा उत्तररामचरित भवभूति की प्रौढ़ कृति है। भवभूति की काव्यगत विधाओं के अधिक संश्लिष्ट उदाहरण हमें इस नाटक में मिलते हैं। जीवन की विविध परिस्थितियों और कवि के लिए इष्ट प्रकृति के स्वरूप का जीता जागता चित्र इस नाटक में अंकित है। कालिदास को वैभवपूर्ण, मनोहर गन्धर्वों के निवास हिमालय का वर्णन प्रिय है तो भवभूति को बीहड़, भयंकर, गहन कान्तार वाले, अजगरों के निवास विन्ध्यपर्वत का रूप ही मुग्ध कर रहा है। भवभूति विलास के कवि नहीं हैं। वे मर्मान्तक वेदनाओं और साहस को तोड़ देने वाली बाधाओं के सामने खड़े होने वाले मूर्तिमान् पौरुष के भावों के चितेरा हैं। इसीलिए उन्हें विन्ध्य के बीहड़ पहाड़ और गहन कान्तार प्रिय हैं। कालिदास की भाँति उन्हें मयूर, कोकिल, हंस और हरिण प्रिय नहीं हैं। उन्हें तो प्रिय हैं 'घू घू' शब्द करने वाले उल्लू और चंदन के वृक्षों पर रेंगने वाले विषैले साँप—

गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचक-
स्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधोऽयं गिरिः।
एतस्मिन्प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः॥ २, २६

भवभूति की कविता अत्यन्त चमत्कारिणी है। उसका मूल कारण यह है कि भाषा पर भवभूति का पूर्ण अधिकार है। जैसा कि उन्होंने नाटक के प्रारम्भ में कहा है—'विन्देम देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्' सचमुच भवभूति ने आत्मकला अमृतवाणी को प्राप्त कर लिया था। उन्होंने जहाँ एक ओर युद्ध के वर्णन में लम्बे समासों से युक्त ओजगुणविशिष्ट कठोर वर्णों वाले पद्य लिखे हैं वहीं दूसरी ओर ललित भावों के वर्णन में अनुष्टुप् जैसा छोटा छन्द लिखा है, जिसमें एक भी समास नहीं है।

उनकी भाषा की अपूर्व विशेषता यह है कि शब्दों की ध्वनि ही अर्थ का द्योतन करती जाती है। शब्द सामर्थ्य से ही प्रसंग और अर्थ का उद्बोधन

कराकर चित्र खड़ा कर देने में भवभूति पटु हैं। इसे पश्चिमी काव्यशास्त्र में 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहते हैं। इसके उदाहरण उत्तररामचरितनाटक में कई स्थलों पर दिखाई पड़ते हैं। जैसे—

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखरा क्षोणीभृतो दाक्षिणाः।
अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलै-
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः ॥ २, ३०

यहाँ उत्ताल तरंग एवं गद्गदनाद के साथ बहने वाली नदियों और उनके परस्पर मिलने से उत्पन्न घोर कोलाहल का चित्र प्रत्यक्ष होने लगता है।

भवभूति ने विलास से अधिक वेदना को देखा है। इसीलिए उन्होंने मानवीय भावों की अतल गहराई तक प्रवेश कर उन्हें अभिव्यक्त कर देने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। भवभूति ने अलंकारों की लपेट में भाव-सौन्दर्य को अवगुण्ठित नहीं किया है। वे हृदय के सरल भावों का वर्णन ऐसे सरल शब्दों में करते हैं, जिनका अर्थबोध मर्म के अणु-अणु को प्रस्फुटित कर देता है।

अनेक भावों को एक साथ गुम्फित करने में भवभूति को अपूर्व सफलता मिली है। 'भावशबलता' की ऐसी अनोखी अभिव्यक्ति उत्तररामचरित में अनेक स्थलों पर हुई है। एक उदाहरण देखिए—भगवान् रामचन्द्र शम्बूक-वध के प्रसंग में पञ्चवटी में पहुँचे हैं। सीता भी तमसा के साथ वहीं जा रही हैं। राम के शब्द सीता के कानों में पड़ते हैं। बारह वर्षों के बाद प्राणप्रिय के शब्द सुनकर सीता की दशा ही विचित्र हो जाती है। उनके हृदय में एक साथ एक के बाद एक स्तब्धता, प्रसन्नता, कारुण्य और आवेग के भावों का उदय होता है—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशा-
द्वियोगे दीर्घेऽस्मिन्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढकरुणम्।
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन्क्षण इव ॥ ३, १३

भावों की प्राञ्जल अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भवभूति रससिद्ध कवि हैं।

वीर और करुण रस का जैसा परिपाक भवभूति के नाटकों में हुआ है, उसका सादृश्य कालिदास और वाल्मीकि की कविताओं में ही मिलेगा।

प्राय, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भवभूति प्रकृति के भीषण और मानव के ममान्तक भावों के कुशल कवि हैं। इसीलिए उनके नाटकों में रस की ऐकान्तिक निर्मल अभिव्यक्ति न होकर मिश्रित हो जाती है। जैसे यहाँ नीचे के उदाहरण में करुण रस के स्थायी भाव शोक की ही अभिव्यक्ति स्फुट हो पाती है और वह भी स्मृतिसञ्चारी भाव का अंग होकर—

करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पै
स्तरुशकुनिकुरङ्गान्मैथिली यानपुष्यत्।
भवति मम विकारास्तेषु दृष्टेषु कोऽपि
द्रव इव हृदयस्य प्रस्तरोद्भेदयोग्य ॥ ३, २५

करुण रस की जो व्यञ्जना भवभूति के उत्तररामचरित में की गई है, वह यद्यपि मर्म को हिला देने वाली है तो भी उसकी तुलना वाल्मीकि और कालिदास के करुण रस से न हो सकी। भवभूति का करुण रस विलक्षण करुण रस है, जिसमें अधिकांश शोक स्थायी भाव की व्यक्ति के साथ सर्वत्र एक विद्रोह का स्वर व्यञ्जित होता रहता है। तीसरे अंक के आरंभ में मुरला के शब्दों में राम की करुण दशा का चित्रण ही भवभूति के करुण रस की सही व्याख्या है—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रस ॥ ३, १

ऐसा करुण रस जो भीतर से गाढ़ वेदना से तप्त होता हुआ भी ऊपर व्यक्त नहीं हो रहा है, पर मर्म तक को हिला देता है। और यही करुण रस भवभूति के शब्दों में सभी मानवीय भावों का जल और बुद्बुद की भाँति मूल प्रकृति है—

एको रस करुण एव निमित्तभेदा
द्भिन्न पृथक पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम् ॥ ३, ४७

उत्तररामचरित के पाँचवें और छठे अंकों में विशेष रूप से पाँचवें अंक में वीर रस और उसके अंग—भावों की जैसी निर्भर अभिव्यक्ति हुई है। वह सहज होने के कारण अत्यन्त अनुपम है। चन्द्रकेतु और लव दो तरुण कुमारों के आश्रय से होने वाली वीररस की अभिव्यक्ति इसलिए भी और मार्मिक हो उठती है कि दोनों एक कुल के सगे पिता और पितृव्य के पुत्र हैं, जिसका उन्हें पता नहीं है। नाटक का दर्शक और पाठक इसे जानता है। अतएव वह कथा के इस रस में अनायास बह उठता है। वैसे भी दोनों कुमारों की वीर दर्पोक्तियाँ अत्यन्त सहज और उद्दाम हैं, उनमें बनावट नहीं है। लव के प्रति चन्द्रकेतु की इस उक्ति में—

अत्यद्भुतादपि गुणातिशयात्प्रियो मे
तस्मात् सखा त्वमसि यन्मम तत्तवैव ।
तत् किं निजे परिजने कदनं करोषि
नन्वेष दर्पनिकषस्तव चन्द्रकेतुः ॥ ५, १०

विस्मयजनक गुणाधिक्य के कारण तुम मेरे मित्र हो, इसलिए जो कुछ मेरा है, वह तुम्हारा ही है। हमारे परिजन भी तुम्हारे परिजन हैं। उन्हें पीडित न करो। अरे! तुम्हारे बल-दर्प की कसौटी यह चन्द्रकेतु तो उपस्थित ही है। कई वस्तु-दर्शन एक साथ होते हैं। मीठा व्यंग्य एक ओर और उसी से प्रवृद्ध वीररस का स्वाभाविक प्रकर्ष दूसरी ओर। और सब से बड़ी बात है भारतीय वीरता का आदर्श, जिस पद्धति में हम युद्ध-भूमि में वीरता की प्यास बुझाते हैं, किन्तु द्वेष, क्रोध या ईर्ष्या में अभिभूत नहीं होते हैं। हमारा प्रतिद्वन्द्वी हमारा मित्र होता है, सखा होता है—'तस्मात् सखा त्वमसि यन्मम तत्तवैव'।

यह गूढ़ ललकार सुनकर रघुकुल सेना से लड़ता हुआ कुमार लव लौट पड़ता है चन्द्रकेतु से लड़ने के लिए। राजकुमार चन्द्रकेतु के स्वच्छ और कठोर वीरोचित वाक्य की वह प्रशंसा करता है—

(सहर्षसम्भ्रमं परावृत्य) अहो! महानुभावस्य प्रसन्नकर्कशा वीरवचनप्रयुक्तिर्विकर्तनकुलकुमारस्य। तत् किमेभिः? एनमेव तावत्सम्भावयामि।

लेकिन लव को लौटता देखकर जोश में आकर सैनिक कोलाहल मचाते हैं। फिर तो लव के एक वाक्य में उत्साह भाव वीररस में फूट पड़ता है—

(सक्रोधनिर्वेदम्) आः! कदर्थीकृतोऽहमेभिर्वीरसंवादविघ्नकारिभि: पापैः। (इति तदभिमुखं परिक्रामति)

—५ वाँ अंक

नाटक में लव का चित्र वीररसावतार और मूर्तिमान् स्वाभिमान के रूप में हमारे सामने आता है। सेना की यह घोषणा—

योऽयमश्वः पताकेयमथवा वीरघोषणा।
सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विषः॥ ४, २७

सुनते ही लव का क्षात्र तेज उद्दीप्त हो उठता है। वह कहता है—

अहो सन्दीपनान्यक्षराणि। + + +
भो भो.! तत् किमक्षत्रिया पृथिवी? यदेवमुद्घोष्यते।

—४ थे अंक

आगे पाँचवें अंक में अपने इसी स्वाभिमान के साथ लव अपने हृदय को खोलकर सुमन्त्र के सामने रख देते हैं—'यज्ञिय अश्व का हरण कर हम लोग इस प्रकार यज्ञ का विध्वंस करने वाले नहीं हैं। इस संसार में भला कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो रामचन्द्रजी के प्रति उनके गुणों के कारण सम्मान न प्रकट करे। किन्तु क्या करूँ! यज्ञाश्व के रक्षकों की घोषणा ने, जिसमें निखिल क्षत्रियों की अवमानना की गई है, मुझमें विकार पैदा कर दिया।'

लव के बाद कुश में भी जो वीररस की अभिव्यक्ति होती है, वह बेजोड़ है। भाई लव के साथ सैनिकों के युद्ध की बात सुनकर लोक से राजा और क्षत्रिय शब्द की सत्ता ही समाप्त कर देना चाहता है। आवेगयुक्त उत्साह की यह अभिव्यक्ति कितनी आकर्षक है—

आयुष्मतः किल लवस्य नरेन्द्रसैन्यै-
रायोधनं ननु किमात्थ सखे तथेति।
अद्यास्तमेतु भुवनेषु च राजशब्दः
क्षत्रस्य शस्त्रशिखिनः शममद्य यान्तु॥ ६, १६

करुण और वीररस के अतिरिक्त अन्य रसों और उनके भावों की अभिव्यक्ति भी नाटक मे यथास्थान हुई है। उनमें सयोग शृगार केवल पहले अक में और विप्रलम्भ शृगार शेष सभी अकों में आता है। रौद्र, भयानक, बीभत्स और अद्भुत रसों की अच्छी अभिव्यक्ति नाटक मे हुई है। पाँचवें, छठे अंक मे रौद्र और अद्भुत रस की परिणति बड़ी स्वाभाविक हुई है।

वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति की सीता

वाल्मीकि और कालिदास ने सीता के उज्ज्वल चरित्र को, राम द्वारा लाञ्छनवश उनके निर्वासित करने की कथा को प्राय' एक तरह ही निबद्ध किया है। प्राय. थोडा-सा अन्तर कालिदास की सीता मे यह आता है कि उनमें वाल्मीकि की सीता से अधिक स्वाभिमान की अभिव्यक्ति होती है। वाल्मीकि-रामायण मे लक्ष्मण सीता को गंगा के पार जगल में छोड़ कर जब चलने लगते है तब सीता राम के प्रति इस प्रकार का सन्देश कहती हैं—

> अह त्यक्ता च ते वीर अयशोभीरुणा जने।
> यच्च ते वचनीयं स्यादपवाद' समुत्थित.॥
> मया च परिहर्तव्य त्वं हि मे परमा गतिः।

उत्तरकाण्ड ४८

[वीर! आपने अयश से डर कर मेरा परित्याग किया है। इसलिए आपकी जो निन्दा हो रही है या अपवाद फैल रहा है, उसे दूर करना मेरा भी कर्तव्य है। मै इस वनवास को स्वीकार करती हूँ, क्योंकि आप ही मेरे परम गति हैं।]

कालिदास के रघुवश में सीता ने आक्रोशपूर्ण सन्देश कहा है—

> वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
> मां लोकवादश्रवणादहासी' श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य॥ १४, ६१

[मेरी ओर से तुम उन राजा से यह कहना कि अपने सामने मुझे अग्नि में शुद्ध पाकर भी लोक के अपयश के डर से यह मेरा त्याग जो ... के

किया है, क्या यह कार्य उस प्रसिद्ध कुल के लिए शोभा देता है, जिसमें आप ने जन्म लिया है।]

वाल्मीकि और कालिदास की सीता के सन्देश का यह संकेतमात्र है। वैसे भी पूर्ण सन्देश में कलिदास की सीता में नारी के स्वाभिमान की छाप है।

इधर भवभूति के उत्तररामचरित में सीता का चरित्र प्रेम का आदर्श है, जिसमें सीता और राम दो नहीं हैं और सीता किसी प्रकार का आक्रोश कहीं भी राम के प्रति व्यक्त नहीं करतीं। पहले अंक में ही जब राम ने वसिष्ठ का प्रजा-रक्षण का सन्देश सुनकर कहा—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ १, १२

तब सीता ने प्रफुल्ल होकर कहा—

अदो जन्व राहवकुलधुरन्धरो अज्जउत्तो।

तीसरे अंक में राम पञ्चवटी में पहुँचते हैं। वहाँ पहुँचते ही उन्हें सीता की याद आती है। शोक में वे संज्ञाशून्य हो जाते हैं। सीता वहाँ उपस्थित हैं। राम उन्हें देख नहीं सकते हैं। तमसा की आज्ञा से सीता राम को अपने स्पर्श द्वारा चेतनागत करती हैं। राम स्पर्श पहचान जाते हैं—

स्पर्शः पुरा परिचितो नियतं स एव
सञ्जीवनश्च मनसः परिमोहनश्च। ३, १२

× × ×

न खलु वत्सलया देव्याऽभ्युपपन्नोऽस्मि।

सीता डरती हैं। उनमें आक्रोश नहीं आता। वे सोचती हैं—राम के जिस यश के लिए मैं निर्वासित हुई, उसकी रक्षा मुझे करनी चाहिए। मुझे हट जाना चाहिए। यदि राम मुझे देख लेंगे तो उनका व्रत भंग होगा। वे क्रोध करेंगे।

उधर राम चेतना आते ही कह उठते हैं—'हा प्रिये जानकि !'

जानकी गद्गद हो उठती हैं। उनकी आँखों से आँसू गिरने लगते हैं।

वे कहती हैं—इस प्रकार मुझे याद करने वाले आर्यपुत्र के प्रति मैं कैसे निर्दय और कठोर हो सकती हूँ। मैं इनका हृदय जानता हूँ और ये मेरा—

भअवदि ! किंति वज्जमई जम्मन्तरेसु वि पुणो वि असंभाविअदुल्लह-दंसणस्स मं एव्व मन्दभाइणि उद्दिसिअ एव्व वच्छलस्स एव्वं वादिणो अज्जउत्तस्स उवरि णिरणुक्कोसा भविस्सम्। अहं एव्व एदस्स हिअअं जाणामि, मह एसो।

मानों भवभूति ने सीता के इस निःस्वार्थ निर्भर प्रेम को चित्रित करने के लिए तृतीय अक की कथा गढ़ी है। चौथे अक में सीता के चरित्र की महिमा का गान अरुन्धती और जनक के द्वारा किया जाता है। तीसरे अक की इस कथा-भूमि के पश्चात् वह महिमागान कम ही मालूम पड़ता है।

पूरे उत्तररामचरित मे सीता राम से कहीं भिन्न नहीं हैं। वाल्मीकि और कालिदास की सीता राम से भिन्न हैं। सातवें अक में लव-कुश के रामायण-गान के बाद सीता को फिर से राम के सामने उपस्थित किया जाता है। अरुन्धती सीता की शुद्धि की घोषणा पौर-जानपदों के सामने करती हैं और राम को आदेश देती हैं कि वे सीता को ग्रहण करें। उस समय सीता यह कहकर चुप हो जाती हैं कि आर्यपुत्र सीता का दुःख दूर करना जानते हैं—'अवि जाणादि अज्जउत्तो सीदाए दुक्खं पडिमज्जिदुम्'।

वाल्मीकि और कालिदास की सीता इस प्रसग में धरती से अपनी शरण के लिए प्रार्थना करती हैं और धरती मे समा जाती हैं। वहाँ सीता का व्यक्तित्व राम से भिन्न हो जाता है। किन्तु भवभूति की सीता का व्यक्तित्व राम से भिन्न नहीं है।

यही नहीं, उत्तररामचरित में सीता को निर्वासित करने के सम्बन्ध से राम के हृदय में जो दुःख का आवेग उठता है—

हा देवि देवयजनसम्भवे ! हा स्वजन्मानुग्रहपवित्रितवसुन्धरे ! × × × कथमेवंविधायास्तवायमीदृशः परिणामः। × × × हन्त हन्त सम्प्रति विपर्यस्तो जीवलोकः। अद्यावसितं जीवितप्रयोजनं रामस्य।

वह न वाल्मीकि मे है, न कालिदास में। दोनों के राम लोक के

अनुशासक हैं, मर्यादा के लिए दण्डनायक हैं और विशेष रूप से उन्हें अपनी अकीर्ति का बहुत बड़ा भय है—

> अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते ।
> कीर्त्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम् ॥
> अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः ।
> अपवादभयाद्भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ॥
>
> वाल्मीकि उत्तर० ४५ । १३-१४

यहाँ 'किं पुनर्जनकात्मजाम्' पद पर ध्यान दें । यहाँ सीता को जितना कम समझा गया है, उत्तररामचरित के प्रथम अंक में अभी उद्धृत ऊपर के श्लोक में 'यदि वा जानकीमपि' पद में सीता को उतना ही अधिक समझा गया है ।

कालिदास के राम भी अपकीर्ति से डरते हैं—

> मत्तः सदाचारशुचेः कलङ्कः पयोदवातादिव दर्पणस्य ।
>
> रघुवंश १४, ३७

मालूम पड़ता है कि भवभूति इस रूढ़ि से ऊपर उठ कर दाम्पत्य धर्म की गहन महिमा को आँकने में सफल हुए हैं ।

उत्तररामचरित में सूक्तियाँ

उत्तररामचरित में जिन सूक्तियों का यथास्थान प्रयोग हुआ है, उनकी अवतारणा प्रसंगवश नहीं की गई है, बल्कि भवभूति की लोक में जो अवमानना हुई है, उसके फलस्वरूप उनका आहत हृदय अवसर पाने पर स्वयं फूट पड़ा है । कवि के उदात्त चरित्र, गाम्भीर्य तथा धैर्य का पता इन सूक्तियों से चलता है । इन सूक्तियों में हमें काव्य-सौन्दर्य के साथ मनोवैज्ञानिक तथ्य भी दिखाई पड़ते हैं । अपनी दूसरी कृति में भवभूति ने स्वयं इसका निर्देश किया है—

> उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्मा
> कालोऽह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।

इस नाटक में भी कई सूक्तियाँ ऐसी हैं, जो पूर्व के कवियों द्वारा प्रयुक्त

होने पर भी भवभूति की वाणी में अधिक उदात्त हो उठी हैं। कालिदास की यह सूक्ति—

तथापि शश्वत्त्यवहारनिष्ठुरे विपक्षभावे चिरमस्य तस्थुषः ।
तुतोष वीर्यातिशयेन वृत्रहा पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते ॥

रघुवंश ३, ६२

भवभूति की वाणी में और भी प्राञ्जल हो उठी है—

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्ति द्रढयति ।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥

अरुन्धती के द्वारा सीता की इस प्रशंसा में 'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः' यह लोक-निष्कर्ष 'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते' से अधिक कटु सत्य है।

इसी प्रकार लव के द्वारा रामचन्द्र के प्रति किये गये आक्षेप में उत्तर-रामचरित की स्[illegible]क्ति—

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते ।

× × ×

यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासन् खरायोधने ।

आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के—

तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम्। (ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत)

इस कथन को अधिक कटु सत्य रूप में हमारे सामने रखती है। प्रायः सूक्तियाँ कवियों ने अर्थान्तरन्यास अलंकार के रूप में प्रयुक्त की हैं, पर भवभूति अर्थान्तरन्यास का रूप न देकर काव्यात्मक रूप में उनका प्रयोग करते हैं। ये सूक्तियाँ अवश्यमेव भवभूति के जीवन के किसी आक्रोशात्मक पहलू से सम्बन्ध रखती हैं। जैसे यहाँ ऊपर की सूक्ति से ही यह बोध होता है कि भवभूति के कवित्व का वृद्ध जनों ने भी निरादर किया था।

नीचे प्रस्तुत पुस्तक में आयी हुई सूक्तियों का संकलन प्रस्तुत है :—

१—अन्धतामिस्रा ह्यसूर्या नाम ते लोकाः प्रेत्य तेभ्यः
प्रतिविधीयन्ते य आत्मघातिनः । पृष्ठ २३७
२—अव्याहतान्तःप्रकाशा हि देवताः सत्त्वेषु । पृष्ठ ४०१
३—अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सीव्यति ॥ पृष्ठ ३११
४—आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां
ये व्याहारास्तेषु मा संशयो भूत् ।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता
नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति ॥ पृष्ठ १६१, २६१
५—ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः ।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निष्कृतिः ॥ पृष्ठ ३२५
६—कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
कीर्तिं सूते दुहृदो निष्प्रल
शुद्धां शान्तां मातरं मङ्गलानां
धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः ॥ पृष्ठ ३२५
७—को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे ।
पृष्ठ ३६८
८—गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः । पृष्ठ ५५१
९—चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासे स्वाश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः ।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रे ह्युपरते
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव ॥ पृष्ठ ३८२
१०—तारामैत्रक चक्षूराग । पृष्ठ ३११
११—तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः । पृष्ठ २६
१२—तेजस्तेजसि शाम्यतु । पृष्ठ २६८।
१३—न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ पृष्ठ १२२
१४ न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते
स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः ।

मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति ॥ पृष्ठ ३५३
१५—न रथिनः पादचारमभियुञ्जन्ति । पृष्ठ ३१४
१६—नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि । पृष्ठ २७
१७—पुरन्ध्रीणां चित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति । पृष्ठ २५२
१८—प्रोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया ।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरवधार्यते ॥ पृष्ठ १६१
१९—प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः ।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥ पृष्ठ ८६
२०—प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति । पृष्ठ ३७३
२१—महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशयः । पृष्ठ ३४८
२२—लतायां पूर्वलूनायां प्रसवस्योद्भवः कुतः । पृष्ठ ३१४
२३—लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते ।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥ पृष्ठ २१
२४—वीराणां समयो हि दारुणरसः स्नेहक्रमं बाधते । पृष्ठ ३१३
२५—वृद्धास्ते न विचारणीयचरिताः । पृष्ठ ३३०
२६—व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥ पृष्ठ ३५०
२७—सङ्कटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता । पृष्ठ १५
२८—सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति । पृष्ठ ८८
२९—सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां दुःखानि सद्बन्धुवियोगजानि ।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि स्रोतःसहस्रैरिव संप्लवन्ते ॥
पृष्ठ २४५
३०—सन्तापकारिणो बन्धुजनविप्रयोगा भवन्ति । पृष्ठ १६

३१—सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता ।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥ पृष्ठ ११

३२—सचमविमात्र दीपाय । पृष्ठ ३४२

३३—साचात्कृतधर्माणो महर्षय । पृष्ठ ३६२

३४—सानुबन्धानि कल्याणानि । पृष्ठ ४२१

३५—सिद्ध ह्येतद्वाचि वीर्यं द्विजानां बाह्वोर्वीर्यं यत्तु तत्क्षत्रियाणाम् ।
पृष्ठ ३२८

३६—सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदां प्रथममेकरसामनुकूलताम् ।
पुनरकाण्डविवर्तनदारुणः परिशिनष्टि विधिर्मनसो रुजम् ॥
पृष्ठ २५५

३७—स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्ष इति विप्रतिपिद्धमेतत् । पृष्ठ ३४९

कृष्ण, संतोष, सौरभ [illegible] 1917

ओम्

उत्तररामचरितम्

प्रथमोऽङ्कः

इदं कविभ्य[1] पूर्वेभ्यो[2] नमोवाकं प्रशास्महे ।
विन्देम[3] देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम् ॥ १ ॥

अन्वय—पूर्वेभ्यः कविभ्यः नमोवाकम् इदं प्रशास्महे आत्मनः कलाम् अमृतां वाचं देवतां विन्देम ॥ १ ॥

व्याख्या—तत्रभवान् भवभूतिर्नाम महाकविः उत्तररामचरितनामकं नाटकं प्रणेतुम् इच्छन् 'ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलम् आचरेत्' इति शिष्टपरम्परानुसारेण नमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरति इदमिति । पूर्वेभ्यः पुरातनेभ्यः, कविभ्यः वाल्मीकिव्यासादिभ्यः काव्यस्रष्टृभ्यः, नमोवाकं नमस्कारोच्चारणपूर्वकम्, इदं वक्ष्यमाणं, प्रशास्महे प्रार्थयामहे, (यत्) आत्मनः परमात्मनः वा विष्णोः, कलाम् अंशभूताम्, अमृताम् अविनाशिनीं वा अमृतवत् सुस्वादुरसां, वाचं वाणीं, देवतां देवीं, (वयम्) विन्देम लभेमहि । अथवा पूर्वेभ्यः कविभ्यः नमः, तदनन्तरं वाचं वाक्यरूपं सगुणं ब्रह्म विष्णुं वा इदं प्रशास्महे इत्यादि व्याख्या कार्या ('वन्देमहि च तां वाणीम्' इति पाठभेदे तु तां प्रसिद्धां, वाणीं वागधिष्ठातृदेवतां, वन्देमहि स्तुवीमहि इति व्याख्यानेन अर्थसङ्गतिः यथा कथञ्चित् आपादनीया) ॥ १ ॥

अनुवाद—हम अपने पूर्वजन्मा कवियों (व्यास, वाल्मीकि, भास, कालिदास आदि) को प्रणाम करते हैं और यह चाहते हैं कि (उनके आशीर्वाद से) हमें (जगत् के पालक) विष्णु की कलारूप अमर वाणी देवता का साक्षात्कार हो ॥ १ ॥

१—'गुरुभ्यः' इति पाठभेदः । २—'सर्वेभ्यः' इति पाठान्तरम् । ३—'वन्देमहि च तां वाणीम्' इत्यपि पाठो लभ्यते ।

टिप्पणी—उत्तररामचरितम् = रामस्य चरितम् षष्ठीतत्पुरुष समास, उत्तरञ्च तत् रामचरितम् कर्मधारय समास, उत्तररामचरितमधिकृत्य *कृत नाटकम्* इति उत्तररामचरित+अण् तस्य 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' इति वार्तिकेन लोपः। अङ्क = रंगमंच पर से सभी पात्रों के चले जाने तक जारी रहने वाला अंक कहलाता है—'अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क परिकीर्तित।' 'इदं कविभ्य.' इस श्लोक द्वारा ग्रन्थकार ने नान्दीपाठ के रूप में नमस्कारात्मक मंगल किया है। मंगल के तीन रूप माने गये हैं—आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक तथा वस्तुनिर्देशात्मक—'*आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्*'। पूर्वेभ्य कविभ्य =पहले के कवियों को उद्देश्य करके। 'प्रशास्महे' इस क्रिया का उद्देश्य होने से 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' इस वार्तिक से यहाँ चतुर्थी हुई। नमोवाकम् = नम इस वचन के साथ अर्थात् नमस्कार करके। वचन वाक वच् परिभाषणे धातु से घञ् प्रत्यय और कुत्व वृद्धि, नमो वाको यस्मिन् (कर्मणि) तद् यथा स्यात् तथा नमोवाकम्, यह क्रियाविशेषण है। प्रशास्महे = प्रार्थना करते हैं। 'प्र' उपसर्गपूर्वक इच्छार्थक शास् धातु के लट्लकार उत्तम पुरुष बहुवचन का यह रूप है। यहाँ 'अस्मदो द्वयोश्च' सूत्र से बहुवचन हुआ। यद्यपि शास् धातु के साथ आङ् उपसर्ग जुड़ता है, किन्तु वह प्रायिक है (दे० सिद्धान्तकौमुदी)। विन्देम = प्राप्त करें। प्राप्त्यर्थक विद् धातु के विधिलिङ् लकार—उत्तम पुरुष—बहुवचन में यह रूप होता है। यह तुदादिगणीय उभयपदी धातु है। 'सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे। विन्दते—विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात्।' देवताम् = देव एव इति देव+तल् (स्वार्थे)। देव शब्द पुंलिंग है और देवता स्त्रीलिंग, क्योंकि कभी कभी स्वार्थिक प्रत्यय के कारण निष्पन्न शब्द के लिंग और वचन में परिवर्तन हो जाता है—'क्वचित् स्वार्थिका प्रकृतितो लिंग वचनान्यतिवर्तन्ते।' वाचम् = शब्दब्रह्म की 'सूक्ष्मा' नामक तुरीया वाणी। 'वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा। द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी।' इस वाणी की प्राप्ति होने पर मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है और यह बिना गुरु की कृपा के नहीं मिलती है। इसलिये कवि ने पहले गुरुओं या तद्रूप पूर्व कवियों को प्रणाम किया और उनकी कृपा से सूक्ष्मा वाणी की प्राप्ति की कामना की। आत्मन —विष्णु या परमात्मा की। 'परावरेण

भूतानामात्मा यः पुरुषः परः' इत्यादि श्रीमद्भागवत के प्रमाण से विष्णु को परमात्मा कहा जाता है। कलाम्=अंशभूत। विष्णु पुराण में वाणी को परमात्मा का अंश बताया गया है। जैसे—'काव्यालापाश्च ये केचित् गीतकान्यखिलानि च। शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः।' अमृताम्—कभी न मरने वाली। अविद्यमान मृत (मरणम्) यस्याः 'नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति नञ्बहुव्रीहिसमास। यह अनुष्टुप् छन्द है ॥ १ ॥

(*नान्द्यन्ते*) सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण। अद्य खलु भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्यमिश्रान् विज्ञापयामि, एवमत्रभवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु। अस्ति खलु तत्रभवान् काश्यपः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः।

व्याख्या—(एतादृश्या) नान्द्याः पूर्वोक्तायाः स्तुतेः, अन्ते पाठावसाने, सूत्रधारः प्रधाननटः, (वदति) अतिविस्तरेण सुबहुलेन, (नान्दीप्रयोगेण) अलम् व्यर्थम्। अद्य अस्मिन् दिने, खलु निश्चयेन, भगवतः ऐश्वर्यसम्पन्नस्य, कालप्रियानाथस्य महाकालेश्वरस्य, यात्रायाम् वार्षिकोत्सवे, आर्यमिश्रान् सभ्यश्रेष्ठान्, विज्ञापयामि विनिवेदयामि, अत्रभवन्तः मान्याः, एवं वक्ष्यमाणं, विदाङ्कुर्वन्तु जानन्तु, (यत्) तत्रभवान् पूज्यः, काश्यपः कश्यपगोत्रोत्पन्न, श्रीकण्ठपदलाञ्छनः श्रीकण्ठोपाधिकः, पदवाक्यप्रमाणज्ञः व्याकरणमीमांसान्यायशास्त्रज्ञाता, भवभूतिर्नाम भवभूतिः इति नाम्ना प्रसिद्ध, जतुकर्णीपुत्रः जतुकर्ण्याः पुत्रः, (कश्चित् जनः) अस्ति विद्यते।

अनुवाद—(*नान्दी की समाप्ति होने पर*) सूत्रधार—अत्यन्त विस्तृत नान्दीपाठ की आवश्यकता नहीं है। आज भगवान् कालप्रियानाथ के वार्षिक महोत्सव के अवसर पर मैं उपस्थित महानुभावों के सूचनार्थ निवेदन करता हूँ कि जतुकर्णी देवी के पुत्र भवभूति नामक एक माननीय कवि हैं, जिनका गोत्र काश्यप है तथा उपाधि श्रीकण्ठ है और जो व्याकरण, मीमांसा एवं न्यायशास्त्र में निष्णात हैं।

टिप्पणी—नान्दी=नाटक के प्रारंभ में की जाने वाली आशीर्वादात्मक स्तुति। नन्दयति स्तवेन देवादीन् आशीर्वादेन सभ्यान् नमस्कारेण च आत्मानं या वाक् सा नान्दी, नन्द् धातु से कर्ता में पचादित्वात् अच् तब 'प्रज्ञादिभ्यश्च' सूत्र से अण्, फिर ङीप् करने पर यह सिद्ध होता है। यह

नान्दी सुबन्त और तिङन्त पदों को मिलाकर बारह पदों की होनी चाहिए। यहाँ 'प्रशास्महे' और 'विन्देम' ये दो तिङन्त पद हैं और 'इदम्', 'कविभ्यः' आदि दस सुबन्त पद हैं। नान्दी का लक्षण बताया गया है—'आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात् प्रयुज्यते। देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥ मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी। पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत॥' सूत्रधारः=रंगशाला का व्यवस्थापक। सूत्रं धारयति, सूत्र उपपदपूर्वक धृ धातु से णिच्, फिर 'कर्मण्यण्' सूत्र से अण्। इसका लक्षण इस प्रकार है—'वर्णनीयतया सूत्रं प्रथमं येन सूच्यते। रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते॥' अथवा 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते॥' विस्तरेण=वि स्तृ+अप् (भावे)। विस्तार शब्द में 'प्रथने वावशब्दे' सूत्र से घञ् प्रत्यय होता है। अतएव 'वाक्यस्य विस्तरः' और 'पटस्य विस्तारः' इस प्रकार प्रयोग करना चाहिए। कालप्रियानाथस्य=उज्जैन के महाकालेश्वर अथवा भवभूति के निवासस्थान पद्मपुर में स्थापित शिव। कालप्रिया=दुर्गा, तस्याः नाथः शिवः। यात्रायाम्=उत्सव के अवसर पर। 'यात्रोत्सवे गतौ वृत्तौ' इति हेमचन्द्रः। आर्यमिश्रान्=प्रतिष्ठित सज्जनों को। 'गौरवितास्त्वार्यमिश्राः' इति त्रिकाण्डशेषः। अथवा आर्येषु मिश्राः श्रेष्ठाः। आर्य का लक्षण यह है—'कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्य इति स्मृतः॥' अत्रभवन्तः=पूज्य महाशय। भवत् शब्द के साथ 'अत्र' और 'तत्र' जोड़ देने से आदर सूचित होता है। किन्तु उपस्थित व्यक्ति के लिए 'अत्र' और अनुपस्थित के लिए 'तत्र' जोड़ना चाहिए। विदाङ्कुर्वन्तु=समझें। विद्+लोट्—अन्तु 'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' इति सूत्रेण निपातनात् सिद्धिः। श्रीकण्ठपदलाञ्छनः=श्रीः सरस्वती कण्ठे यस्य सः श्रीकण्ठः, श्रीकण्ठ इति पदं लाञ्छनं चिह्नम् उपाधिर्यस्य सः। पदवाक्यप्रमाणज्ञः=व्याकरण, मीमांसा और न्यायशास्त्र का ज्ञाता। पदं च वाक्यं च प्रमाणं च पदवाक्यप्रमाणानि, द्वन्द्वसमासः। तानि जानाति इति ज्ञा धातोः कप्रत्यये कृते उपपदसमासः। भवभूतिः=भवस्य शिवस्य इव भूतिः ज्ञानसम्पद् यस्य स भवभूतिः। 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः। अथवा कहते हैं कि ईश्वर ने ही भिक्षुरूप में आकर इस कवि को भूति प्रदान की थी। तब विग्रह-वाक्य होगा—भवात् भगवतो भूतिर्यस्य इति भवभूतिः। प्राचीन विद्वानों के अनुसार

'साम्ना पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः ।' इस श्लोक से सन्तुष्ट होकर किसी राजा ने इन्हें 'भवभूति' की उपाधि से विभूषित किया था। कोई कहते हैं कि 'तपस्वी का गतोऽवस्थामिति स्मेराननाविव । गिरिजायाः स्तनौ वन्दे भवभूतिसिताननौ ॥' इस श्लोक-वैचित्र्य से मुग्ध जनता ही कवि को 'भवभूति' कहने लगी। तो जैसे कालिदास को 'दीपशिखा', भारवि को 'आतपत्र' और माघ को 'घण्टा' की उपाधियाँ मिलीं उसी तरह उत्तररामचरित के रचयिता को 'भवभूति' की उपाधि मिलना कोई असंगत नहीं है। कहीं **जातुकर्णीपुत्रः** ऐसा पाठ है। वहाँ व्युत्पत्ति होगी—जतुकर्णस्य ऋषेर्गोत्रापत्यं स्त्री इति जतुकर्ण+यञ्—टीप्, 'हलस्तद्धितस्य' इति सूत्रेण यलोपः । जातुकर्ण्याः पुत्रः इति षष्ठीतत्पुरुष स० ।

यं ब्रह्माणमियं[1] देवी वाग्वश्येवानुवर्तते । 1997
उत्तरं रामचरितं तत्प्रणीतं प्रयोक्ष्यते ॥ २ ॥

अन्वय—इयं वाक् देवी वश्या इव यं ब्रह्माणम् अनुवर्तते, तत्प्रणीतम् उत्तरं रामचरितं प्रयोक्ष्यते ॥ २ ॥

व्याख्या—इयम् प्रसिद्धा, वाग्देवी सरस्वती, वश्या अधीना, इव तद्वत् यं ब्रह्माणं ब्राह्मणम्, अनुवर्तते अनुसरति, अथवा इयं वाग्देवी यं भवभूतिं ब्रह्माणं स्वभर्तारं चतुर्मुखम् इव वश्या सती अनुवर्तते, तत्प्रणीतं तेन ब्राह्मणेन भवभूतिना कृतम्, उत्तरम् राज्याभिषेकानन्तरभवं, रामचरितं रामस्य चरित्रं, प्रयोक्ष्यते अभिनेष्यते (अस्माभिः) ॥ २ ॥

अनुवाद—यह सरस्वती देवी वशवर्तिनी (चेटी) की तरह जिस ब्राह्मण (भवभूति) का अनुगमन करती है, उसके बनाये हुए उत्तररामचरित (नाटक) का हम अभिनय करेंगे ॥ २ ॥

टिप्पणी—ब्रह्माणम्=ब्राह्मण को। 'ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' इत्यमरः । यहाँ तात्पर्य यह है कि जैसे सरस्वती ब्रह्मा की (पत्नी होने से उनकी) आज्ञानुवर्तिनी है उसी तरह वाणी भवभूति की वशवर्तिनी है। **उत्तरम्**=राज्याभिषेक के बाद का। क्योंकि इससे पहले का रामचरित भवभूति के महावीरचरित नामक नाटक में निबद्ध हो चुका है। इस श्लोक में 'वाच्यगुणोत्प्रेक्षा' अलंकार है ॥ २ ॥

१—'ब्राह्मणम्' इति पाठभेदः ।

एषोऽस्मि कार्यवशादायोध्यकस्तदानीन्तनश्च संवृत्तः। (*समन्तादवलोक्य*) भो भो, यदा तावदत्रभवतः पौलस्त्यकुलधूमकेतोर्महाराजरामस्याय पट्टाभिषेकसमयो रात्रिन्दिवमसंहृतनान्दीकः, तत् किमिदानीं विश्रान्तचारणानि चत्वरस्थानानि?

व्याख्या—एषः अहं सूत्रधारः, कार्यवशात् अभिनयानुरोधात्, *आयोध्यकः अयोध्यावासी, तदानीन्तनः तत्कालवर्ती* च, संवृत्तः सजातः, (अस्मि)। समन्तात् चतुर्दिक्षु, अवलोक्य दृष्ट्वा, भो भो इति सम्बोधनार्थकमव्ययम्—तथा च हे नट, यदा तावत्, अत्रभवतः पूजनीयस्य, पौलस्त्यकुलधूमकेतोः रावणवंशाग्नेः अथवा रावणवंशस्य धूमकेतुः अशुभसूचकग्रहविशेष इव विनाशहेतुः तस्य, महाराजरामस्य महाराजपदवीम् समधिगतस्य रामभद्रस्य, पट्टाभिषेकसमयः राज्याभिषेककालः, रात्रिन्दिवम् अहर्निशम्, असंहृतनान्दीकः अविच्छिन्नमङ्गलः (इदम् समयस्य विशेषणम्), (वर्तते) तत् तर्हि, किम् किमर्थम्, इदानीम् अधुना, चत्वरस्थानानि अङ्गनप्रदेशाः, विश्रान्तचारणानि स्वस्वकर्तव्यनिरतनटानि (सन्ति)?

अनुवाद—यह मैं अभिनय के कारण अयोध्यानिवासी एवं तत्कालवर्ती (*राम का समसामयिक*) बन गया हूँ। (*चारों ओर देख कर*) हे नट! जब जगद्वन्दनीय एवं रावणवंश के लिए अग्निस्वरूप (अर्थात् रावणकुलनाशक) महाराज रामचन्द्र के राज्यतिलक के उपलक्ष में दिनरात लगातार होने वाले गीत-वाद्यादि माङ्गलिक कार्यक्रम का यह समय है तब क्यों अभी राजमहल के प्राङ्गण में नट लोग अपने अपने कार्य से विरत दिखाई दे रहे हैं?

टिप्पणी—आयोध्यकः = अयोध्यावासी। अयोध्यायां भवः आयोध्यकः, अयोध्या+वुञ् (धन्वयोपधाद् वुञ् इति सूत्रेण), तस्य अक आदेशः। तदानीन्तनः = उस समय का। तदानीम् भवः तदानीन्तनः, तदानीम्+ट्यु और तुट् आगम (सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च इति सूत्रेण), यु इत्यस्य अन आदेशः। पौलस्त्यकुलधूमकेतोः = पुलस्त्यस्यापत्यम् पौलस्त्यः = रावणः पुलस्त्य+अण् (तस्यापत्यम् इति सूत्रेण), पौलस्त्यस्य कुलम् तस्य धूमकेतुः = अग्निः, धूमः केतुः चिह्नम् यस्य सः इव। रात्रिन्दिवम् = दिनरात। रात्रौ च दिवा च इस विग्रह में द्वन्द्वसमास और 'अचतुरविचतुर'

इत्यादि सूत्र से अच्प्रत्यय तथा गत्रि को मान्तत्व निपातन हुआ। असंहृत-नान्दीक' = जिसमें निरन्तर नान्दी-पाठ होता रहे। असंहृता नान्दी यस्मिन् सः, बहुव्रीहि समास और 'नद्यृतश्च' सूत्र से कप् प्रत्यय। विश्रान्तचारणानि = जहाँ चारण लोग विश्राम कर रहे हों। विश्रान्ता चारणाः येषु तानि, बहुव्रीहि समास। चारण = नट, 'भारता इत्यपि नटाश्चारणाश्च कुशीलवाः' इत्यमर'। चत्वरस्थानानि = आँगन के हिस्से। 'अङ्गण चत्वराजिरे' इत्यमरः।

(*प्रविश्य*) नट.—भाव ! प्रेषिता हि स्वगृहान् महाराजेन लङ्का-समरसुहृदो महात्मान प्लवङ्गमराक्षसा' सभाजनोपस्थायिनश्च नाना-दिगन्तपावना ब्रह्मर्षयो राजर्षयश्च, यत्समाराधनायैतावतो दिवसान् प्रमोद आसीत्।

व्याख्या—प्रविश्य रङ्गभूमौ प्रवेश कृत्वा, नट सूत्रधारसहयोगी कश्चन अभिनेता (वदति—) भाव ! नटप्रधान ! वा विद्वन् ! महाराजेन रामेण, लङ्कासमरसुहृद. लङ्कायुद्धसाहाय्यकारिण, महात्मान. परमोदारचरिता, प्लवङ्गमराक्षसाः वानर-असुराः, सभाजनोपस्थायिनश्च अभिनन्दनाय समुपागताः, नानादिगन्तपावना' पवित्रीकृतानेकदिशः, ब्रह्मर्षय' वशिष्ठादयः, राजर्षयश्च जनकादय., स्वगृहान् स्व-स्वभवन प्रति, प्रेषिताः विसृष्टाः, यत्समाराधनाय येषा सन्तोषकरणाय, एतावतः इयत', दिवसान् दिनानि व्याप्य, प्रमोदः उत्सवः, आसीत् अभूत्।

अनुवाद—(*प्रवेश कर*) नट—विद्वन् ! महाराज ने लका के युद्ध में सहायता करने वाले मनस्वी वानरों एव (विभीषण आदि) राक्षसों को तथा अभिनन्दन करने के लिए आये हुए अनेक दिशाओं को पवित्र करने वाले ब्रह्मर्षियों और राजर्षियों को भी, जिनके सम्मान मे इतने दिनों तक मनोरंजन का कार्यक्रम चलता रहा है, अपने-अपने घर बिदा कर दिया।

टिप्पणी—नट. = सूत्रधार का सहयोगी अभिनेता। √नट्+अच्। भाव = सूत्रधार। 'सूत्रधार वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्विक' साहित्यदर्पण। किन्तु नाट्योक्ति में भाव शब्द का प्रयोग विद्वान् के अर्थ मे किया जाता है। 'भावो विद्वान्' इत्यमरः। भावयति उत्पादयति अभिनयम् इति भाव, √भू+णिच्+अच्। प्लवङ्गमराक्षसा. = बंदर और राक्षस। प्लवेन गच्छन्तीति-

प्लवङ्गमाः, प्लव उपपदपूर्वक गम् धातु से 'गमश्च' सूत्र से खच् प्रत्यय और 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' सूत्र से मुम् का आगम। रक्षांसि एव राक्षसाः, रक्षस्+अण् (स्वार्थ में)। 'क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनानि अतिवर्तन्ते' इस परिभाषा के बल से राक्षस शब्द पुंलिंग हुआ। सभाजनोपस्थायिनः= अभिनन्दन के लिए उपस्थित होने वाले। सभाजनाय उपतिष्ठन्ति, उप+स्था+णिनि। नानादिगन्तपावनाः=अनेक दिशाओं को पवित्र करने वाले। नाना दिगन्ता इति नानादिगन्ताः 'सुप्सुपा' सूत्र से समास। नानादिगन्तान् पावयति, ण्यन्त पू धातु से बाहुलकात् कर्ता में ल्युट् वा ल्यु प्रत्यय, यु को अन आदेश।

सूत्रधारः—आ, अस्त्येतन्निमित्तम्।

अच्छा! यह कारण है।

टिप्पणी—आ=स्मरणद्योतक निपात (अव्यय)। यहाँ 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा और 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' से प्रकृतिभाव होने के कारण 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ नहीं हुआ।

नटः—अन्यच्च—

और भी (कारण है)।

टिप्पणी—अन्यत् और च में द्वन्द्वसमास है।

वसिष्ठाधिष्ठिता देव्यो गता रामस्य मातरः[1]।
अरुन्धतीं पुरस्कृत्य यज्ञे जामातुराश्रमम्॥ ३॥

अन्वय—वसिष्ठाधिष्ठिता देव्यो रामस्य मातरः अरुन्धतीं पुरस्कृत्य यज्ञे जामातुः आश्रमम् गताः॥ ३॥

अनुवाद—(गुरु) वसिष्ठ की देख रेख में रामचन्द्र की माता (कौशल्या आदि) देवियाँ (गुरुपत्नी) अरुन्धती को आगे करके यज्ञ के उपलक्ष में जामाता के आश्रम में गई हुई हैं॥ ३॥

टिप्पणी—पुरस्कृत्य=आगे करके। पुरः कृत्वा इति पुरस्कृत्य, 'पुरोऽव्ययम्' सूत्र से गतिसंज्ञा, 'कुगतिप्रादयः' से गतिसमास, 'नमस्पुरसोर्गत्योः' से सत्व और 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' से क्त्वा के स्थान में ल्यप् हुआ।

१—क्वचित् 'राघवमातरः' इति पाठः।

यज्ञे = यज्ञ के निमित्त । इसमें 'निमित्तात् कर्मयोगे' सूत्र से सप्तमी हुई । इस श्लोक के प्रथम चरण के दोनो 'छ' अक्षरों में सकृत् समानता होने के कारण छेकानुप्रास अलंकार है ।

सूत्रधार.—वैदेशिकोऽस्मीति पृच्छामि, क. पुनर्जामाता ?

सूत्रधार—मै परदेशी होने के कारण पूछता हूँ, (उनके) जामाता कौन हैं ?

टिप्पणी—वैदेशिक. = परदेशी । विभिन्न: देश. विदेश, विदेशे भव: वैदेशिक, विदेश + ठञ्–इक ।

नट:—

कन्यां दशरथो राजा शान्ता नाम व्यजीजनत् ।
अपत्यकृतिकां राज्ञे रोमपादाय यां ददौ ॥ ४ ॥

अन्वय—राजा दशरथ शान्ता नाम कन्या व्यजीजनत्, याम् अपत्यकृतिका राज्ञे रोमपादाय ददौ ॥ ४ ॥

अनुवाद—राजा दशरथ ने शान्ता नामक पुत्री उत्पन्न की, जिसे कृत्रिम कन्या के रूप में राजा रोमपाद को दे दिया ॥ ४ ॥

टिप्पणी—दशरथः = दशसु दिक्षु रथः अप्रतिहतो यस्य सः । व्यजीजनत् = उत्पन्न किया । 'वि' उपसर्गपूर्वक जनी प्रादुर्भावे धातु से णिच् करने पर लुङ् लकार का यह रूप है । अपत्यकृतिकाम् = कृत्रिम पुत्री के रूप में । अपत्यस्य कृतिर्व्यापारो यस्यास्तथाविधाम्, बहुव्रीहिसमास में 'शेषात् विभाषा' सूत्र से कप् प्रत्यय । 'अपत्यकृतिका या च कृत्रिमा पुत्रिका भवेत्' इति कोश. । इसका तुलनात्मक शब्द अभिज्ञानशाकुन्तल मे मिलता है—'सोऽयं न पुत्रकृतक· पदवीं मृगस्ते' ।

विभाण्डकसुतस्तामृष्यशृङ्ग उपयेमे । तेन द्वादशवार्षिक सत्रमारब्धम् । तदनुरोधात् कठोरगर्भामपि वधूं जानकीं विमुच्य गुरुजनस्तत्र यात: ।

अनुवाद—महर्षि विभाण्डक के पुत्र ऋष्यशृंग ने उन (शान्ता) से विवाह किया । उन्होंने (ऋष्यशृंग ने) बारह वर्ष तक चलने वाला यज्ञ प्रारंभ किया है । उनके अनुरोध से कौशल्या आदि गुरुजनवर्ग पूर्ण गर्भवाली वधू सीता को भी छोड़कर वहाँ गये हुए हैं ।

टिप्पणी—उपयेमे = विवाह किया। 'उप' उपसर्गपूर्वक यम् धातु के लिट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन का यह रूप है। यहाँ 'उपाद्यमः स्वकरणे' सूत्र से आत्मनेपद हुआ। द्वादशवार्षिकम् = बारह वर्षों में सम्पन्न होने वाला। द्वादश वर्षाणि व्याप्य भविष्यति इस विग्रहवाक्य में 'तमधीष्टो भृतो भूतो भावी' से टञ् प्रत्यय, ठ को इक आदेश, 'अनुशतिकादीनां च' से उभयपदवृद्धि। सत्रम् = यज्ञ। 'सत्रमाच्छादने यज्ञे सदादाने वनेऽपि च' इत्यमरः। यज्ञ के तीन भेद माने गये हैं—एक दिन में होने वाला एकाह, दूसरे दिन से बारह दिन तक में होने वाला अहीन और बारह दिन से सहस्र वर्ष पर्यन्त में होने वाला सत्र कहलाता है। इसलिये यहाँ सत्र का उपादान किया गया है। कठोरगर्भाम् = कठोरः गर्भः अस्याः इति बहुव्रीहि०। कठोर = परिपुष्ट, पूर्ण, बढ़ा हुआ। तुलना कीजिये—'कठोरीभूतस्तु दिवसः', 'परिणतकठोरपुष्कर', 'कठोरपारावतकण्ठ.।'

सूत्रधारः—तत् किमनेन? एहि, राजद्वारमेव स्वजातिसमयेनोपतिष्ठावः।

सूत्रधार—तो इससे (अर्थात् इस प्रकार की आलोचना से) हम लोगों को क्या प्रयोजन? आओ, अपनी जाति के नियमानुसार हम लोग राजद्वार में ही उपस्थित हों।

टिप्पणी—स्वजातिसमयेन = अपनी (नट की) जाति के आचार के अनुसार। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। अर्थात् जाति के अनुरूप स्तुतिपाठादि कर्म द्वारा। उपतिष्ठाव = सेवा में उपस्थित हों। यहाँ देवपूजा आदि अर्थ न होने के कारण 'उपाद्देवपूजा'—इत्यादि से आत्मनेपद नहीं हुआ।

नटः—तेन हि निरूपयतु राज्ञः सुपरिशुद्धामुपस्थानस्तोत्रपद्धतिं भावः।

नट—इसलिये (चूँकि राजद्वार में स्तुतिपाठ करना है, इस कारण) आप राजोपासना की कोई दोषरहित स्तुति-पद्धति निर्धारित करें (अर्थात् किस प्रकार के स्तोत्र से राजा का उपस्थान किया जाना चाहिये, इसका निर्दुष्ट मापदण्ड आप स्थिर करें)।

टिप्पणी—सुपरिशुद्धाम् = सर्वावयवानवद्याम् । सब प्रकार से पवित्र । उपस्थानस्तोत्रपद्धतिम् = उपस्थाने उपसर्पणकाले कर्तव्या स्तोत्रपद्धतिः स्तुतिप्रकारः । समीप या सामने आने के समय की जाने वाली स्तुति-प्रणाली । पद्धति —पादाभ्या हन्यते इति पाद—हन् + क्तिन् (कर्मणि) 'हिमकाषिहतिषु च' इत्यनेन पाद शब्दस्य पद्भावः ।

सूत्रधारः—मारिष !

सर्वथा व्यवहर्तव्य[1] कुतो ह्यवचनीयता ।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः ॥ ५ ॥

अन्वय—सर्वथा व्यवहर्तव्यम्, अवचनीयता कुतः, हि जनो यथा स्त्रीणा तथा वाचा साधुत्वे दुर्जनः ॥ ५ ॥

व्याख्या—सर्वथा सर्वप्रकारेण, (केवल) व्यवहर्तव्यम् व्यवहारः कर्तव्यः (न तु निर्दुष्टत्वचिन्तने समयो याप्य.), अवचनीयता अनिन्दनीयता, कुतः कस्मात् अर्थात् सर्वथा दोषराहित्य कथ भविष्यति ? हि यत:, जनः लोकः, यथा येन प्रकारेण, स्त्रीणा नारीणा, तथा, वाचा वाणीना, साधुत्वे प्रशस्यत्वे, दुर्जनः दोषदर्शी (भवति, अर्थात लोक. यथा स्त्रीणा पातिव्रत्य प्रति अकारणं दोषमुद्भावयति तथा वाचा साधुत्वेऽपि दूषणानि आपादयति । अतएव उपस्थान-स्तोत्रपद्धतेः सर्वथा दोषरहितत्वकरणचिन्ता मुधैवेत्यवसेयम्) ॥ ५ ॥

अनुवाद—सूत्रधार—आर्य ! सब तरह से व्यवहार (कर्तव्य) करना चाहिये (लोक-निन्दा के डर से कर्तव्यच्युत नहीं होना चाहिये) । किसी भी वस्तु का सर्वथा निर्दोष होना सभव नहीं है । क्योंकि लोग जैसे स्त्रियों के पातिव्रत्य के सम्बन्ध में दोष ढूँढा करते हैं उसी तरह वाणी के सबध में भी दोष निकालते हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—मारिष = आर्य । 'आर्यस्तु मारिषः' इत्यमरः । नट के लिए सूत्रधार इस शब्द का प्रयोग करता है । मा रेषति दुष्टाभिनयादिना सभ्याना शान्ति न हिनस्ति यः स मारिषः । हिंसार्थक रिष् धातु से कप्रत्यय । यहाँ 'यथा स्त्रीणा तथा वाचा साधुत्वे' इस वाक्य में उपमा अलंकार है । पुनः

[1]—'व्यवहर्तव्ये' इति पाठान्तरम् ।

इस वाक्य का पूर्वार्ध के वाक्य के प्रति हेतु होने से सम्पूर्ण छन्द में काव्यलिंग अलंकार है। दोनों को मिलाकर संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह अनुष्टुप् छन्द है ॥ ५ ॥

नटः—अतिदुर्जन इति वक्तव्यम्।

नट—(ऐसे दुर्जन को, जो दोषरहित वस्तु में भी दोषान्वेषण करता है) अतिशय दुर्जन कहना चाहिये।

टिप्पणी—अतिदुर्जनः=अत्यंत दोष देखने वाला। अत्यन्तं दुर्जनः अतिदुर्जनः, 'सुप्सुपा' सूत्र से समास हुआ। कहा भी है—'नात्यन्तं प्रकर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः। दोषे ह्यविद्यमानेऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥'

देव्यामपि हि वैदेह्यां सापवादो यतो जनः।
रक्षोगृहे स्थितिर्मूलमग्निशुद्धौ त्वनिश्चयः ॥ ६ ॥

अन्वय—हि यतो जनो देव्यां वैदेह्याम् अपि सापवादः। रक्षोगृहे स्थितिः मूलम्, तु अग्निशुद्धौ अनिश्चयः ॥ ६ ॥

व्याख्या—अतिदुर्जनत्वस्य प्रमाणं साधयति—देव्यामपीति। हि तथाहि, यतः यस्माद्धेतोः, जनः लोकः, देव्याम् सत्याम्, वैदेह्याम् जानक्याम्, अपि, सापवादः सनिन्दः। किं तत्र कारणमित्याह—रक्षोगृहे राक्षसभवने, स्थितिः निवासः, मूलम् कारणम् (अपवादस्य), तु किन्तु, अग्निशुद्धौ अनलशुद्धतायाम् अर्थात् अग्निपरीक्षया सीताया निर्दोषत्वे, अनिश्चयः अनिर्णयः अर्थात् सच्चरित्रैव सीतेति निर्णयाभावः (एवञ्च अग्निपरीक्षारूपदृढतरप्रमाणेन सीताया निर्दोषत्वे निर्णीतेऽपि यः तां निन्दति सः अतिदुर्जन एवेति सिद्धम्) ॥ ६ ॥

अनुवाद—क्योंकि लोग परम पतिव्रता सीता में भी लाञ्छन लगाते हैं। (लोगों की दृष्टि में) उनके अपवाद का कारण राक्षस के गृह में निवास करना है। किन्तु अग्निपरीक्षा द्वारा सीता की निर्दोषता सिद्ध हो चुकी है, इस पर वे विश्वास नहीं करते ॥ ६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक के पूर्वार्ध में दोषरूप कारण के न होने पर भी उसके अपवाद रूप कार्य का उद्भावन हुआ है, इसलिये विभावना

अलकार है और चौथे चरण में अग्निशुद्धिरूप कारण के होते हुए भी उसके निश्चय रूप कार्य का अभाव होने से विशेषोक्ति अलकार भी है ॥ ६ ॥

सूत्रधारः—यदि पुनरियं किवदन्ती महाराजं प्रति स्यन्देत ततोऽतिकष्टं स्यात्।

सूत्रधार—यदि यह जनरव महाराज (राम) के कानों तक पहुँच गया तो (उन्हें) बड़ा कष्ट होगा।

टिप्पणी—किंवदन्ती = जनश्रुति। 'किंवदन्ती जनश्रुतिः' इत्यमर।

नटः—सर्वथा ऋषयो देवाश्च श्रेयो विधास्यन्ति। (*परिक्रम्य*) भो भोः, क्वेदानीं महाराजः। (*आकर्ण्य*) एवं जनाः कथयन्ति—

नट—ऋषिगण और देवगण सब प्रकार से मगल करेंगे। (*कुछ पग चलकर या घूमकर*) महोदयो! महाराज इस समय कहाँ होंगे? (*सुनकर*) लोग ऐसा कह रहे हैं—

स्नेहात्सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि
नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान्।
देव्यास्ततो विमनसः परिसान्त्वनाय
धर्मासनाद्विशति वासगृहं नरेन्द्रः ॥ ७ ॥

अन्वय—जनकः स्नेहात् सभाजयितुम् एत्य अमूनि दिनानि उत्सवेन नीत्वा अद्य विदेहान् गतः। ततः विमनसः देव्याः परिसान्त्वनाय नरेन्द्रः धर्मासनात् वासगृहं विशति ॥ ७ ॥

व्याख्या—जनकः विदेहाधिपतिः, स्नेहात् वात्सल्यात्, सभाजयितुम् (रामादीन्) सन्तोषयितुम्, एत्य (अयोध्याम्) उपगम्य, अमूनि एतावन्ति, दिनानि वासराणि, उत्सवेन आनन्देन, नीत्वा यापयित्वा, अद्य अस्मिन् दिने, विदेहान् मिथिलाम्, गतः यातः। ततः तस्मात् कारणात्, विमनसः दुर्मनसः, देव्याः सीतायाः, परिसान्त्वनाय दुःखापनोदनाय, नरेन्द्रः रामचन्द्रः, धर्मासनात् न्यायासनात्, वासगृहम् शयनागारम्, विशति प्रविशति ॥ ७ ॥

अनुवाद—स्नेह के कारण (राम आदि को) आप्यायित करने के लिये अयोध्या आये हुए (महाराज) जनक उत्सव में इतने दिन बिताकर

आज मिथिला चले गये। इसलिये विषण्णचित्त (महारानी) सीता को सान्त्वना देने के लिये महाराज (रामचन्द्र) न्यायालय से उठकर शयन-कक्ष में पधार रहे हैं ॥ ७ ॥

टिप्पणी—विदेहान्=मिथिला को। विदेहाना निवासो जनपद इति विदेह+अण्, तस्य 'जनपदे लुप्' इति सूत्रेण लुप्। अत्र 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने' इति सूत्रेण अथवा 'बहुत्ववदस्यादेरसख्यैकाधिकरणस्य' इति श्रीवनिमूत्रेण बहुवचनम्। परिसान्त्वनाय=दिलासा देने के लिये। 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' इत्यनेन चतुर्थी। धर्मासनात्—न्यायाधिकरण या न्याय करने के आसन से। यहाँ 'ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च' इस वार्तिक से पञ्चमी हुई। यह वसन्ततिलका छन्द है। इसका लक्षण है—'ज्ञेया वसन्ततिलका तभजा जगौ ग.'।

(इति निष्क्रान्तौ।)

[यह कह कर दोनों (सूत्रधार और नट) चले जाते हैं।]

इति प्रस्तावना।

प्रस्तावना समाप्त।

टिप्पणी—प्रस्तावना=प्रस्तावयति प्रतिपाद्यविषयमुत्थापयति या वाक्यावली सा प्रस्तावना। नाटक के उस अंश को प्रस्तावना कहते हैं, जिसमें सूत्रधार के नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक नामक नट के साथ होने वाले संलाप में आगे आने वाले विषय की सूचना रहती है। 'नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा। सूत्रधारेण सहिता. संलापं यत्र कुर्वते। चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः। आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा॥' इसके पाँच भेद होते हैं—उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। यहाँ प्रयोगातिशय नामक प्रस्तावना है। क्योंकि सूत्रधार और नट के वार्तालाप में सीताजी के अपवाद की चर्चा चल रही है। किन्तु इसी बीच 'धर्मासनाद्विशति वासगृहं नरेन्द्र' इस कथन से रामचन्द्र जी का प्रसंग आ जाता है तथा सीता समेत उनका रंगमंच पर प्रवेश होना है। इसका लक्षण है—'यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते। तेन पात्र-प्रवेशश्चेत् प्रयोगातिशयस्तदा॥' साहित्यदर्पण।

(ततः प्रविशत्युपविष्टो रामः सीता च ।)

(तदनन्तर बैठे हुए राम और सीता का प्रवेश ।)

राम.—देवि ! वैदेहि ! विश्वसिहि, न ते हि गुरवश्चिरं शक्नुवन्ति विहातुमस्मान् ।

राम—देवी ! सीते ! विश्वास करो, वे गुरुजन हम लोगों को छोड़ कर अधिक समय तक नहीं रह सकते ।

टिप्पणी—विश्वसिहि = 'वि' उपसर्गपूर्वक अदादिगणीय श्वस् प्राणने धातु के लोट् लकार मध्यमपुरुष—एकवचन का यह रूप है। गुरवः = जनक आदि । देवल के अनुसार गुरुवर्ग में ये सब आते हैं—'आचार्यश्च पिता ज्येष्ठो भ्राता चैव महीपतिः । मातुलः श्वशुरस्त्राता मातामहपितामहौ । वर्णज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवो मताः ।।'

किन्त्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यमपकर्षति ।
सङ्कटा ह्याहिताग्नीनां प्रत्यवायैर्गृहस्थता ॥ ८ ॥

अन्वय—किन्तु अनुष्ठाननित्यत्वं स्वातन्त्र्यम् अपकर्षति । हि आहिताग्नीनां गृहस्थता प्रत्यवायैः सङ्कटा ॥ ८ ॥

व्याख्या—यद्येवम् तर्हि कथं गुरवो गताः इत्यत्र कारणं दर्शयति—किन्तु इति । किन्तु किम्पुनः, अनुष्ठाननित्यत्वम् अनुष्ठानानाम् अग्निहोत्रादि-कार्याणाम् नित्यत्वम् सति सम्भवे अपरिहार्यत्वम्, स्वातन्त्र्यम् स्वाधीनताम्, अपकर्षति निवारयति । हि यतः, आहिताग्नीनाम् अग्निहोत्रिणाम्, गृहस्थता गृहस्थधर्मः, प्रत्यवायैः कर्तव्याननुष्ठानजपापैः, सङ्कटा सङ्कटस्वरूपा (भवति) ॥ ८ ॥

अनुवाद—किन्तु अग्निहोत्र आदि कर्मों की अनिवार्यता स्वतन्त्रता छीन लेती है, क्योंकि अग्निहोत्रियों का गार्हस्थ्य (गृहस्थ-जीवन) प्रत्यवायों के कारण संकटापन्न रहता है । (अथवा समय पर अग्निहोत्र आदि कर्म न करने से उन्हें पातक लगता है । इसलिए सात्त्विक लोग स्वतन्त्रतापूर्वक जब तक चाहें तब तक घर छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकते) ॥ ८ ॥

टिप्पणी—अनुष्ठाननित्यत्वम् = अग्निहोत्रादि कर्मों के नियत समय पर करने का बंधन । स्वातन्त्र्यम् = स्वतन्त्रता । स्वम् आत्मा तन्त्रं यस्य

स स्वतन्त्रः, स्वतन्त्रस्य भाव. कर्म वा स्वातन्त्र्यम्, स्वतन्त्र+ष्यञ्, 'गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इत्यनेन । आहिताग्नीनाम् = अग्निहोत्रियों का। आहिताः (आ—धा+क्त कर्मणि) वेदविधानेन स्थापिताः अग्नयः दक्षिणाग्नि-गार्हपत्याहवनीयाख्याः यैः ते, तेषाम्, 'निष्ठा' इस सूत्र से आहित शब्द का पूर्वप्रयोग हुआ, किन्तु 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' इस वार्तिक के बल से पक्षान्तर में अग्न्याहितानाम् भी प्रयोग होता है। प्रत्यवायैः = (विहित कर्मों का अनुष्ठान न करने से लगने वाले) पातकों से। प्रति—अव—अय्+घञ्, करणे तृतीया ॥ ८ ॥

सीता—जाणामि अज्जउत्त ! जाणामि । किदु संदावआरिणो बन्धुजणविप्पओआ होन्ति । [जानामि आर्यपुत्र ! जानामि, किन्तु सन्तापकारिणो बन्धुजनविप्रयोगा भवन्ति ।]

सीता—जानती हूँ, आर्यपुत्र ! जानती हूँ। किन्तु बधुजनों का वियोग सताप उत्पन्न करनेवाला होता है।

टिप्पणी—आर्यपुत्र ! = आर्यो गुरु. श्वशुर इति यावत् तस्य पुत्र', तत्सम्बुद्धौ आर्यपुत्र ! इति । नाटक आदि में पत्नी पति को आर्यपुत्र कह कर सबोधन करती है। 'पत्नी चार्येति सम्भाष्या आर्यपुत्रेति यौवने' इति भरतः। खेद के कारण यहाँ 'जानामि जानामि' दो बार उक्त हुआ है। कहा भी है—'विवादे विस्मये हर्षे खेदे दैन्येऽवधारणे । प्रसादने सम्भ्रमे च द्विस्त्रिरुक्तिर्न दुष्यति ॥'

रामः—एवमेतत् । एते हि हृदयमर्मच्छिदः संसारभावाः । येभ्यो बीभत्समाना. सन्त्यज्य सर्वान् कामानरण्ये विश्राम्यन्ति मनीषिणः ।

राम—यह ऐसा ही है (अर्थात् बन्धुजन का वियोग सन्तापकारी होता है, यह बात सत्य है)। ये जगत् के भाव (अर्थात् प्रिय-वियोग और अप्रिय-संयोग रूप स्वभाव) हृदय के मर्मस्थल का भेदन करने वाले हैं, जिनसे घृणा करते हुए (अर्थात् सासारिक भावों से विरक्त होकर) ज्ञानी जन सकल कामनाओं का परित्याग करके वन में विश्राम करते हैं।

टिप्पणी—हृदयमर्मच्छिदः = हृदयस्य मर्म हृदयमर्म तत् छिन्दन्ति इति हृदयमर्मन्√छिद्+क्विप् कर्तरि । संसारभावाः = ससार की अवस्था या स्वभाव। गदाधर के मत में मिथ्याज्ञानजन्य वासना ससार है। गोपीनाथ

मानते हैं—अपने अदृष्ट से प्राप्त शरीर-भोग संसार है। भाव कहते हैं स्वभाव को। 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु' इत्यमरः। बीभत्समाना = जुगुप्समानाः, अरुचि या घृणा करते हुए। बध् संयमने धातु से स्वार्थ में सन्, द्वित्वादि और शानच् करने से यह रूप सिद्ध होता है। इसके योग से 'येभ्यः' में 'जुगुप्साविराम' इत्यादि से पञ्चमी हुई। मनीषिणः = विद्वान् लोग। मनसः ईषा मनीषा, शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्, मनीषा विद्यते येषां ते मनीषिणः = आत्मदर्शिनः पण्डिताः, 'व्रीह्यादिभ्यश्च' इत्यनेन इनिः। 'धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पण्डितः कविः' इत्यमरः।

(प्रविश्य)

(प्रवेश कर के)

कञ्चुकी—रामभद्र ! (इत्यर्धोक्ते साशंकम्) महाराज !—

कञ्चुकी—रामभद्र ! (*यह आधा ही उच्चारण कर पाया कि आशंका* *के साथ पुनः बोल उठा*) महाराज !—

टिप्पणी—कञ्चुकी = रनिवास का रक्षक, अन्तःपुराध्यक्ष। कञ्चुकः परिच्छदः अस्ति अस्य, कञ्चुक+इनि। इसका लक्षण यह है—'अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः। सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते। जरावैक्लव्ययुक्तेन विशेद् गात्रेण कञ्चुकी' इति भरतः।

राम की बाल्यावस्था के वात्सल्य-प्रेम के कारण कञ्चुकी उनको रामभद्र कहकर पुकारता था। अभ्यासवश इस समय भी उसके मुँह से रामभद्र यही शब्द निकल गया। किन्तु अब रामचन्द्र चक्रवर्ती राजा हैं, इसलिए उनके लिए ऐसा सम्बोधन नितान्त अनुचित है। अतः सशङ्क होकर कञ्चुकी ने पुनः महाराज शब्द का उच्चारण किया।

रामः—(*सस्मितम्*) आर्य ! ननु रामभद्र ! इत्येव मां प्रत्युपचारः शोभते तातपरिजनस्य। तद्यथाभ्यस्तमभिधीयताम्।

राम—(*मुस्कराहट के साथ*) *आर्य !* पिता जी के परिजनों (परिवार या आश्रितवर्गों) के लिये मेरे प्रति 'रामभद्र' इस शब्द से व्यवहार करना ही शोभा देता है। इसलिये आप अभ्यास के अनुसार ही कहें।

टिप्पणी—सस्मितम् = मंद मुस्कान के साथ। स्मितेन सहितम् सस्मितम्, 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इससे बहुव्रीहि समास और 'वोपसर्जनस्य' से

सह को स आदेश हुआ। यहाँ राम के मुस्कराने का कारण यह है कि जिस कञ्चुकी ने बचपन में उनका लालन, तर्जन एवं भर्त्सन किया, उसका इस समय इस प्रकार का शिष्टाचार करना व्यर्थ है। स्मित का लक्षण यह है—'ईषद्विकासि नयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम्' साहित्यदर्पण। ननु = अवधारण या अनुनय। 'प्रश्नावधारणानुज्ञानुनयामन्त्रणे ननु' इत्यमर। उपचार = शिष्टाचार या व्यवहार। सम्बोधन की रीति या प्रकार। उपचरत्यनेन इति उप√चर्+घञ् करणे। तातपरिजनस्य = अत्र शेषे षष्ठी, तातपरिजनस्य सम्बन्धे शोभते इति। यथाभ्यस्तम् = पूर्व अभ्यास के अनुसार। अभ्यस्तम् अनतिक्रम्य यथाभ्यस्तम्, 'अव्ययं विभक्ति—' इत्यादि सूत्र से अव्ययीभाव समास।

कञ्चुकी—देव! ऋष्यशृङ्गाश्रमादष्टावक्रः सम्प्राप्तः।

कञ्चुकी—महाराज! ऋष्यशृङ्ग के आश्रम से अष्टावक्र मुनि आये हुए हैं।

टिप्पणी—अष्टावक्र = एक ऋषि का नाम। यह योगरूढ शब्द है। अष्टसु शरीरावयवेषु वक्रः अष्टावक्रः, यहाँ संज्ञा शब्द होने के कारण 'अष्टनः संज्ञायाम्' सूत्र से दीर्घ हुआ।

सीता—अज्ज! तदो किं विलम्बीअदि। [आर्य! ततः किं विलम्ब्यते?]

सीता—आर्य! तब विलम्ब क्यों कर रहे हैं?

राम—स्वरितं प्रवेशय।

राम—शीघ्र लिवा लाएँ।

(कञ्चुकी निष्क्रान्तः। प्रविश्य—)

(कञ्चुकी चला गया। प्रवेश कर)

अष्टावक्र—स्वस्ति वाम्।

अष्टावक्र—आप दोनों का कल्याण हो!

टिप्पणी—स्वस्ति = मंगल। 'स्वस्त्याशीः क्षेमपुण्यादौ' इत्यमर। वाम् = युवाभ्याम्। यह युष्मद् शब्द के चतुर्थी द्विवचन का रूप है। स्वस्ति के योग में 'नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च' इससे चतुर्थी हुई और 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ' इससे वाम् आदेश हुआ।

रामः—भगवन्! अभिवादये, इत आस्यताम्।

राम—भगवन्! मैं प्रणाम करता हूँ। यहाँ बैठें।

टिप्पणी—भगवन्!=लोकों की उत्पत्ति, स्थिति आदि जानने वाले! भगवान् का लक्षण यह है—'उत्पत्तिं च स्थितिं चैव लोकानामगतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥'

सीता—भअवं! णमो दे। अवि कुसलं सजामादुअस्स गुरुअणस्स अज्जाए सन्ताए अ। [भगवन्! नमस्ते, अपि कुशलं सजामातृकस्य गुरुजनस्यार्यायाः शान्तायाश्च ?]

सीता—भगवन्! मैं आपको प्रणाम करती हूँ। जामाता समेत गुरुजन वर्ग (कौशल्या आदि) और पूज्य शान्ता देवी कुशल से तो हैं न ?

टिप्पणी—ते=तुभ्यम्। 'तेमयावेकवचनस्य' इस सूत्र से ते आदेश हुआ। अपि=प्रश्नार्थक। सजामातृकस्य=दामाद सहित। जामात्रा सहितः, बहुव्रीहि समास और 'नद्यृतश्च' सूत्र से समासान्त कप् प्रत्यय हुआ। 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि' इत्यमरः।

रामः—निर्विघ्नः सोमपीथी आवुत्तो मे भगवानृष्यश्रृङ्गः, आर्या च शान्ता।

राम—मेरे सोमपायी जीजा भगवान् ऋष्यश्रृंग और पूजनीया (जीजी) शान्ता सकुशल हैं न ?

टिप्पणी—सोमपीथी=यज्ञ में सोमपान करने वाला। पीथः पानम्, पा पाने धातु से औणादिक थक् प्रत्यय अथवा पीतं पानम् पृषोदरादित्वात् तकार को थकार, सोमस्य पीथः सोमपीथम्, तदस्यास्तीति 'अत इनिठनौ' से इनिप्रत्यय। आवुत्तः=बहनोई। 'भगिनीपतिरावुत्त' इत्यमरः।

सीता—अम्हे वि सुमरेदि। [अस्मानपि स्मरति ?]

सीता—हम लोगों को भी याद करते हैं ?

अष्टावक्रः—(उपविश्य) अथ किम्। देवि! कुलगुरुर्भगवान् वसिष्ठस्त्वामिदमाह—

विश्वम्भरा भगवती भवतीमसूत,
राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते।

तेषां वधूस्त्वमसि नन्दिनि ! पार्थिवानां,
येषां कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च ॥ ६ ॥

अन्वय—भगवती विश्वम्भरा भवतीम् असूत, प्रजापतिसमः राजा जनकः ते पिता। हे नन्दिनि ! येषां कुलेषु सविता गुरुः, वयं च (गुरवः), त्वं तेषां पार्थिवानां वधूः असि ॥ ६ ॥

व्याख्या—भगवती ऐश्वर्यपूर्णा, विश्वम्भरा पृथिवी, भवतीम् त्वाम्, असूत अजनयत्, (तथा) प्रजापतिसमः ब्रह्मणा तुल्यः, राजा नृपतिः, जनकः मैथिलः, ते तव, पिता तातः, हे नन्दिनि आनन्ददात्रि, येषाम् राज्ञाम्, कुलेषु वंशेषु, सविता सूर्यः, गुरुः पिता उत्पादकः इत्यर्थः, वयं च (गुरवः उपदेष्टारः), त्वं, तेषां पार्थिवानां सूर्यवंशीयानां नृपाणां, वधूः स्नुषा, असि ॥ ६ ॥

अनुवाद—*अष्टावक्र*—(चैटरर) और क्या (हाँ), देवि ! कुलगुरु भगवान् वसिष्ठ ने आप से यह कहा है—

भगवती पृथिवी ने आपको जन्म दिया, प्रजापति के समान राजा जनक आपके पिता हैं। हे सौभाग्यवति ! जिन (राजाओं) के वंश में सूर्यदेव पिता और हम उपदेष्टा हैं, तुम उन राजाओं की कुलवधू हो ॥ ६ ॥

टिप्पणी—विश्वम्भरा = विश्व का भरण करने वाली। विश्वं बिभर्ति, विश्व उपपदपूर्वक भृ धातु से 'संज्ञायां भृतॄवृजि'—इत्यादि सूत्र से खच् प्रत्यय और 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इससे मुम् का आगम हुआ। नन्दिनि—नन्दयति इति, √नन्द् + णिच् + णिनि कर्तरि स्त्रियाम् = नन्दिनी। पार्थिवानाम्—पृथिव्या ईश्वराः इति पृथिवी + अण् = पार्थिवाः, तेषाम्। कुलेषु—*इसमें जद्भूत* अवयवभेद की विवक्षा से बहुवचन हुआ। इस श्लोक के 'प्रजापतिसमः' इस पद में उपमा अलंकार है, 'जनकः पिता' इसमें पुनरुक्तवदाभास अलंकार है और 'सविता च गुरुर्वयं च' यहाँ दोनों पदों में एकगुरुत्वधर्म के सम्बंध से तुल्ययोगिता अलंकार है। फिर इन तीनों अलंकारों में परस्पर अंगांगिभाव सम्बंध होने के कारण संकर अलंकार हो जाता है। यह वसन्ततिलका छन्द है ॥ ६ ॥

तत् किमन्यदाशास्महे ? केवलं वीरप्रसवा भूयाः।

इसलिए और क्या आशा करें (अर्थात् क्या आशीर्वाद दें) ? तुम केवल वीरपुत्र की माता बनो (यही चाहते हैं)।

टिप्पणी—आशास्महे = इच्छामः वा आशिषा योजयामः = चाहें या आशीर्वाद दें। 'आङ्' उपसर्गपूर्वक शास् धातु के लट् लकार—उत्तम-पुरुष—बहुवचन का यह रूप है। वीरप्रसवा = वीरमाता। प्रसूयते इति प्रसव', 'प्र' उपसर्गपूर्वक षूङ् प्राणिगर्भमोचने धातु से अप् प्रत्यय। प्रसव = सन्तान। 'उत्पादे स्यादपत्येऽपि फलेऽपि कुसुमेऽपि च' इति मेदिनी। वीर प्रसवो यस्याः सा वीरप्रसवा। भूया —भू + लिङ् आशिषि।

राम —अनुगृहीताः स्मः।

राम—हम लोग अनुगृहीत हुए।

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ।। १० ।।

अन्वय—हि लौकिकाना साधूना वाक् अर्थम् अनुवर्तते। पुन' आद्यानाम ऋषीणा वाचम् अर्थः अनुधावति ।। १० ।।

व्याख्या—हि यस्मात्, लौकिकाना प्राकृताना सामान्याना वा, साधूना सज्जनाना, वाक् वाणी, अर्थम अभिधेय वस्तु, अनुवर्तते अनुसरति, पुनः किन्तु, आद्याना प्राथमिकाना श्रेष्ठाना वा, ऋषीणा वसिष्ठप्रमुखानां मुनीना, वाच वाणीम्, अर्थः अभिधेयविषयः, अनुधावति अनुसरति ।। १० ।।

अनुवाद—क्योंकि लौकिक साधुओं (साधारण सज्जनों) की वाणी अर्थ का अनुसरण करती है, किन्तु श्रेष्ठ ऋषियों की वाणी का अनुसरण अर्थ करता है ।। १० ।।

टिप्पणी—लौकिकानाम्—लोके विदिता. इति लोक + ठञ् = लौकिका तेषाम्। आद्यानाम्—आदौ भवा इति आदि + यत् = आद्याः तेषाम्। इस श्लोक में साधारण सज्जनों की अपेक्षा वसिष्ठ आदि ऋषियों का उत्कर्ष वर्णन किया गया है, इसलिए व्यतिरेक अलकार है। यह अनुष्टुप् छन्द है। ।। १० ।।

अष्टावक्रः—इदञ्च भगवत्या अरुन्धत्या देवीभिः शान्तया च भूयो भूयः सन्दिष्टम्—'यः कश्चिद् गर्भदोहदो भवत्यस्याः सोऽवश्यमचिरान्मानयितव्य' इति।

अष्टावक्र—भगवती अरुन्धती, कौशल्या आदि देवियाँ तथा शान्ता ने भी बार-बार यह सदेश कहा है कि सीता की जो कोई भी गर्भकालीन इच्छा हो, वह तुरत अवश्य पूरी की जाय।

टिप्पणी—गर्भदोहद = गर्भिणी की अभिलाषा। दोहम् आकर्षं ददाति इति दोहद, गर्भस्य दोहद षष्ठीतत्पुरुष समास। अमरकोश के अनुसार दोहद शब्द नपुसक है। अतएव 'सनूपुररवण स्त्रीचरणेनाभिताडनम्। दोहद यदशोकस्य तत पुष्पोद्गमो भवत्॥' यह सगत हुआ। किन्तु हेमचन्द्रकोश के अनुसार यह पुलिंग है। 'दोहदो गर्भलक्षणे।' गर्भिणी स्त्रियों की अभिलाषा पूरी करने से गर्भ पुष्ट होता है, अन्यथा अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। यथा—'दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्। वैरूप्य मरण चाऽपि तस्मात् कार्यं प्रिय स्त्रिया।'

राम—क्रियते यदेषा कथयति।

राम—करता हू, यदि य कहती हैं (अर्थात् ये जो अभिलाषा प्रकट करती हैं, उसे पूरा कर देता हू)।

अष्टावक्र—ननान्दु पत्या च देव्या सन्दिष्टम्—'वत्से! कठोरगर्भेति नानीतासि, वत्सोऽपि रामभद्रस्त्वद्विनोदार्थमेव स्थापित। तत्पुत्रपूर्णोत्सङ्गामायुष्मतीं द्रक्ष्याम' इति।

व्याख्या—ननान्दु भर्तृभगिन्या शान्ताया, पत्या भर्त्रा ऋष्यशृङ्गेण, देव्या सीताया, सन्दिष्टम् आदिष्टम् (देवीं प्रति कथितम्),—'वत्से (त्व) कठोरगर्भा पूर्णगर्भा (असि), इति हेतो न आनीतासि न प्रापितासि, (तथा) वत्स रामभद्र अपि रामचन्द्रोऽपि, त्वद्विनोदार्थमेव त्वन्मनोरञ्जनार्थमेव, स्थापित रक्षित, तत् तस्मात्, पुत्रपूर्णोत्सङ्गाम् तनयपूर्णक्रोडाम्, आयुष्मतीं कल्याणीं (त्वाम्), द्रक्ष्याम अवलोकयिष्याम' इति।

अनुवाद—सीता देवी के ननदोई (ऋष्यशृङ्ग) ने भी सदेश भेजा है कि वत्स! पूर्णगर्भवती हो, इसलिए तुम्हें नहीं बुलाया और वत्स रामचन्द्र को भी तुम्हारे मनबहलाव के लिए ही छोड़ दिया। अतएव पुत्र से भरी गोद वाली आयुष्मती तुमको हम लोग देखेंगे।

टिप्पणी—कठोरगर्भा = पूर्ण गर्भ वाली। कठोर पूर्ण गर्भो यस्या सा। पूर्णगर्भा स्त्री को हाथी, घोड़े आदि पर नहीं चढ़ना चाहिए। कहा भी

है—'गर्भिणी कुञ्जराश्वादिशैलहर्म्याऽधिरोहणम्। व्यायामं शीघ्रगमनं शकटारोहणं त्यजेत्॥ यानादिभ्रमणञ्चैव साष्टमात् स्त्री न चार्हति।' त्वद्विनोदार्थम्—तव विनोद· त्वद्विनोद स अर्थः प्रयोजनं यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा।

रामः—(सहर्षलज्जास्मितम्) तथास्तु। भगवता वसिष्ठेन न किञ्चिदादिष्टोऽस्मि ?

राम—(हर्ष, लज्जा और मद मुस्कान के साथ) ऐसा ही हो (अर्थात् भगवान् ऋष्यश्रृंग ने जैसा कहा है, वैसा ही हो)। भगवान् वसिष्ठ ने मुझे कोई आदेश नहीं दिया है ?

अष्टावक्र —श्रूयताम्।

अष्टावक्र—सुनिये।

जामातृयज्ञेन वयं निरुद्धास्त्वं बाल एवासि नवं च राज्यम्।
युक्त· प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः॥ ११॥

अन्वय—वयं जामातृयज्ञेन निरुद्धा., त्वं बाल एव असि, राज्यं च नवम्, प्रजानाम् अनुरञ्जने युक्त. स्याः, तस्मात् यत् यश. (तत्) व. परम धनम्॥ ११॥

व्याख्या—वयम्, जामातृयज्ञेन जामातु ऋष्यश्रृङ्गस्य मखेन, निरुद्धा. उपरुद्धा. (अर्थात् पौरोहित्येन वृताः सन्त· गन्तुम् असमर्थाः स्म·, अतएव अस्माकमपि साहाय्यं त्वया न लप्स्यते इति भावः), त्वं राम, बाल एव शिशुरेव (राज्यशासने), राज्य च, नव नूतनम् अचिरलभ्य वा, (अत·) प्रजाना प्रकृतीनाम्, अनुरञ्जने स्वं प्रति अनुरागजनने, युक्तः एकाग्रचित्तः, स्या. भवे, (यतो हि) तस्मात् प्रजानुरञ्जनात्, यत्, यशः कीर्ति· (भवति), तत्, वः युष्माकं रघुवंशीयाना राज्ञा, परम श्रेष्ठ, धनम्॥ ११॥

अनुवाद—हम लोग ऋष्यश्रृङ्ग जी के यज्ञ में फँसे हुए हैं (अतएव अभी आने में असमर्थ हैं)। आप बालक ही हैं (अर्थात् आप में अभी राज्य-शासन का ज्ञान कम है) और राज्य नया है (अर्थात् नया मिला है)। इसलिये प्रजाओं का अनुरञ्जन करने में (अर्थात् अपने प्रति प्रजाओं का अनुराग बढ़ाने में) तत्पर रहें। क्योंकि प्रजानुरञ्जन करने से जो यश मिलता है वह आप (रघुवंशीय राजाओं) का परम (प्रिय) धन है॥ ११॥

टिप्पणी—युक्त—दिवादिगणीय युज् समाधौ धातु से कर्त्ता में क्त प्रत्यय अथवा रुधादिगणीय युजिर् योगे धातु से कर्म में क्त प्रत्यय। इस श्लोक में तीसरे चरण के प्रति पहले और दूसरे चरण के तीन वाक्य हेतु हैं, इसलिये वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है। यह इन्द्रवज्रा छंद है॥ ११॥

राम—यथा समादिशति भगवान् मैत्रावरुणिः।

राम—भगवान् वशिष्ठ की जैसी आज्ञा (अर्थात् उन्होंने ठीक कहा है। मैं उनकी आज्ञा का पालन करूँगा)।

टिप्पणी—मैत्रावरुणि = वशिष्ठ। मित्रश्च वरुणश्च मित्रावरुणौ, द्वन्द्वसमास और 'देवता द्वन्द्वे च' सूत्र से आनङ्, तयो अपत्यं पुमान् मैत्रावरुणि, 'अत इञ्' सूत्र से इञ् प्रत्यय तथा 'तद्धितेष्वचामादे' से आदिवृद्धि। मत्स्यपुराण के अनुसार एक बार उर्वशी को देखकर मित्र और वरुण देवता का रेत स्खलन हो गया। एक घड़े के भीतर जो शुक्र गिरा, उससे अगस्त्य जी और घड़े के बाहर गिरने वाले शुक्र से वसिष्ठ जी की उत्पत्ति हुई। इसलिए ये दोनों मुनि मैत्रावरुणि कहलाते हैं।

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥ १२॥

अन्वय—लोकस्य आराधनाय स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीम् अपि मुञ्चतो मे व्यथा न अस्ति॥ १२॥

अनुवाद—प्रजाओं के अनुरंजन या संतोष के लिए स्नेह, दया अथवा जानकी तक को छोड़ने में मुझे कष्ट नहीं है॥ १२॥

टिप्पणी—सौख्यम्—सुखमेव इति सुख+ष्यञ् स्वार्थे। यहाँ 'जानकीमपि' में 'दूसरे की तो बात ही क्या, जानकी तक को' इस अर्थागम से अर्थापत्ति अलंकार है और 'मुञ्चन्' इस एक ही क्रिया में स्नेह, दया आदि का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलंकार भी है। फिर इन दोनों अलंकारों की स्थिति परस्पर सापेक्ष होने से संकर अलंकार उत्पन्न होता है॥ १२॥

सीता—अदो जेव्व राहवकुलधुरन्धरो अज्जउत्तो। [अतएव राघवकुलधुरन्धर आर्यपुत्र।]

सीता—इसी से (इन्हीं उपर्युक्त विशेषताओं के कारण) आर्यपुत्र (आप) रघुकुल के धुरन्धर हैं (रघुवंशी राजाओं में अग्रगण्य हैं)।

टिप्पणी—राघवकुलधुरन्धरः—धुर यानमुख धारयति इति धुरा ,/धृ+णिच्+खच्, मुम्, ह्रस्व = धुरन्धरः, राघवाणां कुलम् तस्य धुरन्धरः ।

रामः—क. कोऽत्र भो. ! विश्राम्यतां भगवानष्टावक्रः ।

राम—यहाँ कौन है जी ! भगवान् अष्टावक्र को विश्राम कराओ ।

टिप्पणी—किसी-किसी पुस्तक में 'विश्राम्यतात्' पाठ है। तब अर्थ होगा—भगवान् अष्टावक्र विश्राम करें। 'विश्राम्यताम्' में णिजन्त से कर्म में लोट् लकार और 'विश्राम्यतात्' में कर्ता में लोट् तथा उसके स्थान में तातङ् आदेश होगा।

अष्टावक्रः—(*उत्थाय परिक्रम्य च*) अये ! कुमारलक्ष्मणः प्राप्तः (*इति निष्क्रान्त.।*)

अष्टावक्र—(*उठकर और घूमकर*) अहा ! कुमार लक्ष्मण जी आ गये। (*यह कहकर चले गये।*)

(*प्रविश्य*)

(*प्रवेश कर के*)

लक्ष्मणः—जयति जयत्यार्य.। आर्य ! अर्जुनेन चित्रकरेणास्मदुपदिष्टमार्यस्य चरितमस्यां वीथ्यामभिलिखितम्। तत्पश्यत्वार्य ।

लक्ष्मण—आर्य की जय हो, आर्य की जय हो। आर्य ! हमारे कथनानुसार अर्जुन नामक चित्रकार ने इस दीवार पर आपका चरित्र चित्रित किया है। आप उसे देखें।

टिप्पणी—चित्रकरेण—चित्र करोति इति चित्र-कृ + ट ताच्छील्ये = चित्रकर, तेन । अस्मदुपदिष्टम्—अस्माभि (मया) उपदिष्टम् । वीथ्याम् = चित्रभित्ति पर। 'पंक्तिर्वर्त्मगृहाङ्गेषु वीथिर्वीथी च वीथिका' इति रत्नकोषः।

रामः—जानासि वत्स ! दुर्मनायमानां देवीं विनोदयितुम्। तत् कियन्तमवधिं यावत् ?

राम—वत्स ! उन्मन देवी का मन बहलाना तुम जानते हो। चित्र कहाँ तक लिखा गया है (अर्थात् चित्र में कहाँ तक का वृत्तान्त दिखाया गया है) ?

टिप्पणी—दुर्मनायमानाम् = दु:खित चित्त वाली को। दु:स्थित मनो यस्या सा दुर्मनाः, अदुर्मना दुर्मना इव भवति दुर्मनायमाना ताम्,

'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः' इससे क्यङ् प्रत्यय तथा सलोप होने के बाद कर्ता में शानच्।

लक्ष्मण —यावदार्याया हुताशनशुद्धिः।

लक्ष्मण—आर्या (भावी जी) की अग्निशुद्धि पर्यन्त।

राम —शान्तम् (ससान्त्ववचनम्)

राम—यह मत कहो (सान्त्वना के शब्दों में)

टिप्पणी—शान्तम् = यह निवारणार्थक अव्यय है। 'अव्यय वारणे शान्तम्' इति मदिनी।

उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।
तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः ॥ १३ ॥

अन्वय—उत्पत्तिपरिपूतायाः अस्याः पावनान्तरैः किम्। तीर्थोदकं च वह्निश्च अन्यतः शुद्धिम् न अर्हतः ॥१३॥

अनुवाद—जन्म से ही परिशुद्ध सीता देवी की अन्य पवित्रताजनक पदार्थों की क्या आवश्यकता (अर्थात् स्वतः शुद्ध होने के कारण इनकी शुद्धि अग्नि आदि से क्या हो सकती है)? क्योंकि तीर्थजल और अग्नि दूसरे पदार्थों से शुद्धि लाभ नहीं करते हैं (अर्थात् जैसे तीर्थजल और अग्नि को दूसरे से शुद्धि की अपेक्षा नहीं रहती, उसी तरह सीता को भी दूसरे से शुद्धि की अपेक्षा नहीं है) ॥ १३ ॥

टिप्पणी—पावनान्तरैः = अन्य शुद्धिकारक पदार्थों से। अन्यानि पावनानि पावनान्तराणि तैः, 'मयूरव्यंसकादयश्च' से यहाँ समास हुआ। इस श्लोक में प्रतिवस्तूपमा और तुल्ययोगिता इन दो अलकारों में अंगांगिभाव सम्बन्ध होने से संकर अलंकार है ॥ १३ ॥

देवि! देवयजनसम्भवे! प्रसीद। एष ते जीवितावधिः प्रवादः।

देवि! यज्ञ भूमि समुत्पन्ने! प्रसन्न हो (अर्थात् अपना दोष सुनने से दुःखी मत हो)। यह (अग्निपरीक्षाविषयक) प्रवाद तुम्हारे जीवन तक रहेगा।

टिप्पणी—देवयजनसम्भवे! = यज्ञभूमि से उत्पन्न होने वाली! देवा इज्यन्ते अस्मिन् इति देवयजनम्, तस्मिन् सम्भवः = उत्पत्तिः यस्याः सा देवयजनसम्भवा, तत्सम्बुद्धौ। जीवितावधिः = आजीवन रहने वाला। जीवितं = जीवनम् अवधिर्यस्य सः।

कष्टं जनः कुलधनैरनुरञ्जनीय-
स्तन्नो यदुक्तमशिवं नहि तत् क्षमं ते।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि ॥ १४ ॥

अन्वय—कुलधनैः जनः अनुरञ्जनीयः (इति) कष्टम्, तत् नः यत् अशिवम् उक्तम् तत् ते नहि क्षमम्। सुरभिणः कुसुमस्य मूर्ध्नि स्थितिः नैसर्गिकी सिद्धा, चरणैः अवताडनानि न ॥ १४ ॥

व्याख्या—कुलधनैः कुलमेव धनं येषां तैः कुलक्रमागतरीतिरक्षणतत्परैः (मनुष्यैः), जनः साधारणलोकः, अनुरञ्जनीयः सन्तोषणीयः इति, कष्टम्। तत् तस्मात्, नः आवयोः, यत्, अशिवम् अशुभम्, उक्तम् निगदितम्, तत् कथनम्, ते तव सम्बन्धे, नहि न, क्षमम् युक्तम्। (यतो हि) सुरभिणः सुगन्धिनः, कुसुमस्य पुष्पस्य, मूर्ध्नि शिरसि, स्थितिः अवस्थानम्, नैसर्गिकी स्वाभाविकी, (किन्तु) चरणैः पादैः, अवताडनानि अवमर्दनानि, न (नैसर्गिकाणि। अर्थात् सुगन्धिपुष्पस्य मूर्ध्नि स्थितिः इव तव निर्दोषत्वप्रशंसा एव समीचीना, न तु तस्य पादावमर्दनवत् तव चरित्रे दोषारोपो युक्तः) ॥१४॥

अनुवाद—अत्यन्त खेद की बात है कि कुल की प्रतिष्ठा बचाने में तत्पर लोगों को जनसाधारण को सन्तुष्ट रखना पड़ता है (अर्थात निराधार लाञ्छना लगाने वाले को भी सन्तुष्ट करना पड़ता है)। इसलिए हम लोगों को जो अभद्र बात कही गई है, वह तुम्हारे सम्बन्ध में उचित नहीं है। क्योंकि सुगंधित पुष्प का सिर पर रहना स्वाभाविक है, परन्तु उसका पैरों तले कुचला जाना स्वाभाविक नहीं है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—कष्टम्—√कष्+क्त भावे। नः यदुक्तमशिवम्=हम दोनों के प्रति जो अपवादात्मक अमङ्गल वाक्य कहा गया है। यद्यपि अपवाद की बात सीता जी के सम्बन्ध में थी न कि रामचन्द्र जी के सम्बन्ध में, किन्तु 'भार्या पुत्रः स्वका तनुः' इस मनु के वचन से पत्नी के अपवाद का भागी पति भी होता है। इसलिये कवि ने रामचन्द्र जी के मुख से 'हम दोनों' शब्द का उच्चारण करवाया है। नैसर्गिकी—नितरां सृज्यते इति नि√सृज्+घञ्

१—'क्लिष्टो जनः किल जनैः' इत्यन्यत्र पाठः।

कर्मणि निसर्गः तस्मात् आगता इति निसर्ग+टच् —ङीप् स्त्रियाम्। इस श्लोक में दृष्टान्त अलकार है। यह वसन्ततिलका छन्द है।

सीता—होदु अज्जउत्त, होदु। एहि। पेक्खह्म दाव दे चरिदम्। (इत्युत्थाय परिक्रामति।) [भवत्वार्यपुत्र, भवतु। एहि। प्रेक्षामहे तावत्ते चरितम्।]

सीता—(अपवाद) हो जाय, आर्यपुत्र! हो जाय (हमें क्या करना है)। आइये, आपका चरित्र देखें। (*यह कह उठकर चल देती हैं।*)

लक्ष्मण—इदं तदालेख्यम्।

लक्ष्मण—चित्र यह रहा।

सीता—(*निर्वर्ण्य*) क एदे उवरि णिरन्तरट्ठिदा उवत्थुवन्ति विअ अज्जउत्तम्? [क एते उपरि निरन्तरस्थिता उपस्तुवन्तीवार्यपुत्रम्?]।

(*देखकर*) ऊपर सटकर खड़े हुए ये कौन हैं, जो मानो आर्यपुत्र की स्तुति कर रहे हैं?

टिप्पणी—निर्वर्ण्य=देखकर। 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमर। निरन्तरस्थिता=परस्पर सलग्न भाव से अवस्थित। निर्गतम् अन्तरं यस्मिन् कर्मणि तत् निरन्तरम्, तद् यथा स्यात् तथा स्थिता निरन्तरस्थिता सुप्सुपासमास।

लक्ष्मण—देवि! एतानि तानि सरहस्यानि जृम्भकास्त्राणि यानि भगवत कृशाश्वात् कौशिकमृषिमुपसक्रान्तानि। तेन ताटकावधे प्रसादीकृतान्यार्यस्य।

व्याख्या—एतानि, सरहस्यानि मन्त्रसहितानि, जृम्भकास्त्राणि, जम्भक नामकानि अस्त्राणि, यानि अस्त्राणि, भगवत, कृशाश्वात् विश्वामित्रपितामहात्, कौशिकम् विश्वामित्रम्, ऋषिम् मुनिम्, उपसक्रान्तानि आगतानि, तेन विश्वामित्रेण, ताटकावधे रामेण ताटकावधे कृते सति, आर्यस्य रामस्य, प्रसादीकृतानि अनुकम्पया दत्तानि।

अनुवाद—लक्ष्मण—देवि! ये समन्त्र जृम्भक अस्त्र हैं, जो भगवान् कृशाश्व से मुनि विश्वामित्र को प्राप्त हुए थे और जिन्हें विश्वामित्र ने ताटकावध के अवसर पर आर्य को अनुग्रहपूर्वक दे दिया था।

टिप्पणी—सरहस्यानि—त्राण विद्या के मन्त्रों सहित। कृशाश्वात् = कृशाश्वनामक ऋषि से। ये ऋषि विश्वामित्र के प्रपितामह थे। कृशाश्वात् मे 'आख्यातोपयोगे' से पचमी हुई। कौशिकम् = विश्वामित्र को। कुशिकस्यापत्यं पुमान् कौशिकः तम्, 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' सूत्र से यहाँ अण् प्रत्यय हुआ। 'ताटकावधे' इसमे 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' सूत्र से सप्तमी हुई।

रामः—वन्दस्व देवि, दिव्यास्त्राणि।

राम—देवि! दिव्य अस्त्रों को प्रणाम करो।

टिप्पणी—दिव्यास्त्राणि = दिवि स्वर्गे भवानि दिव्यानि, 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' से यत् प्रत्यय, दिव्यानि च तानि अस्त्राणि दिव्यास्त्राणि, कर्मधारय समास।

ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा परःसहस्रं शरदां तपांसि।
एतान्यपश्यन् गुरवः पुराणाः स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि ॥१५॥

अन्वय—ब्रह्मादयः पुराणाः गुरवः ब्रह्महिताय शरदां परःसहस्रं तपांसि तप्त्वा स्वानि एव तपोमयानि तेजांसि एतानि अपश्यन् ॥ १५ ॥

व्याख्या—ब्रह्मादयः प्रजापतिप्रभृतयः, पुराणाः प्राचीनाः, गुरवः उपदेष्टारः, ब्रह्महिताय वेदरक्षणाय, शरदां वर्षाणां, परःसहस्रं सहस्राधिकवर्षम्, तपांसि तपस्याः, तप्त्वा कृत्वा, स्वानि स्वकीयानि, एव, तपोमयानि तपःस्वरूपाणि, तेजांसि वर्चांसि, एतानि जृम्भकायुधानि, अपश्यन् दृष्टवन्तः ॥ १५ ॥

अनुवाद—ब्रह्मा आदि पुरातन गुरुओं ने वेद की रक्षा के लिए हजार वर्ष से अधिक काल तक तपस्या करके अपने ही तपोमय तेज के रूप में इन अस्त्रों को देखा था।

टिप्पणी—ब्रह्महिताय = वेद या ब्राह्मण के हित के लिए। 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' इत्यमरः। 'ब्रह्महिताय' में 'हितयोगे च' से चतुर्थी हुई। परःसहस्रम् = हजार से ऊपर। सहस्रात् परं परःसहस्र, तद् यथा तथेति क्रियाविशेषणम्। यहाँ 'पञ्चमी भयेन' इस सूत्र के योगविभाग से अथवा 'सुप्सुपा' से समास हुआ। 'राजदन्तादिषु परम्' इससे पर शब्द का पूर्वनिपात, 'पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्' इससे सुट् का आगम और 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' से द्वितीया हुई। पुराणाः = पुरा भवा इति

पुरा+टयु निपातनात् खिदि अथवा पुरा नीयते इति पुरा √नी+ड। यह उपजाति छंद है।

सीता—णमो एदाणम्। (नम एतेभ्य)

सीता—इनको नमस्कार है।

राम —सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति।

राम—अब ये सब प्रकार से तुम्हारी सन्तान को प्राप्त होंगे।

सीता—अणुगहीदह्मि। (अनुगृहीतास्मि)

सीता—में अनुगृहीत हूँ।

लक्ष्मण —एष मिथिलावृत्तान्त।

लक्ष्मण—यह मिथिला नगरी का वृत्तान्त है।

सीता—अम्महे, दल-तणवणीलुप्पलसामलसिणिद्धमसिणसोहमाणमसलेन देहसोहग्गेण विह्मअथिमिदतादद्दीसन्तसोम्मसुन्दरसिरी अणादरत्थुडिदसकरसरासणो सिहण्डमुद्धमुहमण्डलो अज्जउत्तो आलिहिदो। [अहो, दलन्नवनीलोत्पलश्यामलस्निग्धमसृणशोभमानमासल देहसौभाग्येन विस्मयस्तिमिततातदृश्यमानसौम्यसुन्दरश्रीरनादरत्रुटित शङ्करशरासन शिखण्डमुग्धमुखमण्डल आर्यपुत्र आलिखित।]

व्याख्या—दलत् विकसत्, यत् नवनीलोत्पलम्, ईषद्विकसदिन्दीवर, तद्वत् श्यामल कृष्णवर्णं, स्निग्ध प्रीत्यावह, मसृण चिक्कणम्, अतएव शोभमान सुदरम्, मासल बलशालि, यत् देह शरीर, तस्य सौभाग्येन सौन्दर्येण, विस्मयेन आश्चर्येण, स्तिमित निश्चल, य तात पिता, तेन दृश्यमाना अवलोक्यमाना, सौम्या आह्लादकरी, सुन्दरश्री रुचिरशोभा यस्य स, अनादरेण अयत्नेन, त्रुटित भग्न, शङ्करशरासन शिवधनु येन स, शिखण्डेन काकपक्षेण, मुग्ध सुदरं, मुखमण्डल वदन यस्य स, आर्यपुत्र राम, आलिखित चित्रित।

अनुवाद—सीता—अहा! जिनके खिले हुए नवीन नील कमल के समान श्यामवर्ण, कोमल, चिकने, सुदर और बलिष्ठ शरीर के सौन्दर्य से विस्मय विमुग्ध होकर (मेरे) पिता जी ने आप्यायित करने वाली सुदर शोभा देखी थी, जिन्होंने अनायास शकर के धनुष को तोड़ दिया था और जिनका मुखमडल काकपक्ष से सुशोभित था, ऐसे आयपुत्र चित्रित किये गये हैं।

टिप्पणी—अम्महे = यह विस्मयसूचक अव्यय है। दलन्नवनीलोत्पलश्यामलस्निग्धमसृणशोभमानमांसलदेहसौभाग्येन—नव-नीलोत्पल में विशेष्यविशेषण समास, दलत् नवनीलोत्पल में भी यही समास, दलन्नवनीलोत्पल-श्यामल में उपमित समास, दलन्नवनीलोत्पलश्यामल-स्निग्ध-मसृण-शोभमान-मांसल में द्वन्द्वसमास,—० मांसल-देह में विशेष्यविशेषण समास और—० देह-सौभाग्येन में षष्ठीतत्पुरुष समास है। शिखण्ड = कनपटियों पर लटकने वाले बालों के पट्टे, जुल्फ, काकपक्ष।

लक्ष्मणः—आर्ये ! पश्य पश्य—

लक्ष्मण—आर्ये ! देखिये देखिये—

सम्बन्धिनो वसिष्ठादीनेष तातस्तवार्चति।
गौतमश्च शतानन्दो जनकानां पुरोहितः॥ १६॥

अन्वय—एष तव तातः जनकानां पुरोहितः गौतमः शतानन्दश्च सम्बन्धिनो वसिष्ठादीन् अर्चति॥ १६॥

अनुवाद—ये आपके पिता जी और जनकवंश के पुरोहित गौतम-पुत्र शतानन्द जी सम्बन्धी (वर पक्ष वाले) वसिष्ठ आदि (महानुभावों) की अर्चना कर रहे हैं॥ १६॥

टिप्पणी—जनकानाम् = जनकवंशी राजाओं के। गौतमः = गौतम से अहल्या में उत्पन्न पुत्र, गौतमस्यापत्यं पुमान् गौतमः। सम्बन्धिनः = वैवाहिक सम्बन्ध वाले। सम्बन्धः अस्ति एषाम् इति सम्बन्ध + इनि मत्वर्थे। इस श्लोक में एक ही अर्चनक्रिया के साथ जनक और शतानन्द का अन्वय होने से तुल्ययोगिता अलंकार है॥ १६॥

रामः—द्रष्टव्यमेतत्।

राम—यह (विवाहविध स्वर्णसुगन्ध न्याय से) देखने योग्य है।

टिप्पणी—कहीं 'द्रष्टव्यम्' की जगह 'सुश्लिष्टम्' पाठ है। उसका अर्थ होगा—'सुसम्बद्ध'।

जनकानां रघूणां च सम्बन्धः कस्य न प्रियः।
यत्र दाता ग्रहीता च स्वयं कुशिकनन्दनः॥ १७॥

अन्वय—जनकानां रघूणां च सम्बन्धः कस्य प्रियो न, यत्र स्वयं कुशिकनन्दनः दाता ग्रहीता च (अस्ति)॥ १७॥

अनुवाद—जनकवंशी और रघुवंशियों का (परस्पर) विवाह सम्बन्ध, जिसमें स्वयं विश्वामित्र ऋषि दान करने वाले और ग्रहण करने वाले भी रहे हैं, किसे प्रिय नहीं है ? ॥ १७ ॥

टिप्पणी—जनकानाम्=जनकवंश के राजाओं का । जनकस्य अपत्यानि पुमांस जनका, तेषाम् । रघूणाम्=रघुवंश के राजाओं का । रघो अपत्यानि पुमांस रघव, लक्षणया तद्राजसंज्ञावशात् उभयत्र अणो लुक् । दाता=देने वाले । जनक को कन्यादान के लिए प्रेरित करने के कारण दाता हुए । ग्रहीता=ग्रहण करने वाले । राम को धनुष तोड़ने के लिए प्रेरणा देने के कारण ग्रहीता हुए । 'किसको प्रिय नहीं है, इसमें 'बल्कि सबको प्रिय है' यह भाव आपातत आ जाता है । इसलिए यहाँ अर्थापत्ति अलंकार है ॥ १७ ॥

सीता—एदे क्खु तक्कालकिदगोदाणमङ्गला चत्तारो भादरो विआह-दिक्खिदा तुह्मे । अह्मो ! जाणामि तस्सि जेव्व पदेसे तस्सि जेव्व काले वत्तामि । [एते खलु तत्कालकृतगोदानमङ्गलाश्चत्वारो भ्रातरो विवाहदीक्षिता यूयम् । अहो ! जानामि तस्मिन्नेव प्रदेशे तस्मिन्नेव काले वर्ते ।]

सीता—ये आप चारों भाई हैं जो उस समय (धनुष तोड़ने के बाद) केशान्त संस्कार रूप मांगलिक कर्म हो जाने के उपरान्त विवाह कर्म में वरण किये गये थे । अहा ! मुझे तो ऐसा लग रहा है कि मैं उसी स्थान में (मिथिला राजधानी में ही) और उसी काल में (विवाह के समय में ही) हूँ ।

टिप्पणी—गोदानम्=केशान्त संस्कार, मंगल कौर । गाव केशा दीयन्ते खण्ड्यन्ते अस्मिन् इति गोदानम् । गोपूर्वक दो अवखण्डने धातु से अधिकरण में ल्युट् प्रत्यय । 'गौ पुंस्त्रियो स्वर्गवज्राम्बुरश्मिदृग्बाणलोमसु' इति केशव । याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा है—'केशान्तश्चैव षोडश' । उसकी मिताक्षरा टीका में कहा है—'केशान्त पुनर्गोदानाख्य कर्म' । इस सम्बन्ध में मनुस्मृति का वचन है—'केशान्त षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते । राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके तत ।

समयः स वर्तत इवैष यत्र मां
समनन्दयत् सुमुखि ! गौतमार्पित. ।
अयमागृहीतकमनीयकङ्कण-
स्तव मूर्तिमानिव महोत्सवः कर. ॥ १८ ॥

अन्वय—राम—हे सुमुखि ! एष स समयो वर्तत इव, यत्र गौतमार्पित आगृहीतकमनीयकङ्कण. अयं तव कर. मूर्तिमान् महोत्सव इव मा समनन्दयत् ॥ १८ ॥

व्याख्या—हे सुमुखि ! हे शोभनानने ! एष: अयम्, स. पूर्वानुभूत, समयः काल., वर्तते इव विद्यते इव, यत्र यस्मिन् समये गौतमार्पितः शतानन्ददत्त., आगृहीतकमनीयकङ्कणः आगृहीत = सम्यक् धृत कमनीय = सुन्दरं कङ्कण = विवाहमङ्गलसूत्र येन स अयं पुरोवर्तमानः, तव भवत्याः, कर' पाणिः मूर्तिमान् शरीरी, महोत्सव. महोद्धव., इव तद्वत्, मा राम, समनन्दयत् सन्तोषितवान् ॥ १८ ॥

अनुवाद—राम—हे सुन्दरि ! यह तो वह समय मालूम हो रहा है, जब शतानन्द जी ने मेरे हाथ पर तुम्हारे इस मनोहर वैवाहिक मंगलसूत्र (कगन) धारण किये हुए हाथ को रखा था, जिसने साक्षात् शरीरधारी महोत्सव की तरह मुझे आनन्दित किया था ॥ १८ ॥

टिप्पणी—यहाँ 'वर्तत इव' इसमें क्रियोत्प्रेक्षा और 'मूर्तिमान् महोत्सव इव' इसमें गुणोत्प्रेक्षा अलकार हैं। फिर दोनों अलकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से ससृष्टि अलकार का उदय होता है। यह मञ्जुभाषिणी छद है। इसका लक्षण है—'सजसा जगौ च यदि मञ्जुभाषिणी' ॥ १८ ॥

लक्ष्मणः—इयमार्या । इयमप्यार्या माण्डवी । इयमपि वधूः श्रुतिकीर्तिः ।

लक्ष्मण—यह आप हैं । यह आर्या माण्डवी हैं और यह बहू श्रुतकीर्ति है।

टिप्पणी—माण्डवी = भरत की पत्नी । भरत लक्ष्मण से बड़े थे। इसलिये उनकी पत्नी माण्डवी के साथ आदरसूचक 'आर्या' शब्द जोड़ दिया

गया है। श्रुतकीर्ति = शत्रुघ्न की पत्नी। शत्रुघ्न सब भाइयों में छोटे थे। अत: उनकी पत्नी श्रुतकीर्ति के नाम के साथ 'वधू' शब्द जोड़ा गया है।

सीता—वच्छ, इयं वि अवरा का? (*वत्स, इयमप्यपरा का?*)

सीता—वत्स! और यह दूसरी कौन है?

टिप्पणी—यहाँ लक्ष्मण ने लज्जावश अपनी पत्नी ऊर्मिला की चर्चा नहीं की थी। अतः नर्महृदया सीता ने परिहास करने के लिये 'वत्स, यह दूसरी कौन है?' ऐसा प्रश्न किया, अन्यथा चिरपरिचिता ऊर्मिला के सबंध में यह प्रश्न ही नहीं हो सकता।

लक्ष्मणः—(*सलज्जास्मितम्, अपवार्य*) अये, ऊर्मिला पृच्छत्यार्या। भवतु। अन्यतः सञ्चारयामि। (*प्रकाशम्*)। आर्ये! दृश्यतां द्रष्टव्यमेतत्। अयं च भगवान् भार्गवः।

लक्ष्मण—(*लज्जा और मन्द मुस्कान के साथ, मन में*) अरे! आर्या ऊर्मिला के सबंध में पूछ रही हैं। अच्छा, दूसरी तरफ इनकी दृष्टि ले जाता हूँ। (*प्रकट*) आर्ये! यह देखने योग्य दृश्य देखिये। ये भगवान *परशुराम* हैं।

टिप्पणी—अपवार्य = दूसरों से छिपाकर, अपने आप, मन में, स्वगत। स्वगत का लक्षण यह है—'अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्'—"साहित्यदर्पण"। अप—वृ + णिच् + क्त्वा—ल्यप्। 'तद्भवेदपवारितम्। रहस्यन्तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते।' ऊर्मिला = लक्ष्मण की पत्नी। सीता और ऊर्मिला जनक (सीरध्वज) की और माण्डवी एवं श्रुतकीर्ति जनक के अनुज कुशध्वज की पुत्रियाँ थीं। प्रकाशम् = सबके सुनने योग्य सुस्पष्ट बात, प्रकट। इसका लक्षण है—'सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्'। सा० द०

सीता—(*ससम्भ्रमम्*) कम्पिदह्मि। (*कम्पितास्मि*)

सीता—(*भयजनित त्वरा के साथ*) सिहर गई हूँ।

रामः—ऋषे! नमस्ते।

राम—मुने! आपको नमस्कार है।

लक्ष्मणः—आर्ये! पश्य। अयमार्येण—(*इत्यर्धोक्ते*)

लक्ष्मण—आर्ये! देखिये। आर्य ने इनको—(*यह आधा कहने पर*)

रामः—(*साक्षेपम्*) अयि! बहुतरं द्रष्टव्यम्। अन्यतो दर्शय।

राम—(*बात काट कर अर्थात् लक्ष्मण को बोलने से विरत कर*) अरे ! (अभी) बहुत कुछ देखना है। (इसलिए) दूसरी तरफ दिखाओ।

टिप्पणी—साक्षेपम् = आक्षेपेण लक्ष्मणवाक्यनिवारणेन सह इति साक्षेपम्। लक्ष्मण ने यह कहना चाहा कि आर्य (राम) ने इन (परशुराम) को पराजित किया। किन्तु बड़े के प्रति अपमानजनक वाक्य का प्रयोग करना विनयविरुद्ध है। यद्यपि जनकपुर में विवश होकर राम ने महामान्य परशुराम को पराजित किया था, किन्तु इस समय उस घटना के प्रसंग में आत्मप्रशंसा सुनना उनके लिए अनुचित था। इसलिए बीच ही में लक्ष्मण को रोककर 'अन्यतो दर्शय' कहा। अन्यतः—अन्यस्मिन् इति अन्य + टि (सप्तमी) + तसि स्वार्थे।

सीता—(*सस्नेहबहुमान निर्वर्ण्य*) सुट्ठु सोहसि अज्जउत्त ! एदिणा विणअमाहप्पेण। [सुष्ठु शोभसे आर्यपुत्र ! एतेन विनयमाहात्म्येन।]

सीता—(*स्नेह और बहुत आदर के साथ अवलोकन करके*) आर्यपुत्र ! आप इस विनय के प्रभाव से बहुत छज रहे हैं।

टिप्पणी—निर्वर्ण्य = देखकर। 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्।' इत्यमरः।

लक्ष्मणः—एते वयमयोध्यां प्राप्ताः।

लक्ष्मण—ये हम सब अयोध्या पहुँच गये।

राम—(*सास्रम्*) स्मरामि हन्त ! स्मरामि।

राम—(*आँसू सहित*) स्मरण करता हूँ, हाय ! स्मरण करता हूँ।

जीवत्सु तातपादेषु नूतने दारसंग्रहे[1]।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ॥ १६ ॥

अन्वय—तातपादेषु जीवत्सु नूतने दारसंग्रहे मातृभिः चिन्त्यमानानां नः ते दिवसा हि गताः ॥ १६ ॥

व्याख्या—तातपादेषु पितरि, जीवत्सु सप्राणेषु, नूतने नवे, दारसंग्रहे विवाहे सति, मातृभिः कौशल्यादिभिः जननीभिः, चिन्त्यमानानां कथं हि एतेषां

१—नवे दारपरिग्रहे इत्यपि पाठो लभ्यते।

समयः सुखेन गमिष्यति इति क्रियमाणचिन्ताना, नः अस्माक, ते पूर्वानुभूताः, दिवसाः दिनानि, हि निश्चयेन, गताः अतीता. (ते पुन. नैवेदानीं लप्स्यन्ते इति भावः) ॥ १६ ॥

अनुवाद—जिन दिनों पिता जी जीवित थे, नया विवाह हुआ था और मातायें हमारे सुख का चिंतन करती थीं, वे दिन हमारे बीत गये (अर्थात् हमारे जीवन के उत्तम दिन वे ही थे, जो अब पुनः मिलने को नहीं) ॥ १६ ॥

टिप्पणी—तातपादेषु = पितृचरणेषु = पिता जी क रहते । यहाँ पाद शब्द पूजार्थक है । 'उत्तमाना स्वरूप तु पादशब्देन भण्यते ।' बहुवचन तो 'एकवचन न युञ्जीत गुरावात्मनि चेश्वरे' इस अनुशासन क कारण हुआ है। तात और पाद शब्द में कर्मधारय समास है । इस श्लोक म 'वे ही दिन अच्छे थे न कि इस समय क' इस भाव के कारण आर्थी परिसंख्या अलंकार है तथा 'दिवस' शब्द के उत्कृष्टदिवसपरक होने से अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि भी है ॥ १६ ॥

इयमपि तदा जानकी ।

उस समय यह जानकी भी—

प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलै
दशनकुसुमैर्मुग्धालोक शिशुर्दधती मुखम् ।
ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमै-
रकृत मधुरैरम्बानां मे कुतूहलमङ्गकैः ॥ २० ॥

अन्वय—प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैः दशनकुसुमैः मुग्धालोक मुख दधती शिशुः ललितललितैः ज्योत्स्नाप्रायैः अकृत्रिमविभ्रमैः मधुरैः अङ्गकैः मे अम्बाना कुतूहलम् अकृत ॥ २० ॥

व्याख्या—प्रतनुविरलैः सूक्ष्माऽनिविडै, ('पतनविरलैः' इति पाठभेदे तु पतनेन हेतुना 'अनिविडैः' इति व्याख्येयम्) प्रान्तोन्मील-मनोहरकुन्तलैः गण्डोपरि विलसत्चिकुरैः, (तथा) दशनकुसुमैः पुष्पोपमदन्तैः, मुग्धालोक रम्यदर्शन, मुखम् आनन, दधती धारयन्ती, (इय) शिशुः बालिका जानकी, ललितललितैः सुन्दरप्रकारैः, ज्योत्स्नाप्रायैः कौमुदीसदृशैः, अकृत्रिमविभ्रमैः निसर्गसुन्दरैः, मधुरैः प्रियैः, अङ्गकैः हस्तपादाद्यवयवैः, मे मम, अम्बाना जननीना, कुतूहल कौतुकम् , अकृत कृतवती ॥ २० ॥

अनुवाद—अल्पवयस्का सीता, जिसका मुख कपोलों पर सूक्ष्म तथा बिखरे हुए मनोहर बालों के बिलसने एवं दाँतों के फूलों के समान होने के कारण नयनाभिराम था, अपने आह्लादजनक हस्तपादादि छोटे छोटे अंगों से, जो अत्यंत सुन्दर, चाँदनी के सदृश और स्वाभाविक विलासों से सम्पन्न थे, मेरी माताओं को कुतूहल उत्पन्न किया करती थी ॥ २० ॥

टिप्पणी—प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलै. = कपोलप्रान्त में शोभित होने वाले सुन्दर बालों से। प्रान्तयो = गण्डयो उन्मीलन्तः = स्फुरन्तः ये मनोहरा = शोभमाना कुन्तलाः = केशा तैः। 'मनोहरकुन्तलै' में विशेष्य-विशेषणसमास, 'उन्मीलत्-मनोहरकुन्तलै.' में भी यही समास और 'प्रान्त-उन्मीलन्मनोहरकुन्तलैः' मे सप्तमी तत्पुरुष समास। (उद्/मील्+शतृ= उन्मीलत्) दशनकुसुमैः = पुष्प सदृश दाँतों से। दशनाः कुसुमानि इव दशनकुसुमानि, तै. (उपमित समास और हेतु में तृतीया)। मुग्धालोकम् = देखने मे मनोहर। मुग्धः = मनोहर आलोक = दर्शन यस्य तत् (बहुव्रीहि समास)। 'आलोकौ दर्शनद्योतौ' इत्यमर'। शिशुः = बालिका। बाल्मीकि रामायण के अनुसार सीता जी का विवाह छह वर्ष की अवस्था में हुआ था। बारह वर्ष अयोध्या में रहने के बाद अठारह वर्ष की अवस्था में वे वन गईं थीं। इसीलिए कवि ने रामचन्द्र जी के मुख से शिशु शब्द का प्रयोग करवाया है। ललितललितैः = सुन्दर से भी सुन्दर अर्थात् अत्यंत सुन्दर। ललितात् = सुन्दरात् वा कुसुमात् अपि ललितानि ललितललितानि तैः। ज्योत्स्नाप्रायै = चन्द्रिका तुल्य। (ज्योति. अस्ति अस्याम् इति ज्योतिस्+न मत्वर्थे निपातम् = ज्योत्स्ना) ज्योत्स्नाभिः प्रायाणि ज्योत्स्नाप्रायाणि (मयूरव्यंसकादित्वात् समास) ते। 'प्रायश्चानशने मृत्यौ प्रायो बाहुल्यतुल्ययोः' इति विश्वकोशः। अकृत्रिमविभ्रमै. = स्वाभाविक विलासों से युक्त। अकृत्रिमा विभ्रमा येषां तानि अकृत्रिमविभ्रमाणि तैः। (कृ+क्त्रि, मप् = कृत्रिमाः न कृत्रिमा अकृत्रिमा)। अङ्गकै = क्षुद्र अवयवों से। अङ्ग शब्द से अल्पार्थ में कन् प्रत्यय। अकुत = कु+तुट्—त। इस श्लोक में लुप्तोपमा तथा समुच्चय अलंकार हैं, फिर इनमे अंगांगिभाव संबंध होने से संकर अलंकार हो जाता है। यह छंद हरिणी है। इसका लक्षण है—'हरिणी न्सौ म्रौ स्लौ ऋतुसमुद्रऋषय.' ॥ २० ॥

लक्ष्मणः—एष मन्थरावृत्तान्तः ।

लक्ष्मण—यह मथरा का वृत्तात है ।

रामः—(सत्वरमन्यतो[1] दर्शयन्) देवि वैदेहि !

राम—(*शीघ्रता से दूसरी ओर दिखाते हुए*) देवि जानकि !

इङ्गुदीपादप. सोऽयं शृङ्गवेरपुरे पुरा ।
निषादपतिना यत्र स्निग्धेनासीत् समागमः ॥ २१ ॥

अन्वय—अय स इङ्गुदीपादपः यत्र पुरा शृङ्गवेरपुरे स्निग्धेन निषादपतिना समागम. आसीत् ॥ २१ ॥

अनुवाद—यह वही इगुदीवृक्ष है, जहाँ पहले शृगवेरपुर मे स्नेहशील निषादराज से (हम लोगों की) भेंट हुई थी ॥ २१ ॥

टिप्पणी—स्निग्धेन—मित्र । स्निह्यतीति स्निह्+क्त कर्तरि वर्तमाने = स्निग्धः । 'स्निग्धो वयस्यः सवयाः' इत्यमरः ।

लक्ष्मणः—(*विहस्य, स्वगतम्*) अये, मध्यमाम्बावृत्तान्तोऽन्तरित आर्येण ।

लक्ष्मण—(*हँस कर, अपने आप*) अरे ! आर्य ने मझली माता (कैकेयी) का वृत्तान्त छिपा दिया ।

टिप्पणी—अन्तरित· = अन्तरेण गोपितः इति अन्तर+णिच्(नामधातु) +क्त कर्मणि ।

सीता—अह्मो, एसो जडासंजमणवुत्तन्तो [अहो, एष जटासंयमनवृत्तान्तः] ।

सीता—हाय ! यह जटा बाँधने का वृत्तात है ।

लक्ष्मण·—

पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैर्यद्वृद्धेक्ष्वाकुभिर्धृतम् ।
धृतं बाल्ये तदार्येण पुण्यमारण्यकव्रतम् ॥ २२ ॥

अन्वय—पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकै. वृद्धेक्ष्वाकुभिः यद् धृतम् तत् पुण्यम् आरण्यकव्रतम् आर्येण बाल्ये धृतम् ॥ २२ ॥

१—अनुत्तरम् इतिपाठभेदः ।

अनुवाद—लक्ष्मण—इक्ष्वाकुवंश के राजा लोग पुत्र को राजलक्ष्मी सौंप कर वृद्धावस्था में जिस व्रत को धारण करते थे, उस पवित्र वानप्रस्थ व्रत को आर्य ने बाल्यावस्था में ही धारण कर लिया था ॥ २२ ॥

टिप्पणी—पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैः=पुत्रों को राज्यभार सौंपे हुए। पुत्रेषु संक्रान्ता लक्ष्मीः येषां तैः। लक्षयति पश्यति नीतिविद पुमांसम् इति लक्ष्+णिच्+ई (औणादिक) कर्तरि स्त्रियाम्=लक्ष्मी। आरण्यकम्=वानप्रस्थ सम्बन्धी (व्रत)। अरण्ये ये निवसन्ति ते आरण्यकाः तेषामिदम् आरण्यकम्। *यह व्रत बुढ़ापे में लिया जाता है। जैसा कि स्मृतिवचन है—* 'गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। अपत्यपुत्रास्तत्पुत्रान्तदारण्य समाविशेत्।' *अतएव जो काम बुढ़ापे में किया जाना चाहिए वह बाल्यावस्था में किये जाने के कारण यहाँ असंगति नामक अलंकार है ॥ २२ ॥*

सीता—एसा पसण्णपुण्णसलिला भअवदी भाईरही। [एषा प्रसन्नपुण्यसलिला भगवती भागीरथी।]

सीता—ये निर्मल एवं पवित्र जल वाली भगवती गङ्गा जी हैं।

राम—रघुकुलदेवते! नमस्ते।

राम—रघुकुल की देवता! आपको नमस्कार है।

तुरगविचयव्यग्रानुर्वीभिदः सगराध्वरे,
कपिलमहसा रोषात्प्लुष्टान्पितुश्च पितामहान्।
अगणिततनूतापस्तप्त्वा तपांसि भगीरथो,
भगवति! तव स्पृष्टानद्भिश्चिरादुदतीतरत् ॥ २३ ॥

अन्वय—हे भगवति! भगीरथः अगणिततनूतापः तपांसि तप्त्वा सगराध्वरे तुरगविचयव्यग्रान् उर्वीभिदः रोषात् कपिलमहसा प्लुष्टान् च पितुः पितामहान् तव अद्भिः स्पृष्टान् चिरात् उदतीतरत् ॥ २३ ॥

व्याख्या—हे भगवति! हे ईश्वरि! भगीरथः सूर्यवंशीय एको नृपतिः, अगणिततनूतापः उपेक्षितशरीरकष्टः सन् ('अगणिततनूपातम्' इति पाठभेदे तु 'न गणितः न विचारितः तन्वाः शरीरस्य पातः पतनं यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा इति व्याख्येयम्), तपांसि तपस्याः, तप्त्वा सन्तप्य, सगराध्वरे

सगरराजस्य शताश्वमेधयज्ञाना पूरणीभूते शेषाश्वमेघे आरब्धे सति, तुरगविचय-व्यग्रान् इन्द्रेण अपहृतस्य तद्यज्ञीयाश्वस्य विचये अन्वेषणे व्यग्रान् आसक्तान्, उर्वीभिद. भूतलविदारणकारिण., रोषात् क्रोधात्, कपिलमहसा, कपिलस्य महर्षे. तेजसा, प्लुष्टान् दग्धान्, पितु जनकस्य (दिलीपस्य) पितामहान् सगरात्मजान्, तव भवत्या, अद्भिः जलै, स्पृष्टान् आप्लुतान् (कृत्वा), चिरात् महता कालेन, उदतीतरत् उदतारयत् ('उददीधरत्' इति पाठभेदे उद्धारयामास' इति व्याख्येयम्) ॥ २३ ॥

अनुवाद—हे भगवति! भगीरथ ने शारीरिक क्लेश की परवाह किये बिना तपस्या करके (महाराज) सगर के (अश्वमेध) यज्ञ में (इन्द्र द्वारा अपहृत) अश्व के ढूँढने में व्यग्र होकर पृथ्वी का भेदन करने वाले एव क्रोध के कारण कपिल मुनि क तेज से दग्ध हो जाने वाले (अपने) प्रपितामहों को चिरकाल क उपरान्त आपके जल स्पर्श से उद्धार किया था ॥ २३ ॥

टिप्पणी—तुरगविचयव्यग्रान्—तुरेण वेगेन गच्छति इति तुर√गम् +ड कर्तरि=तुरग, विशिष्टम् अग्रम् एषाम् इति व्यग्रा., तुरगस्य विचयः तस्मिन् व्यग्रा सुप्सुपा समास। उर्वीभिद.—उर्वी=मही ता भिन्दन्ति इति उर्वी√भिद्+क्विप्=उर्वीभिद तान्। अध्वर=याग (अध्वान स्वर्गमार्गं राति ददाति इति क प्रत्ययः)। प्लुष्टान्=जले हुओं को। प्लुष् दाहे धातु से क्त प्रत्यय। उदतीतरत्=तार दिया था। उत् पूर्वक तृ प्लवन सन्तरणयोः धातु से णिच् करने पर लुङ् लकार में यह रूप होता है। यहाँ पौराणिक कथा यह है कि सूर्यवशी सगर नामक राजा ने सौ अश्वमेध यज्ञ करना प्रारम किया, जिनमें निन्यानवे यज्ञ पूरे हो जाने के बाद जब सौवाँ यज्ञ चल रहा था तब इन्द्र ने अपनी गद्दी छीन लिये जाने के भय से उस यज्ञ का अश्व चुरा कर पाताल स्थित कपिल मुनि के आश्रम में ले जाकर बाँध दिया। अनन्तर सगर के ६०,००० पुत्र उस घोड़े को ढूँढते ढूँढते पृथ्वी खोदकर कपिल मुनि के आश्रम में पहुँचे। वहाँ मुनि को ध्यानावस्थित देखकर अज्ञानी सगर पुत्र उन्हीं को अश्वापहर्ता समझकर बार बार गाली देने लगे। जब मुनि का ध्यान-भग हुआ तब उनके तेज से वे सभी जलकर भस्म हो गये। उन्हीं सगर पुत्रों का उद्धार करने के लिए उनके वशज भगीरथ घोर तपस्या करके गगा की धारा को पृथ्वी पर ले आये और अपने पूर्वजों की राख पर गंगाजल

छिड़ककर उन्हें मोक्ष दिलवाया। उपर्युक्त ६०,००० पुत्र सगर की कनिष्ठा पत्नी सुमति से उत्पन्न हुए थे और ज्येष्ठा पत्नी केशिनी के असमञ्जस नामक एक पुत्र हुआ था। असमञ्जस से अंशुमान्, अंशुमान् से दिलीप और दिलीप से भगीरथ की उत्पत्ति हुई थी। यह हरिणी छन्द है ॥ २३ ॥

मा त्वमम्ब ! स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भव।

हे मात ! सो आप पुत्रवधू सीता के प्रति अरुन्धती की तरह कल्याण-चिन्तन करने वाली हों।

लक्ष्मणः—एष भरद्वाजावेदितश्चित्रकूटयायिनि वर्त्मनि वनस्पतिः कालिन्दीतटे वट श्यामो नाम।

लक्ष्मण—चित्रकूट को जाने वाले मार्ग में यमुनातट पर अवस्थित यह भरद्वाज जी का बताया हुआ श्याम नामक वट वृक्ष है।

(*रामः सस्पृहमवलोकयति।*)

(*राम उत्सुकता से देखते हैं।*)

सीता—सुमरेदि वा तं पदेसं अज्जउत्तो ? (स्मरति वा त प्रदेशमार्यपुत्रः ?)

सीता—क्या आर्यपुत्र उस प्रदेश का स्मरण करते हैं ?

रामः—अयि, कथं विस्मर्यते ?

राम—अहा ! कैसे भूल सकते हैं ?

अलसललितमुग्धान्यध्वसञ्जातखेदा-
दशिथिलपरिरम्भैर्दत्तसंवाहनानि।
परिमृदितमृणालीदुर्बलान्यङ्गकानि
त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्ता ॥ २४ ॥

अन्वय—यत्र त्वम् अध्वसञ्जातखेदात् अलसललितमुग्धानि अशिथिल-परिरम्भैः दत्तसंवाहनानि परिमृदितमृणालीदुर्बलानि अङ्गकानि मम उरसि कृत्वा निद्राम् अवाप्ता ॥ २४ ॥

व्याख्या—यत्र यस्मिन् प्रदेशे, त्वम् भवती, अध्वसञ्जातखेदात् अध्वनि मार्गे सञ्जातः उत्पन्नः यः खेदः आयासः तस्मात्, अलसललितमुग्धानि

अलसानि आलस्ययुक्तानि ललितानि कोमलानि मुग्धानि मनोहराणि ('ललितानि' इत्यस्य स्थाने 'लुलितानि' इति पाठभेदे 'शिथिलीभूतानि' इति व्याख्येयम्), अशिथिलपरिरम्भैः गाढालिङ्गनैः, दत्तसंवाहनानि दत्त संवाहनं मर्दनं येभ्यः तानि, परिमृदितमृणालीदुर्बलानि परिमृदिता मर्दिता या मृणाल्यः क्षुद्रमृणालानि तद्वत् दुर्बलानि कृशानि कार्याक्षमाणि वा, अङ्गकानि अवयवान्, मम, उरसि वक्षसि, कृत्वा स्थापयित्वा, निद्रा स्वापम्, अवाप्ता प्राप्ता (स प्रदेशः कथं विस्मर्यते ?) ।। २४ ।।

अनुवाद—जिस प्रदेश में तुम मार्ग की थकावट के कारण अलसित, कोमल एवं सुन्दर अंगों को, जिनका गाढ़ आलिंगनों से संवाहन (मर्दन) किया गया था और जो मर्दित मृणाल के समान दुर्बल हो गये थे, मेरी छाती पर रखकर सोई थीं (भला उस प्रदेश को मैं कैसे भूल सकता हूँ ?) ।। २४ ।।

टिप्पणी—अध्वमक्लान्तखेदात्—अध्वनि सञ्जातः अध्वसञ्जातः सुप्सुपा, तादृशः खेदः कर्मधारय, तस्मात् । यहाँ 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' सूत्र से हेतु में पंचमी हुई । अलसललितमुग्धानि—अलसानि च ललितानि कर्मधारय, तानि च मुग्धानि कर्मधारय । परिरम्भैः—परि √रम्+घञ् भावे, करणे तृतीया ।संवाहनानि—सम् √वह् + णिच् + ल्युट् करणे । परिमृदितमृणालीदुर्बलानि—अल्पानि मृणालानि इति मृणाल्यः, यहाँ अवयव के अपचय की विवक्षा करने पर 'षिद्गौरादिभ्यश्च' सूत्र से ङीप् हुआ । 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिर्विवक्षाऽपचये यदि' इत्यमरः । अङ्गकानि—ह्रस्वानि अंगानि इति अंग+कन् । इसमें लुप्तोपमा अलंकार है । यह मालिनी छन्द है । मालिनी का लक्षण है—'मालिनी नौ म्यौ य्' ।। २४ ।।

लक्ष्मणः—एष विन्ध्याटवीमुखे विराधसंवादः ।

लक्ष्मण—विंध्याचल के जंगल में प्रवेश करते समय यह विराध राक्षस का वृत्तान्त है ।

सीता—अलंदाव एदिणा । पेक्खम्मि दाव अज्जउत्तमहत्तधरिदतालवुन्तादवत्तं अत्तणो दक्खिणारण्णप्पवेसारम्भं । [अलंतावदेतेन । पश्यामि तावदार्यपुत्रस्वहस्तधृततालवृन्तातपत्रमात्मनो दक्षिणारण्यप्रवेशारम्भम् ।]

व्याख्या—अलं व्यर्थम्, एतेन विराधस्य वृत्तान्तप्रदर्शनेन । पश्यामि अवलोकयामि, तावत, आर्यपुत्रस्वहस्तधृततालवृन्तातपत्रम् आर्यपुत्रेण पत्या रामेण स्वहस्तेन निजकरेण धृत मम मस्तकोपरि स्थापितं यत् तालवृन्तम् तदेव आतपत्र छत्रं यस्मिन् तम्, आत्मनः स्वस्य, दक्षिणारण्यप्रवेशारम्भम् दक्षिणारण्ये य प्रवेशः तस्य आरम्भः मुखमिति, तम ।

अनुवाद—सीता—यह (विराधवृत्तान्त) देखने की आवश्यकता नहीं। मे दक्षिणारण्य मे अपने प्रवेश का प्रारभ देखती हूँ, जहाँ आर्यपुत्र ने अपने हाथ मे पखे को छाते की तरह मेरे शिर के ऊपर धारण किया था।

रामः—

एतानि तानि गिरिनिर्झरिणीतटेषु
वैखानसाश्रिततरूणि तपोवनानि ।
येष्वातिथेयपरमा शमिनो भजन्ते
नीवारमुष्टिपचना गृहिणो गृहाणि ॥ २५ ॥

अन्वय—गिरिनिर्झरिणीतटेषु वैखानसाश्रिततरूणि एतानि तानि तपोवनानि येषु आतिथेयपरमा नीवारमुष्टिपचना शमिनो गृहिणः गृहाणि भजन्ते ॥ २५ ॥

व्याख्या—गिरिनिर्झरिणीतटेषु पार्वत्यनदीना तीरेषु, वैखानसाश्रिततरूणि वैखानसैः वानप्रस्थैः आश्रिताः सेविताः तरवः वृक्षाः येषु तानि, एतानि दृश्यमानानि, तानि तथोक्तानि, तपोवनानि तपस्यारण्यानि (सन्ति), येषु तपोवनेषु, आतिथेयपरमा अतिथिसत्कारप्रधानाः, नीवारमुष्टिपचनाः मुष्टिपरिमितमुन्यन्नपाचकाः, शमिनः अन्तरिन्द्रियनिग्रहशालिनः, गृहिणः गृहस्थाः, गृहाणि गेहानि, भजन्ते आश्रयन्ति ॥ २५ ॥

अनुवाद—राम—पर्वतीय नदियों के किनारे ये वे तपोवन हैं, जिनमें वानप्रस्थ मुनियों ने वृक्षों का (गृह रूप में) आश्रय लिया है और जहाँ अतिथिसत्कार में निरत एवं मुट्ठी भर तिन्नी के चावल पकाने वाले शान्तचित्त गृहस्थ निवास करते हैं ॥ २५ ॥

टिप्पणी—वैखानस = वानप्रस्थ ऋषि। विखनसा प्रोक्तेन मार्गेण वर्तते इति वैखानस, विखनस् + अण्। वानप्रस्थ आश्रम का वर्णन विखनस् ऋषि ने

किया है। अतः वानप्रस्थ को वैखानस कहते हैं। आतिथेयपरमाः = अतिथि-सत्कार को ही अपना परम कर्तव्य मानने वाले। अतिथिषु साधु आतिथेयम् अतिथिसत्कारः। अतिथि शब्द से 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' सूत्र से ढञ् प्रत्यय हुआ। आतिथेयं परमं येषां ते आतिथेयपरमाः। नीवार—नितरां व्रियन्ते मुनिभिः इति नि√वृ+घञ् कर्मणि 'उपसर्गस्य घञि'—इति सूत्रेण नि इत्यस्य दीर्घः। शमिनः—√शम्+घञ् भावे, सः अस्ति एषाम् इति शम+इनि। यह वसन्ततिलका छन्द है।

लक्ष्मणः—अयमविरलानोकहनिवहनिरन्तरस्निग्धनीलपरिसरारण्य-**परिणद्धगोदावरीमुखरकन्दरः सन्ततमभिष्यन्दमानमेघमेदुरितनीलिमा जनस्थानमध्यगो गिरिः प्रस्रवणो नाम।**

व्याख्या—अयम् अङ्गुल्या निर्दिष्टः, अविरलानोकहनिवहनिरन्तरस्निग्ध-नीलपरिसरारण्यपरिणद्धगोदावरीमुखकन्दरः अविरला घनाः ये अनोकहाः वृक्षाः तेषां निवहेन समूहेन निरन्तरम् अवकाशरहितं स्निग्धं मसृणं नीलं श्यामवर्णञ्च यत् परिसरारण्यं शेषसीमास्थितं वनं तेन परिणद्धा उभयतीरयोः परिवेष्टिता या गोदावरी तदाख्या नदी सा मुखेषु अग्रभागेषु येषां तानि तादृशानि कन्दराणि दर्यो यस्य स तथोक्तः ('मुख' इत्यस्य स्थाने 'मुखर' इति पाठभेदे तु 'गोदावर्या मुखराणि शब्दायमानानि कन्दराणि यस्य सः' इति व्याख्येयम्), सन्ततम् अनवरतम्, अभिष्यन्दमानमेघमेदुरितनीलिमा अभिष्यन्द-मानैः वर्षद्भिः मेघैः बलाहकैः मेदुरितः स्निग्धीकृतः नीलिमा श्यामलत्वं यस्य स तथोक्तः, जनस्थानमध्यगः जनस्थानस्य दण्डकारण्यसमीपस्थस्य नासिकाख्यक्षे-त्रस्य मध्यगः मध्यवर्ती प्रस्रवणो नाम गिरिः पर्वतः (अत्र चित्रितोऽस्ति)।

अनुवाद—लक्ष्मण—यह जनस्थान के बीच में अवस्थित प्रस्रवण नामक पर्वत है, जिसकी श्यामलता सतत बरसने वाले बादलों से चिक्नी हो गई है और जिसकी गुफाओं के अग्रभागों में गोदावरी नदी विराजमान है, जिस (गोदा-वरी) के दोनों तट घने वृक्षों के समूह से सदा स्निग्ध एवं नील रंग के दीखने वाले अतिम सीमास्थित (अर्थात् निकटवर्ती) वन से घिरे हुए हैं।

टिप्पणी—अनोकह = वृक्ष। 'अनोकहः कुटः सालः' इत्यमरः। अनसा शकटानाम् अकः गतिः अनोकः तं घ्नन्ति इति अनोक√हन्+ड कर्तरि = अनोकहाः। परिसर = नदी, नगर, पर्वत आदि के आस-पास की

भूमि को परिसर कहते हैं। 'पर्यन्तभूः परिसरः' इत्यमरः। परिसरत्यस्मिन् इति परि√सृ+घ सृशाया=परिसर। 'रुच. पुगेपरिसरेषुशिरीषमृद्वी।' मेदुरित=चिकनाया हुआ। मेदुर+णिच+क्त। जनस्थान=नासिक क्षेत्र के समीपवर्ती दण्डकारण्य का एक भाग जहाँ खर नामक राक्षस रहता था। अयमविरल......इत्यादि दीर्घसमासात्मक वाक्य अभिनय के प्रतिकूल है। अतः भवभूति के नाटकों में यही एक महान् दोष बताया जाता है।

रामः—

स्मरसि सुतनु! तस्मिन् पर्वते लक्ष्मणेन
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि।
स्मरसि सरसनीरां तत्र गोदावरीं वा
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि॥ २६॥

अन्वय—हे सुतनु! तस्मिन् पर्वते लक्ष्मणेन प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोः तानि अहानि स्मरसि? तत्र सरसनीरा गोदावरीं वा स्मरसि? तदुपान्तेषु आवयोः वर्तनानि च स्मरसि?॥ २६॥

व्याख्या—हे सुतनु! हे शोभनाङ्गि! तस्मिन् पूर्वोक्ते, पर्वते प्रस्रवणनाम्नि गिरौ, लक्ष्मणेन सौमित्रेण, प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोः प्रतिविहिता कृता या सपर्या पूजा शुश्रूषा इति यावत् तया सुस्थयोः प्रकृतिस्थयोः (आवयोः), तानि सुखमनुभूतानि, अहानि दिनानि, स्मरसि (किम्)?, तत्र तस्मिन् स्थाने, सरसनीरा स्वादुजलयुक्ता, गोदावरीं तन्नाम्ना प्रसिद्धा नदीं, स्मरसि (किम्)? (तथा) तदुपान्तेषु तस्याः गोदावर्याः उपान्तेषु पर्यन्तभागेषु, आवयोः, वर्तनानि अवस्थानानि, च अपि, स्मरसि (किम्)?॥ २६॥

अनुवाद—राम—हे शोभन अंगों वाली! उस पर्वत पर लक्ष्मण द्वारा की गई-परिचर्या से—स्वस्थ-हम—दोनों के उन (सुख के) दिनों का स्मरण करती हो? अथवा वहाँ सुस्वादु जल वाली गोदावरी नदी का स्मरण करती हो? या गोदावरी के निकट हमारे रहने का स्मरण करती हो?॥ २६॥

टिप्पणी—हे सुतनु!=सुन्दर शरीर वाली! शोभना तनुर्यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ। सपर्या—√सपर् (पूजायाम्)+यक् स्वार्थे सपर्य+अ भावे

श्रियाम्=सपर्या पूजा। यह मालिनी छंद है। मालिनी का लक्षण है—'ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकैः' ॥ २६ ॥

किं च,

अपि,

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥ २७ ॥

अन्वय—आसक्तियोगात् अविरलितकपोलं किमपि किमपि मन्दं मन्दम् अक्रमेण जल्पतोः अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोः अविदितगतयामा रात्रिः एव व्यरंसीत् ॥ २७ ॥

व्याख्या—आसक्तियोगात् अनुरागसम्बन्धात् ('आसत्तियोगात्' इति पाठभेदे तु, 'सन्निधिवशात्' इति व्याख्येयम्), अविरलितकपोलम् अविरलितौ परस्परमिलितौ कपोलौ गण्डौ यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा, किमपि किमपि कदाचित् एतत् कदाचित् अन्यत् वा यत्किञ्चित्, मन्दं मन्दम् अनुच्चाचरम् अतिसूक्ष्मशब्दं वा, अक्रमेण क्रमं विना पौर्वापर्याभावेन वा, अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णोः अशिथिलः गाढः यः परिरम्भः आलिङ्गनम् तस्मिन् व्यापृतः निरतः एकैकः दोः बाहुः ययोः तौ अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोषौ तयोः, अविदितगतयामा अविदिताः अज्ञाताः गताः अतीताः यामाः प्रहराः यस्याः सा, (तथाभूता) रात्रिः एव निशा एव, व्यरंसीत् विरराम (अर्थात् केवला रात्रिः व्यतीयाय न तु आवयोः वार्तालापः) ॥ २७ ॥

अनुवाद—प्रेमासक्ति के कारण गाल सटा कर धीरे धीरे बिना क्रम के जो कुछ या कुछ से कुछ बतियाते हुए तथा एक एक बाँह को गाढ़ आलिंगन में निरत करते हुए हम दोनों के बिना प्रहरों का पता पाये रात ही बीत गई थी (अर्थात् सारी रात बीत गई थी, किन्तु सुखसागर में निमग्न हम दोनों की बातचीत समाप्त नहीं हुई थी अथवा आनन्दानुभूति मे सम्पूर्ण रात्रि हमें क्षणवत् प्रतीत हुई थी; क्या उसका स्मरण करती हो ?) ॥ २७ ॥

टिप्पणी—किमपि किमपि, मन्दं मन्दम्—यहाँ वीप्सा में द्वित्व हुआ है। अविरलित— विरल+णिच्+क्त और नञ्समास। व्यरसीत्—विपूर्वक रसु क्रीडायाम् धातु के लुङ् लकार का यह प्रयोग है। 'व्याङ् परिभ्यो रमः' से यहाँ परस्मैपद हुआ। इस श्लोक में यथावत् वस्तु का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है। यह मालिनी छन्द है॥ २७॥

लक्ष्मणः—एषा पञ्चवट्या शूर्पणखा।

लक्ष्मण—यह पञ्चवटी में शूर्पणखा है।

टिप्पणी—पंचवट्याम्—पञ्चानां वटानां समाहारः पञ्चवटी तस्याम्, द्विगुसमास। यद्यपि यहाँ पञ्चवटी शब्द से स्थान विशेष लिया जाता है, किन्तु पाँच प्रकार के वृक्ष-विशेष में यह शब्द रूढ़ है। यथा—'अश्वत्थो बिल्ववृक्षश्च वटधात्र्यशोकक। वटीपञ्चकमित्युक्तं स्थापयेत् पञ्चदिक्षु च'। (स्कन्दपुराण)। शूर्पणखा—शूर्पाणीव नखानि यस्या, बहुव्रीहि समास, 'पूर्वपदात् संज्ञायामग.' सूत्र से णत्व।

सीता—हा अज्जउत्त! एत्तिअं दे दंसणम्? [हा आर्यपुत्र! एतावत्ते दर्शनम्?]

सीता—हा आर्यपुत्र! यहीं तक आपका दर्शन होता है।

टिप्पणी—शूर्पणखा की घटना के बाद ही सीता का अपहरण हुआ था। इसलिए चित्र में उसे देखते ही सीता जी भय-विह्वल होकर यह वचन बोल गईं।

राम—अयि वियोगत्रस्ते! चित्रमेतत्।

राम—अरी विरह से डरने वाली! यह तो चित्र है (कोई वास्तविक शूर्पणखा नहीं है जो डर रही हो)।

सीता—जहा तहा होदु। दुज्जणो असुहं उप्पादेइ। [यथा तथा भवतु। दुर्जनोऽसुखमुत्पादयति।]

सीता—जो कुछ भी हो। दुर्जन दु:ख उत्पन्न करता है।

राम—हन्त, वर्तमान इव मे जनस्थानवृत्तान्तः प्रतिभाति।

राम—हाय! जनस्थान का वृत्तान्त मुझे वर्तमान का-सा प्रतीत हो रहा है।

लक्ष्मणः—

अथेदं रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना
तथा वृत्तं पापैर्व्यथयति यथा क्षालितमपि।
जनस्थाने शून्ये विकलकरणैरार्यचरितै-
रपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम् ॥ २८ ॥

अन्वय—अथ पापैः रक्षोभिः कनकहरिणच्छद्मविधिना इदं तथा वृत्तं यथा क्षालितमपि व्यथयति। शून्ये जनस्थाने विकलकरणैः आर्यचरितैः ग्रावा अपि रोदिति वज्रस्य अपि हृदयं दलति ॥ २८ ॥

व्याख्या—अथ शूर्पणखाघटनानन्तरं, पापैः पापाचारिभिः, रक्षोभिः मारीचादिभिः राक्षसैः, कनकहरिणच्छद्मविधिना कनकहरिणस्य सुवर्णमृगस्य छद्मविधिना छलानुष्ठानेन, इदं सीताहरणं, तथा तादृशं, वृत्तं निष्पन्नं, यथा यादृशं, क्षालितमपि सवंशमारीचरावणादिवधेन सम्पूर्णं परिशोधितमपि, व्यथयति दुःखमुत्पादयति, शून्ये निर्जने सीतारहिते वा, जनस्थाने दण्डकारण्ये, विकलकरणैः विकलानि विह्वलानि करणानि इन्द्रियाणि येषु तैः, आर्यचरितैः आर्यस्य रामस्य चरितैः विलापभूतललुण्ठनादिव्यापारैः, ग्रावा पाषाणः, अपि, रोदिति अश्रु मुञ्चति, वज्रस्य कुलिशस्य, अपि, हृदयं वक्षः, दलति विदीर्यते ॥ २८ ॥

अनुवाद—लक्ष्मण—उसके बाद (शूर्पणखा की घटना के अनन्तर) पापी राक्षसों ने सुवर्ण मृग के छल से यह (सीताहरण रूप कार्य) किया, जो पूरी तरह बदला ले लिये जाने पर भी (जब तब स्मरण होने पर) क्लेश पहुँचाता है। (क्योंकि) निर्जन जनस्थान (दण्डकारण्य) में आर्य के (विलाप, धरती पर लोटने आदि) चरित्रों से, जिनमें सारी इन्द्रियाँ विकल (अपने अपने कार्य में असमर्थ) हो गई थीं, पत्थर ने भी आँसू गिराया था और वज्र का भी हृदय विदीर्ण हो गया था। ॥२८॥

टिप्पणी—अथ = अनन्तर। ''मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः। ग्रावा = पत्थर। 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः। इसी प्रकार कालिदास ने भी कहा है—'नृत्तं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्य.'। इस श्लोक में अर्थापत्ति से

अनुप्राणित उत्प्रेक्षा अलंकार है। यह शिखरिणी छन्द है। शिखरिणी का लक्षण है—'शिखरिणी यमौ नसौ भलौ।' ॥ २८ ॥

सीता—(सास्रमात्मगतम्) अहो, दिणअरकुलाणन्दणो एव्व वि मह कालणादो किलन्तो आसि [अहो, दिनकरकुलानन्दन एवमपि मम कारणात् क्लान्त आसीत्।]

सीता—(अश्रुपात सहित अपने आप) हाय! सूर्यवंश को आनन्दित करने वाले (आर्यपुत्र) भी मेरे कारण इस प्रकार दुःखी हुए थे।

लक्ष्मणः—(रामं निर्वर्ण्य साकूतम्) आर्य! किमेतत्?

लक्ष्मण—(विशेष अभिप्राय से राम को देखकर) आर्य! यह क्या?

अयं तावद्बाष्पस्त्रुटित इव मुक्तामणिसरो
विसर्पन्धाराभिर्लुठति धरणीं जर्जरकणः।
निरुद्धोऽप्यावेगः स्फुरदधरनासापुटतया
परेषामुन्नेयो भवति चिरमाध्मातहृदय ॥ २९ ॥

अन्वय—तावत् धाराभिः विसर्पन् जर्जरकणः अयं बाष्पः त्रुटितः मुक्तामणिसर इव धरणीं लुठति। चिरम् आध्मातहृदयः आवेगः निरुद्धः अपि स्फुरदधरनासापुटतया परेषाम् उन्नेयो भवति ॥२९॥

व्याख्या—तावत्, धाराभिः अविच्छिन्नपातैः, विसर्पन् बहिर्गच्छन्, जर्जरकणः जर्जराः चूर्णिताः कणाः बिन्दवो यस्य सः तादृशः सन् अयं दृश्यमानः, बाष्पः अश्रु, त्रुटितः छिन्नः, मुक्तामणिसरः मुक्तामयहारः, इव तद्वत्, धरणीं भूतलं, लुठति पतति, चिरं दीर्घकालं यावत्, आध्मातहृदयः आध्मातं परिपूरितं, हृदयं चित्तं यस्मिन् स तथोक्तः ('विरसाध्मातहृदयः' इति पाठभेदे तु 'विरसेन विरागेण दुःखेनेति यावत् आध्मातं हृदयं यस्मिन् सः' इति ज्ञेयम्), आवेगः शोकवेगः, निरुद्धः अपि हृदयमध्ये आबद्धः अपि, स्फुरदधरनासापुटतया स्फुरत् स्पन्दमानम् अधरयोः ओष्ठयोः नासायाश्च नासिकायाश्च पुटं यस्य स तथोक्तः तस्य भावः स्फुरदधरनासापुटता तया, परेषाम् अन्येषाम्, उन्नेयः अनुमेयः, भवति जायते ॥ २९ ॥

अनुवाद—धाराओं के रूप में निकलता हुआ यह (आपका) आँसू चूर्णित बिन्दु होकर टूटी हुई मोतियों की माला की तरह धरती पर लोट रहा

है और शोक का आवेग, जिससे चिरकाल तक (आपका) हृदय परिपूर्ण रहा है, रोके रहने पर भी होठ तथा नाक के पुटों के फड़फड़ाने से दूसरों द्वारा अनुमानगम्य (अर्थात् दूसरों को मालूम) हो जाता है ॥२६॥

टिप्पणी—यावत्—यह वाक्यारम्भार्थक अव्यय है । लुठति धरणीम्—यहाँ लुठ धातु के अकर्मक होने पर भी 'अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम्' इस वार्तिक से यहाँ कर्मसंज्ञा और द्वितीया हुई । परेषाम्—इसमें 'कृत्यानां कर्तरि वा' सूत्र से षष्ठी हुई । इस श्लोक के पूर्वार्ध में उपमा अलङ्कार और उत्तरार्ध में अनुमान अलङ्कार है । यह शिखरिणी छन्द है ॥२६॥

राम'—वत्स !

तत्काल प्रियजनविप्रयोगजन्मा
तीव्रोऽपि प्रतिकृतिवाञ्छया विसोढ. ।
दु खाग्निर्मनसि पुनर्विपच्यमानो
हृन्मर्मव्रण इव वेदना तनोति ॥ ३० ॥

अन्वय—प्रियजनविप्रयोगजन्मा दुःखाग्निः तीव्रः अपि प्रतिकृतिवाञ्छया तत्काल विसोढः पुनर्मनसि विपच्यमानः हृन्मर्मव्रण इव वेदना तनोति ॥ ३० ॥

व्याख्या—प्रियजनविप्रयोगजन्मा प्रियजनस्य स्नेहिजनस्य विप्रयोगः विरह' तस्मात् जन्म उत्पत्ति यस्य स दु खाग्निः शोकवह्नि', तीव्रोऽपि तीक्ष्णोऽपि, प्रतिकृतिवाञ्छया प्रतीकारेच्छया, तत्काले सीताहरणात् परस्मिन् काले, विसोढः सह्य कृत', पुनः भूय. मनसि चित्ते, विपच्यमानः स्मरणेन विपाकं गच्छन्, हृन्मर्मव्रण इव वक्षसो मध्यगतस्फोटक इव, वेदना पीडा, तनोति विस्तारयति ॥ ३० ॥

अनुवाद—राम—वत्स ! प्रेयसी (सीता) के वियोग से उत्पन्न शोकाग्नि तीव्र होते हुए भी उस समय (सीताहरण के उपरान्त काल में) बदला लेने की इच्छा से सहन कर लिया गया था, किन्तु इस समय (यह चित्र देखने से) पुन' मन में परिपक्व होकर हृदय के मर्मस्थल के फोड़े की भाँति वेदना का विस्तार कर रहा है ॥ ३० ॥

टिप्पणी—प्रियजनविप्रयोगजन्मा—प्रिय व्यक्ति के विरह से उत्पन्न होने वाला। प्रियश्चासौ जनः प्रियजन कर्मधारय समास, प्रियजनस्य विप्रयोगः षष्ठीतत्पुरुष समास, प्रियजनविप्रयोगात् जन्म यस्य व्यधिकरण बहुव्रीहि समास। व्यधिकरण बहुव्रीहि अनियमित होते हुए भी ग्रहणीय है; क्योंकि वामन ने कहा है—'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' दु खाग्निः—दु.खम् अग्निरिव उपमित कर्मधारय समास। तत्कालम्—स चासौ काल' तत्कालः तम् 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' से द्वितीया हुई। विसोढ.—वि./सह्+क्त कर्मणि। इस श्लोक में उपमा अलकार है। यह प्रहर्षिणी छन्द है। प्रहर्षिणी का लक्षण है—'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्'॥ ३०॥

सीता—हद्धी हद्धी अह पि अदिभूमिं गदेण रणरणएण अज्ज-उत्तसुण्ण विअ अत्ताण पेक्खामि। [हा धिक् हा धिक् ! अहमप्यति-भूमि गतेन रणरणकेनार्यपुत्रशून्यमिवात्मान पश्यामि।]

सीता—हाय धिक्कार है! हाय धिक्कार है! मै भी अतिशय उत्कठा के कारण अपने को आर्यपुत्र से रहित सी देख रही हूँ।

टिप्पणी—हा धिक्—यह एक ही विषादसूचक अव्यय है। यहाँ अतिशय अर्थ में उसकी द्विरुक्ति हुई है। अतिभूमिम्—आधिक्य या पराकाष्ठा को। अत्युन्नता भूमि' इत्यर्थे प्रादितत्पुरुषसमासः। रणरणकेन—उत्सुकता या उत्कठा से। 'औत्सुक्ये रणरणक. स्मृतः' इति हलायुध.। 'रणरणक उत्कण्ठा' इति हेमचन्द्रः।

लक्ष्मण.—(*स्वगतम्*) भवतु, आक्षिपामि। (चित्र विलोक्य प्रकाशम्) अथैतन्मन्वन्तरपुराणस्य तत्रभवतस्तातजटायुषश्चरित्र-विक्रमोदाहरणम्।

लक्ष्मण—(अपने आप) अच्छा, इनका ध्यान दूसरी ओर कराता हूँ। (*चित्र देखकर प्रकाश रूप से*) अब यह एक मन्वन्तर से भी अधिक पुराने, पूज्य तथा पितृतुल्य जटायु के चरित्र एवं पराक्रम का उदाहरण है।

टिप्पणी—मन्वन्तरपुराणस्य—मन्वन्तर से भी अधिक प्राचीन। एकहत्तर दिव्य युगों का एक मन्वन्तर होता है—'मन्वन्तर तु दिव्याना युगाना-मेकसप्तति'' इत्यमर'। अन्यो मनु मन्वन्तरम् मयूरव्यसकादित्वात् समास, तस्मात् मन्वन्तरादपि पुराण मन्वन्तरपुराण 'सहसुपा' से समास, तस्य

मन्वन्तरपुराणस्य । तातजटायुष.—पितृतुल्य या पितृमित्र जटायु का। ताततुल्य. वा तातसुहृद् जटायुः, मध्यमपदलोपी समास। एक बार जटायु ने राजा दशरथ की जान बचाई थी, तब से दोनों में मित्रता हो गई थी, इसी से लक्ष्मण ने तात जटायु कहा।

सीता—हा ताद ! णिव्वूढो दे अवच्चसिणेहो । [हा तात ! निर्व्यूढस्तेऽपत्यस्नेह. ।]

सीता—हाय तात ! आपने संतान के प्रति स्नेह की पराकाष्ठा दिखाई।

टिप्पणी—निर्व्यूढ =सम्पन्न या पूर्ण हुआ। निर्—वि उपसर्गक वह् धातु से क्त प्रत्यय।

राम—हा तात काश्यप शकुन्तराज ! क्व नु खलु पुनस्त्वादृशस्य महतस्तीर्थभूतस्य साधोः सम्भव. ?

राम—हाय तात ! कश्यपवंशोत्पन्न पक्षिराज ! आपके समान महान् सत्पात्र एवं धार्मिक व्यक्ति की उत्पत्ति फिर कहाँ सम्भव है ?

टिप्पणी—त्वादृशस्य—त्वमिव दृश्यमानः त्वामिव आत्मानं दर्शयति इति युष्मद्—दृश्+क्स् कर्मकर्तरि=त्वादृश । तीर्थभूतस्य—विद्या, परोपकार आदि गुणों से युक्त पात्र। 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायनारीरजःसु च । अवतारर्षिजुष्टाम्बुपात्रोपाध्यायमन्त्रिषु ॥' इति मेदिनी।

लक्ष्मण—अयमसौ जनस्थानस्य पश्चिमतः कुञ्जवान्नाम पर्वतो दनुकबन्धाधिष्ठितो दण्डकारण्यभागः। तदिदमृष्यमूकपर्वते[1] मतङ्गाश्रमपदम्। तत्र श्रमणा नाम सिद्धा शबरतापसी। तदेतत्पम्पाभिधानं पद्मसरः।

व्याख्या—अयम् अङ्गुल्या निर्दिष्टः, असौ सः, जनस्थानस्य दण्डकारण्यभागविशेषस्य, पश्चिमतः प्रत्यक्तः, कुञ्जवान् नाम पर्वतः कुञ्जवान् इत्याख्यो गिरिः, दनुकबन्धाधिष्ठितः दनुकबन्धेन शिरोविहीनशरीरधारिणा केनचित् राक्षसेन अधिष्ठितः आश्रितः, दण्डकारण्यभागः दण्डकारण्यस्य अंशः (अस्ति)। अमुष्य कुञ्जवतः पर्वतस्य, परिसरे पर्यन्तभुवि, तदिदम्, मतङ्गा-

१. ऋष्यमूकपर्वते इति पाठान्तरम्।

श्रमपदम् मतङ्गशकस्य कस्यचित् मुनेः तप.स्थानम्। तत्र, श्रमणा नाम, सिद्धा तपःसिद्धा, शबरतापसी शबरजातीया तपस्विनी। तदेतत् पम्पाभिधानं पम्पा-नामकम्, पद्मसरः कमलबहुल. सरोवर. (अस्ति)।

अनुवाद—लक्ष्मण—जनस्थान से पश्चिम यह कुञ्जवान् नामक पर्वत, जिस पर दनुकबन्ध नामक राक्षस निवास करता था, दण्डकारण्य का एक भाग है। इस पर्वत की पर्यन्त भूमि में यह मतंग मुनि का आश्रम-स्थान है। वहाँ श्रमणा नाम की सिद्ध शबरजातीय तपस्विनी रहती है, और यह कमलों से भरा हुआ पम्पा नामक सरोवर है।

टिप्पणी—दनुकबन्धाधिष्ठितः—जहाँ शिररहित शरीर वाले दनु नामक राक्षस ने निवास किया। कबन्ध—शिररहित धड़ (विशेष कर वह धड़ जिसमें प्राण शेष हों)। 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमर। महाभारत के अनुसार दनुकबन्ध पूर्वजन्म में विश्वावसु नामक गंधर्व था। स्थूलशिरा ऋषि के शाप से वह राक्षस हो गया था और एक बार युद्ध में इन्द्र के वज्र से उसका शिर कट कर पेट में घुस गया था। इसी से वह दनुक-बन्ध कहलाता था। रामचन्द्र जी के दर्शन होने पर उसको असुर योनि से छुटकारा मिल गया था। श्रमणा—श्रमयति तपसात्मानम् आत्मानं या सा श्रमणा। पद्मसर—पद्मपूर्णं सरः इति पद्मसरः मध्यमपदलोपी समास।

सीता—जत्थ किल अज्जउत्तेण विच्छिण्णामरिसधीरत्तणं पमुक्ककण्ठं परुण्णं आसि। [यत्र किलार्यपुत्रेण विच्छिन्नामर्षधीरत्वं प्रमुक्तकण्ठं प्ररुदितमासीत्।]

सीता—जिस जगह आर्यपुत्र क्रोध और धैर्य का परित्याग करके गला फाड़कर रोए थे।

राम—देवि! परं रमणीयमेतत्सरः।

राम—देवि! यह पंपा सरोवर बड़ा रमणीय है।

एतस्मिन्मदकलमल्लिकाक्षपक्ष-
व्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः।
बाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले
सन्दृष्टाः कुवलयिनो मया विभागाः ॥ ३१ ॥

अन्वय—एतस्मिन् मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः कुवलयिनो विभागा मया बाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले सन्दृष्टाः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—एतस्मिन् पम्पासरसि, मदकलमल्लिकाक्षपक्षव्याधूतस्फुरदुरुदण्डपुण्डरीकाः मदकला मदमत्ता ये मल्लिकाक्षा मलिनैश्चञ्चुचरणैर्युक्ता हंसविशेषाः तेषां पक्षैः गरुद्भिः व्याधूतानि कम्पितानि स्फुरन्ति प्रकाशमानानि उरुदण्डानि बृहन्नालानि पुण्डरीकाणि पद्मानि येषु ते, (तथैव) कुवलयिनः उत्पलविशिष्टाः, विभागाः पम्पासरःप्रदेशाः, मया रामेण, बाष्पाम्भःपरिपतनोद्गमान्तराले बाष्पाम्भसाम् अश्रूणां, परिपतनं क्षरणम्, उद्गमश्च पुनरुत्पत्तिश्च तयोः अन्तराले मध्ये, संदृष्टाः अवलोकिताः ॥ ३१ ॥

अनुवाद—मैंने आँसुओं के गिरने एवं निकलने के मध्य काल में पम्पासरोवर के उन भूखण्डों को देखा था, जहाँ पर मदमत्त मल्लिकाक्षों (हंसविशेषों) के परों से कम्पित तथा शोभित बड़े नालदण्डों वाले श्वेत कमल और नील कमल (खिले हुए) थे ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—मल्लिकाक्ष—एक प्रकार के हंस, जिनका शरीर श्वेत होता है, पर चोंच और पैर मटमैले होते हैं। कुवलयिनः—नील कमलों वाले। यद्यपि पम्पासर में श्वेत कमल खिले थे, किन्तु रामचन्द्रजी की अश्रु-बिन्दुपरिपूरित दृष्टि होने के कारण उन्हें वे नील कमल प्रतीत हुए थे। इस श्लोक में छेकानुप्रास अलङ्कार है। यह प्रहर्षिणी छन्द है ॥ ३१ ॥

लक्ष्मणः—अयमार्यो हनूमान्।

लक्ष्मण—ये महानुभाव हनुमान् जी हैं।

टिप्पणी—हनूमान्—'प्रशस्तौ हनू अस्य स्तः' इस अर्थ में हनु शब्द से मतुप् प्रत्यय और 'शरादीनां च' से हनु में उकार को दीर्घ हुआ।

सीता—एसो सो चिरणिव्विण्णजीवलोअपच्चुद्धरणगुरुओवआरी महाणुभावो मारुदी। [एष स चिरनिर्विण्णजीवलोकप्रत्युद्धरणगुरूपकारी महानुभावो मारुतिः।]

व्याख्या—एष सः, चिरनिर्विण्णस्य बहुकालं क्लेशमुपभुञ्जानस्य, जीवलोकस्य जगतः, प्रत्युद्धरणेन तत्तद्दुःखापनयनेन, गुरुः गौरवविशिष्टः, स चासौ उपकारी उपकारशीलः ('चिरनिर्व्यूढ०' इति पाठे तु चिरं निर्व्यूढं सम्पादितं

यत् जीवलोकस्य प्रत्युद्धरणं तेन इत्यूह्यम्), महानुभावः महाप्रभावः, मारुतिः मारुतस्य वायोः अपत्यं हनूमान् (अस्ति) ।

अनुवाद—सीता—ये चिरकाल से दुःखी संसार का उद्धार करने वाले गुरुतर उपकारी एवं महाप्रभावशाली वायुपुत्र हनुमान्‌जी हैं।

रामः—

दिष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्धनः ।
यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च ॥ ३२ ॥

अन्वय—दिष्ट्या अयं सः महाबाहुः अञ्जनानन्दवर्धनः, यस्य वीर्येण भुवनानि च वयं च कृतिनः ॥ ३२ ॥

अनुवाद—राम—भाग्य से ये वही अंजना के आनंदवर्धक महाबाहु हनुमान् जी हैं; जिनके बल से हम लोग तथा तीनों भुवन कृतार्थ हुए हैं ॥३२॥

टिप्पणी—दिष्ट्या—भाग्यवश, यह आनंदद्योतक अव्यय है। 'दिष्ट्या समुपजोषं चेत्यानन्दे' इत्यमरः । महाबाहुः—विशालभुजबलशाली अथवा लंबी भुजाओंवाला अर्थात् आजानबाहु । कृतिनः—कृतमेभिः इति कृत + इनि ।

सीता—वच्छ ! एसो सो कुसुमिदकदम्बताण्डविअवहिणो किंणामहेओ गिरी ? जत्थ अणुभावसोहग्गमेत्तपरिसेससुन्दरसिरी मुच्छन्तो तुए परुण्णेण ओलम्बिओ तरुअले अज्जउत्तो आलिहिदो। [वत्स ! एष स कुसुमितकदम्बताण्डवितबर्हिणः किंनामधेयो गिरिः ? यत्रानुभावसौभाग्यमात्रपरिशेषधूसरश्रीर्मूर्च्छंस्त्वया प्ररुदितेनावलम्बित-स्तरुतल आर्यपुत्र आलिखित ।]

व्याख्या—वत्स ! एषः सः, कुसुमितकदम्बताण्डवितबर्हिणः कुसुमिताः पुष्पिताः ये कदम्बाः नीपवृक्षाः तेषु ताण्डविताः नृत्यन्तः बर्हिणः मयूराः यत्र स तथोक्तः, गिरिः पर्वतः, किंनामधेयः किमाख्यः (अस्ति) ? यत्र, अनुभाव-सौभाग्यमात्रपरिशेषधूसरश्रीः अनुभावेन तेजसा यत् सौभाग्यं सौन्दर्यं तन्मात्रं परिशेषम् अवशिष्टं यत्र तादृशी धूसरा पाण्डुवर्णा श्रीः शोभा यस्य सः, मूर्च्छन् मूर्च्छां प्राप्नुवन्, प्ररुदितेन अतीवक्रन्दता, त्वया लक्ष्मणेन, अवलम्बितः धृतः, आर्यपुत्रः रामचन्द्रः, तरुतले वृक्षस्य नीचैः, आलिखितः चित्रितः ।

अनुवाद—सीता—वत्स ! फूले हुए कदम्ब वृक्षों पर नाचते हुए मयूरों वाले इस पर्वत का क्या नाम है ! जहाँ वृक्ष के नीचे मूर्छित और बहुत रोते हुए तुमसे अवलम्बन प्राप्त आर्यपुत्र चित्रित किये गये हैं, जिनकी कान्ति धूसर हो गई है पर प्रभाव के साथ केवल सौन्दर्य अवशेष है।

टिप्पणी—कुसुमित—पुष्पित, फूले हुए। कुसुमानि सञ्जातानि एषाम् इति कुसुमिता, कुसुम शब्द से 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' इस सूत्र से इतच् प्रत्यय हुआ। ताण्डवित—नृत्ययुक्त। 'ताण्डवं नटनं नाट्यं लास्यं नृत्यं च नर्तने' इत्यमरः। यहाँ भी ताण्डव शब्द से इतच् प्रत्यय हुआ। बर्हिण—मयूर। 'मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक्' इत्यमर। किन्नामधेयः—नाम एव इति नामन्+धेय स्वार्थे—नामधेयम्, किं नामधेयं यस्य तस्य बहुव्री०। अनुभाव—अनुगतो भावः अनुभाव प्रादितत्पुरुष। सौभाग्य—सुभगस्य भावः इति सुभग+ष्यञ् 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' इत्युभयपदवृद्धिः। धूसर=किञ्चित् पीत-शुक्ल। 'ईषत् पाण्डुस्तु धूसरः' इत्यमरः।

लक्ष्मण—

सोऽयं शैलः ककुभसुरभिर्माल्यवान्नाम यस्मिन्
नीलः स्निग्धः श्रयति शिखरं नूतनस्तोयवाहः।
आर्येणास्मिन्[1] ....

राम—

.... विरम विरमातः परं न क्षमोऽस्मि
प्रत्यावृत्तः स पुनरिव मे जानकीविप्रयोगः ॥३३॥

अन्वय—ककुभसुरभिः माल्यवान् नाम सः अयं शैलः, यस्मिन् नीलः स्निग्धः नूतनः तोयवाहः शिखरं श्रयति। आर्येण अस्मिन् (इति लक्ष्मणवाक्यम्)। विरम विरम। अतः परं क्षमः न अस्मि। मे स जानकीविप्रयोगः पुनः प्रत्यावृत्त इव। (इति रामवाक्यम्) ॥ ३३ ॥

व्याख्या—ककुभसुरभिः ककुभैः अर्जुनपुष्पैः सुरभिः शोभनगन्धोपेतः, माल्यवान् नाम, सः प्रसिद्धः, अयं दृश्यमानः, शैलः पर्वतः, यस्मिन् यस्य,

---

१. 'वत्सैतस्मात्' इति पाठभेदः। अस्मिन् पाठे इत एव रामोक्तिरवगन्तव्या।

नील. श्यामल', स्निग्ध' चिक्कण, नूतनः नव्य, तोयवाह मेघः, शिखर शृङ्ग, श्रयति अवलम्बते, आर्येण पूज्येन, अस्मिन् पर्वते (इत्युक्तवन्त लक्ष्मणं राम' कथयति—)

विरम विरम विराम कुरु विराम कुरु. अत परम् अस्मात् अधिकं (द्रष्टुम्), क्षम' समर्थ, न अस्मि न भवामि (अत्र हेतुमाह) मे मम, स' पूर्वानुभूत जानकीविप्रयोग सीताविरह, पुनः भूय', प्रत्यावृत्त इव प्रत्युपस्थित इव (भाति) ॥ ३३ ॥

अनुवाद—लक्ष्मण—अर्जुनपुष्पों से सुगन्धित यह वही माल्यवान नामक पर्वत है, जिसके शिखर पर नीला, चिकना और नया बादल आश्रय लेता है। आर्य ने यहाँ .. . .

राम—ठहरो ठहरो, इसके बाद देखने मे मै समर्थ नहीं हूँ। (क्योंकि) मुझे सीता का वही वियोग पुन लौट आया-सा प्रतीत हो रहा है ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—ककुभसुरभि—ककुभाना विकारा इस अर्थ मे ककुभ शब्द से अण् प्रत्यय और उसका लुप् हुआ। 'इन्द्रद्रु ककुभोऽर्जुन' इत्यमर। विरम विरम—'व्याङ्परिभ्यो रम' इति परस्मैपदम्। सम्भ्रमे द्विरुक्तिः। इस श्लोक मे राम का वाक्य आगे होने वाले वियोग की सूचना देता है। 'प्रत्यावृत्त इव' इस कथन से यहाँ क्रियोत्प्रेक्षा अलकार द्योतित होता है। यह मन्दाक्रान्ता छन्द है। इसका लक्षण है—'मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्' ॥ ३३ ॥

लक्ष्मण—अत' परमार्यस्य तत्र भवता कपिराक्षसाना चापरिसङ्ख्यान्युत्तरोत्तराणि कर्माश्चर्याणि। परिश्रान्ता चेयमार्या। तद्विज्ञापयामि 'विश्रम्यतामि'ति।

लक्ष्मण—इसके बाद आर्य के एव माननीय वानरगण और राक्षसो के असख्य उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक कार्य हैं। यह आर्या भी थक गई हैं। इसलिए मेरा निवेदन है कि विश्राम करें।

टिप्पणी—उत्तरोत्तराणि—उत्तरेभ्य. उत्तराणि। यथा वालिवध. इति प्रकृष्ट कर्म, लङ्कादाहस्तु प्रकृष्टतर, प्रकृष्टतम पुन सागरबन्धनम्। एव पर परं प्रकर्षमापद्यमानानि कर्माणि इति तात्पर्यम्। अपरिसङ्ख्यानि—जिनकी

सख्या अपरिमित हो। चर्माश्चर्याणि—आश्चर्योत्पादक चरित्र। 'आहिताग्न्यादिषु वा परम्' इससे आश्चर्य शब्द का परनिपात हुआ।

सीता—अज्जउत्त! एदिणा चित्तदसणेण पच्चुप्पण्णदोहलाए मए विण्णाविणिज्ज अत्थि। [आर्यपुत्र! एतेन चित्रदर्शनेन प्रत्युत्पन्नदोहदाया मम विज्ञापनीयमस्ति।]

सीता—आर्यपुत्र! इस चित्र के देखने से गर्भजन्य इच्छा उत्पन्न हो जाने के कारण मेरा एक (आप से) निवेदन है।

टिप्पणी—प्रत्युत्पन्नदोहदाया—उत्पन्न साध वाली गर्भिणी का। *प्रत्युत्पन्न—जात दोहद—गर्भिणीमनोरथ यस्या सा, तस्या।*

राम—नन्वाज्ञापय।

राम—ओह! आज्ञा करो।

सीता—जाणे पुणोवि पसण्णगम्भीरासु वणराईसु विहरिअ पवित्तणिम्मलसिसिरसलिल भअवदिं भाईरहिं ओगाहिस्स त्ति। [जाने पुनरपि प्रसन्नगम्भीरासु वनराजिषु विहृत्य पवित्रनिर्मलशिशिरसलिलां भगवतीं भागीरथीमवगाहिष्य इति।]

व्याख्या—जाने बुध्ये, पुनरपि भूयोऽपि, प्रसन्नगम्भीरासु प्रसन्ना नूतनपत्रपल्लवशालित्वात् स्निग्धा गम्भीरा लतापादपादिभिर्गहना तासु, वनराजिषु अरण्यपङ्क्तिषु, विहृत्य विहार कृत्वा, पवित्रनिर्मलशिशिरसलिला पवित्र पूतं निर्मल स्वच्छ सलिल जल यस्या ताम्, भगवतीम् ऐश्वर्यशालिनीं, भागीरथीं गंगाम्, अवगाहिष्ये स्नास्यामि।

अनुवाद—सीता—जानती हूँ कि मैं पुन स्निग्ध और निस्तब्ध वन पंक्तियों में विहार करके पवित्र, स्वच्छ और शीतल जल वाली भगवती गंगा में स्नान करूँगी।

टिप्पणी—जाने—'मेरी इच्छा है—इस अनुमानमात्र से आप मेरी लालसा अवश्य पूर्ण करेंगे और फिर मेरा पञ्चवटी विहार एवं गंगा स्नान भी अवश्य होगा' यह जताने के लिए 'इच्छामि' न कह कर 'जाने' अभिहित किया गया।

राम—वत्स लक्ष्मण!

राम—चिरजीव लक्ष्मण!

लक्ष्मण.—एषोऽस्मि।

लक्ष्मण—यह मैं हूँ।

राम.—वत्स! अचिरादेव सम्पादनीयो दौहृद इति सम्प्रत्येव गुरुभि. सन्दिष्टम्। तदस्खलितसम्पातं रथमुपस्थापय।

राम—वत्स! अभी-अभी गुरुजनों ने सदेश दिया है कि गर्भवती का मनोरथ शीघ्र पूर्ण करना चाहिए। अत: अव्याहत गति से चलने वाला रथ तैयार करो।

टिप्पणी—अस्खलितसम्पातम्—बिना रुकावट के चलने वाला। अस्खलितः अरुद्ध. सम्पात गमन यस्य तम्।

सीता—अज्जउत्त! तुह्मेहिं वि आअन्दव्वम्। [आर्यपुत्र! युष्माभिरप्यागन्तव्यम्।]

सीता—आर्यपुत्र! आपको भी आना होगा।

टिप्पणी—राजकाज मे फँसे रहने के कारण शायद रामचन्द्र जी न आ सके, इसी आशका से सीता जी ने ऐसा कहा।

राम.—अतिकठिनहृदये! एतदपि वक्तव्यम्।

राम—अत्यत कठोर हृदय वाली! यह भी कहने की बात है।

टिप्पणी—अतिकठिनहृदये!—'तुम जाओ और मै न आऊँ ऐसी आशका जिसलिए तुमने प्रकट की अत: तुम्हारा हृदय अत्यत कठोर है' यह तात्पर्य है।

सीता—तेण हि पिअं मे। [तेन हि प्रियं मे।]

सीता—तब तो मेरा मन लगेगा।

लक्ष्मण:—यदाज्ञापयत्यार्य.। (*इति निष्क्रान्त*)

लक्ष्मण—आर्य की जो आज्ञा। (*यह कह कर चले जाते हैं*)

राम—प्रिये! वातायनोपकण्ठे[1] संविष्टा भव।

राम—प्रिये! झरोखे के समीप सो जाओ।

---

१ 'वातायनावर्तके' इति पाठान्तरम्। तत्र वातायनस्य आवर्तक: अपवारक तस्मिन् प्रदेशे इत्यवसेयम्।

टिप्पणी—वातायनोपकण्ठे=खिड़की के पास। वातस्य अयनं गृहमध्ये प्रवेशो यस्मात् तत् वातायन गवाक्षः तस्य उपकण्ठे निकटे।

सीता—एव्वं होदु। ओहरिदह्मि परिस्समणिद्दाए। [एवं भवतु। अपहृतास्मि परिश्रमनिद्रया।]

सीता—ऐसा ही हो। परिश्रमजनित निद्रा से अभिभूत हो रही हूँ। (अर्थात् आयासजन्य निद्रा मुझे अपनी ओर खींच रही है)।

राम—तेन हि निरन्तरमवलम्बस्व मामत्र शयनाय।

तेन निद्रापहरणहेतुना, अत्र वातायनोपकण्ठे, शयनाय स्वापाय, माम्, निरन्तरम् भृशम्, अवलम्बस्व धारय।

राम—तब यहाँ सोने के लिए अच्छी तरह मेरा सहारा ले लो।

जीवयन्निव ससाध्वसश्रमस्वेदबिन्दुरधिकण्ठमर्प्यताम्।
बाहुरैन्दवमयूखचुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः॥ ३४॥

अन्वय—ससाध्वसश्रमस्वेदबिन्दुः ऐन्दवमयूखचुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रम जीवयन् इव बाहुः अधिकण्ठम् अर्प्यताम्॥ ३४॥

व्याख्या—ससाध्वसश्रमस्वेदबिन्दुः साध्वस भय (चित्रे राक्षसादिदर्शनात्) श्रम. आयास (बहुकाल चित्रदर्शनात्) ताभ्याम् उत्पन्ना ये स्वेदबिन्दवः धर्मबिन्दव. तै सह विद्यमानः, अतएव ऐन्दवमयूखचुम्बितस्यन्दिचन्द्रमणिहारविभ्रमः इन्दोः इमा इति ऐन्दवा. चन्द्रसम्बन्धिनः ये मयूखाः किरणाः तैः चुम्बितः स्पृष्टः अतएव स्यन्दी जलस्रावी य. चन्द्रमणिहारः चन्द्रकान्तमणिमाला तस्य विभ्रम इव विभ्रमो विलासो यस्य स (अर्थात् घर्मबिन्दुसम्पर्कात् चन्द्रकिरणस्पर्शेन द्रवन्ती चन्द्रकान्तमणिनिर्मिता हारयष्टिम् अनुकुर्वन्), जीवयन् इव नितान्तशीतलतया मामुज्जीवयन् इव, (त्वदीयः) बाहुः भुज, (मम) अधिकण्ठं गलप्रदेशे, (त्वया) अर्प्यताम् न्यास्यताम्॥ ३४॥

अनुवाद—(चित्र में राक्षसादि के देखने से उत्पन्न) भय और (बहुत देर तक चित्र देखने से उत्पन्न) आयास के कारण पसीने की बूँदों से युक्त, चन्द्रकिरणों के स्पर्श से द्रवित होने वाली चन्द्रकान्तमणियों की माला के समान विलाससम्पन्न और (अत्यन्त शीतलता के कारण) मानो मुझे जीवनदान देती हुई (अपनी) बाँह को (मेरे) गले में डालो॥ ३४॥

टिप्पणी—साध्वस—भय। साधु सम्यक् अस्यति विक्षिपति चित्तं यत् तत् साध्वसम्। अधिकण्ठम्—गले में। कण्ठे इति अधिकण्ठम्, विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास। यहाँ लुप्तोपमा अलंकार क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार से संकीर्ण है। यह रथोद्धता छन्द है। उसका लक्षण है—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ'॥ ३४॥

(तथा कारयन् सानन्दम्) प्रिये! किमेतत्?

(आनंद के साथ वैसा कराते हुए) प्रिये! यह क्या है?

विनिश्चेतुं शक्यो[1] न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो[2] निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारश्चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति[3] च॥ ३५॥

अन्वय—सुखमिति वा दुःखमिति वा प्रमोहः वा निद्रा किमु विषविसर्पः किमु मदः इति विनिश्चेतुं न शक्यः। हि तव स्पर्शे स्पर्शे परिमूढेन्द्रियगणः विकारः मम चैतन्यं भ्रमयति च सम्मीलयति च॥ ३५॥

व्याख्या—(प्रिये! तव स्पर्शेन अनुभूयमानम् एतत्) सुखम् इति वा अनुकूलवेदनीयं वा, दुःखम् इति वा प्रतिकूलवेदनीयं वा, प्रमोहः भ्रान्तिः, वा अथवा, निद्रा स्वापः, किमु विषविसर्पः गरल-प्रसरणं किम्, किमु मदः मद्योपयोगजः सम्मोहनानन्दमयः भावः किम्, हि यस्मात्, तव भवत्याः, स्पर्शे स्पर्शे प्रतिस्पर्शं, परिमूढेन्द्रियगणः परिमूढः स्वस्वविषयग्रहणासमर्थः इन्द्रियगणः मनःप्रभृतीन्द्रियाणि यस्मिन् सः, विकारः अन्यथाभावः, मम रामस्य, चैतन्यम् अनुभवशक्तिं, भ्रमयति अस्थिरयति, सम्मीलयति च मुद्रयति च (अर्थात् त्वत्स्पर्शजन्यविकारे सति क्वचित् मम चैतन्यम् अस्थिरं सत् किमपि निश्चेतुं न शक्नोति क्वचित्तु विलुप्तमेव स्यादिति)॥ ३५॥

अनुवाद—(प्रिये! तुम्हारे स्पर्श से उत्पन्न) यह सुख है या दुःख, भ्रांति है या निद्रा, विष का फैलाव है या मादक द्रव्य के सेवन से उत्पन्न

---

१ 'शक्यं' इति पाठभेदः। २. 'प्रबोध' इति पाठान्तरम्।

३ भ्रमयति समुन्मीलयति च इति कुत्रचित् पाठः।

मद—इसका निश्चय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि तुम्हारे प्रत्येक स्पर्श में इन्द्रिय-समूह को मूढ बनाने वाला विकार मेरी अनुभव-शक्ति को (कहीं) अस्थिर एवं (कहीं) विलुप्त कर देता है ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—श्लोक के पूर्वार्ध में शुद्धसन्देहालंकार है और चौथे चरण में दीपक अलंकार है। फिर इन दोनों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति होने के कारण संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह शिखरिणी छंद है ॥ ३५ ॥

सीता—(*विहस्य*) थिरप्पसादा तुझे, इदो दाणिं किमवरं। [स्थिरप्रसादा यूयम्, इत इदानीं किमपरम्।]

व्याख्या—यूयम् त्वम् (गुरुत्वाद्बहुवचनम्), स्थिरप्रसादाः स्थिरः निश्चलः प्रसादः अनुग्रहः येषाम् ते, इतः अस्मात् कारणात्, इदानीम् सम्प्रति, अपरम् प्रियवाक्यभिन्नम्, किम् वक्तव्यमिति भावः।

अनुवाद—सीता—(*हँस कर*) आप (मुझ पर) निश्चल अनुग्रह करने वाले हैं। इसलिए इस समय प्रिय वचन छोड़ कर और क्या कहेंगे (अर्थात् आपका प्रेम स्थिर है। इसीलिए मैं आज भी आपको इतनी प्यारी लग रही हूँ)।

रामः—

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि!
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ॥ ३६ ॥

अन्वय—सरोरुहाक्षि! ते एतानि सुवचनानि म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ॥३६॥

व्याख्या—सरोरुहाक्षि! कमलनयने! ते तव, एतानि सद्यःकथितानि, सुवचनानि मधुरवाक्यानि, म्लानस्य सांसारिकाशेषक्लेशैः शुष्कप्रायस्य, जीवकुसुमस्य जीवो जीवनमेव कुसुमं पुष्पं तस्य, विकासनानि प्रफुल्लतोत्पादकानि, सन्तर्पणानि सम्यक्तृप्तिकराणि, सकलेन्द्रियमोहनानि सर्वेन्द्रियपरवशतासम्पादकानि कर्णामृतानि कर्णयोः अमृतवत् प्रीतिजनकानि, मनसश्च चित्तस्य च रसायनानि रसायनौषधवत् बलकराणि (सन्ति) ॥ ३६ ॥

अनुवाद—राम—हे कमललोचने ! तुम्हारी ये सुन्दर बातें (सांसारिक परितापों से) मुरझाये हुए जीवन रूपी पुष्प को विकसित करने वाली, सम्यक् तृप्त करने वाली, सकल इन्द्रियों को मोहित करने वाली, कानों को अमृत के समान प्रिय लगने वाली और मन को रासायनिक ओषधि के समान बल देने वाली हैं ॥३६॥

टिप्पणी—सरोरुहाक्षि = कमल के समान नेत्रों वाली। सरसि कासारे रोहति जायते यत् तत् सरोरुहम् पद्मम् तद्विव अक्षिणी नेत्रे यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' इससे समासान्त षच् प्रत्यय और 'षिद्गौरादिभ्यश्च' से ङीप् हुआ। रसायनानि = बलवीर्यवर्धक ओषधि तुल्य। रसस्य वीर्यस्य अयनम् आगम एभ्यः इति रसायनानि। रसायन का लक्षण भावप्रकाशकार ने यह किया है—'यज्जराव्याधिविध्वंसि वयसः स्तम्भकं तथा। चक्षुष्यबृंहणं वृष्यं भेषजं तद्रसायनम् ॥' इसमें रूपक अलकार है। यह वसन्ततिलका छन्द है ॥३६॥

सीता—पिअंवद ! एहि। संविसह्म। [प्रियवद ! एहि। संविशाव।]
(*इति शयनाय समन्ततोऽपि निरूपयति*)

सीता—हे प्रियवादिन् ! आइये, सोया जाय। (*यह कह कर सोने के लिए चारों तरफ देखने लगती हैं।*)

टिप्पणी—प्रियवद !—हे प्रिय वचन बोलने वाले ! प्रियं वदतीति प्रियवदः तत्सम्बुद्धौ। प्रिय उपपदपूर्वक वद् धातु से 'प्रियवशे वदः खच्' सूत्र से खच् प्रत्यय और 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' सूत्र से मुम् का आगम हुआ। शयनाय—इसमें 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' सूत्र से चतुर्थी हुई।

रामः—अयि ! किमन्वेष्टव्यम् ?

राम—अहा ! क्या ढूँढ़ रही हो (अर्थात् तुम्हारे आवश्यक पदार्थों को तो मैं ही पूरा कर देता हूँ, तब तुम्हें ढूँढ़ने की क्या आवश्यकता है) ?

आविवाहसमयाद् गृहे वने शैशवे तदनु यौवने पुनः।
स्वापहेतुरनुपाश्रितोऽन्यया रामबाहुरुपधानमेष ते ॥ ३७ ॥

अन्वय—आविवाहसमयात् शैशवे गृहे तदनु पुनः यौवने वने स्वापहेतुः अन्यया अनुपाश्रितः एष रामबाहुः ते उपधानम्।

व्याख्या—आविवाहसमयात् परिणयकालात् आरम्य, शैशवे बाल्य काले, गृहे भवने, तदनु तत्पश्चात्, पुन भूय, यौवने तारुण्ये, वने अरण्य, स्वापहेतु निद्रापकरणभूत, अन्यया त्वद्भिन्नया स्त्रिया, अनुपाश्रित अनवलम्बित, एष अय, रामबाहु रामभुज, त तव उपधानम् उपबर्ह (अस्ति) ॥३७॥

अनुवाद—विवाह क समय से लेकर बाल्यावस्था में, घर में और तदनन्तर फिर युवावस्था म वन म (तुम्हारे) शयन का उपकरणस्वरूप एवम् दूसरा स्त्री स अनाश्रित यह राम की भुजा तुम्हारा तकिया है ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—आविवाहसमयात्—यहा 'आङ मर्यादावचन' सूत्र से आ को कर्मप्रवचनीय सज्ञा और 'पञ्चम्यपाङ्परिभि' सूत्र से पञ्चमी हुइ। तदनु—यहा अनु का 'हीन सूत्र स कर्मप्रवचनीय सज्ञा और उसक योग में तत् को द्वितीया हुइ। यौवने—यूनो भाव इति युवन्+अण्=यौवनम् तस्मिन्। उपधान—तकिया। 'उपधान तूपबर्ह' इत्यमर। उपधीयते उप वृध्यते शिरोऽस्मिन् इति उपधानम्, उप√धा+ल्युट्। इसमें परिणाम अलकार है। यह रथोद्धता छद है ॥ ३७ ॥

सीता—(*निद्रा नाटयन्ती*) अत्थि एदम्। अज्जउत्त ! अत्थि एदम्। [अस्त्येतत्। आर्यपुत्र अस्त्येतत्] (*इति स्वपिति।*)

(*निद्रा का अभिनय (या प्रदर्शन) करती हुई*) यही है, आर्य पुत्र ! यही है (अर्थात् आपकी भुजा मेरी तकिया है, यह कथन सत्य है,)। (*यह कहकर सो जाती है*)।

राम—कथ प्रियवचना मे वक्षसि प्रसुप्तेव ?। (*निर्वर्ण्य सस्नेहम्*)।

राम—क्या प्रियवादिनी (सीता) मेरे वक्षःस्थल पर सो ही गई ? प्रेमपूर्वक देखकर)।

इय गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो
रसावस्या स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरस।
अय बाहु कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसर
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह ॥ ३८ ॥

अन्वय—इय गेहे लक्ष्मी, इय नयनयो अमृतवर्ति, असौ अस्या

स्पर्शः वपुषि बहुलश्चन्दनरस., अय कण्ठे (न्यस्त') बाहुः शिशिरमसृणः मौक्तिकसरः, अस्याः किं न प्रेयः ? तु विरहः यदि परम् असह्यः ॥ ३८ ॥

व्याख्या—इयं जानकी, गेहे गृहे, लक्ष्मीः श्रीः, इव, नयनयोः चक्षुषोः, अमृतवर्तिः सुधाशलाका, असौ अनुभूयमानः, अस्याः सीतायाः, स्पर्शः आमर्शन, वपुषि देहे, बहुलः प्रचुरः, चन्दनरसः श्रीखण्डद्रवः (तद्वत् सुशीतल इति भावः), अय समीपस्थ एषः, कण्ठे गलदेशे (न्यस्तः), बाहुः भुजः, शिशिरमसृणः शीतलकोमलः, मौक्तिकसरः मुक्ताहारः, अस्याः सीतायाः, किं न प्रेयः किं न अतिशयप्रियम् (अपि तु एतत्सम्बन्धि निखिलमपि वस्तु प्रेय एव), तु किन्तु, विरहो यदि वियोगश्चेत्, परम् अत्यर्थम्, असह्यः सोढुमशक्य ॥ ३८ ॥

अनुवाद—यह जानकी घर की लक्ष्मी है, आँखों की अमृतशलाका है, इसका यह स्पर्श देह पर (लिपा हुआ) प्रचुर चन्दन का द्रव है और यह गले में अर्पित भुजा शीतल एवं मृदुल मुक्ताहार है। इसकी कौन-सी वस्तु परम प्रिय नहीं है ? (अर्थात् सभी हैं) परन्तु इसका वियोग तो बहुत ही असहनीय है ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—शिशिरमसृणः = शिशिरश्चासौ मसृणश्च कर्मधारय समास। मौक्तिक—मुक्ता एव इति मुक्ता+ठक् (विनयादि) मौक्तिकम्। प्रेयः—अतिशयेन प्रियम् इति प्रिय+ईयसुन्। इस श्लोक के प्रथम चरण में विषयभेद से सीता का अनेक प्रकार से उल्लेख हुआ है, इसलिए उल्लेखालंकार है। दूसरे और तीसरे चरण में 'मुखं तव कुरङ्गाक्षि ! सरोजमिति नान्यथा' की तरह दो रूपक अलंकार हैं, फिर तीनों अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने के कारण संसृष्टि अलंकार उत्पन्न होता है। यह शिखरिणी छन्द है ॥ ३८ ॥

(*प्रविश्य*)

(*प्रवेश कर*)

प्रतीहारी—देव ! उवट्ठिदो। [देव ! उपस्थितः।]

प्रतीहारी—महाराज ! उपस्थित हूँ।

टिप्पणी—प्रतीहारी = द्वारपाल का काम करने वाली स्त्री। प्रति—√हृ+घञ्, उपसर्ग को दीर्घ, प्रतीहार+अच्+ङीप्। यहाँ 'उपस्थितः' इसके

साथ आगे कहे जाने वाले दुर्मुख का अन्वय होने से 'उपस्थितो दुर्मुखः' यह वाक्य होगा। इसी अभिप्राय से प्रतीहारी ने 'देव! उपस्थित.' ऐसा कहा। किन्तु उपर्युक्त श्लोक के 'विरह' शब्द के साथ भी 'उपस्थित.' का अन्वय सम्भव है। फिर 'सीताया. विरह उपस्थितः' इस वाक्य से निकट भविष्य में होने वाले सीता-वियोग की सूचना मिलती है। इस प्रकार यह एक पताकास्थानक का उदाहरण हो जाता है। *पताकास्थानक का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार बताया गया है*—'यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते। आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकन्तु तत् ॥'

राम'—अयि! कः?

राम—अरी! कौन उपस्थित है?

प्रतीहारी—आसण्णपरिआरओ देवस्स दुम्मुहो। [आसन्नपरिचारको देवस्य दुर्मुखः।]

प्रतीहारी—महाराज का निकटवर्ती सेवक दुर्मुख।

टिप्पणी—आसन्नपरिचारक.=अतरग सेवक। परिचरतीति परिचारक', परि√चर्+ण्वुल्, आसन्नः निकटवर्ती परिचारकः सेवकः। दुर्मुखः= इस नाम का व्यक्ति। दुष्टम् अप्रियभाषणेन निन्दित मुख यस्य स दुर्मुखः।

रामः—(स्वगतम्) शुद्धान्तचारी दुर्मुखः। स मया पौरजानपदानपसर्पितुं प्रहितः। (प्रकाशम्) आगच्छतु।

राम—(*अपने आप*) दुर्मुख तो अंतःपुर में आता जाता है। उसको मैंने नगर-निवासियों एव देशवासियों के पास पर्यटन करने के लिए (अर्थात् गुप्त भाव से उनका मनोभाव जानने के लिए) भेजा था। (*प्रकाश भाव से*) आवे।

टिप्पणी—शुद्धान्तचारी = जो अतःपुर में भी घूम सकता है। शुद्धान्ते शुद्धाः कामोपगता रक्षा अन्ते यस्य इति शुद्धान्तः तस्मिन् अवरोधे अन्तःपुरे इत्यर्थः, चरतीति शुद्धान्तचारी। 'शुद्धान्तोऽन्तःपुरे क्ष्माभृद्गृहः कक्षान्तरेऽपि च।' इति मेदिनी। पौरजानपदान्=अयोध्यावासियों एव तत्प्रदेशवासियों को। पुरे निवसन्ति ये ते पौराः, जनाना पदम् इति जनपदः, 'नाद्यपत्नीपदानि प्रयाङ्गपदानि' इत्यनेन पुंस्त्वम्। जनपदेभ्यः आगता. इति

जानपदा', पौराश्च जानपदाश्च इति पौरजानपदाः। अपसर्पितुम् = गुप्तरूपेण परीक्षितुम्। 'अपसर्पश्चरः स्पर्शः' इत्यमरः। अप√सृप्+तुमुन्।

(*प्रतीहारी निष्क्रान्ता*)

(*प्रतीहारी चली गई*)

(*प्रविश्य*)

(*प्रवेश कर*)

दुर्मुख.—(*स्वगतम्*) हा कहं दाणिं देवीमन्तरेण ईरिसं अचिन्तणिज्जं जणाववादं देव्वस्स कहइस्सं ? अहवा णिओओ क्खु मह मन्दभाअहेअस्स एसो। [हा कथमिदानीं देवीमन्तरेणेदृशमचिन्तनीय जनापवाद देवस्य कथयिष्यामि ? अथवा नियोग खलु मम मन्दभागधेयस्यैष।]

व्याख्या—हा कष्टम्, कथ केन प्रकारेण, इदानीम् अधुना, देवीं जानकीम्, अन्तरेण मध्ये, ईदृशम् एतत्स्वरूपम्, अचिन्तनीय चिन्तयितुमपि अशक्य, जनापवाद लोकापवाद, देवस्य महाराजस्य, कथयिष्यामि प्रकाशयिष्यामि ? अथवा आहोस्वित्, मन्दभागधेयस्य अल्पभाग्यस्य, मम दुर्मुखस्य, खलु निश्चयेन, एषः ईदृशः, नियोगः अधिकार (अर्थात् प्रजाचित्तं विज्ञाय राजसमीपे सर्वमविकल प्रकाश्यम् इत्यादेशो वर्तते)।

अनुवाद—दुर्मुख—(*मन ही मन*) हाय ! अभी कैसे महारानी के सबध में ऐसा अचितनीय लोकापवाद महाराज को बताऊँ ? अथवा मुझ हतभाग्य को आदेश ही ऐसा है (कि प्रजा का मनोभाव जान कर सच्ची बात महाराज के सामने निवेदन करूँ, फिर दूसरा चारा ही क्या है ?)

टिप्पणी—अन्तरेण = मध्य मे, फलतः विषय में। इस शब्द के योग में 'अन्तरान्तरेण युक्ते' सूत्र से 'देवीम्' में द्वितीया हुई। 'अथान्तरेऽन्तरा। अन्तरेण च मध्ये स्यु.' इत्यमर.। जनापवादम्—अप√वद्+घञ् भावे = अपवाद., जनानाम् अपवादः। देवस्य—यहाँ चतुर्थी चाहिए थी किन्तु सबधमात्रविवक्षा में षष्ठी हुई है। मन्दभागधेयस्य = छोटे भाग्य वाले का। भाग एव भागधेयम्, 'वा भागरूपनामिभ्यो धेय.' इससे स्वार्थ मे धेयप्रत्यय हुआ।

सीता—(*उत्स्वप्नायते।*) अज्जउत्त ! कहिंसि ? [आर्यपुत्र ! कुत्रासि ?]

सीता—(*स्वप्न में बोलती है*) हा आर्यपुत्र ! आप कहाँ हैं ?

टिप्पणी—उत्स्वप्नायते—उत्पन्नः स्वप्नो यस्याः सा उत्स्वप्ना सा इव आचरति इति उत्स्वप्नायते स्वप्ने प्रलपतीत्यर्थः ; यह नामधातु का प्रयोग है। इसमें 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' सूत्र से क्यङ् प्रत्यय हुआ है।

राम.—सेयमेव रणरणकदायिनी चित्रदर्शनाद्विरहभावना देव्याः स्वप्नोद्योग करोति (*सस्नेहमङ्गमस्याः परामृशन्* ।)

व्याख्या—चित्रदर्शनात् शूर्पणखादिचित्रावलोकनात्, सा एव इय रणरणकदायिनी उद्वेगकारिणी, विरहभावना वियोगचिन्ता, देव्याः सीतायाः, स्वप्नोद्योग स्वप्ने निद्रायाम् उद्योगम् वचनादिप्रयत्नम्, करोति जनयति। सस्नेहम् प्रेमपूर्वकम्, अस्या जानक्या, अङ्ग शरीरम्, परामृशन् स्पृशन्।

अनुवाद—राम—(शूर्पणखा आदि क) चित्र देखने के कारण यह वही उद्विग्न करने वाली वियोग-चिन्ता सीता को स्वप्न में बोलने के लिए प्रेरित करती है। (*प्रेम के साथ सीता का अङ्गस्पर्श करते हुए*)

टिप्पणी—रणरणकदायिनी—रणरणक = उद्वेगः तं ददातीति रणरणक√दा+णिनि कर्तरि 'ताच्छील्ये साधुकारिणि वा स्त्रियाम्' इत्यनेन। विरह-भावना—√भू+णिच् भावे स्त्रियां भावना, विरहस्य भावना षष्ठी तत्पु०।

अद्वैत सुखदु खयोरनुगतं[1] सर्वास्ववस्थासु यत्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रस.।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्र तस्य सुमानुषस्य कथमप्येक हि तत्प्रार्थ्यते[2] ॥ ३६ ॥

अन्वय—यत् सुखदुःखयो. अद्वैत, सर्वासु अवस्थासु अनुगत, यत्र हृदयस्य विश्राम, यस्मिन् रस अहार्यः, यत् कालेन आवरणात्ययात् परिणते प्रेमसारे स्थित, तस्य सुमानुषस्य तत् एक भद्र कथमपि हि प्रार्थ्यते ॥३६॥

---

१. 'अनुगुणम्' इति पाठान्तरम्। तत्र 'अनुकूलम्' इत्यर्थः कार्य.।

२. 'प्राप्यते' इति पाठभेदे तु 'कथमपि=केनापि प्रकारेण प्राप्यते= आसाद्यते' इत्यर्थ. ऊह्यः।

व्याख्या—यत् दाम्पत्यम्, सुखदु खयोः सुखसमये दुःखसमये च, अद्वैतम् एकरूपम्, सर्वासु सकलासु, अवस्थासु दशासु, अनुगतम् अनुयातम्, यत्र यस्मिन्, हृदयस्य मनस, विश्रामः दुःखविरामः, यस्मिन् दाम्पत्ये, रसः अनुराग·, जरसा वार्धक्येन, अहार्यः अपरिहरणीय., यत दाम्पत्य, कालेन समयेन, आवरणात्ययात् आवरणस्य लज्जासकोचादेः अत्ययात् अपगमात्, परिणते परिपक्वे, प्रेमसारे प्रेम्णः उत्कृष्टांशे, स्थितम् अवस्थितम्, तस्य पूर्वोक्तस्य, सुमानुषस्य दाम्पत्यस्य, तत् प्रसिद्धम्, एक मुख्य, भद्र कल्याणं, कथमपि सर्वप्रकारेण अपि, प्रार्थ्यते याच्यते ॥३६॥

अनुवाद—जो (दाम्पत्य भाव) सुख और दुःख में एक समान रहता है तथा सभी अवस्थाओं में अनुसरण करता है, जिसमें मन का विश्राम होता है (अर्थात् जिसमें सासारिक तापों से परितप्त हृदय को सान्त्वना मिलती है) एव अनुराग को बुढ़ापा भी नही खदेड़ सकता, है और जो समय पाकर लज्जा-सकोचादि रूप आवरण के हट जाने से (अथवा विवाह से लेकर मरणपर्यन्त) परिपक्व प्रेम के उत्कृष्ट भाग में अवस्थित हो जाता है, उस दाम्पत्य का वह मुख्य अविच्छेद रूप कल्याण सभी प्रकार से प्रार्थनीय है ॥३६॥

टिप्पणी—अद्वैतम् = एकरूप । द्विधा इत प्राप्तम् इति द्वीतम्, द्वीतस्य कर्म भावो वा इति द्वैतम्, द्वीत + अण्, नास्ति द्वैत द्विरूपत्व यस्मिन् तत् अद्वैतम्। अनुगतम् = अनुसरण करने वाला (चूँकि सम्पत्ति या विपत्ति सभी अवस्थाओं में दाम्पत्य भाव परस्पर अनुसरण करता है)। विश्रामः = श्रमापनोदनपूर्वक सुखानुभव । वि√श्रम् + घञ्, उपधावृद्धि । यदि 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' इससे उपधावृद्धि का निषेध माना जाय तो श्रम एव श्रामः 'प्रज्ञादिभ्यश्च' से अण् प्रत्यय करके रूप सिद्ध करना चाहिए अथवा 'मितां ह्रस्वः' सूत्र में व्यवस्थितविभाषा का आश्रयण करने से विश्रामयति, विश्रमयति ये दोनों रूप हो सकते हैं। तब वि√श्रम् + णिच् + अच् इस प्रकार साधन से विश्रामः रूप बन सकता है। कलाप व्याकरण में तो 'वौ श्रमेर्नञा निर्दिष्टस्यानित्यत्वाद् विश्रामः' ऐसा कहा है। आवरणात्ययात् = विवाह से लेकर मरण पर्यन्त। वरणं विवाहः अत्ययः देहनाशः, वरणं च अत्ययश्च इति वरणात्यय समाहारद्वन्द्वः, तस्मात् आ इति आवरणात्ययात्

विवाहात् आरभ्य मरणपर्यन्त व्यापिना इत्यर्थ । अथवा आवरणात्ययात्= लज्जा, सकोच आदि के हट जाने से । सुमानुषस्य=दाम्पत्य भाव का । 'सुमानुष तु दाम्पत्यम्' इति कोश. । शोभन मानुष मनुष्यत्व यस्मिन् तत् सुमानुषम्, यह शब्द योगरूढ है । एक=मुख्य । 'एके मुख्यान्यकेवला.' इत्यमर' । इस श्लोक में समुच्चय तथा अप्रस्तुतप्रशसा अलकार है । फिर इन दोनों में अगागिभाव सबध होने से सकर अलकार हो जाता है । यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है । उसका लक्षण है—'शार्दूलविक्रीडित मसौ जसौ तौ गादित्य-ऋषय' ॥ ३६ ॥

दुर्मुख.—(उपसृत्य ।) जेदु देओ । (जयतु देवः ।)

दुर्मुख—(निकट जाकर) महाराज की जय हो ।

राम —ब्रूहि यदुपलब्धम् ।

राम—जो कुछ मालूम हुआ हो, वह कहो ।

दुर्मुख—उवटठुवन्ति देव पौरजाणपदा जहा विसुमरिदा अह्मे महाराअदसरहस्स रामदेऍणेत्ति । [उपस्तुवन्ति देवं पौरजानपदाः, यथा विस्मारिता वय महाराजदशरथस्य रामदेवेनेति ।]

दुर्मुख—नगरवासी एव देशवासी लोग महाराज की प्रशसा करते हैं कि राजा राम ने हम लोगों से महाराज दशरथ को भुलवा दिया ।

टिप्पणी—विस्मारिताः=विस्मृति को प्राप्त कराये गये । वि√स्मृ+णिच्+क्त कर्मणि । यहाँ वाक्य का तात्पर्य यह है कि महाराज रामचन्द्र के प्रजा पालन रूप गुण से हम लोग इतने सतुष्ट हैं कि अब हमें महाराज दशरथ का अभाव बिलकुल नहीं खटकता । महाराजदशरथस्य=इसमें 'अधीगर्थदयेशा कर्मणि' सूत्र से षष्ठी हुई । रामदेवेन=देववत् प्रभावशाली राम ने ।

राम —अर्थवाद एवैष. । दोषं तु मे कञ्चित् कथय, येन स प्रतिविधीयेत ।

राम—यह तो प्रशसा ही है । कोई मेरा दोष तो बताओ, जिससे उसका निराकरण किया जाय ।

टिप्पणी—अर्थवादः = प्रशसा । अर्थस्य गुणस्य वादः कथनम् । 'अर्थवादः प्रशसा च' इति हलायुधः । अथवा प्रशसानिन्दान्यतरस्य वादः

कथनम् अर्थवाद.। जैसा कि पूर्वमीमांसार्थसंग्रह में कहा गया है—'प्राशस्त्य-निन्दान्यतरपर वाक्यमर्थवाद.'। इससे अर्थवाद के दो भेद सिद्ध होते हैं—एक स्तुत्यर्थवाद और दूसरा निन्दार्थवाद। यहाँ स्तुत्यर्थवाद है।

दुर्मुखः—(*सास्रम्*) सुणादु महाराओ। (*कर्णे*) एव्वं विअ। इति [शृणोतु महाराज. एवमिव।]

दुर्मुख—(*अश्रु पात सहित*) महाराज! सुनें। (*कान में*) ऐसा, ऐसा।

टिप्पणी—एवमिव—'प्रजा इस प्रकार कहती है कि रावण के घर में युवती सीता अकेली बहुत दिनों तक रहीं। इसलिए उनमें दोष लगने की सभावना अवश्य है। किन्तु राजा राम ने फिर भी उनको पत्नी के रूप में ग्रहण करके अनुचित कार्य किया है।' यह फलितार्थ है।

राम.—अहह, अतितीव्रो[1]ऽयं वाग्वज्रः (*इति मूर्च्छति।*)

राम—हाय! यह वाक्य रूपी वज्र अति प्रचड है (*यह कह कर मूर्च्छित हो जाते हैं।*)

टिप्पणी—अहह—यह खेद या आश्चर्य की अतिशयता प्रकट करने वाला अव्यय है। अतितीव्र=अत्यंत दु सह। वाग्वज्र'=वचन रूपी वज्र। वागेव वज्र', मयूरव्यंसकादित्वात् समास।

दुर्मुख.—आरससदु देव्वो। (*आश्वसितु देव*'।)

दुर्मुख—महाराज आश्वस्त हों।

राम —(*आश्वस्य*)

राम—(*आश्वस्त होकर*)

टिप्पणी—नाटक में 'आश्वसितु', 'समाश्वसिहि' इत्यादि उक्ति ही मूर्च्छित को होश में लाने की औषधि बताई गई है। इसलिए उपसर्गपूर्वक श्वस् धातु के लोट् लकार का प्रयोग करने के उपरान्त ही मूर्च्छा का भग हो जाना प्राय. देखा जाता है।

हा हा धिक्! परगृहवासदूषणं यद्-
वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतैरुपायैः।

1. 'तीव्रसवेग' इति पाठे तु तीव्र दु सहः सवेगः सभ्रमो यस्य स इत्यर्थो बोध्यः।



एतत्तत् पुनरपि दैवदुर्विपाका
दालर्कं विषमिव सर्वतः प्रसृतम् ॥४०॥

अन्वय—हा हा धिक्, वैदेह्याः यत् परगृहवासदूषणम् अद्भुतैः उपायैः प्रशमितं, तत् एतत् पुनरपि दैवदुर्विपाकात् आलर्कं विषमिव सर्वतः प्रसृतम् ॥४०॥

व्याख्या—वैदेह्याः सीतायाः, यत्, परगृहवासदूषणं अन्यगेहनिवासरूपदोषः, अद्भुतैः विस्मयोत्पादकैः, उपायैः अग्निपरीक्षादिभिः साधनैः, प्रशमितं परिहृतम्, तत् पूर्वानुभूतम्, एतत् परगृहवासदूषणं, पुनरपि भूयोऽपि, दैवदुर्विपाकात् भाग्यस्य प्रतिकूलपरिणामात्, आलर्कं विक्षिप्तकुक्कुरसम्बन्धि, विषमिव गरलमिव, सर्वतः समन्तात् सर्वाङ्गेषु इति यावत्, प्रसृतम् परिव्याप्तम् (यथा विक्षिप्तस्य शुनः विषम् औषधाद्युपचारेण प्रशमितमपि दुरदृष्टवशात् कालान्तरे सर्वाङ्गेषु प्रसरति तथा सीतासम्बन्धि परगृहवासदूषणम् अग्निपरीक्षादिभिः उपायैः निवारितमपि भाग्यदोषेण पुनः पौरजानपदेषु प्रसृतम्) ॥४०॥

अनुवाद—हाय ! हाय !! धिक्कार है (हमारे भाग्य को) !!! जानकी का दूसरे के घर में रहने का जो दोष अद्भुत उपायों द्वारा निवारित किया गया था, वह फिर दुर्दैव के कारण पागल कुत्ते के विष की तरह सर्वत्र फैल गया है ॥४०॥

व्याख्या—हा—यह खेदसूचक अव्यय है। यहाँ दीनता के अर्थ में द्विरुक्ति हुई है। परगृहवासदूषणम्=दुष्+णिच्+ल्युट् करणे कृत्य दूषणम्, परगृहवासात् दूषणम् सुप्सुपा समास। प्रशमितम्=प्र√शम्+णिच्+क्त कर्मणि। दैवदुर्विपाकात्=दुष्टो विपाकः प्रादितत्पुरुष, दैवस्य दुर्विपाकः, तस्मात् हेतौ पंचमी। आलर्कम्=पागल कुत्ते का। आलर्कस्य विक्षिप्तकुक्कुरस्य इदम् आलर्कम्, अलर्क+अण्। 'अलर्को धवलार्के स्यात् रोगोन्मादितकुक्कुरे' इति मेदिनीकोशः। इसमें उपमा अलङ्कार है। यह प्रहर्षिणी छन्द है ॥४०॥

तत् किमत्र मन्दभाग्यः करोमि। (*विमृश्य सकरुणम्*) अथवा किमन्यत्।

व्याख्या—तत् तस्मात्, किमत्र प्राणाधिकसीतापरित्यागस्य कर्तुमशक्यत्वात् सीतारक्षणे च लोकापवादस्य असहनीयत्वात् एतयोर्मध्ये किं, मन्द-

भागः हीनभार्यः, करोमि सम्पादयामि । विमृश्य विचिन्त्य, सकरुणम् सदयम्, अथवा आहोस्वित्, किमन्यत् अतिरिक्त किं करोमि ? लोकाराधनाय सीतामेव त्यजामि इति भावः ।

इसलिए यहाँ मैं अभागा क्या करूँ ? (करुणापूर्वक विचार कर) अथवा दूसरा क्या करूँ ?

सतां केनापि कार्येण लोकस्याराधनं व्रतम् ।
तत् पूरितं हि तातेन माञ्च प्राणांश्च मुञ्चता ॥४१॥

अन्वय—केनापि कार्येण लोकस्य आराधनं सतां व्रतम् । हि माञ्च प्राणांश्च मुञ्चता तातेन तत् पूरितम् ॥४१॥

व्याख्या—केनापि लोकोत्तरेणापि, कार्येण कर्मणा, लोकस्य जनस्य प्रजानाम् इति यावत्, आराधनं तोषणं, सतां साधूनां, व्रतं व्रतवत् अवश्य सम्पादनीयं कर्म, हि तथाहि, माञ्च रामञ्च, प्राणांश्च असूंश्च, मुञ्चता त्यजता, तातेन पित्रा, तत् व्रतं, पूरितं परिसमापितम् ॥४१॥

अनुवाद—किसी भी कार्य से (अर्थात् लोकोत्तर या अनिर्वचनीय दुष्कर कार्य से भी) लोक (प्रजा) का अनुरञ्जन करना सज्जनों का व्रत होता है । पिता जी ने मेरा तथा प्राणों का परित्याग करके उस (लोकाराधन रूप) व्रत को पूर्ण किया (अर्थात् जैसे पूज्य पिताजी ने लोकरञ्जनार्थ मेरा तथा प्राणों का परित्याग किया उसी तरह मैं भी प्रजारञ्जनार्थ सीता का परित्याग करूँगा ॥४१॥

टिप्पणी—लोकस्य = लोगों का अर्थात् प्रजा का । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । 'आत्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' इस सूत्र से यहाँ एकत्व में भी बहुत्ववद्भाव हुआ । इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास एवं तुल्ययोगिता अलंकार है, फिर दोनों में अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से संकर अलंकार हो जाता है ॥४१॥

सम्प्रत्येव च भगवता वसिष्ठेन सन्दिष्टम् । अपि च—

अभी-अभी भगवान् वसिष्ठ ने सन्देश भेजा है । और भी—

यत् सावित्रैर्दीपितं भूमिपालैर्लोकश्रेष्ठैः साधु शुद्धं चरित्रम् ।
मत्सम्बन्धात्कश्मला किंवदन्ती स्याच्चेदस्मिन्हन्त धिङ्मामधन्यम् ॥४२॥

अन्वय—लोकश्रेष्ठैः सावित्रैः भूमिपालैः यत् साधु शुद्धं चरित्र

दीपितम् । चेत् अस्मिन् मत्सम्बन्धात् कश्मला किंवदन्ती स्यात् हन्त अधन्य मा धिक् ॥ ४२ ॥

व्याख्या—लोकश्रेष्ठे लोकेषु उत्तमे, सावित्रे सूर्यवंशीये, भूमिपालैः नृपतिभि, यत्, साधु सत् (अथवा साधु इति दीपितम् इति क्रियाया विशेषणम् । तर्हि साधु इत्यस्य सम्यक् इत्यर्थ. कार्य), शुद्ध निर्मल, चरित्र वृत्तं, दीपित प्रकाशित, चेत् यदि, अस्मिन् एतादृशे चरित्रे, मत्सम्बन्धात् मत्सम्पर्कात्, कश्मला मलिना, किंवदन्ती जनश्रुति, स्यात् भवेत् (तदा) हन्त खेदे, अधन्य पापिन, मा राम, धिक् (अर्थात् यदि मम कारणात् अस्मिन् पवित्रवंशे कलङ्कपातः स्यात् तर्हि सर्वथाऽहं शोच्योऽस्मीत्यवसेयम्) ॥ ४२ ॥

अनुवाद—लोकश्रेष्ठ सूर्यवंशीय राजाओं ने जिस सुन्दर पवित्र चरित्र को उज्ज्वल किया (अथवा जिस पवित्र चरित्र को भली भाँति प्रकाशित किया) उस चरित्र में यदि मेरे सम्पर्क से (अर्थात् मेरे कारण) मलिन जनश्रुति हो जाय (अर्थात् धब्बा लग जाय) तो मुझ पापी को धिक्कार है ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—हन्त = यह खेदद्योतक अव्यय है । कश्मला = मलिन । 'कश्मल मलिने त्रिषु' इति हेमचन्द्रः । किंवदन्ती = किं कुत्सित वदति इति किम्√वद्+भच् स्त्रियाम् झस्य अन्तादेशः । यह शालिनी छंद है । उसका लक्षण है—'मात्तौ गौ चेच्छालिनी वेदलोकै' ॥ ४२ ॥

हा देवि देवयजनसम्भवे ! हा स्वजन्मानुग्रहपवित्रितवसुन्धरे ! हा मुनिजनकनन्दिनि ! हा पावकवसिष्ठारुन्धतीप्रशस्तशीलशालिनि ! हा राममयजीविते ! हा महारण्यवासप्रियसखि ! हा तातप्रिये ! हा स्तोकवादिनि ! कथमेवंविधायास्तवायमीदृश. परिणाम. ?

व्याख्या—एव सीतापरित्यागं कर्त्तव्यकोटौ अवधाय गम्भीरशोकाद्विलपति—हा देवीत्यादि । देवीत्यनेन स्वतो निर्दोषत्व सूच्यते । उत्पत्तिवशदोषोऽपि *नास्तीत्याह*—देवयजनसम्भवे देवा इज्यन्ते पूज्यन्ते यस्मिन् तत् देवयजन यज्ञस्थल तस्मात् सम्भवति या तत्सम्बोधने । सीता स्वोत्पत्तिभूमेरपि शुद्धिकर्त्रीत्याह—स्वजन्मानुग्रहपवित्रितवसुन्धरे स्वस्याः आत्मनः जन्म उत्पत्तिः एव अनुग्रहः दया तेन पवित्रिता पवित्रीकृता वसुन्धरा पृथिवी यया तत्सम्बुद्धौ । सम्पर्कदोषोऽपि नास्तीत्याह—मुनिजनकनन्दिनि मननशीलजनक

नन्ददात्रि ! गुरुदेवताभिमतेत्याह—पावकवसिष्ठारुन्धतीप्रशस्तशीलशालिनि अग्निवसिष्ठारुन्धतीभिः प्रशस्त प्रशसित यत् शील स्वभावः तेन शालते शोभते या तत्सम्बुद्धौ । राममयजीविते राम एव (एकम अद्वितीय) जीवितं जीवनं यस्या. तत्सम्बुद्धौ रामाभिन्नजीवने ! इति यावत् । महारण्यवासप्रियसखि महावनवासेऽपि सहवर्तिनि ! तातप्रिये पितृप्रीतिकारिणि ! स्तोकवादिनि अल्पभाषिणि ! कथ केन प्रकारेण, एवविधायाः ईदृश्याः असाधारणगुणशालिन्या इत्यर्थ., तव भवत्या., अय मया क्रियमाण. परित्यागरूपः अथवा लोकापवादरूपः ईदृश भीषण इत्यर्थः, परिणामः शेषफलम् ?

अनुवाद—हा देवि ! हा यज्ञ-स्थल से उत्पन्न होने वाली ! हा अपने जन्मग्रहण रूप अनुग्रह द्वारा पृथिवी को पवित्र करने वाली ! हा मुनि जनक को आनन्द देने वाली ! हा अग्नि, वसिष्ठ और अरुन्धती द्वारा प्रशसित शील से अलंकृत होने वाली ! हा राममय जीवन वाली ! हा महावन में निवास के समय की प्रिय सखी ! हा पितृदेव को प्रीति देने वाली ! हा मितभाषण करने वाली ! इस प्रकार की (अर्थात् इन असाधारण गुणों से युक्त) होते हुए भी तुम्हारा ऐसा (लोकापवाद रूप) परिणाम कैसे हुआ ?

टिप्पणी—यहाँ विशेषण वाले गद्यांश में परिकर अलकार है और अंतिम भाग में विभावना और विशेषोक्ति के सयोग से सदेहसकर अलकार उत्पन्न होता है ।

त्वया जगन्ति पुण्यानि त्वय्यपुण्या जनोक्तय. ।
नाथवन्तस्त्वया लोकास्त्वमनाथा विपत्स्यसे ॥ ४३ ॥

अन्वय—त्वया जगन्ति पुण्यानि, त्वयि जनोक्तयः अपुण्याः । त्वया लोका नाथवन्तः, त्वम् अनाथा विपत्स्यसे ॥ ४३ ॥

व्याख्या—त्वया सीतया, जगन्ति भुवनानि, पुण्यानि (चरणरेणुस्पर्शादिना) पवित्राणि, (सन्ति, परन्तु) त्वयि त्वद्विषये, जनोक्तय लोकप्रवादाः, अपुण्याः अपवित्रा', (सन्ति) त्वया सीतया, लोकाः जना', नाथवन्त' अधिपतिशालिनः (तव लक्ष्मीरूपत्वात्), (किन्तु) त्व सीता, अनाथा स्वामिरहिता सती विपत्स्यसे विपद प्राप्स्यसि (निर्वास्यत्वात्) ॥४३॥

अनुवाद—तुमसे तीनों लोक पवित्र होते हैं, किन्तु तुम्हारे बारे में लोगों की उक्तियाँ अपवित्र हैं । तुमसे लोग सनाथ होते हैं (क्योंकि तुम लक्ष्मी-

स्वरूप होने से सबकी अधीश्वरी हो), किन्तु तुम (निर्वासित किये जाने के कारण) अनाथ होकर विपत्ति झेलोगी ॥४३॥

टिप्पणी—इसमें विरोधाभास अलङ्कार है ॥४३॥

(*दुर्मुख प्रति* ।) दुर्मुख ! ब्रूहि लक्ष्मणम् । एष नूतनो राजा राम समाज्ञापयति । (*कर्णे*) एवमेवम् इति ।

(*दुर्मुख के प्रति*) दुर्मुख ! लक्ष्मण से कहो, यह नया राजा राम आदेश देता है । (*कान में*) ऐसा, ऐसा ।

टिप्पणी—नूतन —जो इस प्रकार अग्निपरीक्षा द्वारा निर्दोष घोषित, आसन्नप्रसवा, प्राणप्रिया पत्नी को वनवास दे रहा है, वह अदृष्टपूर्व एवम् अश्रुतपूर्व कर्म करने वाला व्यक्ति नया ही है—यह तात्पर्य है । एवमेवम्—यहाँ लक्ष्मण के प्रति राम ने यह कहा कि पञ्चवटी वन में सीता को पहुँचा कर वहीं छोड़ आओ ।

दुर्मुख —हा, कहं अग्गिपरिसुद्धाए गब्भट्ठिदपवित्तसताणाए देवीए दुज्जणवअणादो एद ववसिद देव्वेण ? [हा, कथमग्निपरिशुद्धाया गर्भस्थितपवित्रसन्तानाया देव्या दुर्जनवचनादिद व्यवसित[1] देवेन ?]

व्याख्या—हा कष्टम्, कथम्, अग्निपरिशुद्धाया अग्निना पवित्रिताया, गर्भस्थितपवित्रसन्तानाया गर्भस्थित भ्रूणस्य पवित्रसन्तान पूतापत्य यस्या तस्या, देव्या महाराज्ञ्या, दुर्जनवचनात् दुष्टवाक्यात्, इद निर्वासनरूप कर्म, व्यवसित निर्णीत, देवेन महाराजेन ?

अनुवाद—दुर्मुख—हाय ! जो अग्निपरीक्षा द्वारा विशुद्ध प्रमाणित हो चुकी हैं तथा जिनके गर्भ में पवित्र सतान अवस्थित है, ऐसी महारानी के प्रति महाराज न दुर्जनों की बातों से कैसे यह (त्याग करने का) निश्चय किया है ?

राम —शान्त पापम् । शान्त पापम् । दुर्जना नाम पौरजानपदा ?

राम—पाप शात हो, पाप शात हो । क्या नगर तथा देश के लोग दुर्जन हैं ? (नहीं, प्रजा के प्रति तुम्हारा दुर्जन शब्द का प्रयोग ठीक नहीं है ।)

---

[1] 'अध्यवसितम्' इति पाठभेद ।

इक्ष्वाकुवंशोऽभिमतः प्रजानां जातं च दैवाद्वचनीयवीजम् ।
यच्चाद्भुतं कर्म विशुद्धिकाले प्रत्येतु कस्तद्यदि दूरवृत्तम् ॥ ४४ ॥

अन्वय—इक्ष्वाकुवंशः प्रजानाम् अभिमतः, दैवात् वचनीयवीजं च जातम्, विशुद्धिकाले यच्च अद्भुतं कर्म, तत् यदि दूरवृत्तं कः प्रत्येतु ? ॥ ४४ ॥

व्याख्या—इक्ष्वाकुवंशः, प्रजानां प्रकृतीनाम्, अभिमतः राजत्वेन अभीष्टः, (अतएव प्रजा मां प्रति द्वेषवशात् अपवादं घोषयन्ति इति न सम्भवति। तर्हि कथमपवादं जल्पन्ति इत्यत्र कारणमाह—) दैवात् भाग्यात् दुरदृष्टवशात् इत्यर्थः, वचनीयवीजं च निन्दाकारणं च लङ्कायामेकाकिन्या अवस्थानरूपमित्यर्थ जातं सघटितम्। (अग्निपरीक्षया दूषणे परिहृते नास्ति अपवादस्यावकाश इति चेत्तत्राह—) विशुद्धिकाले अग्निपरीक्षया निर्दोषत्वप्रतिपादनसमये, यच्च, अद्भुतम् (प्रज्वलितवह्नौ प्रविष्टायाः सीतायाः केशाग्रमपि न दग्धमिति) विस्मयकरं, कर्म कार्यं, (जातम्) तत् यदि तत् अस्ति चेत्, दूरवृत्तं दूरदेशे जातं चरितं, कः जनः, प्रत्येतु विश्वसितु अपितु कोऽपि नेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अनुवाद—इक्ष्वाकुवंश प्रजाओं को अभीष्ट है, किन्तु दैववश (उसमें) निन्दा का कारण घटित हो गया है। अग्निपरीक्षा द्वारा विशुद्धि प्रमाणित करने के समय जो अद्भुत घटना घटी थी, वह (सत्य) है भी तो दूर में होने के कारण कौन उसका विश्वास करेगा ? ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—प्रजानाम्—यहाँ 'अभिमतः' इस पद के योग में 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र से षष्ठी हुई। प्रत्येतु—प्रति√इ + लोट्—तु। विध्यर्थे लोट्। इस श्लोक में विश्वास के अभाव के प्रति दूरवर्ती पदार्थ के हेतु होने के कारण पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार है। यह इन्द्रवज्रा छंद है ॥४४॥

तद्गच्छ।

इसलिये जाओ।

दुर्मुखः—हा देइ ! [हा देवि।] (*इति निष्क्रान्तः।*)

दुर्मुख—हाय देवि ! (*यह कह कर चला गया।*)

राम.—हा कष्टम् ! अतिबीभत्सकर्मा नृशंसोऽस्मि संवृत्तः।

राम—हाय कष्ट है ! मैं अत्यन्त घृणित कर्म करने वाला वधिक हो गया हूँ।

टिप्पणी—अतिबीभत्सकर्मा—बीभत्सते अनेन इति वध वैरूप्ये

श्वादि + सन् (मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य इति सूत्रेण) + घन् करं =बीभत्स, अत्यन्त बीभत्सम् इति प्रादितत्० =, अतिबीभत्सं कर्म यस्य अतिबीभत्सकर्मा बहुव्रीहिः । नृशंसः—नृन् शंसति हन्ति इति नृ√शस् + अण् कर्तरि।

शैशवात्प्रभृति पोषितां प्रियां सौहृदादपृथगाश्रयामिमाम् ।
छद्मना परिददामि मृत्यवे सौनिके गृहशकुन्तिकामिव ॥४५॥

अन्वय—शैशवात् प्रभृति पोषितां सौहृदात् अपृथगाश्रयाम् इमां प्रियां सौनिके गृहशकुन्तिकाम् इव छद्मना मृत्यवे परिददामि ।

व्याख्या—(नृशंसतां प्रति कारणमाह—) शैशवात् प्रभृति बाल्यकालादवधि, पोषितां परिपालितां, सौहृदात् प्रेम्णः, अपृथगाश्रयाम् एकस्थानस्थिताम्, इमां पुरःस्थितां, प्रियां वल्लभां सीतामित्यर्थः, सौनिके प्राणिहिंसाजीविनि, गृहशकुन्तिकाम् गृहपालितपक्षिणीम्, इव वद्वत्, छद्मना छलेन, मृत्यवे अन्तकाय, परिददामि अर्पयामि ॥४५॥

अनुवाद—बाल्यावस्था से पाली हुई तथा प्रेम के कारण मुझसे अलग न रहने वाली इस प्रिया सीता को मैं छल से उसी तरह मृत्यु को समर्पित कर रहा हूँ जैसे कोई घर में पली हुई चिड़िया कसाई को दे दे ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—सौहृदात्—सुहृदयस्य भावः इति सुहृदय + अण् 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति सूत्रेण हृदयस्य हृद् आदेशः । सौनिके= कसाई के लिए। यहाँ चतुर्थी के अर्थ में सप्तमी है। सूनया प्राणिहिंसया संसृष्ट इति सौनिकः 'तेन दीव्यति—' इस सूत्र से ठक् प्रत्यय । 'वैतंसिकः सौनिकश्च मांसिकः कौटिकस्तथा' इति हेमचन्द्रः । इस श्लोक में पूर्णोपमा अलंकार है। यह रथोद्धता छन्द है ॥४५॥

तत् किमस्पृश्यः पातकी देवीं दूषयामि ? (*इति सीतायाः शिरः सुप्तमुन्नमय्य बाहुमाकृष्य ।*)

तब अस्पृश्य पातकी होकर मैं क्यों देवी को (स्पर्श से) दूषित करूँ ? (*यह कह कर सीता के लेटे हुए शिर को ऊपर उठा कर अपनी बाँह खींचते हुए*)

अपूर्वकर्मचाण्डालमयि मुग्धे ! विमुञ्च माम् ।
श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमम् ॥४६॥

अन्वय—अयि मुग्धे ! अपूर्वकर्मचाण्डाल मा विमुञ्च, चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमं श्रिता असि ॥४६॥

व्याख्या—अयि मुग्धे ! सरले !, अपूर्वकर्मचाण्डालं विलक्षणकृत्यचाण्डाल, मा रामं, विमुञ्च परित्यज, चन्दनभ्रान्त्या चन्दनतरुभ्रमेण, दुर्विपाकं दुष्परिणाम, विषद्रुमं विषवृक्षं, श्रिता अवलम्बिता, असि वर्तसे ॥४६॥

अनुवाद—अरी भोली ! मै विचित्र कर्मचाडाल हूँ, मुझको छोड़ दो। तुम चन्दन के भ्रम से दुष्परिणाम वाले विष वृक्ष का आश्रय ले रही हो ॥४६॥

टिप्पणी—अपूर्वकर्मचाण्डालम् = अपूर्वेण अदृष्टचरेण अश्रुतपूर्वेण च कर्मणा साध्व्या. पत्न्या. परित्यागरूपेण कार्येण चाण्डालः निषाद· तम्, अथवा कर्मणा चाण्डालः कर्मचाण्डालः अपूर्वश्चासौ कर्मचाण्डाल· अपूर्वकर्मचाण्डालः तम। चाण्डाल के दो मुख्य भेद हैं—जन्मचाण्डाल और कर्मचाण्डाल। इनमें कर्मचाण्डाल चार प्रकार के माने गये हैं—'असूयकः पिशुनश्च कृतघ्नो दीर्घरोषकः। चत्वारः कर्मचाण्डाला जन्मतश्चापि पञ्चम·।' रामचन्द्र जी ने अपने को इनसे भिन्न 'अपूर्वकर्मचाण्डाल' कहा है। इस श्लोक में असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना अलकार और वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार है। फिर इन दोनों में अगागिभाव सबध होने से सकर अलकार हो जाता है ॥४॥

(*उत्थाय*) हन्त हन्त, सम्प्रति विपर्यस्तो जीवलोकः। अद्यावसितं जीवितप्रयोजनं रामस्य। शून्यमधुना जीर्णारण्यं जगत्। असारः संसारः। काष्ठप्राय[1] शरीरम्। अशरणोऽस्मि। किं करोमि ? का गतिः ? अथवा।

व्याख्या—हन्त हन्त खेदार्थकमव्ययमिदम्, सम्प्रति अधुना, जीवलोकः प्राणिलोक, विपर्यस्तः विपरीत (ये हि तव साहित्ये परमसुखकरा आसन् त एव तव राहित्ये दुःखसाधका. भवेयुरिति भाव)। अद्य सीतापरित्यागदिने, रामस्य, जीवितप्रयोजनं जीवनोद्देश्यम्, अवसितं समाप्तम्। अधुना सीतावियोगे, जगत् भुवन, जीर्णारण्यं शुष्कविरलवृक्षप्राय वनम्, (इव)

१. 'काष्ठप्रायम्' इति पाठभेद·।

(अतएव) शून्य निर्जन (जातम्) । ससार जगत्, असार साररहित । शरीर देह, काष्ठप्रायम् इन्धनप्रायम् (सीतारहित्ये रामस्य सुखसंवेदनाभावेन शरीरस्य काष्ठप्रायत्वमुक्तम्) । अशरण रक्षितृशून्य, अस्मि । किं करोमि किं विदधामि ? का गति उपाय (आश्वासन प्रति वा क गच्छामि) ? अथवा किं वा (अलम् उपायेन) ।

अनुवाद—(उठकर) हाय ! हाय !! अब प्राणियों का लोक उलट गया (अर्थात् सीता के रहते जो जीवलोक स्वर्ग प्रतीत होता था, वही अब सीता के वियोग में नरक मालूम हो रहा है) । आज राम के जीवन की आवश्यकता समाप्त हो गई । इस समय जगत् जीर्ण अरण्य की भाँति निर्जन प्रतीत हो रहा है । ससार म कोई तत्त्व नहीं रह गया । शरीर ईंधन की तरह (सुख संवेदना रहित) हो गया है । मैं शरणहीन हूँ । क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? अथवा—

दु खसंवेदनायैव रामे चैतन्यमागतम्[१] ।
मर्मोपघातिभि प्राणैर्वज्रकीलायित हृदि ॥४७॥

अन्वय—दु खसंवेदनाय एव रामे चैतन्यम् आगतम् । मर्मोपघातिभि प्राणै हृदि वज्रकीलायितम् ॥४७॥

व्याख्या—दु खसंवेदनाय एव क्लेशानुभवाय एव, रामे मयि, चैतन्यम् चेतनता, आगतम् आयातम् । मर्मोपघातिभि मर्मस्थलप्रहारिभि, प्राणै असुभि हृदि हृदये, वज्रकीलायित पाषाणघटितशङ्कुवत् आचरितम् ॥४७॥

अनुवाद—कष्ट भोगने के लिये ही राम में चेतनता आई है । और मर्मस्थल पर आघात करने वाले प्राणों ने हृदय में वज्र की कील की तरह आचरण किया है (अर्थात् जैसे वज्र की कील गड़ जाने पर वह फिर निकलती नहीं उसी तरह मेरे हृदय में गड़े हुए प्राण वहाँ से नहीं निकल रहे हैं) ॥४७॥

टिप्पणी—दु खसंवेदनाय—सम्√विद्+ल्युट् भावे=संवेदनम्, दु खस्य संवेदनम्, तस्मै तादर्थ्ये चतुर्थी । मर्मोपघातिभि —मर्माणि उपघ्नन्ति इति मर्मन्—उप√हन्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये, तै । वज्रकीलायितम्=वज्रशङ्कु या वज्र की कील के सदृश आचरण किया । वज्रकील+

१ 'अर्पितम्' इति 'आहितम्' इत्यपि च पाठभेद ।

क्मड्+क। इस श्लोक के पूर्वार्ध में उत्प्रेक्षा अलकार है और उत्तरार्ध में उपमा अलंकार है। फिर इन दोनों की स्थिति के परस्पर निरपेक्ष होने के कारण संसृष्टि अलंकार का समावेश होता है ॥४७॥

हा अम्ब अरुन्धति ! भगवन्तौ वसिष्ठविश्वामित्रौ ! भगवन् पावक ! हा देवि भूतधात्रि ! हा तातजनक ! हा तात ! हा मातरः ! हा प्रियसखे महाराज सुग्रीव ! सौम्य हनूमन् ! महोपकारिन् लङ्काधिपते विभीषण ! हा सखि त्रिजटे ! दूषिता स्थ, परिभूता स्थ रामहतकेन । अथवा को नाम तेषामहमिदानीमाह्वाने ?

हाय माता अरुन्धती ! भगवान् वसिष्ठ और विश्वामित्र ! भगवान् अग्निदेव ! हाय देवी पृथिवी ! हाय पिता जनक जी ! हाय पिता जी ! हाय माताओं ! हाय प्रिय मित्र महाराज सुग्रीव ! सौम्यमूर्ति हनुमान् जी ! महान् उपकारी लङ्केश्वर विभीषण ! हाय सखी त्रिजटा ! निकृष्ट राम ने (सीतापरित्याग रूप दुष्कर्म द्वारा) तुम सब लोगों को दूषित एवम् अपमानित कर दिया। अथवा अब इन लोगों के बुलाने में मेरा क्या अधिकार है।

टिप्पणी—अरुन्धति !—अरुन्धती ने सीता के सतीत्व का समर्थन किया था। अब उनके वचन की प्रामाणिकता भी व्यर्थ हो गई—यह इस सबोधन से प्रकट किया गया है। सखि त्रिजटे !—त्रिजटा नामक राक्षसी ने लंका में सीता का परम उपकार किया था। अतः वह राम की अर्धाङ्गिनी सीता की सखी होने के कारण राम की भी सखी हुई। इस प्रकार सखी रूप में उसका सबोधन करना उचित ही है। दूषिताः—तात्पर्य यह है कि अरुन्धती, वसिष्ठ आदि महानुभावों ने नितान्त निर्मल कह कर सीता के चरित्र की *प्रशंसा की थी।* अब उन्हीं सीता का तथाकथित चारित्रिक दोषापवाद के कारण परित्याग करके राम ने सभी को मिथ्यावादी बना दिया। इसीलिए उन्होंने कहा कि मैंने मिथ्यावादित्व रूप दोष मढ़कर आप लोगों को दूषित कर दिया। रामहतकेन—नष्टप्राय राम ने। हत. पातित्यजनक. सत्पत्नीपरित्यागपापेन नष्टप्रायः, हत एव हतकः कुत्सायां कप्रत्यय, रामश्चासौ हतकश्चेति रामहतकः, अभिधानात् विशेषणस्य परनिपातः, तेन रामहतकेन।

ते हि मन्ये महात्मानः कृतघ्नेन दुरात्मना ।
मया गृहीतनामानः स्पृश्यन्त इव पाप्मना ॥ ४८ ॥

अन्वय—हि ते महात्मानः कृतघ्नेन दुरात्मना मया गृहीतनामानः पाप्मना स्पृश्यन्त इव मन्ये ॥ ४८ ॥

व्याख्या—अत्र हेतु दर्शयति—ते हीति । हि यस्मात्, ते पूर्वकथिताः, महात्मानः महानुभावाः, कृतघ्नेन अकृतज्ञेन प्रशसोद्गारादिना महोपकारिणां तेषां दोषापमानाग्रामयकारिणेत्यर्थः, दुरात्मना अपतिनपत्नीत्यागात् पापात्मना, मया रामेण, गृहीतनामानः उच्चारितनामधेयाः (सन्तः), पाप्मना पातकेन, स्पृश्यन्त इव सम्बध्यन्त इव (इति), मन्ये उत्प्रेक्षे ॥ ४८ ॥

अनुवाद—क्योंकि वे महात्मा लोग कृतघ्न एवं दुष्ट स्वभाव वाले मेरे द्वारा नाम लिये जाने पर पाप से छू जाते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—कृतघ्नेन = उपकार न मानने वाला । कृत हन्ति इति कृतघ्न. कृत√हन्+क (मूलविभुजादित्वात्) । इस श्लोक में उत्प्रेक्षा तथा पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार है । इन दोनों में अगागिभाव सबध होने से सकर अलकार हो जाता है ॥ ४८ ॥

योऽहम्—
जो मैं—

विस्रम्भादुरसि निपत्य जातनिद्रा-
मुन्मुच्य प्रियगृहिणीं गृहस्य लक्ष्मीम् ।
आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं
क्रव्याद्भ्यो बलिमिव दारुणः क्षिपामि ॥ ४९ ॥

अन्वय—दारुणः (सन्) विस्रम्भात् उरसि निपत्य जातनिद्राम् आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीं गृहस्य लक्ष्मीं प्रियगृहिणीम् उन्मुच्य क्रव्याद्भ्यः बलिम् इव क्षिपामि ॥ ४९ ॥

व्याख्या—दारुणः कठोरः, (सन्) विस्रम्भात् विश्वासात्, उरसि वक्षसि, निपत्य स्थित्वा, जातनिद्रां सुप्ताम्, आतङ्कस्फुरितकठोरगर्भगुर्वीम् आतङ्केन केनचित् उद्वेगेन शङ्काजनितशरीरकम्पनेत्यर्थः स्फुरितः चलितः कठोरः पूर्णः यो गर्भः भ्रूणः तेन गुर्वी भारवती, गृहस्य भवनस्य, लक्ष्मीं शोभां, प्रिय-

गृहिणीं प्रियतमा भार्याम्, उन्मुच्य त्यक्त्वा, क्रव्याद्भ्यः मांसभोजिजन्तुभ्यः, बलिमिव उपहारमिव, छिनामि अर्पयामि ॥ ४६ ॥

अनुवाद—दारुण होकर मैं विश्वासपूर्वक छाती पर लेटकर सोयी हुई प्रियतमा को, जो आतंक (चित्रदर्शनजन्य उद्वेग) के कारण काँपते हुए पूर्ण गर्भ के भार से युक्त है तथा घर की लक्ष्मी है, त्याग करके हिंस्र जन्तुओं को बलि की तरह दे रहा हूँ ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—क्रव्याद्भ्यः = राक्षस आदिकों या मांसभक्षकों को। क्रव्यमदन्तीति क्रव्याद तेभ्यः, क्रव्य√अद्+विट् 'क्रव्ये च' इत्यनेन। इस श्लोक में उपमा अलंकार है। यह प्रहर्षिणी छन्द है ॥ ४६ ॥

(*सीतायाः पादौ शिरसि कृत्वा* ।) अयं पश्चिमस्ते रामशिरसि पादपङ्कजस्पर्शः (*इति रोदिति* ।)

(*सीता के चरणों को मस्तक से लगाकर*) राम के मस्तक पर तुम्हारे चरणारविन्द का यह अन्तिम स्पर्श है। (*यह कहकर रोने लगते हैं* ।)

टिप्पणी—पश्चिमः = अंतिम। 'अन्त्यपाश्चात्यपश्चिमाः' इत्यमरः। पश्चाद् भवः पश्चिमः, पश्चात्+डिमच् 'अग्रादिपश्चाड्डिमच्' इत्यनेन। यद्यपि 'पतिरेको गुरुः स्त्रीणाम्' इस वचन के अनुसार राम के शिर पर सीता का चरण रखना नितांत अनुचित प्रतीत हो रहा है, किन्तु 'पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि। तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनाञ्च सतीषु च' ॥ इस स्मृतिवचन के प्रामाण्य से राम को सीता के प्रति तभी महासतीत्व का ज्ञान हुआ तभी उन्होंने चरणस्पर्श किया, यह अवगम कर लेने से अनौचित्य का परिहार हो जाता है।

(*नेपथ्ये*)

(*नेपथ्य में*)

अब्रह्मण्यम्, अब्रह्मण्यम्।

ब्राह्मणों का अमंगल, ब्राह्मणों का अमंगल।

टिप्पणी—अब्रह्मण्यम् = ब्राह्मण पर आपत्ति पड़ना। ब्रह्मणे विप्राय हितं ब्रह्मण्यम् ब्रह्मन्+यत्, न ब्रह्मण्यम् अब्रह्मण्यम्।

रामः—ज्ञायतां भोः ! किमेतत् ?

राम—अजी ! पता लगाओ, यह क्या बात है ?

(पुनर्नेपथ्ये)

(फिर नेपथ्य में)

ऋषीणामुग्रतपसां यमुनातीरवासिनाम् ।
लवणत्रासितः स्तोमस्त्रातारं त्वामुपस्थितः ॥ ५० ॥

अन्वय—यमुनातीरवासिनाम् उग्रतपसाम् ऋषीणां स्तोमः लवणत्रासितः (सन्) त्रातारं त्वाम् उपस्थितः ॥ ५० ॥

व्याख्या—यमुनातीरवासिनां यमुनायाः कालिन्द्याः तीरे तटे वसन्ति ये तेषाम्, उग्रतपसाम् उग्रं घोरं तपः तपस्या येषां ते उग्रतपसः, तेषाम्, ऋषीणां मुनीनां, स्तोमः समूहः, लवणत्रासितः लवणाख्यराक्षसेन भीषितः (सन्), त्रातारं रक्षकं, त्वां रामम्, उपस्थितः उपागतः (अस्ति) ॥ ५० ॥

अनुवाद—कालिन्दी के तट पर निवास करने वाले उग्र तपस्वी मुनिवृन्द लवणासुर से भय खाकर रक्षा करने वाले आपके निकट उपस्थित हुए हैं ॥ ५० ॥

टिप्पणी—स्तोमः = समूह । 'स्तोमः स्तोत्रेऽध्वरे वृन्दे' इत्यमरः । लवणत्रासितः = लवण नामक राक्षस द्वारा पीड़ित । यह राक्षस रावण की बहन कुम्भीनसी से उत्पन्न हुआ था । इसके पिता का नाम मधु था । कहीं 'त्रातारम्' की जगह 'शरण्यम्' पाठ है । इसका अर्थ होगा—रक्षा करने में समर्थ । शरणे रक्षणे साधुः इति शरण + यत् = शरण्यः, तम् । उपस्थितः—उप√स्था + क्त कर्तरि ।

रामः—कथमद्यापि राक्षसत्रासः ? तद्यावदस्य दुरात्मनो माथुरस्य कुम्भीनसीकुमारस्योन्मूलनाय शत्रुघ्नं प्रेषयामि । (*परिक्रम्य पुनर्निवृत्य ।*) हा देवि ! कथमेवंविधा गमिष्यसि ? भगवति वसुन्धरे ! सुश्लाघ्यां दुहितरमवेक्षस्व जानकीम् ।

राम—कैसे अभी भी राक्षसों का भय बना हुआ है ? तो कुम्भीनसी के पुत्र इस दुरात्मा मथुरापति लवण का वध करने के लिये शत्रुघ्न को भेजता हूँ ।

(कुछ दूर चलकर और फिर लौट कर) हा देवि ! कैसे इस रूप में जाओगी ? भगवती पृथ्वी ! प्रशंसनीय कन्या सीता की देखभाल करना ।

टिप्पणी—माथुरस्य=मथुरेश्वर का । मथुरा मथुरा निवासोऽस्य स माथुरः मथुरा + अण्, तस्य ।

जनकानां रघूणां च यत्कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम् ।
यां देवयजने पुण्ये पुण्यशीलामजीजनः ॥ ५१ ॥

अन्वय—यत् जनकानां रघूणां च कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम् । पुण्यशीलां यां पुण्ये देवयजने (त्वम्) अजीजनः ॥ ५१ ॥

व्याख्या—यत् सीतारूपं वस्तु, जनकानां जनकवंश्यानां, रघूणां च रघुवंश्यानां च, कृत्स्नं समग्रं, गोत्रमङ्गलं गोत्रयोः वंशयोः मंगलं कल्याणं, (तथा), पुण्यशीलां पवित्राचरणां, यां सीतां, पुण्ये पवित्रे, देवयजने यज्ञभूमौ, (त्वम्), अजीजनः उत्पादितवती (असि, तां दुहितरम् अवेक्षस्व इति पूर्वेणान्वयः) ॥ ५१ ॥

अनुवाद—जो (जानकी) जनकवंशीय एवं रघुवंशीय राजाओं के गोत्र का समस्त मंगल रूप है और जिस पवित्र स्वभाव वाली (सीता) को तुमने पवित्र यज्ञभूमि में उत्पन्न किया था (उसको देखना) ॥५१॥

टिप्पणी—अजीजनः—जन्म दिया । √जन + णिच् + लुङ्—सिप् । इस श्लोक के पूर्वार्ध में व्यस्तरूपक अलंकार है ॥५१॥

(*इति रुदन्निष्क्रान्तः* ।)

(*यह कह कर रोते हुए चले गये* ।)

सीता—हा सोम्म अज्जउत्त ! कहिं सि ? (*इति सहसोत्थाय* ।) हद्धी-हद्धी । दुस्सिविणअरणरणअविप्पलद्धा अज्जउत्तसुण्णं विअ अत्ताणं पेक्खामि । (*विलोक्य*) हद्धी हद्धी । एआइणिं पसुत्तं उज्झिअ कहिं गदो णाहो । होदु । से कुप्पिस्सं, जइ तं पेक्खन्ती अत्तणो पहविस्सं । को एत्थ परिअणो ? [हा सौम्य आर्यपुत्र ! क्वासि ? हा धिक् हा धिक् ! दुःस्वप्नरणरणकविप्रलब्धा आर्यपुत्रशून्यमिवात्मानं पश्यामि ।... हा धिक् हा धिक् । एकाकिनीं प्रसुप्तामुज्झित्वा क्व गतो नाथः ? भवतु । तस्मै कोपिष्यामि, यदि तं प्रेक्षमाणा आत्मनः प्रभविष्यामि । कोऽत्र परिजनः ?]

अनुवाद—हा सौम्य आर्यपुत्र ! कहाँ हैं ? (*यह कहती हुई एकाएक उठकर*) हाय धिक्कार है ! हाय धिक्कार है !! दुःस्वप्न में उद्वेग से वंचित होकर अपने को आर्यपुत्र से शून्य की भाँति देख रही हूँ । (*ताक कर*) हाय धिक्कार है ! हाय धिक्कार है !! अकेली सोयी हुई मुझे छोड़कर *नाथ* कहाँ चले गये ? अस्तु, यदि उनको देखती हुई मैं अपने को काबू में रख सकी तो उन पर क्रोध करूँगी । यहाँ कौन परिजन है ?

टिप्पणी—'हा सौम्य आर्यपुत्र' यह उक्ति स्वप्नावस्था की है । दुःस्वप्न-रणरणकविप्रलब्धा = दुष्ट स्वप्नः दुःस्वप्नः तस्मिन् यः रणरणकः उद्वेगः तेन विप्रलब्धा वञ्चिता । अस्मै कोपिष्यामि—यहाँ 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' इस सूत्र से चतुर्थी हुई । आत्मनः प्रभविष्यामि = स्वाधीना स्यामिति शङ्कयामि । क्योंकि सीताजी जानती थीं कि रामचन्द्र जी का लोकोत्तर रूपलावण्य देखते ही उनका क्रोध विलीन हो जायगा । परिजन = टहलू ।

(प्रविश्य)

(*प्रवेश करके*)

दुर्मुख—देवि ! कुमारलक्खणो विण्णवेदि—'सज्जो रहो । तं आरुहदु देवी' त्ति । [देवि ! कुमारलक्ष्मणो विज्ञापयति—'सज्जो रथः । तदारोहतु देवी' इति ।]

दुर्मुख—देवि ! कुमार लक्ष्मण निवेदन करते हैं कि रथ तैयार है । महारानी उस पर चढ़ें ।

सीता—इअं आरूढह्मि । (*उत्थाय परिक्रम्य*) फुरइ मे गब्भभारो । सणिअं गच्छह्म । [इयमारूढास्मि । स्फुरति मे गर्भभारः । शनैर्गच्छामः ।]

सीता—यह मैं चढ़ी । (*उठकर और कुछ पग चलकर*) मेरा गर्भ भार (गर्भस्थ शिशु) फड़क रहा है । धीरे-धीरे चलें ।

दुर्मुख—इदो इदो देवी । [इत इतो देवी ।]

दुर्मुख—इधर से देवी, इधर से ।

सीता—णमो रहुउलदेवदाणं । [नमो रघुकुलदेवतानाम् ।]

सीता—रघुकुल के देवताओं को नमस्कार है ।

टिप्पणी—रघुकुलदेवतानाम्—यहाँ 'क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽ

भिनिविशते' इस न्याय के बल से नम. के योग में प्राप्त चतुर्थी को बाध कर षष्ठी हुई अथवा 'चतुर्थ्यर्थे षष्ठी' इस पिंगल सूत्र से षष्ठी हुई।

(इतिनिष्क्रान्ताः सर्वे ।)

(इसके बाद सब चले गये ।)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचिते उत्तररामचरिते चित्रदर्शनो नाम प्रथमोऽङ्कः ॥१॥

महाकवि श्रीभवभूतिरचित उत्तररामचरित नाटक में चित्रदर्शन नामक पहला अङ्क समाप्त ॥१॥

टिप्पणी—चित्रदर्शन'—चित्राणां दर्शनं यत्र सः । नाम = प्रसिद्धयर्थक अव्यय । अङ्क = परिच्छेद, नाटक का अंश । इसका लक्षण साहित्यदर्पणकार ने यह बताया है—'प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभावसमुज्ज्वलः । अन्तनिष्क्रान्तनिखिल-पात्रोऽङ्क इति कीर्तितः ॥'

इति श्रीतारिणीशशर्मकृतोत्तररामचरितेन्दुकलाख्यव्याख्यायां प्रथमाङ्क-विवरणं समाप्तम् ॥१॥

द्वितीयोऽङ्कः

(नेपथ्ये)

(नेपथ्य में)

स्वागतं तपोधनायाः ।

तापसी जी का शुभागमन हो ।

टिप्पणी—स्वागतम्—सु = सुखेन आगतम् अथवा सु = शोभनम् आगतम् = आगमनम् । आङ्पूर्वक गम् धातु से 'नपुंसके भावे क्त.' सूत्र से भाव में क्त प्रत्यय हुआ । तपोधनायाः—तप एव धनं प्राधान्येन उपार्जनीयं यस्याः सा तपोधना, तस्याः । शेषे षष्ठी । ऐसी जगह चतुर्थी भी देखी जाती है । 'तस्मै ते परमेशाय स्वागतं स्वागतञ्च मे' ।

(ततः प्रविशत्यध्वगवेषा तापसी ।)

(तदनन्तर पथिक के वेश में तापसी (आत्रेयी) आती हैं ।)

टिप्पणी—अध्वगवेषा = राही की तरह वेश वाली । अध्वानं गच्छतीति

अध्वगः = पथिक, बटोही। 'अध्वनीनोऽध्वगोऽध्वन्यः पान्थः पथिक इत्यपि' इत्यमरः। अध्वगस्य वेश इव वेशो यस्याः सा, व्यधिकरणबहुव्रीहिसमास। तापसी = तपस्विनी। तपस् + अ + ङीप्।

तापसी—अये, वनदेवता फलकुसुमगर्भेण पल्लवार्घ्येण दूरान्मामुपतिष्ठते।

व्याख्या—अये इति सम्बोधनपदम्। वनदेवता वनाधिकारिणी काचित् सन्यासिनी, फलकुसुमगर्भेण फलपुष्पसवलितेन, पल्लवार्घ्येण सपल्लवपूजाजलेन दूरात् विप्रकृष्टात्, माम् तापसीम्, उपतिष्ठते पूजयति।

अनुवाद—तापसी—अरे! वनदेवता तो दूर ही से फल, पुष्प और पल्लव युक्त अर्घ्य द्वारा मेरी पूजा कर रही है।

टिप्पणी—पल्लवार्घ्येण = पल्लवसहित अर्घ्य से। अर्घार्थम् उदकम् अर्घ्यम्, अर्घ + यत् 'पादार्घाभ्यां च' इस सूत्र से। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। पल्लवयुक्तम् अर्घ्यं पल्लवार्घ्यं तेन, यहाँ शाकपार्थिवादित्वात् मध्यमपदलोपी समास हुआ। उपतिष्ठते = सत्कार-पूजा करती है। 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इस वार्तिक से यहाँ आत्मनेपद हुआ।

(प्रविश्य)

(प्रवेश करके)

वनदेवता—(अर्घ्यं निकीर्य)

वनदेवता—(अर्घ्य देकर)

> यथेच्छाभोग्यं[1] वो वनमिदमयं मे सुदिवसः
> सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति।
> तरुच्छाया तोयं यदपि तपसां[2] योग्यमशनं
> फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः॥ १॥

अन्वय—इदं वनं वः यथेच्छाभोग्यम्, अयं मे सुदिवसः, हि सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि पुण्येन भवति। तरुच्छाया, तोयं, यदपि तपसां योग्यम् अशनं—फलं वा मूलं वा, तदपि इह वः पराधीनं न॥ १॥

व्याख्या—इदं पुरो दृश्यमानं, वनम् अरण्यं, वः युष्माकं, यथेच्छा-

१. यथेच्छं भोग्यम् इति पाठान्तरम्। २. तपसः इति क्वापि पाठः।

भोग्यम् इच्छानिवृत्तिपर्यन्तमसङ्कोचेनोपभोगार्हम्, अद्य वर्तमान, मे मम, सुदिवसः शोभनदिनम्, (अस्ति), हि यस्मात्, सता सज्जनाना, सद्भिः सज्जनैः, सङ्गः सम्पर्कः, कथमपि कृच्छ्रेण, पुण्येन सुकृतेन, भवति जायते। तरुच्छाया वृक्षच्छाया, तोयं जलं, यत् अपि, तपसां तपस्यानां, योग्यम् उचितम्, अशन भक्ष्य—फल वा प्रसवो वा, मूल वा कन्द वा, तदपि, फल मूल च, इह वने, वः युष्माकं, पराधीनम् अन्यवश, न नास्ति ॥ १ ॥

अनुवाद—यह वन आपके यथेच्छ उपभोग करने योग्य है। यह (आज) मेरा शुभ दिन है। क्योंकि सज्जनों से सज्जनों का मिलन बहुत पुण्य से होता है। वृक्ष की छाया, जल और जो कुछ भी तपस्या के उपयुक्त भोजन—फल अथवा कन्द होता है, वह यहाँ आपके लिए पराधीन नहीं है (अर्थात् ये चीजें आपको इच्छानुसार मिलेंगी) ॥ १ ॥

टिप्पणी—यथेच्छाभोग्यम् = इच्छानुसार भोगने योग्य। इच्छाम् अनतिक्रम्य यथेच्छम् यथार्थ में अव्ययीभाव समास, समन्तात् भोग्यम् आभोग्यं यथेच्छम् आभोग्यम् यथेच्छाभोग्य सुप्सुपा समास। इस श्लोक में सामान्य से विशेष का समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलकार है। यह शिखरिणी छन्द है ॥ १ ॥

तापसी—किमत्रोच्यते ?

तापसी—यहाँ (इस विषय में या इस क्षेत्र के सबध में) क्या कहना है ?

प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचय ।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥ २ ॥

अन्वय—साधूना वृत्ति प्रियप्राया, वाचि नियम. विनयमधुर', मतिः प्रकृत्या कल्याणी, परिचय. अनवगीत, तत् इद पुरो वा पश्चाद्वा अविपर्यासितरसम् अनुपधि विशुद्धं रहस्यं विजयते ॥ २ ॥

व्याख्या—साधूना सज्जनाना, वृत्ति. व्यवहार., प्रियप्राया बहुप्रीतिकरा, वाचि वचने, नियम नीति, विनयमधुर' विनयेन नम्रतया मधुरः मनोहर, मतिः बुद्धिः, प्रकृत्या स्वभावेन, कल्याणी मङ्गलकारिणी, परिचय परस्पर

विशेषण ज्ञानम्, अनवमात अनिदित दोषशून्यो वा, तत् प्रसिद्धम्, इदं वक्ष्यमान, पुरो वा अग्रे वा, पश्चाद्वा अन्ते वा, अविपर्यासितरसम् अविपर्यासित अपरिवर्तित रस अनुरागो यस्मिन् तत्, अनुपधि अकपट, विशुद्ध निर्मल, रहस्य गूढ़चरित, विजयत उत्कर्षेण वतते ॥ २ ॥

अनुवाद—सज्जनों का व्यवहार अतिशय आह्लादकारक होता है, उनकी वाणी का संयम विनय के साथ मधुर होता है, बुद्धि स्वभाव से ही मगलकारिणी होती है, परिचय निर्दोष होता है, मिलन पहले या पीछे अनुराग का उल्लघन न करने वाला, निश्छल एव पवित्र होता है और इस प्रकार उनका चरित्र सर्वोत्कृष्ट होता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—प्रकृत्या = स्वभाव से। इसमें 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इस वार्तिक से तृतीया हुई। परिचय —परि√चि+अच् कर्मणि। इसका पर्यायवाची शब्द संस्तव है। 'संस्तव स्यात् परिचय' इत्यमर। पुर — पूर्वस्मिन् काले इति पूर्व+ङि (सप्तमी) + असि पुर् आदेश। पश्चात्— अपरस्मिन् काले इति अपर+ङि (सप्तमी)+आति पश्चभाव। पुरस् और पश्चात् ये दोनों शब्द अव्यय हैं। अविपर्यासितरसम्—वि परि√अस्+ घञ् भावे = विपर्यास = परिवर्तन, विपर्यास गमित इति विपर्यास+णिच् (नामधातु)+क्त कर्मणि = विपर्यासित न विपर्यासित तादृशो रसो यस्मिन् तत्। अनुपधि—उप√धा+कि कर्मणि = उपधि = छल, अविद्यमान उपधि यस्मिन् तत्। विजयते—'विपराभ्या जे' इत्यात्मनेपदत्वम्। इस श्लोक में अप्रस्तुत सामान्य सज्जनचरित्र के प्रतिपादन से प्रस्तुत वनदेवता के चरित्र की विशेषता प्रतीत होती है। अत अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है और चरित्रोत्कर्ष के प्रति 'प्रियप्राया वृत्ति' इत्यादि अनेक कारणों का उल्लेख होने से समुच्चय अलकार भी है। फिर इन दोनों म अगागिभाव सम्बन्ध होने के कारण सकर अलकार हो जाता है। यह शिखरिणी छद है ॥ २ ॥

(उपविशत ।)

(इसके बाद दोनों बैठ जाती हैं।)

वनदेवता—का पुनरत्रभवतीमवगच्छामि ?

वनदेवता—मैं आपको क्या समझूँ (अर्थात् आपका शुभ नाम क्या है)?

टिप्पणी—अत्रभवतीम् = माननीया आपको। अवगच्छामि = (जानामि) जानती हूँ।

तापसी—आत्रेय्यस्मि।

तापसी—म आत्रेयी हूँ।

टिप्पणी - आत्रेयी = ब्राह्मण की तरह सकल संस्कारों से सम्पन्न कोई ब्राह्मण जाति की स्त्री। 'जन्मप्रभृतिसंस्कारैः संस्कृता मन्त्रवच्च या। गर्भिणी वा तथा या स्यात्तामात्रेयीं विनिर्दिशेत् ॥' अत्रेः अपत्य स्त्री आत्रेयी, अत्रि शब्द से 'इतश्चानिञः' सूत्र से ढक् प्रत्यय और टिड्ढाणञ्'—सूत्र से ङीप् हुआ।

वनदेवता— आर्ये आत्रेयि! कुतः पुनरिहागम्यते? किं प्रयोजनो दण्डकारण्योपवनप्रचारः?

वनदेवता—हे आर्ये आत्रेयि! आप यहाँ कहाँ से आ रही हैं? दण्डकारण्य के उपवन में घूमने का क्या उद्देश्य है?

टिप्पणी—प्रचार = सचार, घूमना-फिरना। प्र√चर्+घञ्।

आत्रेयी—

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि ॥ ३ ॥

अन्वय—अस्मिन् प्रदेशे अगस्त्यप्रमुखाः भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति। तेभ्यो निगमान्तविद्याम् अधिगन्तुम् इह वाल्मीकिपार्श्वात् पर्यटामि ॥ ३ ॥

व्याख्या—अस्मिन् प्रदेशे दण्डकारण्यभूभागे, अगस्त्यप्रमुखाः अगस्त्यप्रभृतयः, भूयांस बहवः, उद्गीथविदः उद्गीथवाच्यपरब्रह्मविदः या सामवेदज्ञाः, वसन्ति निवास कुर्वन्ति। तेभ्यः अगस्त्यादिमुनिभ्यः, निगमान्तविद्या वेदान्तविद्याम्, अधिगन्तुम् अध्येतुम्, इह दण्डकारण्यभूभागे, वाल्मीकिपार्श्वात् वाल्मीकेः अन्तिकात्, पर्यटामि भ्रमामि ॥ ३ ॥

अनुवाद—आत्रेयी—इस प्रदेश में अगस्त्य आदि अनेक ब्रह्मवेत्ता ऋषि निवास करते हैं। उनसे वेदान्त का अध्ययन करने के लिए यहाँ वाल्मीकि मुनि के पास से आ रही हूँ ॥ ३ ॥

टिप्पणी—उद्गीथविद = ओम् इस एकाक्षर ब्रह्म या सामवेद के ज्ञाता। 'ओमित्येकाक्षरमुद्गीथमुपासीत' इति छान्दोग्योपनिषत्। उच्चैर्गायते

इति उद्√गै+थक् कर्मणि भावे वा = उद्गीथं ते विदन्ति इति उद्गीथ— √विद्+क्विप् कर्तरि। तेभ्यः—इसमें 'आख्यातोपयोगे' सूत्र से पंचमी हुई। यद्यपि 'न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयाताम्' इस वचन के अनुसार आत्रेयी का वेदाध्ययन असंगत प्रतीत होता है, किन्तु पूर्व कल्प में स्त्रियाँ दो प्रकार की होती थीं। एक ब्रह्मवादिनी और दूसरी गृहमेधिनी। उनमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उपनयनसंस्कार और वेदाध्ययन भी होता था। यथा—'पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते। अध्यापनञ्च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा।' अतएव उपर्युक्त वचन गृहस्थ स्त्रियों के लिए वेदाध्ययन का निषेधक है, ऐसा समझना चाहिए। निगमान्तविद्याम्—नितरां गम्यते बुध्यते परतत्त्वम् अनेन इति नि√गम्+अप् करणे = निगमः = वेद, तस्य अन्तः निगमान्तः, तस्य विद्या निगमान्तविद्या = वेदान्तविद्या। यह इन्द्रवज्रा छन्द है॥ ३॥

वनदेवता—यदा तावदन्येऽपि मुनयस्तमेव हि पुराणब्रह्मवादिनं प्राचेतसमृषिं ब्रह्मपारायणायोपासते, तत्कोऽयमार्याया प्रवासः?

व्याख्या—यदा यर्हि, तावत् इति वाक्यालङ्कारे, अन्येऽपि मुनयः बहवः अध्येतारः, तमेव हि, पुराणब्रह्मवादिनं प्राचीनवेदाध्यापकं, पुरातनब्रह्मप्रतिपादकं वा, प्राचेतसं वरुणपुत्रं वाल्मीकिम्, ऋषिं, ब्रह्मपारायणाय वेदान्ताध्ययनाय, उपासते आराधयन्ति गुरुवचनं सेवन्ते इति भावः, तत् तर्हि, कोऽयम्, आर्यायाः भवत्याः, प्रवासः देशान्तरगमनम्!

अनुवाद—वनदेवता—जब अन्य मुनिगण भी सम्पूर्ण वेद या वेदान्त का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हीं प्राचीन वेदाध्यापक वाल्मीकि मुनि की आराधना या सेवा करते हैं, तब आर्या (आप) का यह प्रवास क्यों (अर्थात् आप उनसे न पढ़ कर यहाँ क्यों आयी हैं)?

टिप्पणी—पुराणब्रह्मवादिनम्—पुराणश्चासौ ब्रह्मवादी च कर्मधारय समास। प्राचेतसम् = वाल्मीकि। प्रचेतसो वरुणस्य अपत्यं प्राचेतसः तम्। ब्रह्मपारायणाय = वेद का पार पाने के लिए अर्थात् वेदान्त का अध्ययन करने के लिए। पारस्य अयनं पारायणं, ब्रह्मणः पारायणं ब्रह्मपारायणं, तस्मै। उपासते = सेवा करते हैं। 'गुरुशुश्रूषया विद्या'।

आत्रेयी—तस्मिन् हि महानध्ययनप्रत्यूह इत्येष दीर्घप्रवासोऽङ्गीकृतः।

आत्रेयी—वहाँ (वाल्मीकि के आश्रम में) पढ़ाई में बड़ा विघ्न हो रहा था, इसलिए लंबा प्रवास स्वीकार किया है।

टिप्पणी—प्रत्यूह = विघ्न । प्रति√ऊह्+घञ् । प्रवास = परदेश में रहना । प्र√वस्+घञ् ।

वनदेवता—कीदृश. ?

वनदेवता—(विघ्न) कैसा ?

आत्रेयी—तत्र भगवत केनापि देवताविशेषेण सर्वप्रकाराद्भुतं स्तन्यत्यागमात्रके वयसि वर्तमान दारकद्वयमुपनीतम्। तत्खलु न केवलं तस्य, अपि तु तिरश्चामप्यन्तःकरणानि तत्त्वान्युपस्नेहयति।

व्याख्या—तत्र आश्रमे, भगवत. वाल्मीकेः, (समीपे) केनापि अविज्ञातनामधेयेन, देवताविशेषेण देवेन, सर्वप्रकाराद्भुत सर्वेषु प्रकारेषु निखिलेषु विषयेषु अद्भुतम् आश्चर्यजनकम्, स्तन्यत्यागमात्रके मातृदुग्धत्यागानन्तरोद्भूते, वयसि अवस्थायां, वर्तमानं विद्यमानं, दारकद्वय शिशुद्वयम्, उपनीतम् अर्पितम्। तत् शिशुयुगलम्, खलु निश्चयेन, न केवल, तस्य वाल्मीके', अपि तु, तिरश्चामपि पशुपक्ष्यादीनामपि, अन्त करणानि मनोबुद्ध्यादीनि, तत्त्वानि पदार्थान्, उपस्नेहयति वात्सल्ययुक्तानि करोति।

अनुवाद—वहाँ पर किसी देवता ने सब प्रकार से आश्चर्यजनक एवम् दूध छोड़ने मात्र की अवस्था वाले (अर्थात् जितनी अवस्था में बच्चा माता का दूध पीना छोड़ देता है, उतनी अवस्था के) दो शिशुओं को लाकर भगवान् वाल्मीकि के पास छोड़ दिया है। वे शिशु केवल उन्हीं (वाल्मीकि) के नहीं, बल्कि पशु-पक्षियों के भी अन्त करण रूप तत्त्वों को स्नेह-सिक्त करते रहते हैं।

टिप्पणी—देवताविशेषण—वि√शिष् + घञ् कर्मणि विशेष., देवतानां विशेष, तेन । स्तन्यत्यागमात्रके—स्तने भव स्तन्य, स्तन+यत् 'शरीरावयवाच्च' इत्यनेन, स्तन्यस्य त्याग' स्तन्यत्याग स एव मात्रा (परिमाण) यस्य तत् स्तन्यत्यागमात्रक तस्मिन्, समासान्तः कप्। किसी-किसी पुस्तक में 'न केवलमृषीणामपि तु चराचराणां भूतानामान्तराणि तत्त्वानि' यह पाठ है। इस पाठ के अनुसार अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—'वे केवल ऋषियों के

ही नहीं, अपि तु स्थावर जगम रूप सभी प्राणियों के आतरिक (मन, बुद्धि आदि रूप) तत्त्वों को'।

वनदेवता—अपि तयोर्नामसंज्ञानमस्ति ?

वनदेवता—क्या आपको उन दोनों के नाम ज्ञात हैं ?

टिप्पणी—अपि=प्रश्नार्थक अव्यय। नामसज्ञानम्=नाम का परिचय।

आत्रेयी—तयैव किल देवतया तयो कुशलवाविति नामनी प्रभावश्चाख्यात।

आत्रेयी—वही देवता उन दोनों के कुश और लव—ये नाम तथा प्रभाव भी बता गये हैं।

टिप्पणी—यहाँ 'नामनी आख्यात' और 'प्रभाव आख्यात' इस प्रकार वाक्यभेद करके अन्वय करना चाहिए, अन्यथा 'नपुसकानपुमस्योर्नपुसकमेकवद्वा' इस वचन के बल से आख्यात शब्द में नपुसकता हो जायगी।

वनदेवता—कीदृश प्रभाव।

वनदेवता—कैसा प्रभाव ?

आत्रेयी—तयो किल सरहस्यानि जृम्भकास्त्राणि जन्मसिद्धानीति।

आत्रेयी—उन दोनों को मन्त्र समेत जृम्भक अस्त्र जन्म से ही सिद्ध हैं।

टिप्पणी—सरहस्यानि—रहसि भव रहस्य मन्त्र, तत्सहितानि। जृम्भकास्त्राणि—जृम्भयति विपक्षान् यानि तथाभूतानि अस्त्राणि। इस अस्त्र का प्रयोग करने से शत्रु जम्हाई लेकर निद्रा के वशीभूत हो जाते हैं।

वनदेवता—अहो नु भोश्चित्रमेतत्।

वनदेवता—ओह! यह (जृम्भकास्त्रों का जन्मसिद्ध होना) आश्चर्य की बात है।

टिप्पणी—अहो नु भो =यह विस्मयविशेषद्योतक अव्यय है।

आत्रेयी—तौ च भगवता वाल्मीकिना धात्रीकर्मत परिगृह्य पोषितौ रक्षितौ च, निर्वृत्तचौलकर्मणोस्तयोस्त्रयीवर्जमितरास्तिस्रो विद्या सावधानेन परिनिष्ठापिता। तदनन्तर भगवतैकादशे वर्षे क्षात्रेण

कल्पेनोपनीय त्रयीविद्यामध्यापितौ । न त्वेताभ्यामतिदीप्तप्रज्ञाभ्यामस्मदादेः सहाध्ययनयोगोऽस्ति । यतः—

व्याख्या—तौ च शिशू च, भगवता वाल्मीकिना, धात्रीकर्मतः उपमातृक्रियया, परिगृह्य स्वीकृत्य, पोषितौ, वर्द्धितौ, रक्षितौ गोपितौ च, निर्वृत्तचौलकर्मणोः निर्वृत्तं निष्पन्नं चौलकर्म चूडाकरणसंस्कारः ययोः तयोः, तयोः कुशलवयोः, त्रयीवर्जम् वेदं विहाय, इतराः अपराः, तिस्रो विद्याः त्रिसंख्याका विद्याः, सावधानेन अवधानेन सह वर्तमानं तेन अवहितचित्तेनेत्यर्थः, परिनिष्ठापिताः सम्यङ् निष्पादिताः साकल्येन समुपदिष्टा इत्यर्थः । तदनन्तरं तत्पश्चात्, भगवता वाल्मीकिना, एकादशे गर्भादेकादशानां पूरणे, वर्षे अब्दे, क्षात्रेण कल्पेन क्षत्रियविधानानुसारेण, उपनीय उपनयनसंस्कारं कृत्वा, (तौ) त्रयीविद्या वेदविद्याम्, अध्यापितौ पाठितौ । न तु, अतिदीप्तप्रज्ञाभ्यां प्रखरबुद्धिशालिभ्याम्, एताभ्यां कुशलवाभ्यां, सह साकम्, अस्मदादेः मादृशस्वल्पबुद्धेर्जनस्येत्यर्थः, अध्ययनयोगः पठनसम्बन्धः, (सम्भवः) अस्ति विद्यते ।

अनुवाद—आत्रेयी—धाई का काम स्वीकार कर भगवान् वाल्मीकि ने उन दोनों का पालन-पोषण किया और मुंडन-संस्कार हो जाने के उपरांत उन्हें वेद छोड़ कर इतर तीन विद्याएँ (आन्वीक्षिकी, वार्ता और दण्डनीति) सावधानी से पढ़ायीं । तदनन्तर भगवान् ने ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय-विधान के अनुसार उपनयन-संस्कार करा कर वेदाध्ययन कराया । किन्तु प्रखरप्रतिभाशाली इन दोनों के साथ हम लोगों का पढ़ना असंभव है । क्योंकि—

टिप्पणी—चौलकर्म = चूडाकरण या मुंडन संस्कार । यह संस्कार पहले या तीसरे वर्ष में किया जाता है । 'चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः । प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोदनात्' इति मनुः । त्रयीवर्जम् = ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीनों को छोड़ कर । क्योंकि उपनयन से पूर्व वेदाध्ययन करना निषिद्ध है । 'नाभिव्याहारयेद्ब्रह्म स्वधानिनयनादृते । शूद्रेण हि समस्तावद्यावद्वेदे न जायते' इति मनुः । इतरास्तिस्रो विद्या = इतर तीन विद्याएँ—आन्वीक्षिकी, दण्डनीति और वार्ता अथवा आयुर्वेद, धनुर्वेद और गान्धर्ववेद । एकादशे वर्षे = ग्यारहवें वर्ष में । क्योंकि क्षत्रिय बालक के लिए यही अवस्था मनु ने बतायी है—'गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।

गर्भादिकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।' एकादशानां पूरणे इत्यर्थे एकादशन्+डट् 'तस्य पूरणे डट्' इत्यनेन। त्रयीविद्याम्=इसमें 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' इस सूत्र से कर्मसंज्ञा और फिर द्वितीया हुई।

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति हि पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति, तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः ॥(४)

अन्वय—गुरुः यथा प्राज्ञे तथैव जडे विद्यां वितरति, तु तयोर्ज्ञाने शक्तिं न करोति वा न अपहन्ति, खलु फलं प्रति पुनः भूयान् भेदो भवति हि, तद् यथा शुचिः मणिः बिम्बग्राहे प्रभवति मृदादयः न ॥ ४ ॥

व्याख्या—गुरुः अध्यापकः, यथा येन प्रकारेण, प्राज्ञे बुद्धिमति (शिष्ये), तथैव तेन प्रकारेणैव, जडे निर्बोधे, विद्यां वेदादिरूपां, वितरति ददाति, तु किन्तु, तयोः प्राज्ञजडयोः, ज्ञाने अवबोधविषये, शक्तिं सामर्थ्यं, न करोति न जनयति, वा अथवा, न अपहन्ति न विनाशयति। खलु निश्चयेन, फलं प्रति परिणामं प्रति, पुनः, भूयान् भेदः महावैषम्यं, भवति जायते, तत् वैषम्यं, यथा—शुचिः निर्मलः, मणिः चन्द्रकान्तादिः, बिम्बग्राहे प्रतिबिम्बग्रहणे, प्रभवति समर्थो भवति, मृदादयः मृत्तिकाप्रभृतयः, न नहि (प्रभवन्ति)। अयं भावः तुल्यरूपेऽपि गुरूपदेशे शिष्याणां स्वस्वधियः तैक्ष्ण्यातैक्ष्ण्यादिवशात् फलवैषम्यं दृश्यते, तत्र गुरोः नापराधः, अथ च सहाध्यायिनां मध्ये बुद्धिमतः ज्ञानोत्कर्षे मन्दमतेस्तन्नाध्ययनमत्यरमानजनकम् इत्यर्थो विभाव्यते ममाख्यायते।

अनुवाद—गुरु जैसे बुद्धिमान् शिष्य को उसी तरह मंदबुद्धि शिष्य को भी विद्या प्रदान करता है, किन्तु उन दोनों के ज्ञान के सम्बन्ध में वह न तो शक्ति उत्पन्न करता है और न नाश ही करता है (अर्थात् न तो बुद्धिमान् छात्र की ज्ञान शक्ति को बढ़ाता है और न मंदबुद्धि छात्र की ज्ञान शक्ति को घटाता है, अपितु समान भाव से दोनों को पढ़ा कर समान भाव से ही दोनों के ज्ञान की वृद्धि चाहता है)। फिर भी फल में (अर्थात् ज्ञान के प्रकाश काल में) बड़ा अंतर होता है (अर्थात् बुद्धिमान् छात्र ज्ञानसम्पन्न होता है, जब

कि मदबुद्धि छात्र ज्ञानहीन अथवा किञ्चित् ज्ञाता होता है)। जैसे, निर्मल मणि प्रतिबिंब को पकड़ने में समर्थ होता है, पर मृत्तिका आदि पदार्थ (प्रतिबिंब-ग्रहण में समर्थ) नहीं होते। (उसी तरह बुद्धिमान् छात्र ज्ञानग्रहण में समर्थ होता है, पर मदबुद्धि छात्र समर्थ नहीं होता।) ॥ ४ ॥

टिप्पणी—प्राज्ञे, जडे—अत्र विषयाधिकरणे सप्तमी। फल प्रति—यहाँ 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इस वार्तिक से द्वितीया हुई। इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा, यथासख्य और श्रौती उपमा—इन तीनों अलकारों में अगांगिभाव सबंध होने के कारण सकर अलकार हो जाता है। यह हरिणी छन्द है ॥ ४ ॥

वनदेवता—अयमध्ययनप्रत्यूहः ?

वनदेवता—अध्ययन में यह विघ्न है ?

आत्रेयी—अन्यच्च।

आत्रेयी—दूसरा भी (विघ्न) है।

वनदेवता—अथापरः कः ?

वनदेवता—दूसरा क्या (विघ्न) है ?

आत्रेयी—अथ स ब्रह्मर्षिरेकदा माध्यन्दिनसवनाय नदीं तमसामनुप्रपन्नः। तत्र युग्मचारिणोः क्रौञ्चयोरेकं व्याधेन वध्यमानं ददर्श। आकस्मिकप्रत्यवभासां देवीं वाचमानुष्टुभेन छन्दसा परिणतामभ्युदैरयत्[1]—

व्याख्या—अथशब्दः आरम्भार्थकः, सः पूर्वसूचितः, ब्रह्मर्षिः वाल्मीकिः, एकदा एकस्मिन् समये, माध्यन्दिनसवनाय मध्याह्नस्नानाय, तमसाम् एतन्नाम्नीं, नदीं तटिनीम्, अनुप्रपन्नः प्राप्तः। तत्र, युग्मचारिणोः युग्मीभूय चरतोः, क्रौञ्चयोः क्रौञ्चपक्षिणोः, एकम् एकतरं, व्याधेन पुलिन्देन, वध्यमानं हन्यमानं, ददर्श अवलोकयामास। आकस्मिकप्रत्यवभासाम् आकस्मिकः सहसोत्पन्नः प्रत्यवभासः प्रकाशो यस्याः ताम्, देवीं दिव्यां, वाचं वाणीम्, आनुष्टुभेन छन्दसा, अनुष्टुप्छन्दसा, परिणतां जातपरिणामाम्, अभ्युदैरयत् उच्चारयामास।

---

१. 'अनुष्टुप्छन्दसा परिच्छिन्नाम्' इति पाठभेदः।

अनुवाद—आत्रेयी—अनन्तर एक दिन दोपहर का स्नान करने के लिए वे ब्रह्मर्षि (वाल्मीकि) तमसा नदी में पहुँचे। वहाँ उन्होंने जोड़ खाते हुए दो क्रौंच पक्षियों में से एक (नर) को व्याध द्वारा निहत होते हुए देखा। उस समय अकस्मात् आविर्भूत एवम् अनुष्टुप् छन्द में परिणत वाग्देवी का उन्होंने उच्चारण किया (अर्थात् उस समय अकस्मात् उनके मुँह से अनुष्टुप् छन्द में आबद्ध निम्नोक्त वाणी निकल पड़ी)—

टिप्पणी—माध्यन्दिनसवनाय—मध्य+दिनम् पृषोदरादित्वात् मुम्, √सु+ल्युट् भावे=सवनम्=स्नान, माध्यन्दिन सवनम् कर्मधारय, तस्मै तादर्थ्ये चतुर्थी। ब्रह्मर्षि=ब्राह्मण ऋषि। ब्रह्मा=ब्राह्मणश्चासौ ऋषि. ब्रह्मर्षि। क्रौंच=करांकुल, एक तरह का बगला। 'क्रुङ् क्रौंचोऽथ बक. कह्व' इत्यमरः। आनुष्टुभेन=अनुष्टुभेन आनुष्टुभ तेन, अनुष्टुभ् शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय। यहाँ 'क्वचित् स्वार्थिका प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते' इस वचन के बल से नपुंसकता हुई। अनुष्टुप् छन्द का लक्षण यह है—'पंचम लघु सर्वत्र सप्तम द्विचतुर्थयो.। गुरु षष्ठन्तु पादाना शेषेष्वनियमो मत ॥'

मा निषाद ! प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥ ५ ॥

अन्वय—निषाद ! त्व शाश्वतीः समाः प्रतिष्ठा मा अगम, यत् क्रौञ्चमिथुनात् काममोहितम् एकम् अवधीः ॥ ५ ॥

व्याख्या—निषाद ! चाण्डाल !, त्व, शाश्वतीः निरन्तरा बह्वीः, समाः वत्सरान्, प्रतिष्ठा स्थितिम् आश्रयमित्यर्थः, मा अगम, न प्राप्नुहि चिरकाल त्व सुखेन अवस्थान न लभस्वेत्यर्थः, यत् यस्मात्, क्रौञ्चमिथुनात् क्रौञ्चाभिधेयवकद्वन्द्वात्, काममोहित कामासक्तचेतस विषयान्तरज्ञानशून्यमित्यर्थः, एकं पुमास क्रौञ्चम्, अवधी निहतवानसि। अस्य श्लोकस्य प्रकारान्तरेणाप्यर्थः क्रियते। तद्यथा, भगवत्पक्षे—हे मानिषाद ! मा लक्ष्मी निषीदत्यस्मिन् तत्सम्बुद्धौ हे मानिषाद !, हे राम !, यत्, क्रौञ्चमिथुनात् मन्दोदरीरावणरूपात्, काममोहित रावणरूपम्, एकम्, अवधीर्हतवानसि, (तत्) त्व, शाश्वती समा अनेकसवत्सरान्, प्रतिष्ठाम्, अगम प्राप्नुहि। रावणपक्षे—नितरा सादयति त्रैलोक्य पीडयतीति निषादः तत्सम्बुद्धौ हे निषाद हे रावण, यत्, (त्व) क्रौञ्चमिथुनात् सीतारामरूपात्,

कामसोहित गमस्यम्, एकम्, अवधी वधान्यविका पीडा प्रापितवानसि, (तत्) त्वं, (लङ्कायां) प्रतिष्ठां, मा, अगमः प्राप्नुहि ॥ ५ ॥

अनुवाद—रे निषाद ! तू चिरकाल तक आश्रय नहीं पायेगा, इसलिए कि तूने क्रौंच पक्षी के जोड़े में से एक कामासक्तचित्त (नर क्रौञ्च) को मार डाला है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—निषाद =चाण्डाल । 'निषादश्वपचावन्तेवासिचाण्डाल-पुक्कसाः' इत्यमरः । मा अगमः—यह आर्ष प्रयोग हो सकता है; अन्यथा व्याकरण की दृष्टि से यह अशुद्ध है, क्योंकि माङ् के योग में 'न माङ्योगे' सूत्र से अट् आगम का निषेध होने पर 'मा गमः' शुद्ध रूप होगा । समा = वर्षों तक । संवत्सरो वत्सरोऽब्दो हायनोऽस्त्री शरत्समाः' इत्यमरः । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' सूत्र से द्वितीया हुई । क्रौञ्चमिथुनात् = क्रौञ्चद्वन्द्वात् । क्रौञ्ची च क्रौञ्चश्च क्रौञ्चौ, 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र से एकशेष हुआ, क्रौञ्चयोर्मिथुन क्रौञ्चमिथुन ; तस्मात्, 'स्त्रीपुंसोर्मिथुनं द्वन्द्वम्' इत्यमरः ॥ ५ ॥

वनदेवता—चित्रम् ! आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतारः ।

वनदेवता—आश्चर्य ! वेद से भिन्न में भी छंद का नवीन आविर्भाव हो गया ।

टिप्पणी—आम्नायात् = वेद से । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यमरः । आम्नायते गुरुपरम्पराक्रमेण अधिगत्य यथाविधि अभ्यस्यते इति आम्नायः आ√म्ना+घञ् । नूतनश्छन्दसामवतारः—'मा निषाद'—यह लौकिक छंद में बना पहला काव्य है । इससे पूर्व केवल वैदिक छंद होते थे । वैदिक छंद वर्णिक होते हैं और लौकिक छंद वर्णिक एवं मात्रिक दोनों ।

आत्रेयी—तेन हि पुनः समयेन तं भगवन्तमाविर्भूतशब्दब्रह्मप्रकाशमृषिमुपसंगम्य भगवान् भूतभावनः पद्मयोनिरवोचत्—'ऋषे ! प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि । तद् ब्रूहि रामचरितम् । अव्याहतज्योतिरार्षं ते चक्षुः प्रतिभातु । आद्यः कविरसि' इत्युक्त्वान्तर्हितः । अथ स भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्दब्रह्मणस्तादृशं विवर्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय ।

व्याख्या—तेन हि पुनः समयेन तत्समयमभिव्याप्येत्यर्थः, तं, भग-

वन्तम्, आविर्भूतशब्दब्रह्मप्रकाशम् आविर्भूत प्रकाशित शब्दस्य शब्दरूप परमात्मन प्रकाश विकास उच्चारणमिति यावत् यस्मात् तम्, ऋषिं वाल्मीकिम्, उपसगम्य त समीपमेत्य, भगवान्, भूतभावन लोकोत्पादक, पद्मयोनि ब्रह्मा, अत्र चन् अत्रथयत्—'ऋषे ! वागात्मनि शब्दस्वरूपे, ब्रह्मणि, प्रबुद्धोऽसि प्रकृष्टज्ञानवानासि, तत् तस्मात्, रामचरित रामकथा, ब्रूहि कथय। ते तव, अव्याहतज्योति अव्याहतम् अप्रतिहत ज्योति प्रकाशो यस्य तत्, आर्षम् ऋषिसम्बन्धीय चक्षु नेत्र ज्ञानमित्यथ, प्रतिभातु प्रकाशित भवतु। आद्य प्रथम, कवि वर्णनाकारी विद्वान्, असि' इत्युक्त्वा इति कथयित्वा, अन्तर्हित परोक्षता गत। अथ अनन्तर, स भगवान्, प्राचेतस वाल्मीकि, मनुष्येषु मानवेषु, *प्रथम सर्वत पूर्व, शब्दब्रह्मण शब्दस्वरूपब्रह्मण*, तादृश 'मा निषाद' इत्यादि रूप, विवर्त परिणाम रूपा तरमिति यावत्, इतिहास पुरावृत्त, रामायणम एत नामक महाकाव्य, प्रणिनाय रचयामास। (रामायणरचनारतस्य मने इदानीम् अध्यापनावसरो नास्ती यपर प्रत्यूह सकतित।)

अनुवाद—उस समय लोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्मा उन भगवान वाल्मीकि के समीप, जिन्हें शब्दब्रह्म का साक्षात्कार हो गया था, आकर बोले—'मुने ! तुम वाङ्मय ब्रह्म को भली भाँति जान गये हो। अत राम का चरित्र वर्णन करो। तुम्हारी अ याहत तेज वाली आर्ष दृष्टि (ज्ञानचक्षु) प्रकाशित हो। तुम आदिकवि हो।' यह कहकर वे अन्तर्हित हो गये। तदनन्तर भगवान् वाल्मीकि मनु यों में सबसे पहले शब्दब्रह्म के वैसे (मा निषाद इत्यादि) रूपान्तर रामायण नामक इतिहास की रचना करने लगे। (अत रामायण लिखने में व्यस्त रहने क कारण अध्यापन क लिये उनके पास समय नहीं है, यही दूसरा विघ्न है।)

टिप्पणी—भूतभावन —भूतानि प्राणिसघान् भावयति उत्पादयति इति भूतभावन, √भू+णिच्+ल्यु—अन। विवर्तम्=कारण का स्वभाव बदले बिना कार्यरूप में परिणत हो जाना। 'प्रकृतिस्वरूपानुपमर्देन रूपान्तरोत्पत्तिर्विवर्त।' इतिहास=यह बात परम्परा से चली आ रही है, यह बताने वाला ग्रथ। इतिह पारम्पर्योपदेश आस्तेऽस्मिन्, इतिह√आस्+घञ्। **रामायणम्**—राम एव अयनम् उपजीव्यत्वेन आश्रयो यस्य तत् अथवा रामोऽयते ज्ञायते यस्मात् तत् रामायणम्।

वनदेवता—हन्त ! तर्हि परिडत [1] संसारः ।

वनदेवता—अहा ! तब तो संसार पंडित हो जायगा (अर्थात् सरल शैली में रामायण की रचना होने के कारण उसे पढ़कर सभी लोग विद्वान् हो जायेंगे) ।

आत्रेयी—तस्मादेव हि ब्रवीमि 'तत्र महानध्ययनप्रत्यूह' इति ।

आत्रेयी—इसीलिए तो कहती हूँ कि वहाँ अध्ययन करने में महाविघ्न उपस्थित हो गया है ।

वनदेवता—युज्यते ।

वनदेवता—ठीक कहती हैं ।

आत्रेयी—विश्रान्तास्मि भद्रे ! संप्रत्यगस्त्याश्रमस्य पन्थानं ब्रूहि ।

आत्रेयी—भद्रे ! विश्राम कर चुकी हूँ । अब अगस्त्य जी के आश्रम का मार्ग बता दीजिये ।

वनदेवता—इत. पञ्चवटीमनुप्रविश्य गम्यतामनेन गोदावरी-तीरेण ।

वनदेवता—यहाँ से पञ्चवटी में प्रवेश करके गोदावरी के इस किनारे-किनारे चली जाइये ।

आत्रेयी—(सास्रम्) अप्येतत्तपोवनम् ? अप्येषा पञ्चवटी ? अपि सरिदियं गोदावरी ? अप्ययं गिरिः प्रस्रवण ? अपि जनस्थान-वनदेवता त्वं वासन्ती ?

आत्रेयी—(अश्रुपात सहित) यह क्या तपोवन है ? यह क्या पञ्चवटी है ? यह क्या गोदावरी नदी है ? यह क्या प्रस्रवण पर्वत है ? और क्या जन-स्थान की वन देवता वासन्ती हैं ?

वनदेवता—तथैव तत्सर्वम् ।

वनदेवता—यह सब वैसा ही है (अर्थात् जैसा आप कहती हैं, वैसा ही सब है) ।

आत्रेयी—हा वत्से जानकि !

---

१ 'मण्डित' इति पाठान्तरम् ।

आत्रेयी—हाय बेटी जानकी !

स एष ते वल्लभबन्धुवर्गः प्रासङ्गिकीनां विषयः कथानाम्।
त्वां नामशेषामपि दृश्यमानः प्रत्यक्षदृष्टामिव नः करोति ॥ ६ ॥

अन्वय—प्रासङ्गिकीनां कथानां विषयः दृश्यमानः स एष ते वल्लभ बन्धुवर्गः नामशेषामपि त्वां नः प्रत्यक्षदृष्टामिव करोति ॥ ६ ॥

व्याख्या—प्रासङ्गिकीनां प्रसङ्गतः प्राप्तानां, कथानां वाक्यानां, विषयः प्रतिपाद्यः, दृश्यमानः अवलोक्यमानः, सः पूर्वानुभूतः, एषः पुरः स्थितः, ते तव, वल्लभबन्धुवर्गः प्रियबान्धवसमूहः वासन्तीप्रमुखः इत्यर्थः, नामशेषामपि नाममात्रावशिष्टामपि, त्वां जानकीं, नः अस्माकं, प्रत्यक्षदृष्टामिव साक्षादवलोकितामिव, करोति विदधाति ॥ ६ ॥

अनुवाद—ये पुरोवर्ती तुम्हारे बन्धुगण, जो प्रासंगिक कथाओं के विषय होते थे (अर्थात् बातचीत के सिलसिले में तुम जिनका वर्णन किया करती थी), नाममात्र से अवशिष्ट (अर्थात् मृत) तुमको हमारे साक्षात् दृष्टिगोचर की तरह कर रहे हैं (अर्थात् इनको देखने से यह प्रतीत हो रहा है कि तुम हमारे सामने विद्यमान हो) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—वल्लभबन्धुवर्गः—वल्लभाश्च बान्धवश्च वल्लभबान्धव द्वन्द्वसमास, तेषां वर्गः। प्रासङ्गिकीनाम् = अवसर प्राप्तों का। 'प्रसङ्ग स्यादवसर' इत्यमर। प्र/सञ्ज्+घञ् (भाव) = प्रसङ्ग, प्रसङ्गादागता प्रासङ्गिक्य तासाम्, प्रसङ्ग+ठञ्—इक। इस श्लोक में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार और भाविक अलंकार में अंगांगभाव सबंध होने से संकर अलंकार की सृष्टि होती है। यह उपजाति छन्द है॥ ६ ॥

वासन्ती—(*सभय स्वगतम्*) कथं नामशेषेत्याह ? (*प्रकाशम्*) किमत्याहितं सीतादेव्या ?

वासन्ती—(*भय सहित मन ही मन*) 'नाममात्र से बची हुई' यह क्यों कहा ? (*प्रकट*) सीता देवी के ऊपर क्या विपत्ति पड़ी।

टिप्पणी—अत्याहितम् = महान् अनर्थ या विपत्ति। 'अत्याहितं महाभीतिः कर्म जीवानपेक्षि च' इत्यमर। अतिशयेन आहितम् इति अति आ/धा+क्त कर्मणि, 'दधातेर्हिः' इति सूत्रेण धा इत्यस्य हि आदेशः।

आत्रेयी—न केवलमत्याहितम्, सापवादमपि। (*कर्णे*) एवमिति।

आत्रेयी—केवल विरक्ति ही नहीं, लोकापवाद भी हो गया है। (*कान में*) ऐसा-ऐसा।

टिप्पणी—एवम्—'लंका में सीता अकेली रही थीं। अतः उनका चरित्र निर्दोष नहीं कहा जा सकता' इस लोकापवाद के कारण राम के आदेश से लक्ष्मण ने सीता को महावन में लाकर गंगाजी के किनारे छोड़ दिया और स्वयं चले गये—यह बात आत्रेयी ने वासन्ती के कान में कही होगी, ऐसा ऊह करना चाहिए।

वासन्ती—हा दारुणो दैवनिर्घातः (*इति मूर्च्छति*)।

वासन्ती—हाय! दुर्भाग्य ने भयंकर प्रहार किया। (*यह कह कर मूर्च्छित हो जाती है*)।

टिप्पणी—किसी पुस्तक में 'हा' के स्थान में 'अहह' पाठ है। उसका अर्थ होता है—खेद या आश्चर्य। 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः। दैवनिर्घात—निर्√हन्+घञ् भावे निर्घातः, दैवस्य निर्घातः।

आत्रेयी—भद्रे! समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

आत्रेयी—भगवे! आश्वस्त हो, आश्वस्त हो।

वासन्ती—हा प्रियसखि! ईदृशस्ते निर्माणभागः। हा रामभद्र! अथवा अलं त्वया। आत्रेयि! अथ तस्मादरण्यात् परित्यज्य निवृत्ते लक्ष्मणे सीताया किं वृत्तमिति काचिदस्ति प्रवृत्तिः।

वासन्ती—हाय प्रिय सखि! तुम्हारे जीवन का शेष भाग ऐसा हुआ! हाय रामभद्र! अथवा तुम्हें कुछ कहना व्यर्थ है। आत्रेयि! जब सीता को जंगल में छोड़कर लक्ष्मण लौट गये तब सीता की क्या दशा हुई, इसका कुछ समाचार मालूम है?

टिप्पणी—निर्माणभाग =सृष्टि का अंश अर्थात् जीवन का शेष भाग। 'भागो रूपार्धके प्रोक्तो भागधेयैकदेशयोः' इति विश्वः। 'एकदेशांशयोर्भाग' इति त्रिकाण्डशेषः। प्रवृत्ति =वार्ता, समाचार। 'वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः।

आत्रेयी—नहि नहि।

आत्रेयी—नहीं, नहीं।

वासन्ती—हा कष्टम्। आर्यारुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठितेषु नः कुलेषु[1] जीवन्तीषु च वृद्धासु राज्ञीषु कथमिदं जातम्?

वासन्ती—हाय कष्ट है। हमारे (आत्मीयों के) कुल में पूज्य अरुन्धती और वसिष्ठ के रहते एवं बूढ़ी महारानियों के जीते यह कैसे हुआ?

टिप्पणी—आर्यारुन्धतीवसिष्ठाधिष्ठितेषु—आर्या चासौ अरुन्धती कर्म स०, आर्यारुन्धती च वसिष्ठश्च द्व० स०, आर्यारुन्धतीवसिष्ठाभ्याम् अधिष्ठितानि तृ० त०, तेषु।

आत्रेयी—ऋष्यशृङ्गसत्रे गुरुजनस्तदाऽऽसीत्। सम्प्रति परिसमाप्तं तद्द्वादशवार्षिकं सत्रम्। ऋष्यशृङ्गेण च सम्पूज्य विसर्जिता गुरवः। ततो भगवत्यरुन्धती 'नाहं वधूविरहितामयोध्यां गच्छामी'त्याह। तदेव राममातृभिरनुमोदितम्। तदनुरोधाद्भगवतो वसिष्ठस्यापि श्रद्धा[2] 'वाल्मीकितपोवनं गत्वा वत्स्यामः' इति।

व्याख्या—तदा तस्मिन् काले, गुरुजनः पूज्यवर्गः, ऋष्यशृङ्गसत्रे ऋष्यशृङ्गस्य यज्ञे, आसीत् अतिष्ठत्। सम्प्रति अधुना, तत्, द्वादशवार्षिकं द्वादशभिः वर्षैः सम्भूतं, सत्रं यज्ञः, परिसमाप्तं समाप्तिम् अगात्। ऋष्यशृङ्गेण च, सम्पूज्य सत्कृत्य, गुरवः वसिष्ठादयः, विसर्जिताः स्वगृहं प्रति प्रयाणाय अनुमोदिताः। ततः तदनन्तरं, भगवती, अरुन्धती वसिष्ठपत्नी, वधूविरहितां स्नुषारहितां सीतारहितामित्यर्थः, अयोध्यां, नाहं, गच्छामि, इत्याह इति निगदितवती। तदेव तथाविधमरुन्धतीवचनमेव, राममातृभिः कौशल्यादिभिः, अनुमोदितम् अनुमोदनं कृतम्। तदनुरोधात् तासाम् आग्रहात्, भगवतः, वसिष्ठस्यापि, श्रद्धा स्पृहा, (यत्) 'वाल्मीकितपोवनं, वाल्मीकितपोवनं, गत्वा, वत्स्यामः निवासं करिष्यामः' इति।

अनुवाद—आत्रेयी—उस समय (सीता के निर्वासन-काल में) गुरुजन (अरुन्धती, वसिष्ठ आदि) ऋष्यशृंग के यज्ञ में थे। अब वह बारह वर्षों

१. 'विष्ठिते रघुकुलगृहे' इति पाठभेदः।

२. 'परिशुद्धा वाचः' इति पाठान्तरम्।

में सम्पन्न होने वाला यज्ञ समाप्त हो गया। ऋष्यशृङ्ग ने गुरुजनों को सम्मानपूर्वक विदा कर दिया। तदनन्तर भगवती अरुन्धती ने कहा—'मैं वधू (सीता) से रहित अयोध्या में नहीं जाऊँगी।' राम की माताओं ने उन्हीं की बातों का समर्थन किया। इन लोगों का अत्याग्रह देख कर भगवान् वसिष्ठ ने भी इच्छा प्रकट की कि हम लोग वाल्मीकि के तपोवन में जाकर निवास करें।

वासन्ती—अथ स रामभद्रः किमाचारः ?

वासन्ती—अब वे रामचन्द्र क्या कर रहे हैं ?

टिप्पणी—किमाचारः = कौन-सा आचरण अर्थात् कार्य या अनुष्ठान करने वाला। क आचारो यस्य सः।

आत्रेयी—तेन राज्ञा राजक्रतुरश्वमेधः प्रक्रान्तः।

आत्रेयी—उस राजा ने यज्ञों में श्रेष्ठ अश्वमेध प्रारम्भ किया है।

टिप्पणी—राजक्रतु = राजयज्ञ या यज्ञश्रेष्ठ। क्रतूनां राजा राजक्रतुः 'राजदन्तादिषु परम्' इससे राजशब्द का पूर्वनिपात हुआ। क्रतु और यज्ञ में अंतर है। क्रतु में पशु का बलिदान करना अनिवार्य होता है, परन्तु यज्ञ में अनिवार्य नहीं होता। अश्वमेधः = मेध्यन्ते हन्यते अस्मिन् इति मेध्+घञ् अधिकरणे = मेधः = यज्ञ, अश्वस्य मेधः।

वासन्ती—अहह धिक्! परिणीतमपि ?

वासन्ती—हाय धिक्कार है! विवाह भी कर लिया ?

टिप्पणी—विवाह की आशंका इसलिए की कि सपत्नीक को ही यज्ञ करने का अधिकार है। रामचन्द्र जी ने सीता-परित्याग के बाद अश्वमेध आरंभ किया था। अतः वासन्ती द्वारा दूसरे विवाह का अनुमान किया जाना स्वाभाविक था।

आत्रेयी—शान्तम्। नहि नहि।

आत्रेयी—नहीं-नहीं, ऐसा दोषारोप न करें।

वासन्ती—का तर्हि यज्ञे सहधर्मचारिणी ?

वासन्ती—तब यज्ञ में सहधर्मिणी (पत्नी) कौन हुई ?

आत्रेयी—हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिर्गृहिणीकृता।

आत्रेयी—सीता की स्वर्ण-प्रतिमा को पत्नी बनाया गया है।

टिप्पणी—हिरण्मयी = सोने की। हिरण्मय विकारः इस अर्थ में

'तस्य विकार.' इस सूत्र से मयट् प्रत्यय और निपातनात् यलोप तथा टित्वात् ङीप्। प्रतिकृति = प्रतिमा, मूर्ति। कहा भी है—'यथोक्तमन्नमप्यत्तो ग्राह्य तदनुकारि यत्। यवानामिव गोधूमा व्रीहीनामिव शालयः' कात्यायन।

वासन्ती—हन्त भो !

वासन्ती —हाय हो !

टिप्पणी—हन्त = हर्ष विषाद-सूचक अव्यय। भो = सम्बोधनार्थक अव्यय।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ॥ ७ ॥

अन्वय—वज्रादपि कठोराणि कुसुमादपि मृदूनि लोकोत्तराणां चेतांसि विज्ञातुम् क. अर्हति हि ॥ ७ ॥

व्याख्या—वज्रादपि कुलिशादपि, कठोराणि निष्ठुराणि (अन्यथा केवल लोकनिन्दया प्राणप्रियतमाया. निर्वासं न कुर्यात्), कुसुमादपि पुष्पादपि, मृदूनि कोमलानि (अन्यथा पुनः तदीयां प्रतिमां सहधर्मचारिण्यार्थे नावलम्बेत), लोकोत्तराणां लोकश्रेष्ठानां, चेतांसि हृदयानि, विज्ञातु यथार्थतया अवगन्तु, क. जन, अर्हति योग्यो भवति ? हिशब्द· हेत्वर्थः, तथा च चेतोवैचित्र्यात् विज्ञातु नार्हतीति भावः ॥ ७ ॥

अनुवाद—वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल लोकश्रेष्ठ जनों के चित्त का कौन समझ सकता है ? (अर्थात् कोई भी नहीं) ॥ ७ ॥

टिप्पणी—यहाँ एकधर्मी में कठोरता और मृदुता रूप दो विरुद्ध धर्मों का समावेश होने से विषमालंकार, अप्रस्तुत लोकोत्तरसामान्य से प्रस्तुत रामरूपविशेष की प्रतीति होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा और अर्थापत्ति अलंकार है। फिर इन तीनों में अंगागिभाव संबंध होने से संकर अलंकार उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

आत्रेयी—विसृष्टश्च वामदेवानुमन्त्रितो मेध्याश्व.। प्रक्लृप्ताश्च तस्य यथाशास्त्रं रक्षितार। तेषामधिष्ठाता लक्ष्मणात्मजश्चन्द्रकेतुर्दत्त-दिव्यास्त्रसम्प्रदायश्चतुरङ्गसाधनान्वितोऽनुप्रहितः।

व्याख्या—वामदेवानुमन्त्रितः वामदेवेन एतदाख्येन मुनिना अनु-मन्त्रित मन्त्रेण संस्कृतः, मेध्याश्वः यज्ञाश्वः, विसृष्टः विमुक्तः। तस्य

अश्वस्य, रक्षितार रक्षकाः, यथाशास्त्रं शास्त्राज्ञानुसार, प्रक्लृप्ताः उपकल्पिताः । तथा रक्षकानाम्, अधिष्ठाता नेता, दत्तदिव्यास्त्रसम्प्रदाय. दत्त. वितीर्णः दिव्यानाम् अलौकिकानाम् अस्त्राणाम् आयुधानां सम्प्रदाय· समूह. यस्मै स·, चतुरङ्गसाधनान्वित. चतुरङ्गसाधनैः हस्त्यश्वरथपदातिरूपोपकरणैः अन्वितः युक्त·, लक्ष्मणात्मजः लक्ष्मणपुत्र , चन्द्रकेतु·, अनुप्रहित अश्वस्य पश्चात् प्रेषित. ।

अनुवाद—आत्रेयी—वामदेव मुनि द्वारा मन्त्र-संस्कार-सम्पन्न यज्ञीय अश्व छोड़ दिया गया है । शास्त्रवचनानुसार उसके रक्षक भी नियुक्त कर दिये गये हैं । उन (रक्षकों) के नेता लक्ष्मण-पुत्र चन्द्रकेतु, जिन्हें दिव्य अस्त्रों का समूह दिया गया है और जो चतुरंगिणी सेना से युक्त हैं, उस अश्व के पीछे भेजे गये हैं ।

टिप्पणी—मेध्याश्व = यज्ञ में हननीय अश्व । मेधितुं हन्तुं योग्यो मेध्य·, √मेध्+यत् । चतुरङ्गसाधनान्वित = चतुरंगिणी सेना सहित । हाथी, घोड़े, रथ और पैदल ये सेना के चार अंग माने गये हैं । चतुर्णामङ्गानां समाहार. चतुरङ्गं द्विगुसमास, चतुरङ्गं च तत्साधन कर्मधारयसमास, तेन अन्वितः तृतीयातत्पुरुष । अनुप्रहित —अनु-प्र√हि+क्त कर्मणि ।

वासन्ती—(*सहर्षकौतुकास्रम्*) कुमारलक्ष्मणस्यापि पुत्र इति मात. ! जीवामि ।

वासन्ती—(*हर्ष, कुतूहल और अश्रुपात सहित*) मातः ! कुमार लक्ष्मण के भी पुत्र है, इससे (अर्थात् यह जान कर) जीवित हूँ ।

टिप्पणी—सहर्षकौतुकास्रम्—हर्षश्च कौतुकञ्च अस्रञ्च इति हर्षकौतुकास्राणि (द्वन्द्वसमास) तै सह ·तत् यथा तथा । वासन्ती को लक्ष्मण का नाम सुनकर हर्ष, उनके पुत्र हुआ और वह भी सेनापति है यह जानकर कुतूहल और फिर सीता का स्मरण हो आने से अश्रुपात हुआ ।

आत्रेयी—अत्रान्तरे ब्राह्मणेन मृतं पुत्रमुत्क्षिप्य राजद्वारे सोरस्ताडमब्रह्मण्यमुद्घोषितम् । ततो 'न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्यु सञ्चरती' त्यात्मदोषं निरूपयति करुणामये रामभद्रे सहसैवाशरीरिणी वागुदचरत् ।

व्याख्या—अत्र अस्मिन् , अन्तरे अवकाशे, ब्राह्मणेन केनचित् द्विजेन,

मृत निधन प्राप्तं, पुत्रम् आत्मज, राजद्वारे राज्ञ रामभद्रस्य प्रासादद्वार-भूमौ, उन्क्षिप्य उच्चैरण कृ'वा, सोरस्ताडम् उरस वक्षस ताडेन सह इति सोरस्ताडम्, अब्रह्मण्य ब्राह्मणस्याहितम्, उद्घोषितम् उच्चै शब्दितम्। तत तदनन्तर राजापचार राजदोषम, अ तरेण विना, प्रजाना प्रकृतीनाम्, अकाल मृत्यु असामयिकमरण, न नहि, सञ्चरति प्रसरति, इति, आत्मदोष स्वकीय-शासनदोष, निरूपयति निर्णयति सति, करुणामये महादयालौ, रामभद्रे राम चन्द्रे, सहसैव तत्क्षणादेव, अशरीरिणी वाक् देहरहिता वाणी आकाशवाणी स्यर्थ, उदचरत् उत्थिता।

अनुवाद—आत्रेयी—इस बीच एक ब्राह्मण अपने मरे हुए पुत्र को राजभवन के दरवाजे पर फेंक कर छाती पीटते हुए जोर से चिल्लाने लगा कि ब्राह्मण का सत्यानाश हो गया। तदन तर 'बिना राजा क दोष के प्रजाओं की अकालमृत्यु नहीं हो सकती' इस प्रकार महादयालु रामभद्र क अपने दोष का निर्णय करने पर उसी क्षण आकाशवाणी हुई —

टिप्पणी—राजापचारम्—अप√चर्+घञ् भावे अपचार = अपराध, राज्ञ अपचार तम्। इसमें 'अ तराऽन्तरेण युक्ते' म द्वितीया हुई। निरूपयति —नि√रूप्+णिच् स्वार्थे (चुरादि)+शतृ, तस्मिन्। इसमें 'यस्य च भावेन भाव लक्षणम्' से सप्तमी हुई। राजा के दोष से प्रजाओं में उपद्रव फैलता है—'असाधुशासनाद्राज्ञो महाभीतिरुपप्लव। प्रवर्तते च नियतमकाल मृत्युरातय ॥' महाभारत।

शम्बूको नाम वृषल पृथिव्या तप्यते तप।
शीर्षच्छेद्य स ते राम ! तं हत्वा जीवय द्विजम् ॥ ८॥

अन्वय—शम्बूको नाम वृषल पृथिव्या तप तप्यते। राम ! स ते शीर्षच्छेद्य त हत्वा द्विज जीवय ॥ ८ ॥

व्याख्या—शम्बूको नाम 'शम्बूक' इत्याख्य, वृषल शूद्र. पृथिव्या भूम्या, तप तपस्या, तप्यते चरति। राम ! राघव ! स वृषल, ते तव, शीर्षच्छेद्य शीर्षे मस्तकावच्छेदे छेद्य छेदयितुमर्ह, त वृषल, हत्वा मारयित्वा, द्विज ब्राह्मणबाल, जीवय जीवित कुरु ॥ ८ ॥

अनुवाद—पृथ्वी पर शम्बूक नामक शूद्र तपस्या कर रहा है। हे राम!

उसका शिर काट डालना आपके लिए उचित है। उसे मार कर ब्राह्मणपुत्र को जिलाइये ॥ ८ ॥

टिप्पणी—वृषलः=शूद्र। वृषं धर्मं लुनाति हिनस्ति इति वृषलः, वृष√लू+ड। शूद्र को तपस्या, यज्ञ आदि धर्मों का आचरण न करने से कोई पातक नहीं लगता, बल्कि ऐसा करने से ही वह पापभागी होता है। अतः सब वर्णों के लिए स्वस्वधर्मानुष्ठान ही श्रेयस्कर है। गीता में कहा है—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।' 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।' मनु ने तो यहाँ तक कहा है कि—'न शूद्रे पातकं किञ्चित् न च संस्कारमर्हति। नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात् प्रतिषेधनम्॥' शीर्षच्छेद्यः =शिर काट डालने योग्य। शीर्षे छेद्य', 'गले बद्धा गौः' की तरह अधिकरण में सप्तमी ॥ ८ ॥

इत्युपश्रुत्य कृपाणपाणिः पुष्पकमधिरुह्य सर्वा दिशो विदिशश्च शूद्रतापसान्वेषणाय जगत्पतिः सञ्चारं समारब्धवान्।

व्याख्या—इति पूर्वोक्ताम् आकाशवाणीम्, उपश्रुत्य आकर्ण्य, कृपाण-पाणिः कृपाणः खड्गः पाणौ हस्ते यस्य सः, पुष्पकम् एतन्नामकं विमानम्, अधिरुह्य आरुह्य, सर्वाः सकलाः, दिशः आशाः, विदिशः कोणदिशः, (लक्ष्यीकृत्य) शूद्रतापसान्वेषणाय शम्बूकस्य अन्वेषणाय, जगत्पतिः भुवनपतिः रामभद्र इत्यर्थः, सञ्चारं परिभ्रमणं, समारब्धवान् प्रचक्रमे।

अनुवाद—यह सुन कर हाथ में तलवार लिये हुए लोकपति रामभद्र ने पुष्पक विमान पर आरूढ़ होकर शूद्र तपस्वी (शम्बूक) को ढूँढने के लिए सभी दिशाओं एवं विदिशाओं (कोणों) में घूमना आरम्भ कर दिया है।

वासन्ती—शम्बूको नामाधोमुखो धूमपः शूद्रोऽस्मिन्नेव जनस्थाने तपश्चरति। अपि नाम रामभद्रः पुनरिदं वनमलङ्कुर्यात्?

वासन्ती—शम्बूक नामक धूमपायी शूद्र नीचे की ओर मुँह करके इसी जनस्थान में तप कर रहा है। क्या रामभद्र पुनः इस वन को सुशोभित करेंगे?

टिप्पणी—धूमपः=धुआँ पीने वाला। शम्बूक केवल यज्ञीय धूम

पान करने तप करता था। धूम पिबति इति धूमप धूम√पा+क। अपि शब्द प्रश्नार्थक है और नाम शब्द सम्भावनार्थक।

आत्रेयी—भद्रे! गम्यतेऽधुना।

आत्रेयी—भद्रे! अब जाती हूं।

वासन्ती—आर्ये आत्रेयि! एवमस्तु। कठोरश्च दिवस। तथाहि—

वासन्ती—आर्ये आत्रेयि! अच्छा। दिन कठिन (अर्थात् सूर्य किरणों की प्रखरता के कारण दुःसह) हो गया है। देखिये—

कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभि
घर्मस्रंसितवन्धनैश्च कुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम्।
छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वच
कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुला कूले कुलायद्रुमा॥ ६॥

अन्वय—कूले छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वच कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुला कुलायद्रुमा कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन सम्पातिभि च घर्मस्रंसितबन्धनै कुसुमै गोदावरीम् अर्चन्ति॥ ६॥

व्याख्या—कूले (गोदावर्या) तीरे, छायापस्किरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वच छायायाम् अनातपे अपस्किरमाणा कीटबहिष्करणार्थं तरुषु चञ्च्वाघात कुर्वन्तो ये विष्किरा पक्षिण तेषा मुखै आननै व्याकृष्टा विशेषेण आकृष्टा कीटा याभ्य तथोक्तास्त्वचो वल्कलानि येषा ते, कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुला कूजन्ति शब्दायमानानि क्लान्तानि आतपात् खिन्नानि कपोतकुक्कुटाना पारावतचरणायुधाना कुलानि समूहा येषु ते, तथोक्ता कुलायद्रुमा विहगावासभूतद्रुमा, कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणोत्कम्पेन कण्डूलाना कण्डूतियुताना द्विपगण्डपिण्डाना गजकपोलदेशाना कषणेन घर्षणेन य उत्कम्प चलन तेन, सम्पातिभि पतद्भि, च पुन, घर्मस्रंसितै घनै घर्मेण आतपेन स्रंसितानि ध्वस्तानि बन्धनानि वृन्तानि येषा तै, कुसुमै पुष्पै, गोदावरीम् एतदाख्या नदीम्, अर्चन्ति पूजयन्ति (इव)॥ ६॥

अनुवाद—(गोदावरी के) तट पर चिड़ियों के घोंसले वाले वृक्ष, जिनकी छालों से छाँह में भक्ष्य पदार्थ ढूँढ़ने के लिए खोदने वाले पक्षियों की चोंच से कीड़े निकाले जा रहे हैं तथा जिन (वृक्षों) पर धूप से खिन्न

कबूतरों एवं मुर्गों का झुंड कलरव कर रहा है, घाम के कारण शिथिल वृन्त (अर्थात् मुक्त-बन्धन) वाले और हाथियों के खुजलाहटभरे कपोलभाग की रगड़ के कम्पन से गिरने वाले पुष्पों से मानो गोदावरी नदी की पूजा कर रहे हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—अपरिकरमाण=खाने के लिये चोंच से खोदते हुए। अप√कृ+शानच् कर्तरि। यहाँ 'किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वाच्यम्' से आत्मनेपद और 'अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' से सुट् का आगम हुआ। विष्किर=पक्षी। कुलाय=घोंसला, खोता। 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः। कण्डूल=खुजली वाला। कण्डू' अस्ति अस्य इति कण्डूल' सिध्मादित्वाल्लच्। इस श्लोक में इव शब्द का अभाव होने के कारण प्रतीयमाना क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार तथा स्वभावोक्ति अलंकार है। फिर इन दोनों में अगांगिभाव सम्बन्ध होने से संकर अलंकार हो जाता है। इसमें वृत्त्यनुप्रास नामक शब्दालंकार भी है। यह शार्दूलविक्रीडित छंद है ॥ ६ ॥

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ते ।)

(इसके बाद दोनों घूम कर या कुछ पग चल कर चली गईं ।)

इति शुद्धविष्कम्भकः ।

शुद्ध विष्कम्भक समाप्त ।

टिप्पणी—विष्कम्भ=अंक के आदि में रखा जाने वाला वह अंश जिसमें भूत तथा भावी घटनाओं का संकेत रहता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध और सङ्कीर्ण। जिस विष्कम्भक में एक या एक से अधिक मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं और वे संस्कृत में सम्भाषण करते हैं, वह शुद्ध विष्कम्भक कहलाता है। जिसमें कुछ मध्यम और कुछ अधम श्रेणी के पात्र होते हैं और वे संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं में सम्भाषण करते हैं, वह संकीर्ण विष्कम्भक कहलाता है। यहाँ शुद्ध विष्कम्भक है; क्योंकि इस अंक में वासन्ती और आत्रेयी दोनों मध्यम श्रेणी के पात्र हैं और इन्होंने संस्कृत में सम्भाषण किया है।

(ततः प्रविशति सदयोद्यतखड्गो रामभद्रः ।)

(तदनन्तर दयापूर्वक तलवार उठाये हुए रामचन्द्र आते हैं ।)

टिप्पणी—सदयोद्यतखड्ग =जिसने दया के साथ तलवार उठायी हो। सदय सनस्कम्, उद्यत उत्तालित खड्गो येन स, सुप्सुपेति समास । यहाँ 'सदय' इसलिए कहा गया है कि शूद्रमुनि धर्मविरुद्धाचरण के कारण वधार्ह होता हुआ भी निरपराध है । निरपराध को मृत्युदण्ड देने में करुणा का उद्गार होना स्वाभाविक है ।

राम —

रे हस्त दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम् ।
रामस्य बाहुरसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताविवासनपटो करुणा कुतस्ते ॥ १० ॥

अन्वय—रे दक्षिण हस्त ! द्विजस्य मृतस्य शिशो जीवातवे शूद्रमुनौ कृपाणं विसृज । (त्वं) निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटो' रामस्य बाहु असि । (अतएव) ते करुणा कुत ? ॥ १० ॥

व्याख्या—रे दक्षिण निष्करुणत्वख्यापनाय उक्तम्, दक्षिण हस्त ! अपसव्य कर !, द्विजस्य विप्रस्य, मृतस्य मृत्यु प्राप्तस्य, शिशो कुमारस्य, जीवातवे जीवनाय, शूद्रमुनौ वृषलतापसे, कृपाण खड्ग, विसृज निक्षिप, (ननु निरपराध शूद्रमुनिं प्रति खड्गप्रहारे तव करुणा नास्तीति इतिचेत्तत्राह—रामस्येति) निर्भरगर्भखिन्नसीताविवासनपटो निर्भर पूर्ण यो गर्भ तेन खिन्ना सा चासौ सीता तस्या विवासन तस्मिन् पटु तस्य, रामस्य रामभद्रस्य, बाहु भुज , असि विद्यसे, ते तव, करुणा दया, कुत कस्मात् ? (न कुतोऽपीत्यर्थ) ॥ १० ॥

अनुवाद—राम—रे दाहिने हाथ ! तू ब्राह्मण के मरे हुए शिशु को जिलाने के लिए शूद्र मुनि के ऊपर तलवार चला । (क्योंकि) तू पूर्ण गर्भ के भार से खिन्न जानकी को निर्वासित करने में कुशल राम का हाथ है। (अत) तुझे दया कहाँ से होगी ? ॥ १० ॥

टिप्पणी—जीवातवे—जीवित करने के लिए । जीवत्यनेन,√जीव्+आतु=जीवातु । 'जीवातुरस्त्रिया भक्ते जीविते जीवनौषधे' इत्यमर । यहाँ

तादर्थ्य में चतुर्थी हुई। इस श्लोक में करुणा के अभाव के प्रति सीता-निर्वासन-पटुता हेतु है। अतः पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार हुआ। यह वसन्ततिलका छन्द है ॥ १० ॥

(*कथञ्चित्प्रहृत्य*) कृतं रामसदृशं कर्म। अपि जीवेत् स ब्राह्मणपुत्रः ?

(*किसी प्रकार प्रहार कर*) राम के योग्य कार्य किया। क्या वह ब्राह्मण का पुत्र जीयेगा ?

टिप्पणी—रामसदृश—रामोचित। यहाँ राम अपने को कोसते हैं कि जो निरपराध सीता को निर्वासित कर सकता है, उस अतिनृशंस राम के लिए निरपराध शम्बूक की हत्या करना उचित ही है। यहाँ भवभूति ने प्राचीन नाट्याचार्यों के मत के विरुद्ध रंग-मंच पर वध का दृश्य उपस्थित किया है। रंगमंच पर जिन कार्यों का निषेध किया गया है, वे ये हैं—'दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः। विवादो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा। दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद्व्रीडाकरञ्च यत्। शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम्। स्नानानुलेपने चेभिर्वर्जितो नातिविस्तरः।'

(*प्रविश्य*)

(*प्रवेश कर*)

दिव्यपुरुषः—जयतु देवः।

दिव्य पुरुष—महाराज की जय हो।

टिप्पणी—दिव्यपुरुषः—स्वर्गीय आकृति वाला पुरुष। राम के हाथ से मारे जाने पर शम्बूक ने पार्थिव शरीर छोड़ कर दिव्य शरीर धारण कर लिया था। दिवि भव इति दिव्+यत्—दिव्यः, स चासौ पुरुषः कर्मधारय समास।

दत्ताभये त्वयि यमादपि दण्डधारे
सञ्जीवितः शिशुरसौ मम चेयमृद्धिः।
शम्बूक एष शिरसा चरणौ नतस्ते
सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति ॥ ११ ॥

अन्वय—यमादपि दत्ताभये त्वयि दण्डधारे असौ शिशुः सञ्जीवितः,

मम च इयम् ऋद्धि । एष शम्बूकः शिरसा ते चरणौ नतः, सत्सङ्गजानि निधनान्यपि तारयन्ति ॥ ११ ॥

व्याख्या—यमादपि मृत्यो. अपि, दत्ताभये दत्त वितीर्णम् अभय भीत्य-भावो येन तस्मिन्, त्वयि रामभद्रे, दण्डधार दण्डधारिणि (सति), असौ दूरस्थः, शिशु ब्राह्मणपुत्र., सञ्जीवित. प्रत्यागतप्राण , मम च शम्बूकस्यापि, इय दिव्याकृतिलाभरूपा, ऋद्धि अभ्युदय , (अतश्च) एष पुरोविद्यमानः, शम्बूक. अहम्, शिरसा मूर्ध्ना, ते भवत , चरणौ पादौ, नत. प्रणतः (अस्मि), (ननु दण्डविधानात् कथमृद्धिः स्यादित्यिचेत्तत्राह—) सत्सङ्गजानि सता सङ्गादुत्पन्नानि, निधनानि मरणानि, अपि, तारयन्ति उद्धारयन्ति ॥ ११ ॥

अनुवाद—मृत्यु से भी अभयदान दने वाले आपके दड धारण करने पर वह शिशु जावित हो उठा । मेरी भी यह (दिव्य आकृति लाभ रूप) अभ्युन्नति हुई । (अतः) यह शम्बूक आपके चरणों में शिर झुका कर प्रणाम करता है । (क्यों नहीं ?) सज्जन के सङ्गर्ग स उत्पन्न मृत्यु भी उद्धार करने वाली होती है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—यमात्—इसम 'भीत्रार्थाना भयहेतु.' सूत्र से पचमी हुई । दण्डधारे—दण्ड धारयति इति दण्ट√धृ+णिच्+अण् कर्तरि—दण्डधारः, तस्मिन् । निधनानि—नि√धा+क्यु भावे । यहाँ दड रूप कारण से समृद्धि रूप विरुद्ध फल की उत्पत्ति होती है । अतः विषमालकार है, और स त्सगजनित मरण द्वारा किये जाने वाले उद्धार रूप सामान्य से ऋद्धि रूप विशेष का समर्थन होता है । अतः अर्थान्तरन्यास अलकार भी है । फिर इन दोनों अलकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने के कारण संसृष्टि अलंकार उत्पन्न होता है । यह वसन्ततिलका छद है ॥ ११ ॥

रामः—द्वयमपि प्रियं नः, तदनुभूयतामुग्रस्य तपसः परिपाकः ।

राम—हमें दोनों ही बातें (ब्राह्मण शिशु का पुनरुज्जीवन और तुम्हारी सम्पदा) प्रिय हैं, अतः उग्र तपस्या का परिणाम अनुभव करो ।

टिप्पणी—द्वयम्—द्वि+तयप् "सख्याया अवयवे तयप्" इत्यनेन, पुनः तयप् के स्थान म अयच् आदेश 'द्वित्रिभ्या तयस्यायज्वा' इत्यनेन ।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुण्याश्च[1] सम्पदः ।
वैराजा नाम ते लोकास्तैजसाः सन्तु ते शिवा[2] ॥ १२ ॥

अन्वय—यत्र आनन्दाश्च मोदाश्च यत्र पुण्याः सम्पदश्च ते वैराजा नाम तैजसा लोकास्ते शिवाः सन्तु ॥ १२ ॥

व्याख्या—यत्र येषु लोकेषु, आनन्दाः आत्मसाक्षात्कारजन्या हर्षाः, मोदाः नानाविधसम्भोगाः, यत्र येषु लोकेषु, पुण्याः पवित्राः, सम्पदश्च विभूतयश्च (सन्ति), ते, वैराजा नाम 'वैराज' इति नाम्ना प्रसिद्धाः, तैजसाः तेजोमयाः, लोकाः भुवनानि, ते तव, शिवाः मङ्गलकारकाः, सन्तु भवन्तु ॥ १२ ॥

अनुवाद—जहाँ आनन्द (आत्मानुभवजन्य सुखराशि अथवा ब्रह्मानन्द) तथा मोद (विविधविषयोपभोगजन्य तृप्ति अथवा नाना प्रकार के भोग) मिलते हैं और जहाँ पवित्र विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, वे वैराज नामक आलोकमय लोक तुम्हारे लिए मङ्गलकारक हों (अर्थात् चिरस्थायी हों) ॥ १२ ॥

टिप्पणी—वैराजाः—ब्रह्मसम्बन्धीय लोक, ब्रह्मलोक, सत्यलोक। विशेषेण राजते इति वि√राज्+क्विप् कर्तरि = विराज्, विराजो ब्रह्मण इमे इत्यर्थे विराज्+अण् 'तस्येदम्' इति सूत्रेण। नाम—यह प्रसिद्धार्थक अव्यय है ॥ १२ ॥

शम्बूक—स्वामिन् ! युष्मत्प्रसादादेवैष महिमा। किमत्र तपसा ? अथवा महदुपकृतं तपसा।

शम्बूक—प्रभो ! आप ही की कृपा से मुझे यह महत्त्व मिला है। इसमें तपस्या ने क्या किया ? अथवा तपस्या ने महान् उपकार किया। (क्योंकि)

अन्वेष्टव्यो यदसि भुवने लोकनाथ शरण्यो
मामन्विष्यन्निह वृषलकं योजनानां शतानि ।
क्रान्त्वा प्राप्तः स इह तपसां सम्प्रसादोऽन्यथा तु
क्वायोध्यायाः पुनरुपगमो दण्डकायां वने वः ? ॥ १३ ॥

अन्वय—भुवनेऽन्वेष्टव्यो लोकनाथ शरण्यः (त्वम्) यत् मां वृषलकम् अन्विष्यन् योजनानां शतानि क्रान्त्वा इह प्राप्तोऽसि स इह तपसां सम्प्रसादः अन्यथा तु वः अयोध्यायाः दण्डकायां वने क्व पुनः उपगमः ? ॥ १३ ॥

---

१. 'पुण्याभिसम्भवाः' इति पाठभेदः । २ 'ध्रुवाः' इति क्वचित् पाठः ।

व्याख्या—(तपसा महात्मनुपकार निरूपयति—) भुवने जगति, अन्वेष्टव्य गवेषणीय साक्षात्कर्तु योग्य इत्यर्थ, लोकनाथ भुवनपति, शरण्य रक्षकश्रेष्ठ, (त्वम्) यत्, मा, वृषलक शुत्सितशूद्रम्, अन्विष्यन् चिन्वन्, योजनाना चतु क्रोशाना, शतानि, अतीत्य विलङ्घ्य, इह अस्मिन् वने, प्राप्तोऽसि आगतो वर्तसे, स भवदागम, इह अस्मिन् विषये, तपसा मत्कृताना तपस्याना, सम्प्रसाद अनुग्रह, अन्यथा तु तद्वैपरीत्ये तु, क युष्मात्म्, अयोध्याया स्वराजधान्या सकाशात्, दण्डकाया वने दण्डकारण्ये, क्व कुत्र, पुन भूय, उद्गम आगमन (भवत्) ? ॥ १३ ॥

अनुवाद—जगत् में अन्वेषण या साक्षात्कार करने योग्य, लोकों के नाथ और रक्षकों में श्रेष्ठ आप जो मुझ अधम शूद्र को ढूँढते हुए सैकड़ों योजनों को लाँघ कर यहाँ आये हैं, सो वह (इस प्रदेश में आपका आना) मेरी तपस्याओं का ही फल है, अन्यथा अयोध्या से दण्डकारण्य में आपका आना फिर कहाँ सम्भव था ? ॥ १३ ॥

टिप्पणी—शरण्य —शरणेषु रक्षकेषु साधु श्रेष्ठ इत्यर्थे शरण+यत् 'तत्र साधु' इत्यनेन। वृषलकम् = निन्दित शूद्र। कुत्सितो वृषलो वृषलक, तम्। कुत्सार्थे वृषल+कन्। योजनाना शतानि = बहुत योजनों को। यहाँ शत शब्द बहुत्ववाचक है। इस छद में एक ही राम में अन्वेषणकर्मत्व एवम् अन्वेषणकर्तृत्वरूप विरुद्ध धर्मों का सघटन होने से विषमालङ्कार है। अतिशयोक्ति और काव्यलिंग अलङ्कार भी इसमें समाविष्ट हैं। यह मन्दाक्रान्ता छद है ॥ १३ ॥

राम —किं नाम दण्डकेयम् ? (सर्वतोऽवलोक्य) हा, कथम्—

राम—क्या यह दण्डकवन है ? (सब ओर देख कर) हाय, कैसे—

स्निग्धश्यामा क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षा
स्थाने स्थाने मुखरककुभो भाङ्कृतै[1] निर्झराणाम्।
एते तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्त[2]कान्तारमिश्रा
सदृश्यन्ते परिचितभुवो दण्डकारण्यभागा ॥१४॥

अन्वय—क्वचित् स्निग्धश्यामा अपरत भीषणाभोगरूक्षा स्थाने स्थाने

१. झाङ्कृतै, श्याङ्कृतै इति पाठान्तरद्वयम्। २ गर्भ इति पाठभेद ।

निर्झरणां झाङ्कृतैः मुखरककुभः तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्तकान्तारमिश्राः परिचित भुवः एते दण्डकारण्यभागाः सदृश्यन्ते ॥१४॥

व्याख्या—क्वचित् कस्मिंश्चिद्विभागे, स्निग्धश्यामाः स्निग्धाः मसृणाः श्यामाः श्यामलाः, अपरत अन्यस्यां दिशि प्रदेशे वा, भीषणाभोगरूक्षाः भीषणः भयानकः यः आभोगः पूर्णता तेन रूक्षाः कठोराः, स्थाने स्थाने यत्रकुत्रचित्, निर्झराणां पार्वत्यप्रस्रवणानां, झाङ्कृतैः 'झाम्' इति शब्दैः, मुखरककुभः मुखराः ध्वनिताः ककुभः दिशः येषु ते, तीर्थाश्रमगिरिसरिद्गर्तकान्तारमिश्राः तीर्थानि मुनिगणसेवितजलानि आश्रमाः मुनिनिवासाः गिरयः पर्वताः सरितो नद्यः गर्ताः बिलानि कान्ताराः दुर्गवर्त्मानि तैः मिश्राः युक्ताः, परिचितभुवः परिचिताः पूर्वं ज्ञाताः भुवः स्थानानि येषु ते, एते सम्मुखवर्तिनः, दण्डकारण्यभागाः दण्डकारण्यस्य प्रदेशाः, सदृश्यन्ते विलोक्यन्ते (मया) ॥१४॥

अनुवाद—दण्डकारण्य के ये प्रदेश कहीं चिकने और श्यामल तथा दूसरी तरफ भयङ्कर विस्तार के कारण रूखे, जगह-जगह पर झरनों के झंकार से मुखरित दिशाओं वाले, तीर्थ, आश्रम, पर्वत, नदी, गड्ढे और दुर्गम मार्ग वाले तथा परिचित भूमि वाले दिखाई दे रहे हैं ॥१४॥

टिप्पणी—आभोग—परिपूर्णता । 'आभोगः परिपूर्णता' इत्यमरः । ककुभ—दिशा । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठाः' इत्यमर । तीर्थ—ऋषिसेवित जल । 'निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टजले गुरौ' इत्यमरः । कान्तार—दुर्गम पथ । 'महारण्ये दुर्गपथे कान्तारः पुनपुंसकम् ।' इत्यमरः । दण्डकारण्य—दण्डक नामक वन । दण्डकाख्य वनम् मध्य० स० । कहते हैं कि एकबार इक्ष्वाकुवंशीय राजा दण्डक ने शुक्राचार्य की पुत्री अरजा का शीलभंग कर दिया । जिस कारण शुक्राचार्य के शाप से दण्डक का समूल नाश हो गया और तब से इसका राज्य दण्डकवन के रूप में परिणत हो गया । इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार है । यह मन्दाक्रान्ता छन्द है ॥ १४ ॥

शम्बूकः—दण्डकैवेपा । अत्र किल पूर्वं निवसता देवेन—

शम्बूक—यह दण्डकवन ही है । यहाँ पहले निवास करते हुए महाराज ने—

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम्।
त्रयश्च दूषणखरत्रिमूर्धानो रणे हता [1] ॥१५॥

अन्वय—भीमकर्मणां रक्षसां चतुर्दशसहस्राणि त्रयः दूषणखरत्रिमूर्धानश्च रणे हताः ॥१५।

व्याख्या—भीमकर्मणां भीमं भयानकं कर्म क्रिया येषां तेषां, रक्षसां राक्षसानां, चतुर्दशसहस्राणि चतुर्दशगुणितानि सहस्राणि, (तथा तेषां नेतारः) दूषणः, खरः, त्रिमूर्धा=त्रिशिरा इति त्रयश्च, रणे युद्धे, हताः व्यापादिताः ॥१५॥

अनुवाद—भयानक कर्म करने वाले चौदह हजार राक्षसों को तथा (उनके नेता) दूषण, खर और त्रिशिरा—इन तीनों को युद्ध में निहत किया था ॥१५॥

टिप्पणी—त्रिमूर्धान —यद्यपि त्रयो मूर्धानो यस्य इस विग्रह में 'द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः' सूत्र से समासान्त ष प्रत्यय होने पर 'त्रिमूर्धान' रूप नहीं हो सकता बल्कि 'त्रिमूर्धा' रूप होगा, किन्तु 'समासान्तविधिरनित्यः' इस नियम के बल से ष प्रत्यय का अभाव होने पर 'त्रिमूर्धा' रूप शुद्ध ही है, ऐसा जान लेना चाहिए। अथवा 'त्रिमूर्धा, नो' ऐसा पदच्छेद करके काकु मानकर अर्थ करना चाहिए—'क्या आपने चौदह सहस्र राक्षसों को तथा खर, दूषण और त्रिमूर्धा इन तीनों को रण में नहीं मारा था? अर्थात् अवश्य मारा था।'

येन सिद्धक्षेत्रेऽस्मिन् मादृशामपि जानपदानामकुतोभयः सञ्चारः संवृत्तः।

जिससे (अर्थात् दूषण, खर आदि राक्षसों का वध हो जाने के कारण) इस सिद्ध क्षेत्र में मेरे जैसे ग्रामवासियों का भी सर्वथा भयरहित विचरण सम्पन्न हुआ।

टिप्पणी—सिद्धक्षेत्रे—अणिमा आदि सिद्धि वालों के स्थान में। मादृशाम्—अहमिव दृश्यमाना मामिव आत्मानं पश्यन्ति इति अस्मद् √दृश्+कञ् कर्मकर्तरि—मादृशा, तेषाम्। जानपदानाम्—जनपद में निवास करने वालों का। जनपदे भवा जानपदा तेषाम्, जनपद+अण्।

---

१ निपातिता इति पाठान्तरम्।

अकुतोभय.—जहाँ कहीं से भी भय न हो। नास्ति कुतोऽपि भयं यस्मिन् स', 'मयूरव्यंसकादयश्च' इत्यनेन समास.।

राम.—न केवलं दण्डकैव, जनस्थानमपि ?

राम—यह केवल दण्डकारण्य ही नहीं, जनस्थान भी है ?

शम्बूक—बाढम्। एतानि खलु सर्वभूतरोमहर्षणान्युन्मत्त-चण्डश्वापदकुलसङ्कुलगिरिगह्वराणि जनस्थानपर्यन्तदीर्घारण्यानि दक्षिणां दिशमभिवर्तन्ते। तथाहि—

व्याख्या—बाढ सत्यम्, एतानि, खलु, सर्वभूतरोमहर्षणानि सर्वेषां सकलाना, भूताना प्राणिना, रोमहर्षणानि रोमाञ्चजनकानि, उन्मत्तचण्डश्वापद-कुलसङ्कुलगिरिगह्वराणि उन्मत्तानाम् उद्गतमदानाम (अतएव) चण्डानाम् अतिकोपनाना श्वापदाना हिंस्रजन्तूना कुलानि समूहा· तै सङ्कुलानि व्याप्तानि गिरिगह्वराणि पर्वतगुहा येषु तानि, जनस्थानपर्यन्तदीर्घारण्यानि जनस्थान पर्यन्त. सीमा येषु तथाभूतानि दीर्घारण्यानि विस्तृतवनानि, दक्षिणाम अवाचीं, दिशा ककुभम्, अभिवर्तन्ते लक्ष्यीकृत्य वर्तन्ते।

अनुवाद—शम्बूक—हाँ। ये जनस्थान तक फैले हुए लम्बे वन, जो सभी प्राणियों के लिए रोमाञ्चकारक हैं तथा जिनमें पर्वत की गुफायें उन्मत्त एव प्रचण्ड हिंसक जन्तुओं से व्याप्त हैं, दक्षिण दिशा की ओर विद्यमान हैं। जैसा कि—

टिप्पणी—चण्ड—अत्यन्त क्रोधी। 'चण्डस्त्वत्यन्तकोपन' इत्यमर। श्वापद—हिंस्र पशु (व्याघ्र आदि)। शुन पदानीव पदानि येषा ते श्वापदा·'

निष्कूजस्तिमिता. क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नय।
सीमान. प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रव पीयते ॥१६॥

अन्वय—सीमान क्वचित् निष्कूजस्तिमिता· क्वचिदपि प्रोच्चण्ड-सत्त्वस्वना. स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नय. प्रदरोदरेषु विरल-स्वल्पाम्भस. (सन्ति), यासु तृष्यद्भि. प्रतिसूर्यकै. अयम अजगरस्वेदद्रव. पीयते ॥१६॥

व्याख्या—सीमानः पर्यन्तभूमयः, क्वचित् यस्मिंश्चिद्भागे, निष्कूजस्तिमिता निष्कूजा पक्ष्यादिशब्दरहिता, (अतएव) स्तिमिताः निश्चला, क्वचिदपि कस्मिंश्चिदपि भागे, प्रोच्चण्डस्वरस्वना. प्रोच्चण्डा. भयानकाः स्वानां जन्तूनां स्वनाः शब्दा यासु ताः, (क्वचिच्च) स्वेच्छासुप्तगम्भीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नय स्वेच्छया आत्मवाञ्छया सुप्ता निद्रिता ये गम्भीरभोगा विशालशरीरा भुजगा. सर्पा. तेषां श्वासेन नि.श्वासवायुभि. प्रदीप्ताः प्रज्वलिताः अग्नयः अनला यासु ता., प्रदरोदरेषु प्रदराणां गर्तानाम् उदरेषु मध्येषु, विरलस्वल्पाम्भस निरलस्वल्पम् अतिशयन्यूनम् अम्भ जलं यासु तथाभूताः (सन्ति), यासु सीमसु, तृष्यद्भि पिपासुभि, प्रतिसूर्यकै कृकलासै., अय दृश्यमानः, अजगरस्वेदद्रव. बृहत्सर्पघर्मजल, पीयते आचम्यते ॥१६॥

अनुवाद—(वन के) सीमा क्षेत्रों या भागों में कहीं (पक्षी आदि के भी) शब्द न होने के कारण निस्तब्धता छायी हुई है, कहीं जानवरों के भयकर शब्द हो रहे हैं, कहीं स्वेच्छा से सोये हुए विशालकाय सर्पों की साँस से अग्नि प्रज्वलित हो रही है और कहीं गड्ढों के बीच में जल की अतिशय न्यूनता दिखाई दे रही है, जहाँ प्यासे गिरगिट अजगरों के पसीने का पानी पी रहे हैं ॥१६॥

टिप्पणी—निष्कूज—शब्दशून्य । स्तिमित—निश्चल । गभीरभोग—अपरिमेय शरीर वाले । 'भोगः सुखे धने चाहेः शरीरफणयोरपि' इति विश्वः । 'अहेः शरीरं भोगः स्यात्' इत्यमरः । कहीं 'भोग' के स्थान में 'घोष' पाठ मिलता है । वहाँ अर्थ होगा—गभीर शब्द वाले । 'घोर' पाठभेद भी मिलता है । वहाँ अत्यन्त भयानक अर्थ करना चाहिए । प्रदर—गड्ढा । 'प्रदरः श्वभ्रभीतयो' इत्यमरः । विरलस्वल्पाम्भस —अत्यन्त न्यून जल वाले । 'विरल' की जगह 'विलसत्' पाठ भी कहीं दिखाई देता है । वहाँ प्रकाशमान अर्थ होगा । प्रतिसूर्यक—गिरगिट । 'सरटः कृकलास. स्यात् प्रतिसूर्यशयानकौ' इति हलायुध. । यहाँ स्वभावोक्ति अलकार है । यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १६ ॥

राम.—

पश्यामि च जनस्थानं भूतपूर्वखरालयम् ।
प्रत्यक्षानिव वृत्तान्तान्पूर्वाननुभवामि च ॥ १७ ॥

अन्वय—भूतपूर्वखरालयं जनस्थानं पश्यामि च, पूर्वान् वृत्तान्तान् प्रत्यक्षान् इव अनुभवामि च ॥ १७ ॥

व्याख्या—भूतपूर्वखरालयं भूतपूर्वः पूर्वं भूतः खरस्य तदाख्य-राक्षसस्य आलयो निवासो यस्मिन् तथाविधं, जनस्थानं दण्डकारण्यस्य भाग-विशेषं, पश्यामि अवलोके, पूर्वान् पूर्वकालिकान्, वृत्तान्तान् उदन्तान्, प्रत्य-क्षान् इव पुरोविद्यमानान् इव, अनुभवामि प्रतीतिपथं पातयामि साक्षात्करो-मीत्यर्थः ॥ १७ ॥

अनुवाद—राम—मैं भूतपूर्व खर राक्षस के निवासस्थान जनस्थान को देख रहा हूँ और पूर्वकालिक वृत्तान्तों का प्रत्यक्ष की तरह अनुभव भी कर रहा हूँ ॥ १७ ॥

टिप्पणी—भूतपूर्व = पहले का। पूर्वं भूतो भूतपूर्वः, 'सुप्सुपा' इति समासः। 'भूतपूर्वे चरट्' इति निर्देशाद्भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः। इस श्लोक में क्रियासमुच्चय तथा भाविक अलंकारों में अंगांगिभाव संबंध के कारण संकर अलंकार है। भाविक अलंकार का लक्षण साहित्यदर्पण में इस प्रकार है—'अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः। यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदा-हृतम् ॥' यहाँ भी अतीत शूर्पणखा आदि के वृत्तान्तों का प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर की तरह निर्देश होने के कारण भाविक अलंकार है ॥ १७ ॥

(*सर्वतोऽवलोक्य*) प्रियारामा हि वैदेह्यासीत्। एतानि नाम कान्ता-राणि। किमतः परं भयानकं स्यात्? (*सास्रम्*)

(*सब ओर देखकर*) जानकी को वन प्यारा था। ये महारण्य हैं। इनसे बढ़ कर भयंकर वस्तु क्या होगी? (अर्थात् जिन वनों में सीता के साथ आमोद-प्रमोदपूर्वक भ्रमण किया था, वहीं आज बिना सीता के मात्र भ्रमण कर रहा हूँ, इससे बढ़ कर दुःख की बात क्या होगी? (*आँखों में आँसू भर कर*)

टिप्पणी—प्रियारामा—आरमन्ति यस्मिन् इति आ√रम्+घञ् अधि-करणे = आरामः, प्रिय = प्रीतिकरः आरामो = वनं यस्याः सा। यहाँ आरामपद वनमात्र का उपलक्षक है। कान्तार—महावन। 'कान्तारोऽस्त्री महारण्ये बिले दुर्गमवर्त्मनि' इत्यमरः।

त्वया सह निवत्स्यामि वनेषु मधुगन्धिषु ।
इतीवारमतेहासौ स्नेहस्तस्या. स तादृशः ॥ १८ ॥

अन्वय—त्वया सह मधुगन्धिषु वनेषु निवत्स्यामि इति इव असौ इह अरमत । तादृश तस्या. स· स्नेह· ॥ १८ ॥

व्याख्या—त्वया रामेण, सह साकं, मधुगन्धिषु पुष्परसगन्धयुक्तेषु, वनेषु अरण्येषु, निवत्स्यामि स्थास्यामि (न तु त्वां विना अयोध्यायामपि स्थातुमिच्छामीति भावः), इतीव इत्थमिव, असौ सीता, इह महारण्ये, अरमत रमणं कृतवती, तादृशः तथाविध , तस्या वैदेह्या', स· पूर्वानुभूतः, स्नेह' प्रीति· (आसीत्) ॥ १८ ॥

अनुवाद—आपके साथ पुष्प रसों की गंध वाले वनों में निवास करूँगी (किन्तु आपके बिना अयोध्या में भी रहना नहीं चाहूँगी)—इस प्रकार (कहती हुई) सीता यहाँ रमण करती थीं । (क्योंकि) वैसा उनका वह प्रेम था (जिससे वे मेरे साथ जंगल में भी मंगल मनाया करती थीं) ॥ १८ ॥

टिप्पणी—मधुगन्धिषु—मधुनः पुष्परसस्य गन्धः मधुगन्ध', सः एषु अस्ति इति मधुगन्धीनि, तेषु । 'इतीवारमतेहासौ' की जगह अनेक पाठभेद मिलते हैं । यथा—'इति हारमतैवासौ', 'इति वारमतीवासौ', 'इति चारमती वासौ', 'इति या रमते सीता' और 'इति चारमते वासौ' । परन्तु सभी पाठों का अर्थ खींचातानी से ही किया जा सकता है ।

न किञ्चिदपि कुर्वाण. सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ १९ ॥

अन्वय—यो जनो यस्य प्रिय. (सः) किञ्चित् न कुर्वाणोऽपि सौख्यैर्दुःखानि अपोहति, हि तत् तस्य किमपि द्रव्यम् ॥१९॥

व्याख्या—यः, जन' प्राणी, यस्य, प्रियः प्रीतिपात्रम् (अस्ति), (सः) किञ्चित् किमपि, न नहि, कुर्वाणोऽपि विदधदपि, सौख्यैः अवलोकनालापादिजनितसुखै , दुःखानि सांसारिकक्लेशान्, अपोहति नाशयति, हि यस्मात्, तत् प्रियपात्रम्, तस्य अपोहनीयदुःखवतः, किमपि अनिर्वचनीयं, द्रव्य पदार्थः (भवति) ॥१९॥

अनुवाद—जो व्यक्ति जिसका प्रिय है, वह (उसके लिए) कुछ न करते हुए भी (अवलोकन, सम्भाषण आदि जन्य) सुखों द्वारा (उसके) क्लेशों को दूर करता है, क्योंकि वह (प्रिय पात्र) उस (प्रेमी) के लिए अनिर्वचनीय पदार्थ या अमूल्य धन होता है (जिसके लाभमात्र से दुःखों का नाश होता है। सीता भी मेरी ऐसी ही प्रियपात्र थीं) ॥१९॥

टिप्पणी—सौख्यैः—सुखमेव इति सुख+ष्यञ् स्वार्थ=सौख्यम्। किमपि—यहाँ अपि शब्द अनिर्वचनीयता का अर्थ देता है। तुलना कीजिये—'स्फुरतु हृदये कोऽपि पुरुषः', 'किमपि हृदये कृत्वा मन्त्रयेथे'। इस श्लोक में अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार तथा अर्थान्तरन्यास अलङ्कार की स्थिति परस्पर सापेक्ष होने के कारण सङ्कर अलङ्कार है ॥१९॥

शम्बूकः—तदलमेभिर्दुरासदैः। अथैतानि मदकलमयूरकण्ठ-कोमलच्छविभिरवकीर्णानि पर्यन्तैः[1] रविरलनिविष्टनीलबहुलच्छायातरु-षण्डमण्डितान्यसम्भ्रान्तविविधमृगयूथानि पश्यतु महानुभावः प्रशान्त-गम्भीराणि मध्यमारण्यकानि।

व्याख्या—तत् तस्मात्, दुरासदैः दुःखेन प्राप्तुं योग्यैः, एभिः वनैः, अलं प्रयोजनं नास्ति। अथ इति वाक्यान्तरारम्भे। महानुभावः महाप्रभावः, एतानि पुरोदृश्यमानानि, मदकलमयूरकण्ठकोमलच्छविभिः मदकलाः मदेन हर्षाति-रेकेण कलाः अव्यक्तमधुरशब्दाः येषां तथाविधाः ये मयूराः बर्हिणः तेषां कण्ठानां गलानाम् इव कोमला स्निग्धा छविः कान्तिः येषां तैः, पर्यन्तैः परिसरैः, अवकीर्णानि व्याप्तानि, अविरलनिविष्टनीलबहुलच्छायातरुषण्डमण्डितानि अविरलं सघनं यथा स्यात् तथा निविष्टाः स्थिताः नीलाः श्यामलाः बहुलाः गाढाः ये छायातरवः छायाप्रधानाः वृक्षाः तेषां षण्डाः समूहाः तैः मण्डितानि अलङ्कृतानि, असम्भ्रान्तविविधमृगयूथानि असम्भ्रान्तं भयाभावात् अचकितं विविधानाम् अनेकप्रकाराणां मृगाणां हरिणानां यूथं समूहो येषु तानि, प्रशान्त-गम्भीराणि प्रशान्तानि शान्तिपूर्णानि गम्भीराणि गभीराणि, मध्यमारण्यकानि मध्यवर्तीनि वनानि, पश्यतु अवलोकयतु।

अनुवाद—शम्बूक—तब इन दुर्गम वनों को देखने की आवश्यकता नहीं है। महानुभाव (आप) इन प्रशान्त एवं गम्भीर मध्यवर्ती वनों को

१. 'पर्यन्ते' इति क्वाचित्कः पाठः।

देखें, जो हर्ष से अव्यक्त मधुर शब्द करते हुए मयूरों के गले की भाँति स्निग्ध कान्ति वाले निकटवर्ती प्रदेशों से व्याप्त हैं, सघनता से अवस्थित श्यामल तथा प्रचुर छाया वाले वृक्ष-समूहों से सुशोभित हैं और निर्भयतापूर्वक विचरण करने वाले अनेक प्रकार के मृग समूहों से युक्त हैं।

टिप्पणी—दुरासदे.—दुर्गम । दुःखेन आसद्यते गम्यते इति दुरासदानि तै., दुर् आ √सद्+खल् 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल्' इत्यनेन । छायातरव.—छायाप्रधाना तरवः, 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' इत्यनेन मध्यमपदलोपी समासः ।

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति ।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्य. ॥२०॥

अन्वय—इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोयाः फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यो वहन्ति ॥२०॥

व्याख्या—इह एषु मध्यमारण्येषु, समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया. समदै मत्तैः शकुन्तै विहगै. आक्रान्ता. अध्युषिता' या वानीरवीरुधः वेतसलतिकाः तासां प्रसवैः पुष्पैः सुरभीणि सुगन्धितानि शीतानि शीतलानि स्वच्छानि निर्मलानि तोयानि जलानि यासां ताः, फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्जस्खलनमुखरभूरिस्रोतसः फलभराणां फलसमूहानां परिणामेन परिपाकेन श्यामा. कृष्णवर्णा. ये जम्बूनिकुञ्जाः घनीभूतजम्बूवृक्षाः तेषु स्खलनेन प्रतिघातेन मुखराणि शब्दायमानानि भूरीणि बहूनि स्रोतांसि प्रवाहाः यासां ताः तथाभूता., निर्झरिण्यः नद्यः, वहन्ति प्रसरन्ति ॥ २० ॥

अनुवाद—यहाँ नदियाँ बहती हैं, जिनके शीतल और निर्मल जल मदमत्त पक्षियों से व्याप्त वेतसलताओं के पुष्पों से सुगन्धित हैं और जो फल समूह के पक जाने के कारण काले दीखने वाले सघन जामुन वृक्षों से टकरा कर शब्दायमान होने वाले अनेक स्रोतों से युक्त हैं ॥ २० ॥

टिप्पणी—निर्झरिण्य.—नदियाँ । 'कूलङ्कषा निर्झरिणी रोधोवक्रा सरस्वती' इत्यमरः । वहन्ति—बहती हैं । यद्यपि वह् धातु सकर्मक है; किन्तु यहाँ

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥' इस नियम के बल से अर्थान्तरवृत्तिता के कारण अकर्मक है। इस श्लोक में स्वभावोक्ति अलंकार है। यह मालिनी छंद है ॥ २० ॥

अपि च,

और भी,

दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूना-
मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि ।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते शल्लकीना-
मिभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः ॥ २१ ॥

अन्वय—अत्र कुहरभाजां भल्लूकयूनाम् अनुरसितगुरूणि अम्बूकृतानि स्त्यानं दधति । शल्लकीनां शिशिरकटुकषायः इभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः स्त्यायते ॥ २१ ॥

व्याख्या—अत्र मध्यमारण्ये, कुहरभाजां गिरिगुहास्थितानां, भल्लूकयूनां तरुणऋक्षाणाम्, अनुरसितगुरूणि अनुरसितेन प्रतिध्वनिना गुरूणि महान्ति, अम्बूकृतानि सनिष्ठीवशब्दाः, स्त्यानं वृद्धिं, दधति धारयन्ति । (एवम्) शल्लकीनां गजभक्ष्यलताविशेषाणां, शिशिरकटुकषायः शिशिरः शीतलः कटुः तीव्रः कषायः कषायरसोद्गारी सुरभिश्च, इभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः इभैः गजैः दलिताः मर्दिताः (अतएव) विकीर्णाः इतस्ततो विक्षिप्ताः ये ग्रन्थयः पर्वाणि तेषां यो निष्यन्दः निर्यासरसः तस्य गन्धः आमोदः, स्त्यायते वर्धते ॥२१॥

अनुवाद—यहाँ गुफाओं में रहने वाले जवान रीछों के थूकने के शब्द प्रतिध्वनि से फलकर वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं, और सल्लकी लताओं के पर्वों के हाथियों द्वारा कुचले एवम् इधर-उधर फेंके जाने पर उनके शीतल, तीक्ष्ण तथा कसैले रस की गंध बढ़ रही है ॥२१॥

टिप्पणी—अम्बूकृतानि—थुत्कारात्मक शब्द । 'अम्बूकृतं सनिष्ठीवम्' इत्यमरः । अनम्बु अम्बु कृतानि इति अम्बु+च्वि √कृ+क्त कर्मणि । शल्लकीनाम्=गजभक्ष्या लता । 'गन्धिनी गजभक्ष्या तु सुवहा सुरभी रसा । महेरणा कुन्दुरुकी शल्लकी ह्लादिनीति च ॥' इत्यमरः । 'सल्लकीनाम्' यह पाठ भी मिलता है । यहाँ थुत्कार की वृद्धि के प्रति प्रतिध्वनिगुरुत्व हेतु है । अतः

पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है। यह मालिनी छंद है। उपरितन दोनों श्लोक महावीरचरित तथा मालतीमाधव में भी देखे जाते हैं ॥२१॥

राम —(सवाष्पस्तम्भम्) भद्र ! शिवास्ते पन्थानो देवयाना। प्रतीयस्व पुण्येभ्यो लोकेभ्य ।

राम—(आँसू रोक कर) सौम्य ! तुम्हारे देवयान नामक मार्ग मंगलमय हों। पवित्र लोकों का अनुभव करने के लिए विलीन या तत्पर हो जाओ।

टिप्पणी—सबाष्पस्तम्भम्—बाष्पस्य स्तम्भ. निरोधः तेन सह। यहाँ आँसू गले में हैं न कि आँखों में। तुलना कीजिये—'कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्'—अभिज्ञानशाकुन्तल । देवयान —देवताओं के मार्ग, देवयान नामक मार्ग। इस मार्ग से जाने वाले को ब्रह्म की प्राप्ति होती है—'अग्निर्ज्योतिरह. शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ॥' गीता। लोकेभ्य—लोकों में जाने के लिए। 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' इससे चतुर्थी हुई। 'देवयान प्रतिपद्यस्व' इस पाठभेद में 'विमान को प्राप्त करो' यह अर्थ होगा।

शम्बूक —यावत्पुराणब्रह्मर्षिमगस्त्यमभिवाद्य शाश्वत पदमनुप्रविशामि। (इति निष्क्रान्तः।)

शम्बूक—पुराने ब्रह्मर्षि अगस्त्य को प्रणाम कर सनातन ब्रह्मलोक में प्रवेश करता हूँ। (यह कह कर चला गया।)

टिप्पणी—यावत्=यह शब्द अवधारणार्थक अव्यय है। अत 'अभिवाद्य यावत्' इसका अर्थ करना चाहिये—'प्रणाम करके ही'। शाश्वत—नित्य। पद—स्थान। ब्रह्मलोक को नित्य माना गया है, वहाँ से पतन नहीं होता। जैसा कि देवीपुराण में कहा है—'सत्यस्तु सप्तमो लोको अपुनर्भववासिनाम्। ब्रह्मलोक समाख्यातो ह्यप्रतीघातलक्षणम् ॥'

राम.—

एतत् पुन[1]र्वनमहो कथमद्य[2] दृष्ट
यस्मिन्नभूम चिरमेव पुरा वसन्त ।
आरण्यकाश्च गृहिणश्च रता. स्वधर्मे
सांसारिकेषु च सुखेषु वय रसज्ञा. ॥२२॥

---

१. 'एतत्तदेव हि' इति पाठान्तरम्। २. 'पुनरद्य' इति पाठभेद ।

अन्वय—अहो! अद्य एतत् वनं पुन. कथ दृष्टं, यस्मिन्। पुरा चिरमेव वसन्त आरण्यकाश्च गृहिणश्च वय स्वधर्मे रता, सासारिकेषु सुखेषु रसज्ञाश्च अभूम ॥२२॥

व्याख्या—अहो इति आश्चर्यबोधकमव्ययम्, अद्य अस्मिन् दिने, एतत् पुरोवर्ति, वनम् अरण्यम्, पुन पुन, कथ केन प्रकारेण, दृष्टम् अवलोकितम्, यस्मिन् अरण्ये, पुरा पूर्वं, चिरमेव बहुकालमेव, वसन्त तिष्ठन्तः, आरण्यकाश्च वानप्रस्थाश्रमिणश्च, गृहिणश्च गृहस्थाश्च, वय रामादय, स्वधर्मे स्वयो. आरण्यकगृहस्थयो धर्मे आचारे, रता. परायणा, सासारिकेषु ससारजन्येषु, सुखेषु आनन्देषु, रसज्ञाश्च आस्वादानुभववन्तश्च, अभूम भूतवन्त स्म: ।२२॥

अनुवाद—राम—ओह! आज इस वन को फिर कैसे देखा? जहाँ चिरकाल तक वास करते हुए हम लोगों ने वानप्रस्थ एव गृहस्थ दोनों रूपों में स्व-स्व-धर्मपरायण होकर सासारिक सुखों का रसास्वादन किया था ॥२२॥

टिप्पणी—आरण्यका —अरण्ये वसन्ति इति अरण्य+वुञ् शेषे= आरण्यका =यतिन. । सासारिकेषु—ससारे भवानि इति ससार+ठञ् (अध्यात्मादित्वात्)=सासारिकाणि, तेषु। यहाँ वनवास रूप कार्य करते हुए राम आदि द्वारा गृहस्थ-धर्मपालन आदि कार्य के दैवात् सम्पन्न होने से विशेषालङ्कार है। यह वसन्ततिलका छद है ॥२२॥

एते त एव गिरयो विरुवन्मयूरा-
स्तान्येव मत्तहरिणानि वनस्थलानि।
आमञ्जुवञ्जुललतानि च तान्यमूनि
नीरन्ध्रनीपनिचुलानि सरित्तटानि ॥२३॥

अन्वय—विरुवन्मयूरा एते त एव गिरय, मत्तहरिणानि तानि एव वनस्थलानि, आमञ्जुवञ्जुललतानि नीरन्ध्रनीपनिचुलानि अमूनि तानि च सरित्तटानि (सन्ति) ॥२३॥

व्याख्या—विरुवन्मयूरा. विरुवन्तः शब्दायमानाः मयूराः केकिन येषु ते, एते दृश्यमाना., त एव पूर्वदृष्टा एव, गिरय. पर्वता., मत्तहरिणानि

मत्ताः मदयुक्ताः हरिणाः मृगाः येषु तथोक्तानि, तानि एव पूर्वदृष्टानि एव, वनस्थलानि अरण्यस्थलानि, आमञ्जुवञ्जुललतानि आ समन्तात् मञ्जवः मनोहराः वञ्जुला अशोकवृक्षाः लताः वल्लयो येषु तानि, नीरन्ध्रनीपनिचुलानि नीरन्ध्राः अविरला नीपाः कदम्बाः निचुलाः स्थलवेतसलतिकाः येषु तानि, अमूनि एतानि, तानि पूर्वानुभूतानि, सरित्तटानि नदीतीराणि (सन्ति) ॥२३॥

अनुवाद—ये वे ही पर्वत हैं, जिन पर मयूर कूज रहे हैं। ये वे ही वनस्थल हैं, जहाँ मत्त मृग विचर रहे हैं। और ये वे ही नदी तट हैं, जिन पर अतिशय मनोहर अशोक वृक्ष, लतायें, घने कदम्ब तथा वेतसलतिकायें (शोभित हो रही) हैं। २३॥

टिप्पणी—वञ्जुल—अशोक। परन्तु यह कई वृक्षों का नाम है। यथा—'वञ्जुलः पुंसि तिनिशे वेतसाऽशोकयोरपि।' इति मेदिनी। निचुल—हिज्जल वृक्ष या स्थल पर उगने वाली वेतसलता। 'वाणीरे कविभेदे स्यान्निचुलः स्थलवेतसे' इति शब्दार्णव। इस श्लोक में तुल्ययोगिता अलङ्कार है। यह भी वसन्ततिलका छन्द है ॥२३॥

मेघमालेव यश्चायमारादपि विभाव्यते।
गिरिः प्रस्रवणः सोऽयमत्र गोदावरी नदी ॥२४॥

अन्वय—अय यः आरात् अपि मेघमाला इव विभाव्यते, सः अयम् प्रस्रवणः गिरिः, अत्र गोदावरी नदी ॥२४॥

व्याख्या—अय यः दृश्यमानः पदार्थः, आरादपि दूरादपि, मेघमाला इव कादम्बिनी इव, विभाव्यते प्रतीयते, सोऽयम् स एषः, प्रस्रवणः एतन्नामकः, गिरिः पर्वतः (अस्ति)। अत्र अस्य पाददेशे, गोदावरी एतन्नाम्नी, नदी सरित् (प्रवहति) ॥ २४ ॥

अनुवाद—यह जो दूर से भी मेघ माला की तरह प्रतीत हो रहा है, वह प्रस्रवण नामक पर्वत है। यहाँ (इसकी तलहटी में) गोदावरी नदी (बह रही) है ॥२४॥

टिप्पणी—आरात्—दूर से। 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः। अत्र—अधिकरणे सप्तमी। यहाँ आधार 'गङ्गायां घोषः' की तरह सामीप्य को सूचित करता है। यहाँ उपमा अलङ्कार स्पष्ट ही है ॥२४॥

अस्यैवासीन्महति शिखरे गृध्रराजस्य वास-
स्तस्याधस्ताद्वयमपि रतास्तेषु पर्णोटजेषु ।
गोदावर्याः पयसि विततानोकहश्यामलश्री-
रन्तः कूजन्मुखरशकुनो यत्र रम्यो वनान्तः ॥२५॥

अन्वय—अस्य एव महति शिखरे गृध्रराजस्य वासः आसीत् । तस्य अधस्तात् वयम् अपि तेषु पर्णोटजेषु रताः । यत्र गोदावर्याः पयसि विततानोकहश्यामलश्रीः मुखरशकुनः अन्तःकूजन् (इव) रम्यः वनान्तः (अस्ति) ॥२५॥

व्याख्या—अस्यैव प्रस्रवणगिरेरेव, महति विशाले, शिखरे शृङ्गे, गृध्रराजस्य गृध्रपतेः जटायुषः इत्यर्थः वासः वसतिः, आसीत् अभूत् । तस्य शृङ्गस्य, अधस्तात् निम्नदेशे, वयमपि रामादयोऽपि, तेषु पूर्वानुभूतेषु पर्णोटजेषु पत्रनिर्मितकुटीरेषु, रताः आसक्ताः (सन्तः अवसाम) । यत्र निम्नदेशे, गोदावर्याः एतदाख्यनद्याः, पयसि जले, विततानोकहश्यामलश्रीः विततैः विस्तृतैः अनोकहैः वृक्षैः श्यामला नीला श्रीः शोभा यस्य सः, मुखरशकुनः मुखराः शब्दायमानाः शकुनाः पक्षिणः यस्मिन् सः, अन्तः मध्ये, कूजन् शब्दं कुर्वन् (इव), रम्यः मनोहरः, वनान्तः वनस्वरूपम् (अस्ति) ॥२५॥

अनुवाद—इसी प्रस्रवण गिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर गृध्रराज जटायु का निवास-स्थान था । उसके नीचे हम लोग भी उन पर्णकुटियों में आसक्त (होकर रहते) थे, जहाँ गोदावरी के जल में फैले हुए वृक्षों के कारण श्यामल कान्ति वाला, शब्दायमान पक्षियों वाला और (अतएव मानो) भीतर शब्द करने वाला मनोहर वनप्रान्त (शोभित हो रहा) है ॥२५॥

टिप्पणी—वासः—उष्यते अस्मिन् इति √वस्+घञ् अधिकरणे । अधस्तात्—अधरस्मिन् इति अधर+अस्ताति, 'अस्ताति च' इति सूत्रेण अधरस्य अधादेशः । रताः—रम्+क्त कर्तरि वर्तमाने । रममाणा इत्यर्थः । अनोकह=वृक्ष । 'अनोकहः कुटः सालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः । अनसः शकटस्य अकं गतिं हन्ति इति अनोकहः 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः । कहीं 'विनतश्यामलानोकहश्री' पाठ है । उसका अर्थ होगा—'फलों के भार से झुके हुए श्यामल वृक्षों की शोभा से सम्पन्न' । वनान्त=वनस्वरूप या वनप्रान्त । यहाँ 'अन्त' शब्द स्वरूप या प्रान्त का बोधक है । 'अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोः ।' इति हेमः । इस श्लोक में क्रियोत्प्रेक्षा अलङ्कार

२, क्योंकि वन का कूजन असम्भव है। अतः 'कूजन्' की जगह 'कूजयित' अर्थ करना होगा। यह मन्दाक्रान्ता छन्द है ॥२५॥

अत्रैव सा पञ्चवटी, यत्र निवासेन विविधविस्रम्भातिप्रसङ्गसाक्षिणः प्रदेशाः, प्रियायाः प्रियसखी च वासन्ती नाम वनदेवता। किमिदमापतितमद्य रामस्य ? सम्प्रति हि—

व्याख्या—अत्रैव अस्मिन्नेव प्रदेशे, सा पूर्वानुभूता, पञ्चवटी, यत्र यस्याम्, निवासेन अवस्थानेन, विविधविस्रम्भातिप्रसङ्गसाक्षिणः विविधानाम् अनेकप्रकाराणाम्, विस्रम्भाणां विश्वस्तविलासानाम्, अतिप्रसङ्गस्य अतिशयविस्तारस्य, साक्षिणः द्रष्टारः, प्रदेशाः स्थानानि (सन्ति), प्रियायाः सीतायाः, प्रियसखी प्रियआली, वासन्ती नाम वासन्तीतिनामधेया, वनदेवता वनदेवी (आसीत्)। तत् तस्मात्, अद्य, रामस्य, इदं, किम् आपतितम् उपस्थितम् (अर्थात् प्रियया सह पूर्वमवलोकितानामेषामिदानीं तया विना एकाकिनो मम दर्शनं नितराम् दुःखदमिति)।

अनुवाद—यहीं वह पचवटी है, जहाँ (हमारे) विश्वासपूर्वक किये गये अनेक प्रकार के विलासों के साक्षात् द्रष्टा ये प्रदेश हैं और (यहीं) प्रियतमा (सीता) की प्यारी सहेली वासन्ती नामक वनदेवी थी। आज राम को यह क्या आ पड़ा या राम के सामने यह क्या उपस्थित हो गया ? (अर्थात् प्रियतमा के साथ जिन चीजों को आनन्दपूर्वक देखा था, वही आज उनके बिना अकेले देखने में पीड़ाकारक प्रतीत हो रही हैं।)

टिप्पणी—विस्रम्भ = विश्वास। 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः। साक्षी—'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' इति इनिप्रत्ययेन निपातनात् सिद्धम्।

चिरोद्वेगारम्भी[1] प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित्संवेगात्प्रचलित इव[2] शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
पुराभूतः[3] शोको विकलयति मां नूतन इव[4] ॥२६॥

१ चिरोद्वेगारम्भी इति पाठान्तरम्। २ चलित इव, प्रचल इव इति पाठभेदौ। ३ घनीभूत इति क्वापि पाठः। ४ सम्मूर्छयति च इति पाठभेदः।

अन्वय—चिरोद्वेगारम्भी प्रसृतः तीव्रो विषरस इव, कुतश्चित् सवेगात् निहितः शल्यस्य शकल इव, हृन्मर्मणि रूढग्रन्थिः स्फुटितो व्रण इव, पुराभूतः शोको नूतन इव पुनः मा विकलयति ॥ २६ ॥

व्याख्या—चिरं बहुकालं यावत् उद्वेगारम्भी हृदयोद्वेलनोत्पादयिता, प्रसृतः सर्वत्र जातप्रसरः, तीव्रः दारुणः, विषरस इव विषद्रव इव, कुतश्चित् कस्माच्चित् स्थानात्, सवेगात् अतिशयवेगात्, (आगत्य) निहितः (हृदये) निखातः, शल्यस्य शङ्कोः, शकल इव खण्ड इव, हृन्मर्मणि हृदयमध्यदेशे, रूढग्रन्थिः उत्पन्नसन्धिः, स्फुटितः विदीर्णः, व्रण इव स्फोटक इव, पुराभूतः प्राचीनः, शोकः प्रियाविरहजं दुःखम्, नूतन इव नवीन इव, पुनः भूयः, मा माम्, विकलयति व्याकुलीकरोति ॥२६॥

अनुवाद—चिरकाल तक उद्वेग उत्पन्न करने वाले सर्वत्र फैले हुए दारुण विषरस की तरह, कहीं से अत्यंत वेगपूर्वक (आकर हृदय में) घुसे हुए शंकु के टुकड़े की तरह और हृदय के मर्मस्थान में उत्पन्न सन्धि (जोड़) वाले फूटे हुए फोड़े की तरह पुराना शोक मानो नया होकर फिर मुझे व्याकुल कर रहा है ॥२६॥

टिप्पणी—शल्य = शंकु। 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना' इत्यमरः। विकलयति —विगता कला अस्य इति विकलः, विकलं करोति इति विकल + णिच् (नामधातु) + लट्—तिप्। इस श्लोक में चार क्रियोत्प्रेक्षा अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने के कारण संसृष्टि अलंकार है। यह शिखरिणी छन्द है ॥२६॥

तथाविधानपि तावत्पूर्वसुहृदो भूमिभागान् पश्यामि। (*निरूप्य*) अनवस्थितो भूतसन्निवेशः। तथा हि—

व्याख्या—तथाविधानपि तादृशानपि, तावत्, पूर्वसुहृदः पुरा सुहृद्वत् प्रियाचरणकारिणः, भूमिभागान् भूखण्डान्, पश्यामि अवलोकयामि। निरूप्य इतस्ततो विशेषेण अवलोक्य, भूतसन्निवेशः भूतानां पदार्थानां सन्निवेशः अवस्थानम्, अनवस्थितः पूर्वतो वैषम्यं प्राप्तः।

अनुवाद—वैसे (शोककारक) होते हुए भी पहले के बंधुवत् आचरण करने वाले (इन) भूखंडों को तब तक देखता हूँ। (*अवलोकन कर*) (यहाँ की) वस्तुओं की स्थिति में परिवर्तन हो गया है। जैसे कि—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥२७॥

अन्वय—यत्र पुरा सरितां स्रोतः तत्र अधुना पुलिनम्, क्षितिरुहां घनविरलभावः विपर्यासं यातः। बहोः कालात् दृष्टम् इदं वनम् अपरमिव मन्ये, शैलानां निवेशः इदं तत् इति बुद्धिं द्रढयति ॥२७॥

व्याख्या—यत्र यस्मिन् स्थाने, पुरा पूर्वकाले, सरितां नदीनां, स्रोतः प्रवाहः (आसीत्), तत्र तस्मिन् स्थाने, अधुना इदानीं, पुलिनं जलादुत्थितं सिकतामयं तटं (जातम्), क्षितिरुहां वृक्षाणां, घनविरलभावः निविडत्वं प्रतनुत्वं च, विपर्यासं वैपरीत्यं, यातः प्राप्तः। बहोः कालात् दीर्घसमयात् (अनन्तरं), दृष्टम् अवलोकितम्, इदं दृश्यमानं, वनम् अरण्यम्, अपरमिव अन्यदिव, मन्ये अनुभवामि। (परं) शैलानां पर्वतानां, निवेशः अवस्थानम्, इदं पुरोवर्ति वनं, तत् पूर्वदृष्टम् (अस्ति), इति इत्याकारिकां, बुद्धिं ज्ञानं, द्रढयति दृढीकरोति ॥२७॥

अनुवाद—पहले जहाँ सरिताओं का प्रवाह था, वहाँ इस समय बालुओं का तट बना हुआ है। वृक्षों की सघनता एवं विरलता में भी परिवर्तन हो गया है (अर्थात् वन जहाँ सघन थे वहाँ विरल और जहाँ विरल थे वहाँ सघन हो गये हैं)। चिरकाल के उपरान्त देखा गया यह वन दूसरे वन की तरह लग रहा है। परन्तु पर्वतों की स्थिति 'यह वही वन है' इस निश्चयात्मक ज्ञान को दृढ़ कर रही है (अर्थात् नदी, वृक्ष आदि के अन्यथा स्थित होने पर भी पूर्वदृष्ट पर्वतों को ज्यों के त्यों देख कर 'यह वही वन है' ऐसा मैं निश्चय करता हूँ) ॥२७॥

टिप्पणी—क्षितिरुहाम्—क्षितौ रोहन्ति इति क्षिति√रुह्+क्विप् कर्तरि=क्षितिरुहः, तेषाम्। द्रढयति—दृढं करोति इति दृढ+णिच् (नामधातु) +लट्—तिप्, दृढ इत्यस्य द्रढादेशः। यहाँ दूसरे वन की तरह ज्ञान होने के प्रति पूर्वार्ध के दो वाक्य हेतु हैं, अतः वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है और 'परमिव' में उत्प्रेक्षा अलंकार है। फिर इन दोनों में अंगांगिभाव संबंध होने के कारण संकर अलंकार हो जाता है ॥२७॥

हन्त हन्त ! परिहरन्तमपि मां पञ्चवटी स्नेहाद्बलादाकर्षतीव। (*सकरुणम्*)।

हाय, हाय ! परित्याग करते हुए भी मुझको पञ्चवटी मानो स्नेह से बलपूर्वक खींच रही है। (*करुणा के साथ*)।

टिप्पणी—हन्त हन्त—यहाँ अतिशय खेद प्रकट करने के लिये वीप्सा में द्विरुक्ति हुई है। परिहरन्तमपि = छोड़ते हुए भी अर्थात् पंचवटी छोड़कर जाते हुए भी।

यस्यां ते दिवसास्तया सह मया नीता यथा स्वे गृहे
यत्सम्बन्धिकथाभिरेव सततं दीर्घाभिरास्थीयत।
एकः सम्प्रति नाशितप्रियतमस्तामेव रामः कथं
पापः पंचवटीं विलोकयतु वा गच्छत्वसम्भाव्य वा ॥ २८ ॥

अन्वय—यस्यां यथा स्वे गृहे मया तया सह ते दिवसा नीताः, दीर्घाभिः यत्सम्बन्धिकथाभिः एव सततम् आस्थीयत। सम्प्रति नाशितप्रियतमः एकः पापः रामः तामेव पञ्चवटीं कथं विलोकयतु वा असम्भाव्य गच्छतु ? ॥ २८ ॥

व्याख्या—यस्यां पञ्चवट्यां यथा येन प्रकारेण, स्वे स्वकीये, गृहे भवने, मया रामेण, तया सीतया, सह साकं, ते पूर्वानुभूताः, दिवसा दिनानि, नीता यापिताः, दीर्घाभिः अतिविस्तृताभिः, यत्सम्बन्धिकथाभिरेव यस्याः पञ्चवट्याः सम्बन्धिन्यः विषयिण्यः कथाः आलापाः ताभिः एव, सततं सन्ततम्, आस्थीयत स्थितम् (अयोध्यायां मया सीतया च इति), सम्प्रति अधुना, नाशितप्रियतमः नाशिता (निर्वासनेन) विनाशं प्रापिता प्रियतमा अतिशयप्रिया (सीता) येन सः, एकः एकाकी, पापः पापात्मा, रामः, तामेव प्रियया सह पूर्वानुभूतामेव, पञ्चवटीं, कथं केन प्रकारेण, विलोकयतु पश्यतु, वा अथवा, असम्भाव्य असम्मान्य, गच्छतु यातु ? ॥२८॥

अनुवाद—जिस (पञ्चवटी) में अपने घर की तरह मैंने सीता के साथ वे (वनवासकालीन) दिन बिताये और (अयोध्या में) जिस (पञ्चवटी) के विषय में सदा लम्बे वार्तालाप करके ही अवस्थान किया, उसी (पञ्चवटी) को इस समय प्रियतमा (पत्नी) का नाश करने वाला अकेला पापी राम कैसे देखे या उसका अनादर करके कैसे जाय ? ॥२८॥

टिप्पणी—यत्सम्बन्धिवथाभि —यस्या सम्बध यत्सम्बध , स अस्ति आसु इति यत्सम्बन्ध + इनि = यत्सम्बन्धिन्य , तादृश्य कथा कर्मधारय समास , ताभि करण तृतीया । यहाँ राम क पापी होने में पत्नी का विनाश· कारण हेतु है, अत काव्यलिंग अलकार ह और 'यथा स्वे गृहे' इसम उपमा अलकार है । फिर इन दोनों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने क कारण ससृष्टि अलकार उत्पन्न होता ह । यह शार्दूलविक्रीडित छद है ॥२८॥

(प्रविश्य)

(प्रवेश कर)

शम्बूक—जयतु देव । भगवानगस्त्यो मत्त श्रुतसंनिधानस्त्वा माह—'परिकल्पितावरणमङ्गला प्रतीक्षते वत्सला लोपामुद्रा, सर्वे च महर्षय । तदेहि । सम्भावयाऽस्मान् । अथ प्रजविना पुष्पकेण स्वदेश मुपगत्याश्वमेधसत्त्री भव' इति ।

व्याख्या—जयतु विजयताम्, देव 'महाराज , भगवान् ऐश्वर्यादिषड्गुण सम्पन्न , अगस्त्य मैत्रावरुणि , मत्त मत्सकाशात, श्रुतसंनिधान श्रुतम् आक र्णित (भवत) संनिधानम् उपस्थिति येन स , त्वा भवन्तम्, आह कथयति— परिकल्पितावरणमङ्गला परिकल्पित सज्जीकृतम् आवरणमङ्गल नीराजनादिक यया सा ('परिकल्पितविमानावतरणमङ्गला' इति पाठे तु परिकल्पितानि आयोजितानि विमानात् पुष्पकात् अवतरणे मङ्गलानि अवतरणकालोचितमङ्गल सुवर्णधान्यदूर्वादीनि यया सा), वत्सला स्नेहवती, लोपामुद्रा तन्नाम्नी अगस्त्य- पत्नी, प्रतीक्षते भवद्दर्शनाय अवतिष्ठते । सर्वे च सकलाश्च, महर्षय महामुनय (प्रतीक्षन्ते) । तत् तस्मात्, एहि आगच्छ । सम्भावय आगमनेन सम्मानय, अस्मान् । अथ अनन्तर, प्रजविना महावेगवता, पुष्पकेण एत नामकविमानेन, स्वदेशम्, उपगत्य प्राप्य, अश्वमेधसत्त्री अश्वमेधयज्ञानुष्ठानतत्पर , भव ।

अनुवाद—शम्बूक—महाराज की जय हो । भगवान् अगस्त्य ने मुझसे आपका सामीप्य (अर्थात् निकट आगमन) सुनकर आपसे कहा है—'स्नेह शीला लोपामुद्रा आरती आदि की तैयारी करके (आपकी) प्रतीक्षा कर रही है और सकल महर्षिगण भी (प्रतीक्षा में हैं) । इसलिए आइये, हम लोगों को कृतार्थ कीजिये । अनन्तर आप अत्यत वेगशाली पुष्पक विमान से अपने देश पहुँच कर अश्वमेधयज्ञ के अनुष्ठान में तत्पर हो जाइये' ।

टिप्पणी—श्रुतसन्निधान. = आप यहाँ पधारे हैं यह सुनकर प्रजविना = बड़े वेगवाले। प्र √जु + इनि 'प्रजोरिनि.' इत्यनेन।

रामः—यथाज्ञापयति भगवान्।

राम—भगवान् की जैसी आज्ञा (अर्थात् भगवान् ने जो आदेश दिया है, उसका पालन करूँगा)।

शम्बूकः—इत इतो देवः।

शम्बूक—महाराज! इधर से पधारें, इधर से।

रामः—(*पुष्पकं प्रवर्तयन्*) भगवति पञ्चवटि! गुरुजनादेशोपरोधात्क्षणं क्षम्यतामतिक्रमो रामस्य।

राम—(*पुष्पक विमान को चलाते हुए*) देवि पञ्चवटि! गुरुजन की आज्ञा के अनुरोध से क्षण भर के लिये राम का अतिक्रमण (छोड़ कर जाना) क्षमा करो।

शम्बूकः—देव! पश्य—

शम्बूक—महाराज! देखें—

गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचक-
स्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधोऽयं गिरिः।
एतस्मिन्प्रचलाकिनां प्रचलतामुद्वेजिताः कूजितै-
रुद्वेल्लन्ति पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु कुम्भीनसाः॥२९॥

अन्वय—गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचकस्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः क्रौञ्चाभिधः अयं गिरिः। एतस्मिन् प्रचलतां प्रचलाकिनां कूजितैः उद्वेजिताः कुम्भीनसाः पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु उद्वेल्लन्ति॥ २९॥

व्याख्या—गुञ्जत्कुञ्जकुटीरकौशिकघटाघुत्कारवत्कीचकस्तम्बाडम्बरमूकमौकुलिकुलः कुञ्जाः लताच्छन्नानि स्थानान्येव कुटीराः क्षुद्रगृहाः, गुञ्जन्तः अव्यक्तशब्दवन्तो ये कुञ्जकुटीराः तेषु (स्थिताः) कौशिकघटाः पेचकसमूहाः तेषां यो घुत्कारः 'घुत्' इत्येव शब्दः तद्विशिष्टा ये कीचकस्तम्बाः वंशविशेषगुच्छाः तेषाम् आडम्बरेण उच्चशब्देन मूकं निःशब्दं मौकुलिकुलं काकसमूहः यस्मिन् सः, क्रौञ्चाभिधः 'क्रौञ्च' इति नामधेयः, अयं पुरोवर्ती, गिरिः पर्वतः (अस्ति)। एतस्मिन् दृश्यमाने पर्वते, प्रचलताम् इतस्ततः परिधावतां, प्रचलाकिनां मयूराणां,

कूजितै. अव्यक्तशब्दै., उद्वेजिताः उद्वेगं नीताः, कुम्भीनसाः क्रूरसर्पविशेषाः, पुराणरोहिणतरुस्कन्धेषु पुराणानां जीर्णानां रोहिणतरूणां चन्दनवृक्षाणां स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु, उद्वेल्लन्ति इतस्ततश्चलन्ति अतितरां व्याकुलीभवन्ति इति भाव. ॥ २६ ॥

अनुवाद—यह क्रौंच नामक पर्वत है। इस पर गुञ्जायमान कुञ्जकुटीरों में रहने वाले उल्लुओं के घ् घू शब्द मिश्रित बाँसों के गुच्छों के ऊँचे शब्दों से (डर कर) कौए चुपचाप बैठे हुए हैं और इतस्ततः भ्रमणशील मयूरों के केका-रवों (अव्यक्त शब्दों) से घबड़ाये हुए विषैले साँप पुराने चंदनवृक्षों के तनों पर इधर-उधर रेंग रहे हैं ॥ २६ ॥

टिप्पणी—कुञ्ज = लता आदि से घिरा या ढका हुआ स्थान। 'निकुञ्ज कुञ्जौ वा क्लीबे लतादिपिहितोदरे' इत्यमरः। कुटीर = छोटी कुटिया। 'अल्पा कुटी कुटीरः स्यात्' इत्यमरः। कुटी + र 'कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः' इत्यनेन। कौशिकघटा = उल्लुओं का झुंड। 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः। घुत्कारवत् = घू-घू शब्द वाले। कीचक = वह बाँस जो वायु के सम्पर्क से शब्द उत्पन्न करता हो। 'कीचका वेणवस्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धता.' इत्यमरः। आडम्बर = शब्द। 'आडम्बरस्तु दर्पे स्यात् शब्दे तूर्यस्वनेऽपि च' इति रत्नकोशः। मौकुलि = कौआ। 'मौकुलिः काक.' इति हेमचन्द्रः। प्रचलाकिनाम् = मोरों का। 'प्रचलाकिशिखापाङ्गशिखावलगतक्रमा' इति त्रिकाण्डशेषः। रोहिणतरु = चदनवृक्ष। 'रोहिणश्चन्दनद्रुमः' इति हारावली। कुम्भीनसाः = भयंकर साँप। 'कुम्भीनस' क्रूरसर्पे स्त्रिया लवणमातरि।' इति मेदिनी। उद्वेल्लन्ति = इधर-उधर चलायमान हो रहे हैं। कारण यह है कि पुराने चदन के वृक्ष में बड़ी सुगंधि होती है, जिससे साँप उसे छोड़ना नहीं चाहते हैं, पर मोर के डर से भागना भी चाहते हैं। उत्-पूर्वक 'वेल्ल् चलने' धातु के लट् लकार-प्रथमपुरुष-बहुवचन का यह रूप है।

इस श्लोक में प्रधानतया स्वभावोक्ति अलंकार है, पर विशेषोक्ति एवं रूपक अलंकार भी हैं। फिर इन तीनों में अंगांगिभाव सम्बन्ध होने से संकर अलंकार हो जाता है। यह शार्दूलविक्रीडित छंद है ॥ २६ ॥

अपि च,

और भी,

एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो
मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दाक्षिणाः।
अन्योन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलै-
रुत्तालास्त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः॥ ३०॥

अन्वय—कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारयो मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः त एते दाक्षिणाः क्षोणीभृतः। अन्योऽन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलैः उत्तालाः त इमे गभीरपयसः पुण्याः सरित्सङ्गमाः॥ ३०॥

व्याख्या—कुहरेषु गुहासु, गद्गदनदद्गोदावरीवारयः गद्गद तादृगव्यक्तशब्दं यथा स्यात् तथा नदन्ति शब्दायमानानि गोदावर्याः एतन्नाम्न्याः सरितः वारीणि जलानि येषु ते, मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः मेघैः वलाहकैः आलम्बिताः आश्रिताः मौलयः अग्रभागाः येषां ते अतएव नीलानि श्यामायमानानि शिखराणि शृङ्गाणि येषां ते, ते प्रसिद्धाः, एते दृश्यमानाः, दाक्षिणाः दक्षिणदिग्भवाः, क्षोणीभृतः पर्वताः (सन्ति)। अन्योऽन्यप्रतिघातसङ्कुलचलत्कल्लोलकोलाहलैः अन्योन्यं परस्परं यः प्रतिघातः आघातः तेन सङ्कुलम् उच्छृङ्खलं यथा स्यात् तथा चलन्तः गच्छन्तः ये कल्लोलाः महातरङ्गाः तेषां कोलाहलैः कलकलशब्दैः, उत्तालाः उत्कटाः, ते प्रसिद्धाः, इमे दृश्यमानाः, गभीरपयसः अगाधजलाः, पुण्याः पवित्राः, सरित्सङ्गमाः नदीसंयोगाः (विद्यन्ते)॥ ३०॥

अनुवाद—ये वे दक्षिण दिशा के पर्वत हैं, जिनकी गुफाओं में गोदावरी के जल गद्गद (कल-कल) शब्द कर रहे हैं तथा जिनकी चोटियाँ (अपने) अग्रभाग पर बादलों के ठहरने के कारण नील वर्ण की दीख रही है, और ये वे अगाध जल वाली पवित्र नदियों के संगम हैं, जो पारस्परिक आघातों से अत्यन्त चञ्चलतापूर्वक उठती हुई महातरंगों के कोलाहल के कारण भयावह दिखाई दे रहे हैं॥ ३०॥

टिप्पणी—अन्योऽन्यप्रतिघात—प्रति√हन्+घञ् भावे = प्रतिघातः, अन्यस्य अन्यस्य प्रतिघातः इति अन्योऽन्यस्य प्रतिघातः = अन्योऽन्यप्रतिघातः। 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' इति वार्तिकात् सिद्धम्। उत्तालाः = भयंकर। 'उत्ताल उत्कटे श्रेष्ठे विकराले प्लवङ्गमे' इति मेदिनी।

उद्गताम्तालात् उत्ताला । सरित्सङ्गमा = नदियों के सङ्गम। यहाँ 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इस न्याय के बल से सयुक्त नदियाँ, ऐसा अर्थ समझना चाहिये। इस श्लोक में शिखरों के अपने वर्ण का परित्याग कर मेघों के श्याम तागुण ग्रहण करने के कारण तद्गुण अलकार है। यह शार्दूलविक्रीडित छद है ॥३०॥

(इति निष्क्रान्ता सर्वे।)

(इसके बाद सब चले गये।)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचिते उत्तररामचरिते पञ्चवटीप्रवेशो नाम द्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥

महाकवि भवभूतिरचित उत्तररामचरित नाटक में 'पचवटीप्रवेश' नामक दूसरा अक समाप्त ॥ २ ॥

इति श्रीतारिणीशर्मकृतोत्तररामचरितेन्द्रकलाख्यव्याख्यायां द्वितीयाङ्कविवरण समाप्तम् ॥ २ ॥



तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति नदीद्वय तमसा मुरला च ।)

(अनन्तर तमसा और मुरला नामक दो नदियाँ आती हैं।)

टिप्पणी—यहाँ नदीद्वय का तात्पर्य तदधिष्ठात्री देवियों से है, क्योंकि जलप्रवाहरूप अचेतन पदार्थ का प्रवेश असभव है।

तमसा—सखि मुरले ! किमसि सम्भ्रान्तेव ?

तमसा—सखि मुरले ! व्याकुल सी क्यों हो ?

मुरला—सखि तमसे ! प्रेषितास्मि भगवतोऽगस्त्यस्य पत्न्या लोपामुद्रया सरिद्वरां गोदावरीमभिधातुम्—'जानास्येव यथा वधूपरित्यागात् प्रभृति—

मुरला—सखि तमसे ! भगवान् अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने नदियों में श्रेष्ठ गोदावरी से यह कहने के लिए मुझे भेजा है कि—'तुम जानती ही हो कि पत्नी का परित्याग करने के बाद से—

टिप्पणी—वधूपरित्यागात् प्रभृति—यहाँ 'कार्तिक्याः प्रभृति' इस भाष्योदाहरण के बल से प्रभृत्यर्थ के योग में पंचमी हुई। वधू=भार्या। 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमर ।

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढघनव्यथः ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः ॥१॥

अन्वय—गभीरत्वात् अनिर्भिन्नः अन्तर्गूढघनव्यथो रामस्य करुणो रसः पुटपाकप्रतीकाशः ॥१॥

व्याख्या—गभीरत्वात् गाम्भीर्यात् (पक्षे गाढलेपवत्त्वात्), अनिर्भिन्नः निर्भेदमप्राप्तः (पक्षे अविदीर्णः), (अतएव) अन्तर्गूढघनव्यथः अन्तः अभ्यन्तरे गूढा गुप्ता घना गाढा व्यथा वेदना यस्य सः (पक्षे अन्तर्मध्ये गूढ गुप्ता घना गाढा व्यथा तापो यस्य सः) रामस्य रामचन्द्रस्य, करुणो रसः

सीतावियोगजन्य. शोक: (पक्षे रसः पारदः), पुटपाकप्रतीकाशः पुटे लौहादिमयौषधपाकपात्रे यः पाकः औषधादीनां सन्तापन तत्प्रतीकाशः तत्तुल्यः (प्रतिभाति) ॥१॥

अनुवाद—राम का करुण रस (अर्थात् सीतावियोगजन्य शोक) पुटपाक के समान है, जो गम्भीरता के कारण व्यक्त तो नहीं होता है किन्तु भीतर छिपी हुई गाढ़ वेदना से युक्त है ॥१॥

टिप्पणी—पुटपाकप्रतीकाशः = पुटपाक के तुल्य । कटोरे के आकार के दो बरतनों से पुटित की हुई औषधि को विशेष आकार के गड्ढे में उपले की आँच से पकाने की एक क्रिया पुटपाक कहलाती है। इस क्रिया से पाचित औषधि को भी पुटपाक कहते हैं। यद्यपि रामचन्द्र जी अपनी स्वाभाविक गम्भीरता के कारण सीतावियोगजन्य दुःख को प्रकट नहीं होने देते थे, किन्तु वे भीतर ही भीतर पुटपाकपाचित औषधि की तरह शोकाग्नि से सन्तप्त हो रहे थे। प्रति√काश्+घञ् कर्मणि करणे वा प्रतीकाशः, पच्यते इति √पच्+घञ् कर्मणि पाकः, पुटे पाकः पुटपाकः सुप्सुपा समास, पुटपाकेन प्रतीकाशः = तुल्य. पुटपाकप्रतीकाशः। 'स्युरुत्तरपदे त्वमी। निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः। इस श्लोक में पूर्ण उपमा अलंकार है ॥१॥

तेन च तथाविधेष्टजनकष्टविनिपातजन्मना प्रकर्षगतेन दीर्घशोकसन्तानेन सम्प्रति परिक्षीणो रामभद्रः। तमवलोक्य कम्पितमिव कुसुमसमबन्धनं मे हृदयम्। अधुना च रामभद्रेण प्रतिनिवर्तमानेन नियतमेव पञ्चवटीवने वधूसहनिवासविस्रम्भसाक्षिणः प्रदेशा द्रष्टव्याः। तत्र च निसर्गधीरस्याप्येवंविधायामवस्थायामतिगम्भीराभोगशोकक्षोभसंवेगात् पदे पदे महाप्रमादानि शोकस्थानानि शङ्कनीयानि। तद्भगवति गोदावरि! त्वया तत्रभवत्या सावधानया भवितव्यम्।'

व्याख्या—तेन पुटपाकतुल्येन, तथाविधेष्टजनकष्टविनिपातजन्मना तथाविधः तादृशः इष्टजनस्य प्रियजनस्य कष्टविनिपातः दुःखोपस्थितिः, तस्मात् जन्म उत्पत्तिः यस्य तेन, प्रकर्षगतेन वृद्धिं प्राप्तेन, दीर्घशोकसन्तानेन दीर्घेण चिरकालव्यापिना शोकसन्तानेन दुःखपरम्परया, सम्प्रति अधुना, परिक्षीण

अतिशयदुर्बलः, रामभद्र । तं रामम्, अवलोक्य दृष्ट्वा, कुसुमसमबन्धनं पुष्पसदृशबन्धनं, मे मम, हृदयं चित्तं, कम्पितमिव विचलितमिव, (अस्ति)। अधुना सम्प्रति, प्रतिनिवर्तमानेन प्रतिगच्छता, रामभद्रेण, नियतमेव निश्चितमेव, पञ्चवटीवने, वधूसहनिवासविस्रम्भसाक्षिणः वध्वा सीतया सह साकं निवासे एकत्रावस्थाने ये विस्रम्भा स्वच्छन्दविहारादिविश्वस्तव्यापारा तेषां साक्षिणः द्रष्टारः, प्रदेशाः स्थानानि, द्रष्टव्याः दर्शनीयाः । तत्र च तेषु स्थानेषु च, निसर्गधीरस्यापि स्वभावेन धैर्ययुक्तस्यापि, एवंविधायाम् ईदृश्याम्, अवस्थायां दशायाम्, अतिगम्भीराभोगशोकक्षोभसंवेगात् अतिगम्भीरः अनन्तत्वात् दुष्प्रापः आभोगः सीमा यस्य सः एतादृशो यः शोकः प्रियाविरहजं दुःखम् तेन यः क्षोभः उद्वेलनम् तस्य संवेगात् प्रतिघातात्, पदे पदे प्रतिपदं, महाप्रमादानि महान्तः अतिशयाः प्रमादाः अनवधानताः येषु तानि, शोकस्थानानि दुःखावकाशाः, शङ्कनीयानि सम्भावनीयानि । तत् तस्मात्, भगवति गोदावरि !, तत्रभवत्या पूज्यया, त्वया भवत्या, सावधानया अप्रमत्तया सम्भावितविपत्तिनिवारणविषये एकाग्रचित्तयेति यावत्, भवितव्यं भाव्यम् ।

अनुवाद—इसलिए प्रियजन (सीता) पर पड़ी वैसी विपत्ति से उत्पन्न होकर बढ़ी हुई चिरकालवर्ती शोकपरम्परा से आजकल रामभद्र बहुत क्षीण हो गये हैं । उन्हें देख कर पुष्प के समान बन्धन वाला मेरा हृदय काँप-सा गया है । इस समय (अयोध्या को) लौटते हुए रामभद्र पञ्चवटी के वन में उन स्थानों को अवश्य देखेंगे, जहाँ सीता के साथ उन्होंने स्वच्छन्द विहार किया था । उन स्थानों में, स्वभावतः धीर होते हुए भी ऐसी अवस्था में असीम शोक से उत्पन्न क्षोभ के आवेग से पग-पग पर उन्हें अत्यधिक प्रमाद में डालने वाले शोकस्थानों (मूर्च्छा आदि) की आशंका की जा सकती है । इसलिए, हे पूज्या भगवती गोदावरी ! आपको सावधान रहना चाहिए ।

टिप्पणी—तेन च—यहाँ हेतु में तृतीया हुई । तथाविध—तथा विधा प्रकारः अन्य बहुव्रीहि० = उस प्रकार का । परिक्षीणः—परि √क्षि + क्त कर्तरि 'निष्ठायामण्यदर्थे' इत्यनेन दीर्घ, 'क्षियो दीर्घात्' इत्यनेन तस्य नः । वधूसहनिवास—सह = एकत्र निवासः सहनिवासः सुप्सुपा समास, वध्वा सह-निवासः सुप्सुपा समास ।

वीचीवातैः सीकरक्षोदशीतैराकर्षद्भिः पद्मकिञ्जल्कगन्धान्।
मोहे मोहे रामभद्रस्य जीव स्वैरं स्वैरं प्रेरितैस्तर्पयेति ॥ २॥

अन्वय—सीकरक्षोदशीतैः पद्मकिञ्जल्कगन्धान् आकर्षद्भिः स्वैरं स्वैरं प्रेरितैः वीचावातैः रामभद्रस्य मोहे मोहे जीवं तर्पय इति ॥२॥

व्याख्या—सीकरक्षोदशीतैः सीकरक्षोदैः जलकणचूर्णैः शीता शीतलाः तैः, पद्मकिञ्जल्कगन्धान् पद्मानां कमलानां किञ्जल्काः केसराः तेषां गन्धान् सौरभाणि, आकर्षद्भिः आकृष्य वहद्भिः, स्वैरं स्वैरं मन्दं मन्दं, प्रेरितैः प्रेषितैः, वीचावातैः तरङ्गसम्पृक्तवायुभिः, रामभद्रस्य रामचन्द्रस्य, मोहे मोहे प्रतिमूर्च्छितावस्थायां, जीवं जीवनं, तर्पय प्रापय (अर्थात् यदा यदा रामः दुःखबाहुल्येन मूर्च्छामधिगच्छेत् तदा तदा त्वम् तादृशैः तरङ्गवायुभिः चैतन्यं प्रतिपादय।), इति इत्यन्तं गोदावरीमभिधातुं प्रेषिताऽस्मीति पूर्वेण अन्वितः ॥२॥

अनुवाद—जल बिन्दुओं के चूर्णों से शीतल, कमल केशरों की सुगन्धि का वहन करने वाली और मन्द मन्द चलने वाली तरङ्ग वायु द्वारा रामभद्र की प्रत्येक मूर्च्छित दशा में चैतन्य सम्पादन करो (अर्थात् जब जब ये शोक के वेग से मूर्च्छित हो जायँ तब तब तुम अपनी तरङ्ग-वायुओं से उन्हें होश में लाओ) ॥२॥

टिप्पणी—वीचीवातैः = वीचीसङ्गताः वाताः वीचीवाताः मध्यमपद लोपी समास, तैः करणे तृतीया। सीकर = जल की छोटी छोटी बूँदें। 'सीकरोऽम्बुकणाः स्मृताः' इत्यमरः। किञ्जल्क = केशर। 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। स्वैरं = मंद। 'मन्दस्वच्छन्दयोः स्वैरम्' इत्यमरः। स्व इरः प्रेरणा अस्मिन् स्वैरम्, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रेण द्वित्वकृते स्वैरं स्वैरम्। जीव = चेतना। √जीव्+घञ् (भाव)। इस श्लोक में शैत्य, सौगन्ध्य एवं मान्द्य इन तीन गुणों का उपादान होने से समुच्चय अलङ्कार है ॥२॥

तमसा—उचितमेव दाक्षिण्यं स्नेहस्य। सञ्जीवनोपायस्तु मौलिकः एव रामभद्रस्यात्र सन्निहितः।

तमसा—स्नेह की उदारता उचित ही है (अर्थात् परम स्नेहवती लोपामुद्रा रामभद्र के प्रति जो उपाय करना चाहती है, वह उचित ही है)। किन्तु आज रामभद्र को होश में लाने का मौलिक उपाय निकट ही विद्यमान है।

टिप्पणी—दाक्षिण्यम्=उदारता । 'दक्षिणे सरलोदारौ' इत्यमरः। दक्षिणस्य भावो दाक्षिण्यम्, दक्षिण+ष्यञ् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इत्यनेन । मौलिकः—मूले सीतारूपे प्रधानावतने भवः इति मूल+ठन् ।

मुरला—कथमिव ?

मुरला—कैसे ?

तमसा—तत्सर्वं श्रूयताम् । पुरा किल वाल्मीकितपोवनोपकण्ठात् परित्यज्य निवृत्ते सति लक्ष्मणे सीतादेवी प्राप्तप्रसववेदना आत्मानमतिदुःखसंवेगाद्गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती । तदैव तत्र दारकद्वयं च प्रसूता भगवतीभ्यां पृथ्वीभागीरथीभ्यामभ्युपपन्ना रसातलं च नीता । स्तन्यत्यागात्परेण तद्दारकद्वयं च तस्य प्राचेतसस्य महर्षेर्गङ्गादेव्या समर्पितं स्वयम् ।

व्याख्या—पुरा पूर्वम्, किल इति पूर्ववृत्तान्तसूचकमव्ययम् । वाल्मीकितपोवनोपकण्ठात् वाल्मीकेः प्राचेतसस्य तपोवनस्य आश्रमस्य उपकण्ठात् समीपात्, परित्यज्य विहाय (सीताम्), निवृत्ते गते, सति, लक्ष्मणे रामानुजे, प्राप्तप्रसववेदना प्राप्ता उपस्थिता प्रसववेदना प्रसवपीडा यस्याः सा, सीतादेवी, अतिदुःखसंवेगात् नितान्तकष्टप्रतिघातात्, आत्मानम् स्वदेहम्, गङ्गाप्रवाहे गङ्गाधारायां, निक्षिप्तवती प्रेरितवती । तदैव निक्षेपानन्तरमेव, तत्र गङ्गाप्रवाहे, दारकद्वयं शिशुद्वयं, प्रसूता प्रसूतवती, भगवतीभ्यां, पृथ्वीभागीरथीभ्यां पृथिवीजाह्नवीभ्याम्, अभ्युपपन्ना अनुगृहीता (सती), रसातलं पातालं नीता च प्रापिता च । स्तन्यत्यागात् स्तन्यस्य मातुः स्तनसम्भूतस्य दुग्धस्य त्यागात् परिहारात्, परेण परवर्तिकालेन वर्षद्वयवयसः परमिति यावत्, तद्दारकद्वयं सीताशिशुद्वितयं, तस्य, महर्षेः महामुनेः, प्राचेतसस्य वाल्मीकेः, स्वयं गङ्गादेव्या साक्षात् भागीरथ्या, समर्पितं दत्तम् ।

अनुवाद—तमसा—वह सब सुनो । पहले जब लक्ष्मण सीता को वाल्मीकि के आश्रम के पास छोड़ कर चले गये तब प्रसव-पीडा पाकर सीतादेवी ने अतिशय दुःख के आवेग से अपने को गंगा की धारा में फेंक दिया (अर्थात् गंगाजी में कूद पड़ीं) । उसी समय वहाँ उनके दो बालक उत्पन्न हुए । भगवती पृथ्वी और गङ्गाजी अनुग्रह करके उनको पाताल ले गईं । दूध छोड़ने के बाद उनके दोनों बालकों को स्वयं गङ्गाजी ने महर्षि वाल्मीकि को सौंप दिया ।

टिप्पणी—उपकण्ठात् = समीप से । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्रा अप्यभितोऽव्ययम् ।' इत्यमर । आत्मानम् = शरीर को । 'आत्मा यत्नो धृति र्बुद्धि स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च ।' इत्यमर । प्रसूता = प्रसव किया । यहाँ 'आदिकर्मणि क्त कर्तरि च' इस सूत्र से कर्ता में क्त प्रत्यय हुआ है । अभ्युपपन्ना = अनुगृहीत । 'अभ्युपपत्तिस्त्वनुग्रह ' इत्यमर । रसातल = पाताल । 'अधोभुवनपाताल बलिसद्म रसातलम् ।' इत्यमर । स्तन्यत्यागात्—इसमें 'अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते' सूत्र से पचमी हुई । परेण—इसमें 'इत्थभूतलक्षणे' से तृतीया हुइ । प्राचेतसस्य = वाल्मीकि को । इसमें 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षाया षष्ठ्येव' इस वचन के बल से सम्प्रदान के अर्थ में षष्ठी हुइ ।

मुरला—(*सविस्मयम्*)

मुरला—(*आश्चर्य सहित*)

> ईदृशाना विपाकोऽपि जायते परमाद्भुतः ।
> यत्रोपकरणीभावमायात्येवविधो जन ॥३॥

अन्वय—ईदृशाना विपाकोऽपि परमाद्भुतो जायते, यत्र एवविधो जन उपकरणीभावम् आयाति ॥३॥

व्याख्या—ईदृशाना सीतारामसदृशाना परमाश्चर्यचरित्राणा, विपाकोऽपि दशाविपर्ययोऽपि, परमाद्भुत अत्यर्थ विस्मयजनक, जायते भवति, यत्र विपाके, एवविध एतादृश (अर्थात् पृथ्वीभागीरथीवाल्मीकिसदृशो जन), उपकरणीभावम् उपकारित्वम्, आयाति प्राप्नोति ॥३॥

अनुवाद—ऐसे (अद्भुत चरित्र वाले) व्यक्तियों की दुरवस्था या दुर्भाग्य का भी अत्यन्त विस्मयकारक होता है, जिसमें ऐसे (पृथिवी, गङ्गा और वाल्मीकि के समान) महानुभाव सहायक होते हैं ॥३॥

टिप्पणी—यहाँ विपाक की परमाद्भुतता के प्रति उत्तरार्ध का वाक्यार्थ हेतु है । अतएव काव्यलिङ्ग अलकार है । यह अनुष्टुप् छद है ॥३॥

तमसा—इदानीन्तु शम्बूकवृत्तान्तेन सम्भावितजनस्थान रामभद्र सरयूमुखादुपश्रुत्य भगवती भागीरथी यदैव लोपामुद्रया स्नेहादभिशङ्कित तदैवाभिशङ्क्य सीतासमेता केनचिदिव महाकार्यप्रसङ्गेन गोदावरीमुपागता ।

व्याख्या—इदानीन्तु अधुना तु, शम्बूकवृत्तान्तेन शम्बूकव्रतानुष्ठानरूपोदन्तेन, सम्भावितजनस्थान सम्भावितम् अनुमित जनस्थाने आगमनम् उपस्थिति यस्य तम्, रामभद्र, सरयूमुखात् सरयू इत्याख्याया कस्याश्चित् नद्या मुखात्, उपश्रुत्य श्रुत्वा, भगवती, भागीरथी गङ्गा, यदेव राममोहादि, लोपामुद्रया, स्नेहात्, अभिशङ्कितम् आशङ्कितम्, तदेव, अभिशङ्क्य आशङ्क्य, सीतासमेता सीतया समेता मिलिता सती (भागीरथी), गृहाचारव्यपदेशेन गृहकार्यच्छलेन, गोदावरीम् उपागता गोदावर्याः समीपमागतास्ति इति।

अनुवाद—तमसा—अभी-अभी 'शम्बूक के (तपश्चरण रूप) वृत्तान्त से रामभद्र जनस्थान में पधारेंगे' यह समाचार सरयू के मुख से सुनकर भगवती भागीरथी उसी बात की आशंका करके, जिस बात की आशंका स्नेहवश लोपामुद्रा को थी, सीता को साथ मे लिये कुछ घरेलू काम के बहाने गोदावरी के पास आयी हैं।

टिप्पणी—सरयूमुखात्— इसमें 'आख्यातोपयोगे' सूत्र से पचमी हुई।

मुरला—सुष्ठु चिन्तितं भगवत्या भागीरथ्या—'राजनीतिस्थितस्यास्य खलु तैश्च तैश्च जगतामाभ्युदयिकैः कार्यैर्व्यापृतस्य रामभद्रस्य नियताश्चित्तविक्षेपाः। अव्यग्रस्य पुनरस्य शोकमात्रद्वितीयस्य पंचवटीप्रवेशो महाननर्थ' इति। कथं गीतया रामभद्रोऽयमाश्वासनीयः स्यात्?

व्याख्या—सुष्ठु सम्यक्, चिन्तितं विचारितम्, भगवत्या, भागीरथ्या गङ्गादेव्या। 'राजनीतिस्थितस्य राजोचितकर्तव्यनिष्ठस्य, अस्य रामभद्रस्य, तैश्च-तैश्च प्रसिद्धैः, जगताम् लोकानाम्, आभ्युदयिकैः उन्नतिसाधकैः, कार्यैः कर्मभिः, व्यापृतस्य आसक्तचित्तस्य, रामभद्रस्य, चित्तविक्षेपाः मनसो विक्षिप्तयः, नियताः नियन्त्रिताः, पुनः किन्तु, अव्यग्रस्य सुस्थचित्तस्य, शोकमात्रद्वितीयस्य, केवलशोकसहायस्य, अस्य रामभद्रस्य, पञ्चवटीप्रवेशः पञ्चवट्यामागमनम्, महान्, अनर्थः अनिष्टम् अनिष्टहेतुरित्यर्थः, कथ केन प्रकारेण, सीतया, अयं, रामभद्रः आश्वासनीयः सान्त्वयितव्यः, स्यात् भवेत्?

अनुवाद—मुरला—भगवती गंगा ने सुन्दर सोचा है कि राजनीति में लगे रहने एवं संसार के उन-उन उन्नतिसाधक कार्यों में आसक्त होने के कारण रामभद्र के चित्त-विक्षेप नियन्त्रित रहते थे। किन्तु सम्प्रति शान्त अथ

न केवल शोकसहचारी रामभद्र का पञ्चवटी में प्रवेश महान् अनर्थ का कारण है। तो सीतादेवी रामभद्र को कैसे आश्वस्त करेंगी ?

टिप्पणी—आभ्युदयिकैः = अभि-उद्√इ + अच् भावे = अभ्युदयः मंगल प्रयोजनमेषामिति आभ्युदयिकानि अभ्युदय + ठञ्, तैः। शोकमात्रद्वितीयस्य—शोक एव शोकमात्रम् मयूरव्यंसकादि तत्०, तत् द्वितीयं यस्य बहुव्रीहि स०। कार्ये—इसमें 'हेतौ' सूत्र से तृतीया हुई। अनर्थः—इसका अर्थ 'आयुर्घृतम्' की तरह कार्यकारणभाव सम्बन्ध में लक्षणा होने से अनिष्ट का हेतु है। कथम्—मुरला ने यह प्रश्न इसलिए किया कि उस समय सीता जी गोदावरी के साथ जल में थीं और रामचन्द्र जी पञ्चवटी में थे। तो भला सीता देवी उन्हें किस प्रकार आश्वासन दे सकती थीं ?

तमसा—उक्तमेव भगवत्या भागीरथ्या—'वत्से देवयजनसम्भवे सीते! अद्य खल्वायुष्मतोः कुशलवयोर्द्वादशस्य जन्मवत्सरस्य सङ्ख्यामङ्गलग्रन्थिरभिवर्तते। तदात्मनः पुराणश्वशुरमेतावतो मानवस्य राजर्षिवंशस्य प्रसवितारं सवितारमपहतपाप्मानं देवं स्वहस्तापचितैः पुष्पैरुपतिष्ठस्व। न त्वामवनिपृष्ठवर्तिनीमस्मत्प्रभावाद्वनदेवता अपि द्रक्ष्यन्ति किमुत मर्त्याः' इति। अहमप्याज्ञापिता—'तमसे! त्वयि प्रकृष्टप्रेमैव वधूर्जानकी। अतस्त्वमेवास्याः प्रत्यनन्तरीभव' इति। साहमधुना यथादिष्टमनुतिष्ठामि।

व्याख्या—उक्तं कथितं, भगवत्या, भागीरथ्या एव जाह्नव्या एव—'वत्से!, देवयजनसम्भवे यज्ञभूमिसमुद्भूते, सीते, अद्य, खलु, आयुष्मतोः दीर्घजीविनोः, कुशलवयोः, द्वादशस्य जन्मवत्सरस्य जन्मसंवत्सरादारभ्य द्वयधिकदशपूरणीभूतस्य वत्सरस्य, सङ्ख्यामङ्गलग्रन्थिः सङ्ख्यायै वयसो वर्षसङ्ख्यायै मङ्गलजननाय ग्रन्थिः, अभिवर्तते अभिविद्यते। तत् तस्मात्, आत्मनः स्वस्य, पुराणश्वशुरं पुरातनश्वशुरम्, एतावतः इयत्सङ्ख्यस्य, मानवस्य वैवस्वतमनुसम्बन्धिनः राजर्षिवंशस्य, प्रसवितारम् उत्पादयितारम्, अपहतपाप्मानम्, अपहतः विनाशितः पाप्मा पापं येन तं, देवं, सवितारं सूर्यम्, स्वहस्तापचितैः स्वहस्तेन स्वकरेण अपचितैः सङ्गृहीतैः, पुष्पैः कुसुमैः, उपतिष्ठस्व पूजय। अस्मत्प्रभावात् मम माहात्म्यात्, अवनिपृष्ठवर्तिनीं भूतलस्थितां, त्वां, वनदेवता अपि, न द्रक्ष्यन्ति न अवलोकयिष्यन्ति, मर्त्याः मनुष्या द्रक्ष्यन्ति इति किमुत किं वक्तव्यम्!

अहमपि तमसापि, आज्ञापिता आदिष्टा—'तमसे !, त्वयि, त्वद्विषये वधू. स्नुषा, जानकी सीता, प्रकृष्टप्रेमैव प्रकृष्ट सातिशय प्रेम प्रीति. यस्याः सा तथोक्तैव ! अतः, त्वमेव, अस्या. सीतायाः, प्रत्यनन्तरीभव सन्निहिता भव !' साहम्, अधुना सम्प्रति, यथादिष्टम् आदेशानुरूपम्, अनुतिष्ठामि करोमि।

अनुवाद—भगवती जाह्नवी ने ही कहा है—'वत्से ! यज्ञभूमि में उत्पन्न सीते ! आज आयुष्मान् कुश और लव के बारहवें जन्म-संवत्सर की मगल ग्रंथि है (अर्थात् बारहवीं वर्षगाँठ है)। इसलिये तुम अपने हाथ से चुने हुए पुष्पों से अपने पुरातन श्वशुर, इतनी बड़ी संख्या में वैवस्वत मनु के सम्बन्धी राजर्षि वंश के उत्पादक और पापनाशक सूर्यदेव की अर्चना करो। मेरे प्रभाव से भू-पृष्ठ पर रहती हुई तुम्हें वनदेवता भी नहीं देख सकेंगे, मानवों की तो बात ही क्या ?' मुझे भी उन्होंने आदेश दिया है कि—'तमसे ! बहू सीता तुमसे अत्यधिक प्रेम करती ही है। इसलिये तुम ही इनकी सहचारिणी बनो (अर्थात् साथ में रहो)।' सो मैं इस समय उनके आदेशानुसार कार्य कर रही हूँ।

टिप्पणी—आयुष्मतो =आयुष्मानों का। आयुष्मान् का पर्यायवाची शब्द जवातृक है। 'जैवातृक स्यादायुष्मान्' इत्यमर। द्वादशस्य=बारहवें का। द्वौ च दश च द्वादश, 'द्व्यष्टन· संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः' इति सूत्रेण आत्वम्, द्वादशानां पूरणो द्वादश तस्य, 'तस्य पूरणे डट्' इत्यनेन डट् प्रत्ययः। सूत्रग्रन्थिमंगलग्रन्थिः=वर्षगाँठ या जन्मगाँठ। इस दिन स्त्रियाँ बच्चे की कलाई में एक डोरा बाँधती हैं और उसमें उतनी ही गाँठें लगाती हैं, जितने वर्ष का बच्चा हुआ रहता है। राजर्षिवंशस्य—राजानश्च ते ऋषयश्चेति राजर्षय कर्मधारय, तेषां वंश·, तस्य। पाप्मा = पाप। 'अस्त्री पङ्क पुमान् पाप्मा पाप किल्बिषकल्मषम्।' इत्यमरः। उपतिष्ठस्व = पूजा करो। 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इस वार्तिक से यहाँ आत्मनेपद होता है। प्रत्यनन्तरी भव = साथ साथ रहो। अप्रत्यनन्तरा प्रत्यनन्तरा सम्पद्यते इति प्रत्यनन्तरीभवति, प्रत्यनन्तरा+च्वि, ईत्व,√भू+ लोट्—सिप्।

मुरला—अहमप्येतं वृत्तान्तं भगवत्यै लोपामुद्रायै निवेदयामि। रामभद्रोऽप्यागत एवेति तर्कयामि।

मुरला—मैं भी यह समाचार भगवती लोपामुद्रा से निवेदन कर देती हूँ। रामभद्र भी आ ही गये हैं, ऐसा मेरा अनुमान है।

तमसा—वदिय गोदावरी ह्रदान्निर्गत्य—

तमसा—सो यह (जानकी) गोदावरी के ह्रद (गहरे गड्ढे) से निकलकर—

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं दधती विलोलकबरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी॥ ४॥

अन्वय—परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं विलोलकबरीकम् आननं दधती जानकी करुणस्य मूर्तिः अथवा शरीरिणी विरहव्यथा इव वनम् एति॥ ४॥

व्याख्या—परिपाण्डुदुर्बलकपोलसुन्दरं परिपाण्डू श्वेतच्छायौ दुर्बलौ क्षीणौ कपोलौ गण्डौ यस्मिन् तत् तच्च तत् सुन्दरं मनोहरं, विलोलकबरीकं विलोला चञ्चला कबरी केशपाशः यस्मिन् तत्, आननं मुखं, दधती धारयन्ती, जानकी सीता, करुणस्य करुणरसस्य, मूर्तिः आकृतिः, अथवा, शरीरिणी मूर्तिमती, विरहव्यथा इव वियोगवेदना इव, वनं पञ्चवटीवनम्, एति आगच्छति॥ ४।

अनुवाद—पीलापन लिये हुए श्वेत तथा क्षीण कपोलों से मनोहर एवं चञ्चल केशराशि से युक्त मुख धारण करने वाली सीता करुण रस की मूर्ति अथवा मूर्तिमती वेदना की तरह पञ्चवटी में आ रही है॥ ४॥

टिप्पणी—दधती—जुहोत्यादिगणीय धा धारणपोषणयोः धातु से शतृ प्रत्यय, द्वित्वादि और स्त्रीत्व। इस श्लोक में जहाँ क्षीण कपोल से सौन्दर्य हीनता प्रकट होनी चाहिये था वहाँ सौन्दर्य की उत्पत्ति होने से विभावना अलङ्कार है और तीसरे तथा चौथे चरण में भावाभिमानि वाच्य एवम् उत्प्रेक्षादय अलङ्कार हैं। फिर इन अलङ्कारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह मञ्जुभाषिणी छन्द है॥ ४॥

मुरला—अयं हि सा—

मुरला—यह वही सीता देवी है—

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं
हृदयकमलशोषी दारुणो दीर्घशोकः।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरं
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम्॥ ५॥

अन्वय—हृदयकमलशोषी दारुणो दीर्घशोको बन्धनात् विप्रलूनं मुग्धं किसलयम् इव परिपाण्डु क्षामम् अस्याः शरीरं शरदिजो घर्मः केतकीगर्भपत्रम् इव ग्लपयति ॥ ५ ॥

व्याख्या—हृदयकमलशोषी हृदयपद्मशोषकः, दारुणो विषमः, दीर्घशोकः बहुकालस्थायी सन्तापः, बन्धनात् वृन्तात्, विप्रलूनं छिन्नं, मुग्धं मनोहरं, किसलयमिव नवपल्लवमिव, परिपाण्डु नितान्तश्वेतं, क्षामं कृशम्, अस्याः सीतायाः, शरीरं गात्रं, शरदिजः शरत्कालोत्पन्नो, घर्मः आतपः, केतकीगर्भपत्रमिव केतकीमध्यस्थितपर्णमिव ग्लपयति म्लानीकरोति ॥ ५ ॥

अनुवाद—जैसे शरद् ऋतु का घाम केवड़े के फूल के भीतरी दल को मुरझा देता है, उसी तरह हृदय-कमल को सुखाने वाला कठोर एवं चिरकालस्थायी शोक वृन्त (डंठल) से टूटे हुए मनोहर नवपल्लव के समान पीलापन लिये हुए श्वेत एवं क्षीण सीता के शरीर को म्लान कर रहा है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—विप्रलूनम्—वि—प्र√लू+क। हृदयकमलशोषी—हृदयमेव कमलं हृदयकमलं, 'मयूरव्यंसकादयश्च' से समास, हृदयकमलं शोषयति इति तच्छीलो हृदयकमलशोषी, हृदयकमल√शुष्+णिच्+णिनि। शरदिजः—शरदि जातः, शरदि√जन्+ड, 'प्रावृट्शरत्कालदिवां जे' इससे सप्तमी का अलुक्। ग्लपयति—ग्लै हर्षक्षये धातु से णिच्+लट्—तिप्। क्षामम्—√क्षै+क, 'क्षायो मः' इत्यनेन तस्य मः। इस श्लोक में रूपक अलंकार दो उपमा अलंकारों से संकीर्ण है। यह मालिनी छन्द है ॥५॥

(*इति परिक्रम्य निष्क्रान्ते* ।)

(*अतः पर दोनों कुछ पग चलकर निकल गईं* ।)

इति शुद्धविष्कम्भकः ।

शुद्ध विष्कम्भक समाप्त ।

टिप्पणी—यहाँ 'प्रेषितास्मि' इत्यादि से बीते हुए कथांशों का और 'साहमधुना यथादिष्टमनुतिष्ठामि' इत्यादि से होने वाले कथांशों का निदर्शन होने से शुद्ध विष्कम्भक है। इसका लक्षण पहले बताया जा चुका है।

(*नेपथ्ये*) जात ! जात[1] !!

(*नेपथ्य में*) पुत्र ! पुत्र !!

(*ततः प्रविशति पुष्पावचयव्यग्रा सकरुणौत्सुक्यमाकर्णयन्ती सीता ।*)

(*तदनन्तर फूल चुनने में व्यग्र सीता करुणा और उत्सुकता के साथ सुनते हुए आती हैं ।*)

टिप्पणी—सकरुणौत्सुक्यम्—करुणा च औत्सुक्यं च द्व० स० ताभ्यां सह यथा स्यात् तथा ।

सीता—अम्हहे, जाणामि—'पिअसही वासन्दी व्याहरदि'त्ति। [अहो, जानामि—'प्रियसखी वासन्ती व्याहरती'ति ।]

सीता—अहा ! समझ गयी—'प्रिय सखी वासन्ती बोल रही है ।'

(*पुनर्नेपथ्ये*)

(*फिर नेपथ्य में*)

सीतादेव्या स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रै-
रग्रे लोलः करिकलभको यः पुरा वर्धितोऽभूत् ।

अन्वय—पुरा अग्रे सीतादेव्या यः लोलः करिकलभकः स्वकरकलितैः सल्लकीपल्लवाग्रैः वर्धितोऽभूत् ।

व्याख्या—पुरा वनवासकाले, अग्रे समीपे, सीतादेव्या, यः, लोलः चञ्चलः, करिकलभकः हस्तिशावकः, स्वकरकलितैः निजहस्तखण्डितैः, सल्लकीपल्लवाग्रैः सल्लकीनां गजभक्ष्यलतानां पल्लवाग्रैः किसलयाग्रैः, वर्धितः पोषितः, अभूत् जातः ।

अनुवाद—पहले सामने (खड़े हुए) जिस चञ्चल हाथी के बच्चे को सीता देवी ने अपने हाथ से खण्डित की हुई गजभक्ष्या लता के पल्लवों के अग्र भागों से (अर्थात् पल्लवाग्र खिलाकर) बढ़ाया था (अर्थात् पोषण किया था)।

सीता—किं तस्स ? [किं तस्य ?]

सीता—उसका क्या हुआ ?

१—प्रमादः प्रमादः । इति पाठान्तरम् ।

(पुनर्नेपथ्ये)

(फिर नेपथ्य में)

वध्वा सार्धं पयसि विहरन् सोऽयमन्येन दर्पा-
दुद्दामेन द्विरदपतिना सन्निपत्याभियुक्तः ॥ ६ ॥

अन्वय—सोऽयं वध्वा सार्धं पयसि विहरन् अन्येन उद्दामेन द्विरदपतिना दर्पात् सन्निपत्य अभियुक्तः ॥ ६ ॥

व्याख्या—सोऽयं निकटवर्ती, कलभ, गजशावक इत्यर्थः वध्वा निजप्रियया करेणुकया इत्यर्थः, सार्धं सह, पयसि जले, विहरन् क्रीडन्, अन्येन अपरेण, उद्दामेन मदमत्तेन, द्विरदपतिना करिवरेण, दर्पात् अवलेपात्, सन्निपत्य कुतोऽपि समागत्य, अभियुक्त आक्रान्तः ॥ ६ ॥

अनुवाद—वह गजशावक अपनी स्त्री (हथिनी) के साथ जल-विहार कर रहा था कि दूसरे मतवाले हाथी ने दर्प से आकर उसे धर दबोचा ॥ ६ ॥

टिप्पणी—विहरन्—वि√हृ+शतृ । उद्दामेन—उद्गतम् दाम यस्य स तेन । सन्निपत्य—सम्—नि√पत्+क्त्वा—ल्यप् ।

सीता—(*ससम्भ्रम कतिचित्पदानि गत्वा*) अज्जउत्त ! परित्ताहि परित्ताहि मह पुत्तअम् । (*विचिन्त्य*) हद्धी हद्धी ! ताइं एव्व चिरपरिइदाइं अक्खराइं पञ्चवटीदंसणेण मं मन्दभाइणिं अनुबन्धन्ति । हा अज्जउत्त ! (*इति मूर्च्छति ।*) [आर्यपुत्र ! परित्रायस्व परित्रायस्व मम पुत्रकम् । हा धिक् हा धिक् ! तान्येव चिरपरिचितान्यक्षराणि पञ्चवटीदर्शनेन मां मन्दभागिनीमनुबध्नन्ति । हा आर्यपुत्र !]

सीता—(*उतावली से कुछ पग चल कर*) आर्यपुत्र ! मेरे पुत्र की रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये । (*विचार कर*) हाय धिक्कार है, हाय धिक्कार है ! पञ्चवटी को देखने से वे ही चिरपरिचित अक्षर मुझ अभागिन का अनुसरण करते हैं (अर्थात् सहसा मुँह से निकल पड़े हैं) । हा आर्यपुत्र ! (*इतना कह-कर मूर्च्छित हो जाती हैं ।*)

(प्रविश्य)

(प्रवेश कर)

तमसा—समास्ससिहि समास्ससिहि ।

तमसा—आश्वस्त हो जाओ, आश्वस्त हो जाओ ।

(नेपथ्ये)

(नेपथ्य में)

विमानराज ! अत्रैव स्थीयताम् ।

विमानश्रेष्ठ ! यहीं रुको ।

सीता—(ससाध्वसोल्लासम्) अम्हहे जलभरभरिअमेहमन्थरत्थणिअगम्भीरमसला कुदो णु एसा भारदी णिग्घोसभरन्तकण्णविवरं मपि मन्दभाइणीं मत्ति उस्सुआवेइ ? [अहो, जलभरभरितमेघमन्थरस्तनितगम्भीरमांसला कुतो नु एषा भारती निर्घोषभ्रियमाणकर्णविवरां मामपि मन्दभागिनीं झटित्युत्सुकापयति ?]

व्याख्या—ससाध्वसोल्लासं साध्वसेन भयेन उल्लासेन आनन्देन च सहित यथा स्यात् तथा, अहो ! गजलभरभरितमेघमन्थरस्तनितगम्भीरमांसला जलस्य अम्भस. भर. भारः तेन भरित. पूर्ण. यो मेघ. तस्य यत् मन्थर मद स्तनित गर्जित तदिव गम्भीरा मन्द्रा सा चासौ मांसला पुष्टा, एषा समीपतरवर्तिनी, भारती वाणी, कुतो नु कस्मात् प्रदेशात् नु, (आगत्य) निर्घोषभ्रियमाणकर्णविवरा निर्घोषेण शब्देन भ्रियमाणे पूर्यमाणे कर्णविवरे श्रोत्रच्छिद्रे यस्या. ताम्, मन्दभागिनीमपि मन्दभागामपि, मा सीता, झटिति आशु, उत्सुकापयति उत्कण्ठिता करोति !

अनुवाद—सीता—(भय और उल्लास के साथ) अहा ! जल के भार से पूर्ण बादल के मद गर्जन के समान गंभीर और बलवती यह वाणी कहाँ से आकर शब्द द्वारा मेरे कर्ण विवर को भरते हुए मुझ मंदभागिनी को भी शीघ्र उत्कंठित कर रही है !

तमसा—(सस्मितास्रम्) अयि वत्से !

तमसा—(मुस्कराहट और अश्रुपात सहित) अरी बेटी !

अपरिस्फुटनिस्वाने[1] कुतस्त्येऽपि त्वमीदृशी ।
स्तनयित्नोर्मयूरीव चकितोत्कण्ठिता स्थिता ॥७॥

अन्वय—स्तनयित्नो. कुतस्त्येऽपि अपरिस्फुटनिस्वाने मयूरी इव त्वम् ईदृशी चकिता उत्कण्ठिता (च) स्थिता ॥७॥

---

१ किमप्यकेऽसि निनदे इति पाठान्तरम् ।

व्याख्या—स्तनयित्नोः मेघस्य, कुतस्त्येऽपि कस्माच्चिदपरिज्ञातस्थानागतेऽपि, अपरिस्फुटनिक्वाणे अव्यक्तशब्दे, मयूरी इव शिखिनी इव, त्वं जानकी, ईदृशी एतादृशी, चकिता चञ्चला, उत्कण्ठिता उत्सुका (च सती), स्थिता (असि) वर्तसे ॥७॥

अनुवाद—बादल के कहीं से अव्यक्त शब्द होने पर मयूरी की तरह तुम (क्यों) ऐसी चकित और उत्कंठित हो रही हो (अर्थात् जैसे बादल की गरज सुनकर मोरनी चकित और उत्कंठित हो जाती है उसी तरह तुम भी कहीं से आयी हुई उस अस्फुट कंठध्वनि को सुनकर क्यों इस प्रकार समुत्कंठित और व्याकुल हो गई हो ?) ॥७॥

टिप्पणी—निक्वाण = वीणा आदि का शब्द। 'निक्वाणो निक्वणः क्वाणः क्वणः क्वणनमित्यपि' इत्यमरः। स्तनयित्नु = बादल। 'अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः' इत्यमर। कुतस्त्य = कहाँ का। कुतस्+त्यप् 'अव्ययात्त्यप्' इत्यनेन। यहाँ बोलने वाले के स्वरूप के प्रच्छन्न होने के कारण यह शब्द कहा गया है। इस श्लोक में उपमा अलंकार है। यह अनुष्टुप् छन्द है ॥७॥

सीता—भअवदि ! किं भणासि अपरिप्फुडेत्ति। सरसञ्जोएण पच्चहिजाणामि णं अज्जउत्तेण एव्व एदं वाहरिदम्। [भगवति ! किं भणस्यपरिस्फुटेति। स्वरसंयोगेन प्रत्यभिजानामि नन्वार्यपुत्रेणैवैतद् व्याहृतम्।]

सीता—भगवति ! आप क्या कह रही हैं—'अस्पष्ट शब्द है।' मैं तो स्वर-संयोग (कान और शब्द के सम्बन्ध) से समझ रही हूँ कि आर्यपुत्र ही यह बोले हैं।

टिप्पणी—प्रत्यभिजानामि = प्रत्यभिज्ञा करती हूँ। अनुभूत पदार्थ का पुनः अनुभव करना प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। व्याहृतम् = कहा। वि—आ√हृ+क्त।

तमसा—श्रूयते—'तपस्यत किल शूद्रस्य दण्डधारणार्थमैक्ष्वाको राजा दण्डकारण्यमागत' इति।

तमसा—सुनती हूँ कि तपस्या करने वाले शूद्र (शम्बूक) को दंड देने के लिए इक्ष्वाकुवंशी राजा (रामचन्द्र) दंडकारण्य में आये हुए हैं।

.णी—तपस्यतः=तपश्चर्या करते हुए। तपश्चरतीत्यर्थे 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्तिचरोः' इतिसूत्रेण क्यङ्प्रत्यय. तथा 'तपसः परस्मैपदञ्च' इति वार्तिकेन परस्मैपद, तत. शतृप्रत्ययः। दण्डधारणार्थम्—दण्डधारणाय इदम् इति दण्डधारणार्थम् 'अर्थेन सह नित्यसमासः विशेष्यलिङ्गता च' इति नित्यसमासः। ऐक्ष्वाकः—इक्ष्वाकोः गोत्रापत्यं पुमान् इति व्युत्पत्त्या 'दाण्डिनायन' इति सूत्रेण निपातनादस्य सिद्धिः।

सीता—दिट्ठिआ अपरिहीणधम्मो सो राआ। [दिष्ट्या अपरिहीनधर्म. स राजा।]

सीता—भाग्य से वे राजा धर्महीन (राजोचित कर्तव्य से रहित) नहीं हुए हैं।

(नेपथ्ये)

19/64 (नेपथ्य में)

यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे
यानि प्रियासहचरश्चिरमध्यवात्सम्।
एतानि तानि बहुकन्दरनिर्झराणि
गोदावरीपरिसरस्य गिरेस्तटानि ॥ ८ ॥

अन्वय—यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि मे बन्धवः यानि प्रियासहचरः चिरम् अध्यवात्सम्, तानि एतानि बहुकन्दरनिर्झराणि गोदावरीपरिसरस्य गिरेः तटानि (सन्ति) ॥ ८ ॥

व्याख्या—यत्र येषु तटेषु, द्रुमा अपि वृक्षा अपि, मे मम, बन्धवः बान्धवाः (आसन्), यानि तटानि, प्रियासहचरः सीतया सहितः, (अहं) चिरं बहुकालम्, अध्यवात्सम् अध्युषितवान्, तानि पूर्वानुभूतानि, एतानि समीपवर्तीनि, बहुकन्दरनिर्झराणि बहवः अनेके कन्दराः गुहाः निर्झराः जलप्रवाहाः येषु तानि, गोदावरीपरिसरस्य गोदावर्या नद्याः परिसरस्य प्रान्तवर्तिनः, गिरेः पर्वतस्य, तटानि प्रदेशाः (वर्तन्ते) ॥ ८ ॥

अनुवाद—जहाँ वृक्ष और पशु भी मेरे बन्धु थे, जहाँ प्रिया (सीता) के साथ मैंने बहुत काल तक निवास किया था, वे ये ही गोदावरी के समीप (में स्थित) अनेक गुफाओं एवं झरनों वाले पर्वत के प्रदेश हैं। ॥८॥

टिप्पणी—मृगा.=पशु । 'पशवोऽपि मृगा.' इत्यमरः । यानि—यहाँ 'उपान्वध्याङ्वस', इस सूत्र से कर्मसंज्ञा होने पर द्वितीया हुई । अध्यवात्सम्—अधि,√वस्+लुङ्—मिप अम् । **गोदावरीपरिसरस्य**—परि,√सृ+घ+संज्ञाया=परिसर, गोदावरी परिसरः=पर्यन्तभू' यस्य तस्य । गोदावरी है समीप में जिसके अर्थात् गोदावरी के समीप । इस श्लोक में 'मुनि, मुनिपत्नी आदि का तो कहना ही क्या, पशु और वृक्ष भी बाधव थे', इस भाव के स्वत. सिद्ध होने के कारण अर्थापत्ति अलंकार है। यह वसन्ततिलका छंद है ॥ ८ ॥

सीता—हा कहं पहादचन्दमण्डलापण्डरपरिक्खामदुब्बलेन आआरेण णिअसोम्मगम्भीराणुभावमेत्तपच्चहिजाण्णो एव्व अज्जउत्तो होदि। भअवदि तमसे ! धारेहि मम् । (*इति तमसामाश्लिष्य मूर्च्छति* ।)
[हा कथं प्रभातचन्द्रमण्डलापाण्डरपरिक्षामदुर्बलेनाकारेण निजसौम्यगम्भीरानुभावमात्रप्रत्यभिज्ञेय एवार्यपुत्रो भवति । भगवति तमसे ! धारय माम् ।]

व्याख्या—प्रभातचन्द्रमण्डलापाण्डरपरिक्षामदुर्बलेन प्रभाते प्रत्यूषे यत् चन्द्रमण्डलम् इन्दुबिम्बं तदिव आपाण्डरः श्वेतच्छायः परिक्षाम' कृशः दुर्बलः बलहीनः तेन, आकारेण आकृत्या, निजसौम्यगम्भीरानुभावमात्रप्रत्यभिज्ञेय निजः स्वीयः सौम्य शान्त गम्भीरः धीर' ईदृशो योऽनुभावः प्रभावः तावन्मात्रेण प्रत्यभिज्ञेय. प्रत्यभिज्ञातु शक्य., आर्यपुत्र, एव भवति। भगवति, तमसे, धारय गृहाण (अन्यथा मूर्च्छया भूमौ पतनं निश्चितं स्यात्) ।

अनुवाद—सीता—हाय ! यह कैसे ! ये प्रातःकालीन चन्द्रमंडल के समान किंचित श्वेत, क्षीण एवं बलहीन आकृति वाले व्यक्ति तो आर्यपुत्र ही हैं, जो अपने सौम्य एवं गम्भीर प्रभाव मात्र से पहचाने जा रहे हैं । भगवति तमसे ! मुझे सँभालिये । (*यह कह कर तमसा का आलिंगन करके मूर्च्छित हो जाती हैं* ।)

टिप्पणी—आआरेण—अत्र उपलक्षणे वा सहार्थे तृतीया । प्रत्यभिज्ञेय —प्रति—अभि√ज्ञा+यत् ।

तमसा—वत्से ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

तमसा—वत्से ! आश्वस्त हो, आश्वस्त हो।

(नेपथ्ये)

(नेपथ्य में)

अनेन पचवटीदर्शनेन।

इस पचवटी के दर्शन से—

अन्तर्लीनस्य दु खाग्नेरद्योद्दाम ज्वलिष्यत ।
उत्पीड इव धूमस्य मोह. प्रागावृणोति माम् ॥ ९ ॥

अन्वय—अन्तर्लीनस्य अद्य उद्दाम ज्वलिष्यत. दुःखाग्नेः धूमस्य उत्पीड इव मोहः मा प्राक् आवृणोति ॥ ९ ॥

व्याख्या—अन्तर्लीनस्य अन्त अन्त.करणे लीनस्य गूढ स्थितस्य, अद्य अस्मिन् दिवसे, उद्दामम् अतीव, ज्वलिष्यत. देदीप्यिष्यतः, दु खाग्नेः शोकानलस्य, धूमस्य, उत्पीड इव राशिरिव, मोह. मूर्च्छा, मा राम, प्राक् पूर्वम्, आवृणोति आच्छादयति (अर्थात् यथा अनलोत्पन्नो धूमो वह्नेः ज्वलनात् पूर्वं तत् स्थानम् आवृणोति तथा दु खोत्पन्ना मूर्च्छा दु.खप्रसरणात् पूर्वं माम् आच्छादयति)।

अनुवाद—अतःकरण में छिपे हुए और आज अत्यत जलने वाले शोकानल की धूम-राशि की तरह मूर्च्छा मुझे (दु.ख के फैलने से) पहले आच्छादित कर रही है ॥ ९ ॥

टिप्पणी—दु खाग्नेः—दुःखम् अग्निरिव उपमित कर्मधारय। उद्दामम्—उद्गत दामायाः इति उद्दामम् यथा स्यात् तथा क्रियाविशेषणत्वात् द्वितीया। इस श्लोक के पूर्वार्ध में लुप्तोपमा और उत्तरार्ध में साधारणोपमा अलकार हैं। फिर दोनों में अगागिभाव सबध होने से सकर अलकार हो जाता है ॥ ९ ॥

हा प्रिये जानकि !

हाय प्यारी सीता !

तमसा—(स्वगतम्) इदं तावदाशङ्कितं गुरुजनेन ।

तमसा—(अपने आप) गुरुजनों (लोपामुद्रा और गगा) को इसी बात की शका हुई थी।

सीता—(समाश्वस्य) हा कहं एदम् ? [हा कथमेतत् ?]

सीता—(*आश्वस्त होकर*) हाय ! यह कैसे हुआ ?

(पुनर्नेपथ्ये)

(*फिर नेपथ्य में*)

हा देवि दण्डकारण्यवासप्रियसखि विदेहराजपुत्रि ! (*इति मूर्च्छति* ।)

हाय देवी ! दण्डकारण्यवासकालीनप्रियसखी ! जनककुमारी ! (*यह कह कर मूर्च्छित हो जाते हैं* ।)

सीता—हद्धी हद्धी ! मं मन्दभाइणिं वाहरिअ आमीलिदणेत्त-णीलुप्पलो मुच्छिदो एव्व। हा, कहं धरणिपिट्ठे णिरुद्धणिस्सासणीसहं विपल्हत्थो। भअवदि तमसे ! परित्ताहि परित्ताहि। जीवावेहि अज्जउत्तम्। (इति पादयोः पतति।) [हा धिक् हा धिक् ! मां मन्दभागिनीं व्याहृत्यामीलितनेत्रनीलोत्पलो मूर्च्छित एव। हा, कथं धरणीपृष्ठे निरुद्धनिःश्वासनिःसहं विपर्यस्तः। भगवति तमसे ! परित्रायस्व परित्रायस्व। जीवयार्यपुत्रम्।]

व्याख्या—मन्दभागिनीम् हतभाग्यां, मां सीतां, व्याहृत्य उक्त्वा आमीलितनेत्रनीलोत्पलः आमीलिते ईषन्मुद्रिते नेत्रे नयने नीलोत्पले नीलेन्दीवरे इव यस्य सः, मूर्च्छित एव गतचेतन एव। हा, कष्टम्, कथं केन प्रकारेण, धरणीपृष्ठे भूतले, निरुद्धनिःश्वासनिःसहं निरुद्धः व्याहतः निःश्वासो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा स्यात् तथा एव निःसहं दुर्बलं यथा स्यात् तथा, विपर्यस्तः पतितः। भगवति, तमसे, परित्रायस्व रक्ष (माम्), जीवय सचेतनं कुरु, आर्यपुत्रम्।

अनुवाद—सीता—हाय धिक्कार है, हाय धिक्कार है। मुझ अभागिन को सम्बोधित करते हुए (आर्यपुत्र) नील कमल के समान नेत्रों को थोड़ा मूँदकर अचेत ही हो गये। हाय ! कैसे विवश होकर धरती पर गिर पड़े हैं और साँस की गति रुक गई है। भगवति तमसे ! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये। आर्यपुत्र को जिलाइये। (*यह कह कर पैरों पर गिर पड़ती हैं।*)

टिप्पणी—हा धिक् हा धिक्, परित्रायस्व परित्रायस्व—यहाँ आमीक्ष्ण्य में द्विरुक्ति हुई है। 'विवादे विस्मये हर्षे खेदे दैन्यावधारणे। प्रसा-

दने सम्भ्रमे च द्विस्त्रिरुक्तिर्न दुष्यति ॥' इस वचन के बल से यहाँ भी पुनरुक्त दोष नहीं लगा। विपर्यस्त —वि—परि/अस्+क्त कर्मणि।

तमसा—

त्वमेव ननु कल्याणि ! सञ्जीवय जगत्पतिम्।
प्रियस्पर्शो हि पाणिस्ते तत्रैव निरता जनः[1] ॥ १० ॥

अन्वय—ननु कल्याणि ! त्वमेव जगत्पतिम् सञ्जीवय। हि ते पाणिः प्रियस्पर्शः तत्र एव जनः निरतः ॥ १० ॥

व्याख्या—ननु भो, कल्याणि ! शुभे !, त्वमेव, जगत्पतिं पृथिवीपालं (रामं), सञ्जीवय सचैतन्यं कुरु, हि यतः, ते तव, पाणिः करः, प्रियस्पर्शः प्रियः प्रीतिकरः स्पर्शः आमर्शनं यस्य सः, तत्र तव स्पर्शे, एव समीपतरवर्ती, जनः राम, निरतः अतीवानुरक्तः (अस्ति) ॥ १० ॥

अनुवाद—तमसा—हे भद्रे ! तुम ही संसार के स्वामी को होश में लाओ। क्योंकि तुम्हारे हाथ का स्पर्श (उन्हें) आप्यायित करने वाला है। और वे (रामभद्र) उस (स्पर्श) में अनुरक्त हैं ॥ १० ॥

टिप्पणी—ननु—यह अनुज्ञासूचक अव्यय है। 'प्रश्नावधारणानुज्ञाऽनुनयामन्त्रणे ननु।' इत्यमरः। 'नन्वाक्षेपे परिप्रश्ने प्रत्युक्तावधारणे। वाक्यारम्भेऽप्यनुनयामन्त्रणानुज्ञयोरपि।' इति हैम। इस श्लोक में सामान्य से विशेष का समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार है ॥ १० ॥

सीता—ज होदु त होदु। जह भअवई आणवेई। (*इति ससम्भ्रमं निष्क्रान्ता।*) [यद्भवतु तद्भवतु। यथा भगवत्याज्ञापयति।]

सीता—चाहे जो हो, भगवती की जैसी आज्ञा (अर्थात् मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगी)। (*यह कहकर शीघ्रता से निकल जाती हैं।*)

(ततः प्रविशति भूम्यां निपतितः सास्रया सीतया स्पृश्यमानः साह्लादोच्छ्वासो रामः।)

(तदनन्तर भूमि पर गिरे हुए रामभद्र रोती हुई सीता के स्पर्श से हर्षपूर्वक साँस लेते हुए प्रवेश करते हैं।)

१—'तत्रैव नियता मतः' इति पाठान्तरे नियता = व्यापृता इत्यर्थो विधेयः।

सीता—(*किञ्चित्सहर्षम्*) जाणे उण पच्चाअद विअ जीविअं तेल्लोक्कस्स । [जाने पुन. प्रत्यागतमिव जीवितं त्रैलोक्यस्य ।]

सीता—(*कुछ हर्ष के साथ*) मैं समझती हूँ कि तीनों लोकों का जीवन पुन. लौट आया है !

टिप्पणी—त्रैलोक्यस्य = स्वर्ग, मर्त्य और पाताल रूप तीनों लोकों का। त्रयाणां लोकानां समाहार· त्रिलोकी, तत. ष्यञ् प्रत्यय. ।

राम·—हन्त भोः ! किमेतत् ?

राम—अहा ! यह क्या है ?

आश्च्योतनं[1] नु हरिचन्दनपल्लवानां
निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजो नु सेक ।
आतप्तजीवितमन· परितर्पणोऽयं
सञ्जीवनौषधिरसो हृदि नु प्रसक्त.[2] ॥ ११ ॥

अन्वय—हृदि हरिचन्दनपल्लवानाम् आश्च्योतनं नु ? निष्पीडितेन्दुकरकन्दलज· सेको नु ? आतप्तजीवितमन परितर्पणोऽयं सञ्जीवनौषधिरसः प्रसक्तो नु ? ॥ ११ ॥

व्याख्या—हृदि हृदये, हरिचन्दनपल्लवाना सुरतरुकिसलयानाम्, आश्च्योतनं रसक्षरणं, नु किम् ?, निष्पीडितेन्दुकरकन्दलजः निष्पीडिता मर्दिता ये इन्दुकरकन्दला. चन्द्रकिरणनवाङ्कुराः तेभ्यो जायते य. स तथोक्त., सेकः सेचनं, नु किम् ? आतप्तजीवितमन·परितर्पण· आतप्तयोः सन्तप्तयोः जीवितमनसो· आत्मचेतसो· परितर्पण· सम्यक् तृप्तिकारक , अयम् एष·, सञ्जीवनौषधिरस प्राणदात्रौषधद्रवः प्रसक्त. प्राप्त , नु किम् ? ॥ ११ ॥

अनुवाद—क्या हृदय पर हरिचन्दन वृक्ष के पल्लवों का रस टपका है ? क्या चन्द्रकिरण रूपी नये अङ्कुरों को निचोड़कर छिड़का गया है ? क्या सन्तप्त जीव और मन को परितृप्त करने वाला यह सञ्जीवनी ओषधि का रस डाला गया है ? (अर्थात् यह क्या है, इसका निश्चय मैं नहीं कर पा रहा हूँ ॥ ११ ॥

---

१ 'प्रश्च्योतनम्' इति पाठभेदः । २ 'प्रसिक्तः' इति पाठान्तरम् ।

टिप्पणी—हरिचन्दन = पाँच देवतरुओं में से एक । 'मन्दारः पारिजातश्च । सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्' इत्यमरः । तुलना कीजिये—'श्रीरेषा पाणिरप्यस्या पारिजातस्य पल्लवः । किमन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवम् ॥'—रत्नावली । करकन्दल = किरण रूपी अंकुर । सञ्जीवनौषधिरसम्—सञ्जीवयति अनया इति सम्/जीव् + णिच् + ल्युट् करणे स्त्रियाम् = सञ्जीवनी ओषधि कर्मधारय, तस्याः रसः । यहाँ स्पर्श में आश्च्योतन आदि वस्तुओं का संशय है पर निश्चय नहीं है, अतः शुद्धसन्देहालंकार है । चन्द्रकिरणांकुर का निष्पीडन असम्भव होने के कारण अतिशयोक्ति अलंकार है । फिर इन दोनों में अंगांगिभाव सम्बन्ध होने से सङ्कर अलंकार हो जाता है ॥ ११ ॥

अपि च—

और भी—

स्पर्शः पुरा परिचितो नियतं स एष
　　सञ्जीवनश्च मनसः परितोषणश्च[1] ।
सन्तापजां सपदि यः परिहृत्य मूर्च्छा-
　　मानन्दनेन जडतां पुनरातनोति ॥ १२ ॥

अन्वय—पुरा परिचितः सञ्जीवनो मनसः परितोषणश्च नियतं स एव स्पर्शः यः सन्तापजां मूर्च्छां परिहृत्य सपदि आनन्दनेन पुनः जडताम् आतनोति ॥ १२ ॥

व्याख्या—पुरा पूर्वम्, परिचितः भृशं ज्ञातः, सञ्जीवनः सम्यग्जीवनप्रदः, मनसः चित्तस्य, परितोषणश्च परितृप्तिकरः, नियतं निश्चितं, स एव पूर्वानुभूत एव, स्पर्शः आमर्शनम्, यः स्पर्शः, सन्तापजां वियोगवेदनाजनितां, मूर्च्छां मोहं, परिहृत्य विनाश्य, सपदि तत्क्षणात्, आनन्दनेन सुखोत्पादनेन, पुनः भूयः, जडताम् आनन्दातिशयजन्यविह्वलताम्, आतनोति विस्तारयति ॥ १२ ॥

अनुवाद—पहले का सुपरिचित, जीवन-दान-प्रद और मन को संतुष्ट करने वाला यह निश्चित रूप से वही स्पर्श है, जो वियोगवेदनाजन्य

---

१. 'परिमोहनश्च' इति पाठान्तरम् ।

मूर्च्छा को हटा कर तत्काल आनन्दोत्पादन द्वारा पुन. जड़ता फैला रहा है ॥१२॥

टिप्पणी—सञ्जीवनः—सम्/जीव्+णिच्+ल्युट् । परितोपण.—परि/तुप्+णिच्+ल्युट् । सपदि=तत्क्षण । 'सद्य. सपदि तत्क्षणात्' इत्यमर. । जडताम्=आनन्दातिरेक से उत्पन्न मानसिक विह्वलता को। यहाँ अतिशयोक्ति अलकार है । यह वसन्ततिलका छद है ॥१२॥

सीता—(*ससाध्वसकरुणमुपसृत्य*) एत्तिअं एव्व दाणि मह बहुदरम् । [एतावदेवेदानीं मम बहुतरम्]

सीता—(*भय और करुणा के साथ (तमसा के) समीप जाकर*) इस समय मेरे लिए इतना ही बहुत है ।

टिप्पणी—यहाँ भय इसलिए है कि निर्वासित अवस्था में सीता के स्पर्श से रामचन्द्र को कहीं क्रोध न हो जाय और करुणा तो विरह से व्याकुल राम के प्रति उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही है । बहुतरम्=अतिशय-सन्तोषजनक । क्योंकि निर्वासन-काल मे जहाँ पति के दर्शन तक नहीं होते थे वहाँ स्पर्श सुख भी मिल गया, इससे बढ़कर क्या होगा ?

राम—(*उपविश्य*) न खलु वत्सलया देव्याभ्युपपन्नोऽस्मि ?

राम—(*बैठकर*) स्नेहशीला सीता देवी ने तो अनुग्रह नहीं किया ?

टिप्पणी—वत्सला=स्नेहयुक्ता । 'स्निग्धस्तु वत्सल:' इत्यमर. । अभ्युपपन्न'=अनुगृहीत । 'अभ्युपपत्तिरनुग्रह'' इत्यमर' ।

सीता—हद्धी हद्धी । किति अज्जउत्तो मं मग्गिस्सदि ? [हा धिक् हा धिक् ! किमित्यार्यपुत्रो मां मार्गिष्यति ?]

सीता—हाय धिक्कार है। हाय धिक्कार है ! क्या आर्यपुत्र मेरा अन्वेषण करेंगे ?

राम —भवतु, पश्यामि ।

राम—अस्तु, देखता हूँ ।

सीता—भअवदि तमसे ! ओसरह्म दावं । मं पेक्खिअ अण-ब्भणुण्णादेण संणिहाणेण राआ अहिअं कुपिस्सदि । [भगवति तमसे ! अपसराव तावत् । मा प्रेक्ष्यानभ्यनुज्ञातेन सन्निधानेन राजाधिकं कोपिष्यति ।]

सीता—भगवति तमसे! हम लोग यहाँ से हट चलें। क्योंकि मुझे देख कर बिना अनुमति के निकट आने से महाराज बहुत क्रोध करेंगे।

तमसा—अयि वत्से! भागीरथीप्रसादाद्वनदेवतानामप्यदृश्याऽसि संवृत्ता।

तमसा—अरी बेटी! गंगा जी की कृपा से तुम वनदेवताओं के लिए भी अदृश्य हो गयी हो (अर्थात् तुम्हें कोई भी नहीं देख सकता)।

सीता—अत्थि क्खु एदम्? [अस्ति खल्वेतत्?]

सीता—अच्छा, यह बात है?

राम—हा प्रिये जानकि!

राम—हाय प्यारी सीता!

सीता—(समन्युगद्गदम्) अज्जउत्त। असरिसं क्खु एदं इमस्स वुत्तन्तस्स। (सास्रम्) भअवदि! किंति वज्जमई जम्मन्तरेसु वि पुणो वि असंभाविअदुल्लहदंसणस्स मं एव्व मन्दभाइणिं उद्दिसिअ एव्वं वच्छलस्स एव्वं वादिणो अज्जउत्तस्स उवरि णिरणुक्कोसा भविस्सम्। अहं एव्व एदस्स हिअअं जाणामि, मह एसो। [आर्यपुत्र! असदृशं खल्वेतदस्य वृत्तान्तस्य। भगवति! किमिति वज्रमयी जन्मान्तरेष्वपि पुनरप्यसम्भावितदुर्लभदर्शनस्य मामेव मन्दभागिनीमुद्दिश्यैवं वत्सलस्यैवंवादिन आर्यपुत्रस्योपरि निरनुक्रोशा भविष्यामि। अहमेवैतस्य हृदयं जानामि, ममैषः।]

व्याख्या—समन्युगद्गदम् मन्युना प्रणयसम्भूतेन कोपेन गद्गदः अस्फुटोच्चारणं तेन सहितं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्। एतत् 'प्रिये जानकि' इतिकथनम्, अस्य वृत्तान्तस्य मन्निर्वासनरूपोदन्तस्य, असदृशम् खलु अयोग्यं किल। भगवति, जन्मान्तरेष्वपि अन्येषु जन्मस्वपि, असम्भावितदुर्लभदर्शनस्य असम्भावितम् अनाशंसितं दुर्लभं दुष्प्रापं दर्शनम् अवलोकनं यस्य तस्य, मन्दभागिनीं सौभाग्यरहिताम्, मामेव सीतामेव, उद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य, एवम् इत्थं, वत्सलस्य स्नेहशालिनः, एवंवादिनः 'हा प्रिये' इत्यादि ब्रुवतः, आर्यपुत्रस्य उपरि आर्यपुत्रं प्रति, किमिति किमर्थं, निरनुक्रोशा दयारहिता, भविष्यामि। अहमेव, एतस्य आर्यपुत्रस्य, हृदयं चित्तं, जानामि, मम, (हृदयञ्च) एषः आर्यपुत्रः (जानाति)।

अनुवाद—सीता—(*प्रणय कोप वश अस्पष्ट उच्चारण सहित*) आर्यपुत्र ! 'प्रिय जानकि' इत्यादि कथन मेरे निर्वासन रूप वृत्तान्त के योग्य नहीं है। (*अश्रुपात सहित*) भगवति ! जन्मान्तरों में भी जिनका दर्शन दुर्लभ एवं संभावनारहित है और जिन्होंने वत्सलता के कारण मुझ मन्दभागिनी को ही लक्ष्य करके इस प्रकार कहा है, उनके प्रति मैं कैसे वज्र के समान कठोर तथा निर्दय हो जाऊँगी ? मैं ही इनका हृदय जानती हूँ और ये मेरा हृदय जानते हैं।

टिप्पणी—निरनुक्रोशा = दयारहित। 'कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशः' इत्यमरः। निर्गता दया यस्याः सा।

राम—(*सर्वतोऽवलोक्य सनिर्वेदम्*) हा ! न किञ्चिदत्र।

राम—(*सब ओर देख कर दुःख के साथ*) हाय ! यहाँ कुछ नहीं है।

सीता—भअवदि ! णिक्कारणपरिच्चाइणो वि एदस्स दंसणेण एव्वंविधेण कीलिसी मे हिअआवत्था ? त्ति ण आणामि, ण आणामि। [भगवति ! निष्कारणपरित्यागिनोऽप्येतस्य दर्शनेनैवंविधेन कीदृशी मे हृदयावस्था ? इति न जानामि, न जानामि !]

सीता—भगवति ! निष्कारण परित्याग करने पर भी इनके इस प्रकार के दर्शन से मेरे चित्त की अवस्था कैसी हो रही है, यह मैं नहीं जानती, नहीं जानती।

तमसा—जानामि वत्से ! जानामि।

तमसा—बेटी ! जानती हूँ, जानती हूँ।

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशा-
द्वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटिति घटनात्स्तम्भितमिव[1]।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणै[2] र्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव ॥ १३ ॥

अन्वय—अस्मिन् क्षणे तव हृदयं नैराश्यात् तटस्थम् इव, विप्रियवशात्

---

१. 'घटनोत्तम्भितमिव' इति पाठभेदः। २ 'अतितु करुणं' इति पाठान्तरम्।

कलुषम् इव, अस्मिन् दीर्घे वियोगे झटिति घटनात् स्तम्भितम् इव, सौजन्यात् प्रसन्नम् इव, दयितस्य करुणे गाढकरुणं प्रेम्णा द्रवीभूतम् इव ॥ १३ ॥

व्याख्या—अस्मिन् क्षणे अधुना, तव ते, हृदयं मनः, नैराश्यात् पुनर्मिलनसम्भावनाविरहात्, तटस्थमिव उदासीनमिव, विप्रियवशात् निष्कारण-निर्वासनरूपाप्रियकार्यवशात्, कलुषमिव मलिनमिव कोपयुक्तमित्यर्थः, अस्मिन् वर्तमाने, दीर्घे दीर्घकालव्यापिनि, वियोगे विरहे, झटिति घटनात् आकस्मिक सद्घटनात्, स्तम्भितमिव विस्मयेन निश्चलमिव, सौजन्यात् प्रेमप्रकाशक सम्बोधनादिना सुजनताज्ञापनात्, प्रसन्नमिव सन्तुष्टमिव, दयितस्य करुणे वल्लभस्य शोकाकुलावस्थाविशेषे, गाढकरुणं गाढं घनीभूतः करुणः शोको यस्मिन् तथाभूतम्, (तथा) प्रेम्णा प्रणयेन, द्रवीभूतमिव द्रवत्वमाप्तमिव, (अस्ति) ॥ १३ ॥

अनुवाद—इस समय तुम्हारा मन निराशा के कारण उदासीन की तरह, (अकारण परित्याग रूप) अप्रिय कार्य से क्रोधयुक्त की तरह, इस दीर्घकालव्यापी वियोग में आकस्मिक मिलन होने से निश्चल की तरह, (प्रेम द्योतक सम्बोधन रूप) सौजन्य से प्रसन्न की तरह और प्रिय की शोकाकुल अवस्था से अत्यंत विह्वल तथा प्रेम से द्रवीभूत की तरह हो रहा है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—नैराश्यात्—निर्गता आशा यस्मात् तत् निराशम् तस्य भावो नैराश्यम् निराश+ष्यञ्, तस्मात्। तटस्थम्—तटे तिष्ठति इति तट√स्था+क कर्तरि। इस श्लोक में पाँच उत्प्रेक्षा अलकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलकार है। यह शिखरिणी छंद है ॥ १३ ॥

राम.—देवि !

राम—हे देवि !

प्रसाद इव मूर्तस्ते स्पर्शः स्नेहार्द्रशीतलः।
अद्याप्यानन्दयति मां त्वं पुनः क्वासि नन्दिनि ॥ १४ ॥

अन्वय—स्नेहार्द्रशीतलः ते स्पर्शः मूर्तः प्रसाद इव अद्यापि माम् आनन्दयति, नन्दिनि ! त्वं पुनः क्व असि ? ॥ १४ ॥

व्याख्या—स्नेहार्द्रशीतलः स्नेहेन स्नेहरसेन आर्द्रः सिक्तः स चासौ शीतलः, ते तव, स्पर्शः आमर्शनं, मूर्तः शरीरी, प्रसाद इव अनुग्रह इव,

अद्यापि स्पर्शभावत्त्वेऽपि, मा रामम, आनन्दयति सुखाकरोति, नन्दिनि ! आनन्ददायिनि !, त्व सीता, पुन' भूय', क कुत्र, असि विद्यसे ? ॥ १४ ॥

अनुवाद—स्नेहरूपी रस से सिक्त एव शीतल तुम्हारा स्पर्श मूर्तिमान् अनुग्रह की तरह अभी भी मुझे आनन्दित कर रहा है। हे आनन्द देने वाली! तुम कहाँ हो ? ॥ १४ ॥

सीता—एदे क्खु अगाधमाणसदंसिदसिणेहसंभारा आणन्द-णिस्सन्दिणो सुहामआ अज्जउत्तस्स उल्लावा । जाणे पच्चएण णिक्का-लणपरिच्चाअसल्लिदोवि बहुमदो मह जम्मलाहो । [एते खल्वगाधमान-सदर्शितस्नेहसम्भारा आनन्दनिष्यन्दिनः सुधामया आर्यपुत्रस्योल्लापा. । जाने, प्रत्ययेन निष्कारणपरित्यागशल्यितोऽपि बहुमतो मम जन्म-लाभः ।]

व्याख्या—खलु निश्चयेन, आर्यपुत्रस्य रामभद्रस्य, एते क्रियमाणाः, उल्लापाः उच्चैर्विलापा., अगाधमानसदर्शितस्नेहसम्भारा अगाधम् अतिगम्भीर यत् मानस चित्त तेन सदर्शितः प्रकटितः स्नेहसम्भारः प्रेमसमूहो यै ते तथोक्ता. आनन्दनिष्यन्दिन' सुखस्राविणः (सन्ति)। जाने मन्ये, प्रत्ययेन श्रावणेन अनुभवेन, निष्कारणपरित्यागशल्यितोऽपि निष्कारणम् अहेतुक यः परित्यागः निर्वासन स एव शङ्कु. तज्जातमस्य इति स तथोक्त', मम मे, जन्मलाभः जन्म-प्राप्तिः, बहुमत अत्यभीष्टः ।

अनुवाद—सीता—आर्यपुत्र के ये उच्च स्वर से विलाप निश्चय ही आनन्द टपकाने वाले तथा अगाध चित्त से प्रेमातिशय दिखलाने वाले हैं। इस अनुभव या विश्वास के आधार पर मैं समझती हूँ कि मेरा जन्म-लाभ अकारण परित्याग रूप शल्य से विद्ध होने पर भी श्लाघ्य है।

रामः—अथवा कुतः प्रियतमा ? नून सङ्कल्पाभ्यासपाटवोपादान एष भ्रमो रामभद्रस्य ।

राम—अथवा प्रियतमा कहाँ से (आयेगी) ? निश्चय ही सतत भावना के अभ्यास से उत्पन्न यह रामभद्र का भ्रम है।

टिप्पणी—सङ्कल्पाभ्यासपाटवोपादान'=जिसका कारण चिन्तन के अभ्यास की पटुता या अतिशयता हो। निरन्तर चिन्तन करते रहने पर कभी-कभी ऐसा भ्रम होता है कि चिन्तनीय पदार्थ सामने विद्यमान है, यद्यपि वह

रहता नहीं। रामचन्द्र जी को निरन्तर सीता जी का चिन्तन करते रहने से ऐसा ही भ्रम हुआ था। सङ्कल्पस्य सीताविषयकचिन्तनस्य अभ्यासेन पौनः पुन्येन यत् पाटव नैपुण्य तदेव उपादानम् उत्पत्तिकारण यस्य सः तथोक्तः।

(नेपथ्ये)

(नेपथ्य में)

अहो, महान् प्रमादः प्रमाद ('सीतादेव्या' स्वकरकलितैः' इत्यर्ध पठ्यते।)

हाय! बड़ा अनर्थ हो रहा है, अनर्थ! ('सीतादेव्याः.............' यह आधा श्लोक पढ़ा जाता है।)

रामः—(*सकरुणौत्सुक्यम्*) किं तस्य?

राम—(*करुणा और उत्सुकता के साथ*) उसका क्या हुआ?

(पुनर्नेपथ्य) ('वध्वा सार्धम्' इत्युत्तरार्ध पठ्यते।)

(*फिर नेपथ्य में*) ('वध्वा साधम्.... ....' यह उत्तरार्ध पढ़ा जाता है।)

सीता—को दाणिं अभिजुज्जइ? [क इदानीमभियुज्यते?]

सीता—अभी कौन लड़ता है?

रामः—क्वासौ दुरात्मा? य. प्रियायाः पुत्र वधूद्वितीयमभिभवति। (*इत्युत्तिष्ठति।*)

राम—वह दुष्ट कहाँ है, जो प्रिया के वधूयुक्त पुत्र पर आक्रमण कर रहा है? (*यह कहकर उठ जाते हैं।*)

(*प्रविश्य*)

(*प्रवेश कर*)

वासन्ती—(*सम्भ्रान्ता*) देव! त्वर्यताम्।

वासन्ती—(*घबड़ाई हुई*) महाराज! शीघ्रता कीजिये।

सीता—हा कहं मे पिअसही वासन्ती? [हा, कथं मे प्रियसखी वासन्ती?]

सीता—हाय! मेरी प्रिय सखी वासन्ती कैसे (आयी)?

राम.—कथ देव्याः प्रियसखी वासन्ती?

राम—क्यों देवी (सीता) की प्रिय सखी वासन्ती है?

वासन्ती—देव ! त्वर्यतां त्वर्यताम् । इतो जटायुशिखरस्य दक्षिणेन सीतातीर्थेन गोदावरीमवतीर्य सम्भावयतु देव्याः पुत्रकं देवः ।

वासन्ती—महाराज ! शीघ्रता कीजिये, शीघ्रता कीजिये । यहाँ से चलकर जटायुशिखर के दक्षिण भाग में अवस्थित सीतातीर्थ होते हुए गोदावरी में उतर कर महारानी के पुत्र को बचाइये।

टिप्पणी—त्वर्यताम्—यह जित्वरा सम्भ्रमे धातु के भाव में लोट्लकार का रूप है। जटायुशिखरस्य = जिस चोटी पर जटायु नामक पक्षिराज रहता था, उसके। जटायु और जटायुस् दोनों प्रातिपदिक मिलते हैं—'जटायुश्च जटायुषा' इति द्विरूपकोषः। दक्षिणेन = दक्षिण दिशा में स्थित। दक्षिण + एनप्। सीतातीर्थेन = सीताघाट से। 'तीर्थं जलावतारे योनौ च' इत्यमरः। पुत्रकम् = पुत्रतुल्य को। पुत्र शब्द से इवार्थ में कन् प्रत्यय हुआ है।

सीता—हा ताद जडाओ ? सुण्णं तुए विणा इदं जणट्ठाणम्।
[हा तात जटायो ! शून्यं त्वया विनेदं जनस्थानम्।

सीता—हाय पिता जटायु ! आपके बिना यह जनस्थान शून्य हो गया है।

रामः—अहह ! हृदयमर्मच्छिदः खल्वमी कथोद्घाताः।

राम—हाय ! ये पूर्ववृत्तान्तवर्णित वाक्यों के उच्चारण हृदय के मर्म का भेदन करने वाले हैं।

टिप्पणी—कथोद्घाताः—कथानां जटायुशिखरगोदावरीसीतातीर्थ-प्रभृतीनां पदानाम् उद्घाताः उच्चारणानि ।

वासन्ती—इत इतो देवः ।

वासन्ती—इधर से महाराज ! इधर से।

सीता—भअवदि ! सच्चं एव्व वणदेवदावि मं ण पेक्खदि ।
[भगवति ! सत्यमेव वनदेवतापि मां न पश्यति ।]

सीता—भगवति ! सचमुच, वनदेवता भी मुझे नहीं देख रही हैं।

तमसा—अयि वत्से ! सर्वदेवताभ्यः प्रकृष्टतममैश्वर्यं मन्दाकिन्याः । तत् किमिति विशङ्कसे ?

सीता—अरी बेटी ! गंगादेवी का प्रभाव सकल देवताओं से बढ़कर है। अतः क्यों शंकित हो रही हो ?

टिप्पणी—सर्वदेवताभ्य —इसमें 'पञ्चमी विभक्ते' सूत्र से पचमी हुई। प्रकृष्टतमम्=अत्यंत उत्कृष्ट । प्रकृष्ट+तमप् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इत्यनेन ।

सीता—तदो अणुसरम्ह। (*इति परिक्रामति।*) [ततोऽनुसराव:।]

सीता—तब हम लोग (इन दोनों का) अनुसरण करें। (*यह कह कर चलने लगती हैं।*)

राम—(*परिक्रम्य*) भगवति गोदावरि! नमस्ते।

राम—(*परिक्रमा करके*) भगवति गोदावरि! आपको प्रणाम है।

वासन्ती—(*निरूप्य*) देव! मोदस्व विजयिना वधूद्वितीयेन देव्या पुत्रकेण।

वासन्ती—(*भली भाँति देख कर*) महाराज! महारानी के वधूयुक्त विजयी पुत्र से आप प्रमुदित हों।

राम—विजयतामायुष्मान्।

राम—आयुष्मान् विजयी हो।

सीता—अह्महे, ईदिसो मे पुत्तओ सवुत्तो। [अहो, ईदृशो मे पुत्रक. सवृत्त.]।

सीता—अरे! मेरा पुत्रक पुत्र ऐसा हो गया!

राम.—हा देवि! दिष्ट्या वर्धसे।

राम—हा देवि! भाग्य से बढ़ रही हो।

येनोद्गच्छद्बिसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण
व्याकृष्टस्ते सुतनु! लवलीपल्लव. कर्णमूलात्[1]।
सोऽय पुत्रस्तव मदमुचा वारणानां विजेता
यत्कल्याण वयसि तरुणे भाजनं तस्य जात. ॥१५॥

अन्वय—सुतनु! उद्गच्छद्बिसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण येन ते कर्णमूलात् लवलीपल्लव. व्याकृष्टः सोऽय तव पुत्रो मदमुचा वारणाना विजेता (अतएव) तरुणे वयसि यत् कल्याण तस्य भाजन जात ॥१५॥

व्याख्या—सुतनु सुन्दरि! उद्गच्छद्बिसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण

---

१ 'कर्णपूरात्' इति पाठान्तरम्।

उद्गच्छन्तौ उत्तिष्ठन्तौ विसकिसलयवत् मृणालाग्रभागवत् स्निग्धौ कोमलौ दन्ताङ्कुरौ यस्य तेन तथोक्तेन, येन गजशावकेन, ते तव, कर्णमूलात् श्रवणमूलात्, लवलीपल्लवः लवलीत्याख्यायाः लतायाः किसलयः, व्याकृष्टः शुण्डेन आकृष्य नीतः, स. तादृशः, अय पुरो दृश्यमानः, तव ते, पुत्र. करिशावकः, मदमुचा मदस्राविणा, वारणेन हस्तिना, विजिता विजयकर्ता, (अतएव) तरुणे वयसि यौवने काले, यत्, कल्याण मङ्गल, तस्य भाजन पात्र, जातः समभूत् ।।१५।।

अनुवाद—हे सुन्दरि ! जो उगते हुए मृणाल के अग्रभाग की तरह कोमल दन्ताङ्कुर से तुम्हारे कानों के मूल से लवलीलता का पल्लव खींच लेता था, वह यह तुम्हारा पुत्र मद झरने वाले हाथियों का विजेता और अतएव युवावस्था में प्राप्य कल्याण का पात्र हो गया है। (तात्पर्य यह है कि प्राणियों के लिए युवावस्था में अपने पराक्रम से शत्रु का निवारण करना कल्याण की बात है। वह कल्याण इस करिशावक को प्राप्त हो गया है।)

टिप्पणी—सुतनु ! सुन्दर शरीर वाली ! सु शोभना तनूर्यस्याः सा सुतनूः, तत्सम्बुद्धौ सुतनु 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व' इत्यनेन ह्रस्वता। उद्गच्छद्विसकिसलयस्निग्धदन्ताङ्कुरेण = जिसके उगने वाले दो छोटे-छोटे दाँत मृणाल के दो पत्तों की तरह चिकने या कोमल दिखाई दे रहे हैं। लवली = सुगधमूला नामक लता। इस श्लोक में लुप्तोपमा तथा काव्यलिंग अलकार हैं। इन दोनों में अगागिभाव सम्बन्ध होने के कारण सकर अलकार हो जाता है। यह मन्दाक्रान्ता छद है ।।१५।।

सीता—अविउत्तो दाणिं दीहाऊ इमाए सोहृद्दसणाए होदु ।
[अवियुक्त इदानीं दीर्घायुरनया सौम्यदर्शनया भवतु ।]

सीता—अब (इस) चिरजीव (करिशावक) का वियोग इस सुन्दरी (हथिनी) से न हो।

रामः—सखि वासन्ति ! पश्य पश्य । कान्तानुवृत्तिचातुर्यमपि शिक्षितं वत्सेन ।

राम—सखी वासन्ती ! देखो, देखो । बच्चे ने प्रियतमा के अनुसरण करने की चतुरता (अर्थात् प्रिया को प्रसन्न रखने की कला) भी सीखी है।

टिप्पणी—कान्तानुवृत्तिचातुर्यम्—कान्ताया पत्न्या अनुवृत्ति चित्त तोषणम् तत्र विषये चातुर्यम् नैपुण्यम् ।

लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादिता[1]
पुष्यत्[2]पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसङ्क्रान्तय ।
सेक शीकरिणा करेण विहित काम विरामे पुन-
र्यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्र धृतम् ॥१६॥

अन्वय—यत् स्नेहात् लीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु पुष्य त्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसङ्क्रान्तय सम्पादिता, शीकरिणा करेण काम सेको विहित, पुन विरामे अनरालनालनलिनीपत्रातपत्र धृतम् ॥१६॥

व्याख्या—यत् यस्मात् हेतो, स्नेहात् प्रणयवशात्, लीलोत्खात मृणालकाण्डकवलच्छेदेषु लीलया अवहेलया उत्खाता उत्पाटिता ये मृणाल काण्डा मृणालस्तम्बा तेषा कवलच्छेदेषु ग्रासार्थखण्डेषु करेणुकामुखवर्तिष्वित्यर्थ, पुष्यत्पुष्करवासितस्य पुष्यन्ति विकसन्ति यानि पुष्कराणि कमलानि तै वासितस्य सुरभितस्य पयसो जलस्य, गण्डूषसङ्क्रान्तय गण्डूषाणा मुखपूरितजलानाम् सङ्क्रान्तय सञ्चारा, सम्पादिता कृता, शीकरिणा जलकणयुक्तेन, करेण शुण्डेन, काम पर्याप्त, सेक सेचन, विहित कृत, पुन भूय, विरामे सेकावसाने, अनरालनालनलिनीपत्रातपत्रम् अनरालम् अवक्र नाल कमलदण्डो यस्य तादृश यत् नलिनीपत्र पद्मदल तदेव आतपत्र छत्र, धृतम् आतपनिवारणार्थं करिण्या मस्तकोपरि गृहीतमिति भाव ॥ १६ ॥

अनुवाद—जिसलिए कि प्रणयवश (इसने) अनायास उखाड़े हुए मृणाल समूहों के (हथिनी द्वारा) कवलित कर लिये जाने पर (उसके मुख में) खिले हुए कमलों से सुवासित जल की कुल्लियाँ छोड़ीं, पानी की फुहार छोड़ने वाली सूँड़ से अच्छी तरह सिंचन कर दिया और फिर बाद में (धूप से बचाने के लिए उसके ऊपर) सीधे दंड वाली कमलिनी की पत्तियों का छाता लगा दिया ॥ १६ ॥

टिप्पणी—काण्ड = स्तम्ब, गुच्छ । 'काण्ड स्तम्बे तरुस्कन्धे बाणे वसरयोरपि ।' इति मेदिनी । काम = पर्याप्त । 'काम प्रकाम पर्याप्त निकामेष्ट

---

१ 'सम्पादिता' इति पाठान्तरम् । २ 'पुष्यत्' इति पाठभेद ।

यथेप्सितम्' इत्यमर । अनराल = जो टेढ़ा न हो । न अरालम् अनरालम्, 'अराल कुटिल वक्रम्' इत्यमर. । इस श्लोक में करम-दम्पती की तात्कालिक अवस्था का वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलकार है तथा नलिनीपत्र के छत्र स्वरूपतया उपवर्णित होने से निरङ्ग केवल रूपक अलङ्कार है। इन दोनों में अगागिभाव सबध से साकर्य है। यह शार्दूलविक्रीडित छंद है ॥ १६ ॥

सीता—भअवदि तमसे ! अअं दाव ईरिसो जादो। दे उण ण आणामि एत्तिएण कालेण कुसलवा कीरिसा सवुत्तेति। [भगवति तमसे ! अयं तावदीदृशो जातः। तौ पुनर्न जानाम्येतावता कालेन कुशलवौ कीदृशौ सवृत्ताविति।]

सीता—भगवनि तमसे ! जब यह ऐसा (अर्थात् इतना बड़ा) हो गया है तो न जाने इस समय तक वे दोनों (मेरे पुत्र) कुश और लव कैसे (कितने बड़े) हो गये होंगे।

तमसा—यादृशोऽय, तादृशौ तावपि।

तमसा—जैसा यह है, वैसे वे दोनों भी होंगे।

सीता—ईरिसह्मि मन्दभाइणी, जाए ण केवलं अज्जउत्तविरहो पुत्तविरहो वि। [ईदृश्यस्मि मन्दभागिनी यस्या न केवलमार्यपुत्रविरहः पुत्रविरहोऽपि।]

सीता—मैं ऐसी मन्दभागिनी हूँ कि केवल आर्यपुत्र से ही नहीं बल्कि पुत्रों से भी अलग हूँ।

तमसा—भवितव्यतेयमीदृशी।

तमसा—यह होनी ऐसी होती है (अर्थात् प्रारब्ध ही ऐसा है)।

सीता—किंवा मए पसूदाए ? जे एआरिसं मह पुत्तआण ईसिविरलधवलदसणकुड्मलुज्जलं अणुवद्धमुद्धकाअलीविहसिदं णिच्चुज्जलं मुहपुण्डरीअजुअलं ण परिचुम्बिअं अज्जउत्तेण। [किं वा मया प्रसूतया ? येनैतादृशं मम पुत्रकयोरीषद्विरलधवलदशनकुड्मलोज्ज्वलमनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितं नित्योज्ज्वलं मुखपुण्डरीकयुगलं न परिचुम्बितमार्यपुत्रेण।]

व्याख्या—वा अथवा, प्रसूतया प्रसवकारिण्या, मया सीतया, किं किम्प्रयोजन न किमपीत्यर्थ, येन कारणेन, मम सीतायाः, पुत्रकयो सुतयो.,

ईषद्विरलधवलदशनकुड्मलोज्ज्वलम् ईषद्विरलाः अनतिघनाः धवलाः श्वेतवर्णाश्च ये दशनकुड्मलाः दन्तमुकुलाः तैः उज्ज्वल कान्तिपूर्णम् ('कोमलधवलदशनोज्ज्वलकपोलम्' इति पाठे तु कोमलाः मृदुलाः धवलाः श्वेतवर्णाश्च ये दशनाः दन्ताः तैः उज्ज्वलौ चिक्कणौ कपोलौ गण्डौ यस्य तत् इति बोध्यम्), अनुबद्धमुग्धकाकलीविहसितम् अनुबद्धे निरन्तर सम्बद्धे मुग्धे मनोरमे काकलीविहसिते अस्फुटमधुरशब्दहास्ये यत्र तत्, नित्योज्ज्वल सदाशुभ्रम् ('निबद्धकाकशिखण्डकम्' इति पाठे तु निबद्धौ धृतौ काकशिखण्डकौ काकपक्षौ येन तत् इति ज्ञेयम्), एतादृशम् ईदृक्, मुखपुण्डरीकयुगल मुखकमलद्वयम्, आर्यपुत्रेण पत्या रामेण, न नहि, परिचुम्बितम् सम्यक् चुम्बन कृतम्।

अनुवाद—अथवा मुझे प्रसव करने से क्या लाभ हुआ, जब कि आर्यपुत्र ने मेरे दोनों पुत्रों के नित्य उज्ज्वल मुखारविन्दद्वय का चुम्बन नहीं किया, जो (मुखद्वय) कुछ कम मिले हुए, उजले तथा कली सदृश दाँतों के कारण कांतिपूर्ण हैं और निरन्तर सम्बद्ध, मनोहर, अस्फुट तथा मधुर शब्द एवं हास्य से युक्त हैं।

टिप्पणी—पुत्रकयोः—अनुकम्पितौ पुत्रौ इति पुत्रकौ तयोः, अनुकम्पार्थे कन् प्रत्ययः। दशनकुड्मल०—दशनाः कुड्मला इव, उपमितसमास। कुड्मल=कली। 'कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। काकलीविहसित०—काकली च विहसितं च, द्वन्द्वसमास। काकली=अस्पष्टमधुरध्वनि। 'काकली तु कले सूक्ष्मे ध्वनौ तु मधुरास्फुटे।' इत्यमरः। कल्+इन् कलिः कु ईषत् कलिः कोः कादेशः, काकलि+ङीप्।

तमसा—अस्तु देवताप्रसादात्।

तमसा—देवता के अनुग्रह से ऐसा ही हो (कि वे चुम्बित किये जायँ)।

सीता—भअवदि तमसे! एदिणा अवच्चसंसुमरणेण उस्ससिदपण्हुदत्थणी दच्चाणिं वाणं पिदुणो संणिहाणेन खणमेत्तं ससारिणी संवुत्तह्मि। [भगवति तमसे! एतेनापत्यसंस्मरणेनोच्छ्वसितप्रस्नुतस्तनी इदानीं वत्सयोः पितुः सन्निधानेन क्षणमात्रं ससारिणी संवृत्तास्मि।]

व्याख्या—एतेन इदानीन्तनेन, अपत्यसंस्मरणेन अपत्ययोः सुतयोः संस्मरणेन सञ्चिन्तनेन, उच्छ्वसितप्रस्नुतस्तनी उच्छ्वसितौ वेपमानौ प्रस्नुतौ

क्षीर स्रवन्तौ स्तनौ पयोधरौ यस्या सा तथोक्ता, इदानीम् अधुना, वत्सयोः पुत्रयोः, पितुः जनकस्य आर्यपुत्रस्येति यावत्, सन्निधानेन समीपावस्थानेन, क्षणमात्रं मुहूर्तमात्र, ससारिणी गृहस्था, संवृत्ता सञ्जाता, अस्मि भवामि।

अनुवाद—भगवति तमसे! इस संतान-स्मरण से मेरे स्तन फड़कने तथा दूध बहाने लगे हैं। और मैं इस समय बच्चों के पिता (आर्यपुत्र) के समीप होने से क्षणभर के लिए ससारिणी (गृहस्थोचित सौभाग्यवती) बन गयी हूँ।

तमसा—किमत्रोच्यते? प्रसवः खलु प्रकर्षपर्यन्त स्नेहस्य। परं चैतदन्योन्यसंश्लेषणं पित्रोः।

व्याख्या—अत्र अपत्यस्नेहविषये, (मया) किम्, उच्यते कथ्यते? प्रसवः अपत्य, खलु निश्चयेन, स्नेहस्य वात्सल्यस्य, प्रकर्षपर्यन्तः प्रकर्षस्य आतिशय्यस्य पर्यन्त चरमसीमा। पर च अपरं च, एतत् अपत्य, पित्रोः जननी-जनकयोः, अन्योन्यसंश्लेषणम् अन्योन्यस्य परस्परस्य संश्लेषणं बन्धनम् (अस्ति)।

अनुवाद—इस (अपत्यस्नेह के) संबंध में क्या कहना है? संतान निश्चय ही स्नेह के उत्कर्ष की चरम सीमा होती है और माता-पिता को परस्पर सबद्ध रखती है (अर्थात् स्नेह की कड़ी में बाँधे रहती है)।

टिप्पणी—पित्रोः = माता-पिता का। 'मातापितरौ पितरौ मातापितरौ प्रसूजनयितारौ' इत्यमरः। माता च पिता चेति पितरौ तयोः, 'पिता मात्रा' इस सूत्र से एकशेष हुआ।

अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्।
आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते॥ १७॥

अन्वय—दम्पत्योः अन्तःकरणतत्त्वस्य स्नेहसंश्रयात् अयमेकः आनन्द-ग्रन्थिः अपत्यम् इति पठ्यते॥ १७॥

व्याख्या—दम्पत्योः पतिपत्न्योः, अन्तःकरणतत्त्वस्य मनःसाम्य, स्नेह-संश्रयात् परस्परप्रणयसम्बन्धात्, अयम् एव, एकः अद्वितीयः, आनन्दग्रन्थिः सुखमयग्रन्थिः, अपत्यमिति सन्तानस्वरूपः, पठ्यते परिभाष्यते (बध्यते इति पाठे तु अपत्यमिति एक आनन्दग्रन्थि बध्यते विधात्रेति शेषः)।

अनुवाद—पति और पत्नी के हृदय-तत्त्व में परस्पर प्रेम सम्बन्ध होने से सन्तान एक आनन्द की ग्रन्थि कही जाती है॥ १७॥

टिप्पणी—दम्पत्यो—जाया च पतिश्च तौ दम्पती, द्वन्द्वसमास, जाया शब्द के स्थान में निपातनात् दम् आदेश। अन्तःकरण=मन। अपत्यम्=सन्तान। न पतति वंशो येन जातेन तदपत्यम्। इस श्लोक में परिणाम अलंकार है॥ १७॥

वासन्ती—इतोऽपि देव पश्यतु।

वासन्ती—महाराज इधर भी देखें।

अतरुणमदताण्डवोत्सवान्ते स्वयमचिरोद्गतमुग्धलोलबर्हं।
मणिमुकुट इवोच्छिखः कदम्बे नदति स एष वधूसखः शिखण्डी॥ १८॥

अन्वय—स्वयम् अचिरोद्गतमुग्धलोलबर्हः उच्छिखः मणिमुकुट इव वधूसखः स एष शिखण्डी अतरुणमदताण्डवोत्सवान्ते कदम्बे नदति॥ १८॥

व्याख्या—स्वयम् आत्मनेव, अचिरं प्रत्यग्रम्, उद्गतं निर्गतं मुग्धं मनोरमं लोलं चञ्चलञ्च बर्हं पिच्छं यस्य स तथाभूतः, उच्छिखः उद्गता शिखा चूडा यस्य स तथोक्तः, मणिमुकुट इव मणेर्मुकुटं यस्य स तथोक्तः मणिमयकिरीटधारीव इत्यर्थः, वधूसखः वध्वाः पत्न्याः सखा सहचरः (सन्), सः पूर्वपरिचितः, एषः दृश्यमानः, शिखण्डी मयूरः, अतरुणमदताण्डवोत्सवान्ते अतरुणमदेन अनल्पहर्षेण यः ताण्डवोत्सवः नृत्योत्सवः तस्य अन्ते अवसाने, कदम्बे नीपवृक्षे, नदति शब्दायते। ('अनुदिवसमवर्धयत् प्रिया ते यमचिरनिर्गतमुग्धलोलबर्हम्' इति पाठे तु अचिरनिर्गतम् अभिनवोद्भूतं मुग्धं मनोहरं लोलं चञ्चलं बर्हं पिच्छं यस्य तम्, यं मयूरं, ते तव, प्रिया भार्या, अनुदिवसं प्रतिदिवसम् अवर्धयत् अपोषयत्, स इत्यादि अर्थः कार्यः।)॥ १८॥

अनुवाद—अपने आप सद्यः उत्पन्न मनोहर एवं चंचल पंखवाला, उन्नत शिखा वाला और (अतएव) मणिमय मुकुटधारी जैसा यह (आपका) पूर्वपरिचित मयूर वधू (मोरनी) के साथ अत्यन्त हर्ष से नृत्योत्सव सम्पन्न करके कदम्ब वृक्ष पर कूज रहा है॥ १८॥

टिप्पणी—बर्ह=मोर का पंख। 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः। शिखण्डी=मयूर। ताण्डव=नृत्य। 'ताण्डवं नटनं नाट्यम्' इत्यमरः। वधूसख—वध्वाः सखा इति वधूसखः 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' सूत्र से 'अ' हो गया, इससे सख बना। इस श्लोक में उपमा अलंकार है। यह पुष्पिताग्रा छन्द

है। इस छंद का लक्षण यह है—'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च न जौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।' ॥ १८ ॥

सीता—(सकौतुकस्नेहास्रम्) एसो सो। [एष सः।]

सीता—(कुतूहल और स्नेह के आँसू के साथ) यह वही है।

राम —मोदस्व वत्स ! वयमद्य वर्धामहे[1]।

राम—वत्स ! आनन्द करो। आज हम लोग बढ़ रहे हैं।

सीता—एव्व होदु। (एवं भवतु।)

सीता—ऐसा ही हो।

राम.—

भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षु-
प्रचलितचतुरभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमान
सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि ॥ १९ ॥

अन्वय—भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षु प्रचलितचतुरभ्रूताण्डवैः मण्डयन्त्या मुग्धया करकिसलयतालः नर्त्यमान त्वा सुतमिव वत्सलेन मनसा स्मरामि ॥ १९ ॥

व्याख्या—भ्रमिषु घूर्णनेषु मयूरस्य चक्राकारेण भ्रमणेषु सत्स्वित्यर्थः, कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्तिचक्षु. कृता विहिता पुटयोः नेत्रावरणयोः अन्त. अभ्यन्तरे मण्डलावृत्तिः वर्तुलाकारेण भ्रमण येन तत् तथाभूत यत् चक्षु. नेत्र तत्, प्रचलितचतुरभ्रूताण्डवै' प्रचलितयो' अतिचञ्चलयोः चतुरयोः इङ्गितादिकरणनिपुणयोः (चटुल० इति पाठे तु चटुलयो. सुन्दरयो' इत्यर्थो बोध्य.) भ्रुवोः ताण्डवैः नृत्यैः इतस्ततः पुन पुन सञ्चारैरिति यावत्, मण्डयन्त्या भूषयन्त्या, मुग्धया सुन्दर्या सीतयेति यावत्, करकिसलयतालै' करौ पाणी किसलये पल्लवे इव तयोः तालै कालक्रियामानशब्दैः, नर्त्यमान कार्यमाणनृत्य, त्वा मयूर, सुतमिव, पुत्रमिव, वत्सलेन स्नेहवता, मनसा चित्तेन, स्मरामि चिन्तयामि ॥ १९ ॥

अनुवाद—राम—भ्रमणों में (अर्थात् तुम्हारे नाचने के समय) (अपने) नयन-पुटों के भीतर मण्डलाकार में घूमते हुए नेत्रों (तारों)

---

[1] 'वर्तामहे' इति पाठभेद.।

को अत्यंत चचल और इंगित करने में निपुण भौंहों के इतस्ततः सचालन से सुशोभित करती हुई (अर्थात् घूमने के समय तुम जिधर-जिधर जाते थे, उधर उधर दृष्टिपात करती हुई) सुन्दरी (सीता) के करपल्लवों के तालों पर नाचते हुए तुमको पुत्र की भाँति स्नेहार्द्र चित्त से मैं स्मरण करता हूँ ॥ १६ ॥

टिप्पणी—पुट० = पलक के नीचे वाला आँख का घर। ताल० = सगीत में काल क्रिया का मान बताने वाला शब्द। 'ताल कालक्रियामानम्' इत्यमरः। नर्त्यमानम् = नचाये जाते हुए को। नृती गात्रविक्षेपे धातु से णिच् के बाद कर्म में शानच् प्रत्यय हुआ। इस श्लोक में लुप्तोपमा और उपमा अलकारों में अगागिभाव से साकर्य है। कोई तो यहाँ स्मरणालकार भी मानते हैं ॥ १६ ॥

हन्त, तिर्यञ्चोऽपि परिचयमनुरुन्धन्ते।

व्याख्या—हन्त हर्षसूचकमव्ययम् तिर्यञ्चोऽपि पक्षिणोऽपि, परिचय सस्तवम्, अनुरुन्धन्ते अनुसरन्ति।

अहा! पशु पक्षी भी परिचय का अनुसरण करते हैं।

कतिपयकुसुमोद्गमः कदम्बः प्रियतमया परिवर्धितोऽयमासीत्।

अन्वय—अय कदम्बः प्रियतमया परिवर्धितः (सन्) कतिपयकुसुमोद्गमः आसीत्।

व्याख्या—अय दृश्यमानः, कदम्बः नीपः, प्रियतमया सीतया, परिवर्धितः जलसेचनादिना वृद्धिं प्रापितः (सन्), कतिपयकुसुमोद्गमः कतिपयानां कियतां कुसुमानां पुष्पाणाम् उद्गमः उत्पत्तिर्यस्मिन् स तथोक्तः, आसीत्।

अनुवाद—यह कदम्बवृक्ष सीता द्वारा परिवर्धित होकर कुछ पुष्पों का उद्गमस्थान हो गया था (अर्थात् सीता ने इसे जल-सेचन आदि के द्वारा बढ़ा कर पुष्पित कर दिया था)।

सीता—(*सास्रम्*) सुट्ठु पच्चहिण्णादं अज्जउत्तेण। [सुष्ठु प्रत्यभिज्ञातमार्यपुत्रेण।]

सीता—(*अश्रुपात सहित*) आर्यपुत्र ने ठीक पहचाना।

राम—स्मरति गिरिमयूर एष देव्याः स्वजन इवात्र यतः प्रमोदमेति ॥ २० ॥

अन्वय—एप गिरिमयूरः देव्याः स्मरति यतः अत्र स्वजन इव प्रमोदम् एति ॥ २० ॥

व्याख्या—एषः पुरो दृश्यमानः, गिरिमयूरः पर्वतीयमयूरः, देव्याः सीतायाः स्मरति स्मरणं करोति, यतः यस्मात् हेतोः, अत्र कदम्बतरौ, स्वजने बान्धवे इव, प्रमोदम् आनन्दम्, एति अनुभवति ॥ २० ॥

अनुवाद—राम—यह पर्वतीय मयूर सीतादेवी का स्मरण करता है, क्योंकि यहाँ यह इस प्रकार प्रसन्न है मानो अपने प्रियजन की सगति मे वास कर रहा हो ॥ २० ॥

टिप्पणी—देव्याः इसमे 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' सूत्र से षष्ठी हुई। स्वजन इव—सीता जी ने इस मयूर और कदम्ब वृक्ष दोनों को पाल कर बड़ा किया था। अतः दोनों एक-दूसरे के भाई की तरह थे। यही कारण था कि मयूर उस कदम्ब को स्वजन की तरह देखता था और 'हम दोनों की माता सीता ही हैं' यह स्मरण कर प्रमुदित होता था। इस श्लोक मे काव्यलिंग और उपमा अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार है। यह पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ २० ॥

वासन्ती—अत्र तावदासनपरिग्रहं करोतु देवः। एतत्तु देवस्याश्रमम्।

वासन्ती—यहीं महाराज आसन ग्रहण करें। यह महाराज का ही आश्रम है।

(*रामः उपविशति।*)

(*राम बैठ जाते हैं।*)

वासन्ती—

नीरन्ध्रबाल[1] कदलीवनमध्यवर्ति
कान्तासखस्य शयनीयशिलातलं ते।
अत्र स्थिता तृणमदाद्बहुशो यदेभ्यः
सीता ततो हरिणकैर्न विमुच्यते स्म ॥ २१ ॥

---

१. 'एतत्तदेव' इति पाठभेदः।

अन्वय—कान्तासखस्य ते नीरन्ध्रबालकदलीवनमध्यवर्ति शयनीयशिलातलम् (अस्ति), अत्र स्थिता सीता वनगोचरेभ्य तृणम् अदात्, ततो हरिणकै न विमुच्यते स्म ॥ २१ ॥

व्याख्या—कान्तासखस्य प्रियासहचरस्य, ते तव, नीरन्ध्रबालकदलीवनमध्यवर्ति निर्गत रन्ध्र छिद्र यास्य ता नीरन्ध्रा अतिघना इत्यर्थ तास्व बालकदल्य सुकोमलरम्भा तासा वनम् अरण्य तस्य मध्ये अन्तरे वर्तते यत् तत्, शयनीयशिलातल शय्याभूत शिलाखण्ड (अस्ति), अत्र अस्मिन्, स्थिता उपविष्टा (सती), सीता जानकी, वनगोचरेभ्य वन्येभ्य , तृण घासम्, अदात् अर्पितवती, तत तस्मात् कारणात्, हरिणकै कुरङ्गकै , न विमुच्यते स्म न त्यज्यते स्म ॥ २१ ॥

अनुवाद—वासन्ती—छोटे छोटे कदलीवृक्षों के घने जगल के बीच यह आपका प्रिया के साथ शयन करने का शिला खड है । इस पर बैठ कर सीता मृगों को घास दिया करती थीं । इसलिए हरिणों ने (अब तक) इस (शिला खड) का परित्याग नहीं किया है ॥ २१ ॥

टिप्पणी—कान्तासखस्य—कान्ताया सखेति कान्तासख तस्य, 'राजाह सखिभ्यष्टच्' इससे समासान्त टच् प्रत्यय हुआ । शयनीय०—शेतेऽस्मिन्निति शयनीयम् बाहुलकात् अधिकरणे अनीयर् । अदात्—√दा+लुङ्—तिप्, सिच् 'गातिस्थेति'–सिचो लुक् । किसी किसी पुस्तक में वनगोचरेभ्य ' के स्थान में 'बहुशो यदेभ्य ' पाठ मिलता है । वहाँ अर्थ होगा—'जिस लिए इन (मृगों) को अनेक बार •• ' । हरिणकै —हरिण+कन् (अनुकम्पार्थे) । यह वसन्ततिलका छद है ॥ २१ ॥

राम —इदमशक्य द्रष्टुम् । (इत्यन्यतो रुदन् परिविशति ।)

राम—यह नहीं देखा जा सकता । (*यह कहकर रोते हुए दूसरी तरफ बैठ जाते हैं* ।)

सीता—सहि वासन्ति ! किं तुए किद अज्जउत्तस्स मह अ एद दसअन्तीए ! हद्धी हद्धी ! सो एव्व अज्जउत्तो । तं एव्व पञ्चवडीवणम् । सा एव्व पिअसही वासन्दी, दे एव्व णिविहविस्सम्भसक्खिणो गोदा-

वरीकाणणुद्देसा, ते एव्व जादणिव्विसेसा मिअपक्खिणो पाअवा अ। मह उण मन्दभाइणीए दीसन्त वि सव्व एव्व एदं णत्थि। ईरिसो जीवलोअस्स परिणामो सवुत्तो। [सखि वासन्ति! किं त्वया कृतमार्यपुत्रस्य मम चैतद्दर्शयन्त्या। हा धिक् हा धिक्! स एवार्यपुत्र, तदेव पञ्चवटीवनम्, सैव प्रियसखी वासन्ती, त एव विविधविस्रम्भसाक्षिणो गोदावरीकाननोद्देशा', त एव जातनिर्विशेषा मृगपक्षिणः पादपाश्च। मम पुनर्मन्दभाग्याया दृश्यमानमपि सर्वमेवैतन्नास्ति। ईदृशो जीवलोकस्य परिणाम. संवृत्त।]

व्याख्या—आर्यपुत्रस्य स्वामिन., मम सीतायाश्च, एतत् शयनीयशिलातलम्, दर्शयन्त्या अवलोकयन्त्या, त्वया भवत्या, किं कृतम् किमनुष्ठितम्? विविधविस्रम्भसाक्षिणः नानाप्रकारविश्वस्तशयनविहारादिव्यापाराणां द्रष्टारः, गोदावरीकाननोद्देशाः गोदावरीनदीतीरस्थवनप्रदेशा', जातनिर्विशेषा जातेभ्यः पुत्रेभ्यः निः नास्ति विशेषः प्रभेदो येषां ते तथोक्ताः पुत्रतुल्या इत्यर्थः, मृगपक्षिणः मृगाः पशवः पक्षिणः खगा., पादपाः वृक्षाश्च (सन्ति)। पुनः किन्तु, मन्दभागिन्याः हतभाग्यायाः, मम सीताया, दृश्यमानमपि दृग्विषयभूतमपि, एतत् पुरोवर्ति, सर्वमेव सकलमेव, नास्ति सुखोत्पादकस्वरूपेण न वर्तते इत्यर्थ.। ईदृश. एतादृशः, जीवलोकस्य मनुष्यलोकस्य, परिणामः परिणतिः, सवृत्तः सञ्जातः।

अनुवाद—सीता—सखि वासन्ति! आर्यपुत्र को और मुझे यह (शिला-खंड) दिखा कर तुमने क्या किया? (अर्थात् बुरा किया)। हाय धिक्कार है! हाय धिक्कार है! वही आर्यपुत्र हैं, वही पञ्चवटीवन है, वही प्यारी सहेली वासंती है, वही विश्वासपूर्वक किये गये शयन, विहार आदि विविध व्यापारों के साक्षी गोदावरी के वनप्रदेश हैं और वही पुत्रतुल्य पशु, पक्षी एवं वृक्ष हैं। किन्तु मुझ मदभागिनी के लिए ये चीजें दृष्टिगोचर होती हुई भी नहीं (के बराबर) हैं। (मेरे लिए) मनुष्यलोक का ऐसा (दुःखद) परिणाम हुआ!

वासन्ती—सखि सीते! कथं न पश्यसि रामभद्रस्यावस्थाम्?

वासन्ती—सखि सीते! रामभद्र की दशा क्यों नहीं देखती हो?

नवकुवलयस्निग्धैरङ्गैर्ददन्नयनोत्सवं
सततमपि ते स्वेच्छाद्रश्यो नवो नव एव सः ।
विकलकरणः पाण्डुच्छायः शुचा परिदुर्बलः
कथमपि स इत्युन्नेतव्यस्तथापि दृशोः प्रियः ॥ २२ ॥

अन्वय—नवकुवलयस्निग्धैः अङ्गैः नयनोत्सवं ददत् ते सततं स्वेच्छाद्रश्योऽपि सः नवो नव एव । शुचा विकलकरणः पाण्डुच्छायः परिदुर्बलः सः इति कथमपि उन्नेतव्यः, तथापि दृशोः प्रियः ॥ २२ ॥

व्याख्या—नवकुवलयस्निग्धैः नवीननीलोत्पलवत् चिक्कणैः, अङ्गैः अवयवैः, नयनोत्सवं नत्रयोः आनन्दं, ददत् जनयन्, ते तव, सततं सन्ततं, स्वेच्छाद्रश्योऽपि इच्छामात्रेण द्रष्टुं योग्योऽपि, सः रामः, नवो नव एव नूतनो नूतन एव, (आसीत्, सम्प्रति तु) शुचा शोकेन, विकलकरणः दुर्बलेन्द्रियः, पाण्डुच्छायः श्वेतप्रायकान्तिः, परिदुर्बलः अतीवकृशः, (अतः) सः इति सः एवायमिति, कथमपि केनापि प्रकारेण, उन्नेतव्यः अनुमेयः, तथापि शोककार्श्यादिविशिष्टोऽपि, दृशोः नेत्रयोः, प्रियः प्रीतिकरः (अस्ति) ॥ २२ ॥

अनुवाद—नवीन नीलकमल के समान चिकने अगों से नयनों को आप्यायित करते हुए और तुम्हें निरन्तर इच्छानुसार दर्शन देते हुए भी जो (राम) नित्य नूतन प्रतीत होते थे, वही अब शोक से इतने दुर्बल, क्षीण इन्द्रियों वाले एवं मलिन कान्ति वाले हो गये हैं कि 'ये वही राम हैं' ऐसा अनुमान से ही कहा जा सकता है (प्रत्यक्ष देखने से नहीं), फिर भी वे (राम) नयनाभिराम हैं ॥ २२ ॥

टिप्पणी—करण०—इन्द्रिय । 'करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि ।' इत्यमर । इस श्लोक में विभावना और लुप्तोपमा अलंकार अंगाङ्गिभाव संकर से सकीर्ण हैं । यह हरिणी छंद है ॥ २२ ॥

सीता—सहि ! पेक्खामि । [सखि ! पश्यामि ।]
सीता—सखि ! देख रही हूँ ।

---

१ 'कुवलयदलस्निग्धैरङ्गैर्ददौ' इति पाठभेदः ।

तमसा—पश्य प्रियं भूय ।

तमसा—प्रियतम को फिर देखो ।

सीता—हा ! दैव्व एसो ! मए विणा अहं वि एदेण विणेत्ति केण संभाविद आसि ? ता मुहुत्तमेत्त जम्मन्तरादो वि दुल्लहलद्धदसणं वाहसलिलन्तरेसु पेक्खामि दाव वच्छल अज्जउत्तम्। (*इति पश्यन्ती स्थिता ।*) [हा दैव ! एष मया विना अहमप्येतेन विनेति केन सम्भावितमासीत् ? तन्मुहूर्तमात्र जन्मान्तरादपि दुर्लभलब्धदर्शन[1] बाष्पसलिलान्तरेषु पश्यामि तावद्वत्सलमार्यपुत्रम् ।]

व्याख्या—हा—इति विषादे, दैव ! विधातः ! एषः आर्यपुत्रः, मया विना मम साहचर्यात् ऋते, (तिष्ठेत्) अहमपि सीतापि, एतेन आर्यपुत्रेण, विना ऋते, (तिष्ठेयम्) इति इत्थम्, केन जनेन, सम्भावित चिन्तितम्, आसीत् । तत् तस्मात्, मुहूर्तमात्र क्षणमात्र, जन्मान्तरादपि अन्यस्माज्जन्मनोऽपि, दुर्लभलब्धदर्शनम् दुर्लभ यथा स्यात्तथा लब्ध दर्शन यस्य तम्, वत्सलम् स्नेहवन्तम् आर्यपुत्र, तावत्, बाष्पसलिलान्तरेषु अश्रुजलस्य पतनोद्गमयोरवकाशेषु, पश्यामि प्रेक्षे ।

अनुवाद—सीता—हाय विधाता ! आर्यपुत्र मेरे बिना (रहेंगे) और मैं भी आर्यपुत्र के बिना रहूँगी—ऐसी सभावना किसने की थी ? इसलिए मैं प्रेमी आर्यपुत्र को, जिनका दर्शन क्षण भर के लिये जन्मान्तर में भी दुर्लभ है, आँसुओं के निकलने और बन्द होने के अतर मे (अर्थात् आँसुओं को पल भर रोक कर) देखूँगी । (*यह कह कर निहारती हुई ठहर जाती हैं ।*)

तमसा—(*परिष्वज्य सास्रम्*)

तमसा—(*आँसू के साथ आलिंगन कर*)

विलुलितमतिपूरैर्बाष्पमानन्दशोक-
प्रभवमवसृजन्ती पक्ष्मलोत्तानदीर्घा ।
स्नपयति हृदयेश स्नेहनिष्यन्दिनी ते
धवलमधुरमुग्धा दुग्धकुल्येव दृष्टिः ॥ २३ ॥

---

१ 'जन्मान्तरादिव अनुपलब्धदर्शना' इत्यन्यत्र पाठः ।

अन्वय—अतिपूरैः विलुलितम् आनन्दशोकप्रभवं बाष्पम् अवसृजन्ती पक्ष्मलोत्तानदीर्घा स्नेहनिष्यन्दिनी धवलमधुरमुग्धा दुग्धकुल्या इव ते दृष्टिः हृदयेशं स्नपयति ॥ २३ ॥

व्याख्या—अतिपूरैः अतिस्थूलधाराभिः, विलुलितं विगलितं, आनन्दशोकप्रभवं हर्षदुःखोत्पन्नं, बाष्पम् अश्रुजलम्, अवसृजन्ती अभिवर्षन्ती, पक्ष्मलोत्तानदीर्घा पक्ष्मला प्रशस्ताक्षिलोमयुक्ता उत्ताना विस्फारिता दीर्घा आयता, स्नेहनिष्यन्दिनी प्रेमस्राविणी, धवलमधुरमुग्धा धवला अञ्जनराहित्यात् शुभ्रा मधुरा प्रिया मुग्धा मनोहरा, दुग्धकुल्या इव कृत्रिमा दुग्धनदीव, ते तव, दृष्टिः दर्शनं चक्षुर्वा, हृदयेशं प्राणनाथं, स्नपयति सिञ्चति ॥ २३ ॥

अनुवाद—तमसा—आनन्द एवं शोक से उत्पन्न होकर धाराप्रवाह बहते हुए आँसुओं को बहाती हुई, फैली हुई, लम्बी, सुन्दर बरौनी वाली, प्रेम टपकाने वाली, (काजल न लगने के कारण) श्वेत, सौम्य और मनोहर तुम्हारी दृष्टि दूध की नहर की तरह प्राणनाथ (राम) को नहला रही है ॥ २३ ॥

टिप्पणी—अतिपूरैः=धाराप्रवाह से, बड़े जोर से। पक्ष्मलोत्तानदीर्घा—पक्ष्मला च उत्ताना च दीर्घा च इति विग्रहे विशेष्यविशेषणसमासः। विशेषणपदों के समास में विशेष्य और विशेषण इच्छानुसार होते हैं। पक्ष्मल०—प्रशस्त पक्ष्म अस्ति अस्या इति पक्ष्मला, पक्ष्मन्+लच्—टाप्। पक्ष्म=बरौनी, नेत्रलोम। 'तृष्णयोत्तानदीर्घा' इस पाठ में तृष्णा का अर्थ पतिदर्शन की अत्युत्कण्ठा समझना चाहिये। धवलमधुरमुग्धा—यहाँ भी विशेषणसमास। 'धवलबहुलमुग्धा' इस पाठ में बहुल का अर्थ अतिशय होगा। दुग्धकुल्या—दूध की नहर। 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्' इत्यमरः। स्नपयति—ष्णा शौचे धातु से णिच् प्रत्यय, पुक् आगम और ह्रस्वता। इस श्लोक में उत्प्रेक्षा, समासोक्ति और अतिशयोक्ति अलंकारों में परस्पर अंगांगिभाव सम्बन्ध होने से संकर अलंकार हो जाता है। यह मालिनी छंद है ॥ २३ ॥

वासन्ती—

दधतु तरवः पुष्पैरर्घ्यं फलैश्च मधुश्च्युतः
स्फुटितकमलामोदप्रायाः प्रवान्तु वनानिलाः।
कलमविरलं रज्यत्कण्ठाः क्वणन्तु शकुन्तयः
पुनरिदमयं देवो रामः स्वयं वनमागतः ॥ २४ ॥

अन्वय—अय देवो रामः स्वय पुनः इदं वनम् आगतः (इति हेतोः) मधुश्च्युतः तरवः पुष्पैः फलैश्च अर्घ्यं ददतु, स्फुटितकमलामोदप्रायाः वनानिलाः प्रवान्तु रक्तकण्ठाः शकुन्तयः अविरल कलं क्वणन्तु ॥ २४ ॥

व्याख्या—अयं सन्निकृष्टस्थः, देवः महाराजः, रामः रामभद्रः, स्वयम् आत्मना, पुनः भूयः, इदम् एतत्, वनम् अरण्यम्, आगत. प्राप्तः, (इति हेतो.) मधुश्च्युतः मधुस्राविणः, तरवः वृक्षाः, पुष्पैः, फलैश्च, अर्घ्यं पूजासाधन, ददतु समर्पयन्तु (रामाय)। स्फुटितकमलामोदप्रायाः स्फुटिताना विकसिताना कमलाना पद्मानाम् आमोदप्रायः सुगन्धबाहुल्य येषु ते तथाभूता. वनानिलाः वनवायवः, प्रवान्तु प्रवहन्तु। (तथा) रक्तकण्ठाः रक्ताः रागयुक्ताः कण्ठाः गला. येषा ते तथोक्ताः, (रत्युत्कण्ठाः इति पाठे तु रत्या क्रीडाया सुरते वा उत्कण्ठा औत्सुक्य येषा ते तथोक्ताः) शकुन्तयः पक्षिणः, अविरलं अनवरत, कल मधुरास्फुट यथा स्यात्तथा, क्वणन्तु शब्द कुर्वन्तु ॥ २४ ॥

अनुवाद—वासन्ती—ये महाराज रामभद्र स्वय इस वन में पुनः पधारे हुए हैं। अतः मधु-क्षरण करने वाले समस्त वृक्ष फल-पुष्पों से (इन्हें) अर्घ्य दें, विकसित कमलों के सौरभ से परिपूर्ण वन की वायु बहे और रागयुक्त (सुरीले) कठ वाले खग-वृन्द निरन्तर कलरव करें ॥ २४ ॥

टिप्पणी—मधुश्च्युतः = पुष्परस चुआने वाले। मधुश्च्योतन्ति = क्षरन्ति इति विग्रहे अन्तर्भावितण्यर्थात् 'श्च्युतिर् क्षरणे' धातोः कर्तरि क्विप् प्रत्यय.। शकुन्तयः = पक्षी सब। 'शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इत्यमरः। इस श्लोक में अर्घ्य-दान आदि के प्रति राम-आगमन रूप चतुर्थचरणस्थ वाक्यार्थ के हेतु होने से वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार है। यह हरिणी छन्द है ॥ २४ ॥

राम.—एहि सखि वासन्ति ! नन्वित. स्थीयताम्।

राम—सखि वासन्ति ! आओ, यहाँ बैठो।

वासन्ती—(*उपविश्य सास्रम्*) महाराज ! अपि कुशलं कुमारलक्ष्मणस्य ?

वासन्ती—(*अश्रुपातपूर्वक बैठकर*) महाराज ! कुमार लक्ष्मण कुशल से हैं न ?

राम —(*अनाकर्णनमभिनीय*)

राम—(*न सुनने का अभिनय करके*)

करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पै-
स्तरुशकुनिकुरङ्गान्मैथिली यानपुष्यत् ।
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि
द्रव इव हृदयस्य प्रस्रवोद्भेदयोग्य ॥२५॥

अन्वय—मैथिली करकमलवितीर्णैः अम्बुनीवारशष्पैः यान् तरुशकुनिकुरङ्गान् अपुष्यत्, तेषु दृष्टेषु प्रस्रवोद्भेदयोग्यः मम हृदयस्य द्रव इव कोऽपि विकारो भवति ॥२५॥

व्याख्या—मैथिली जानकी, करकमलवितीर्णैः करकमलेन पाणिपद्मेन वितीर्णैः दत्तैः, अम्बुनीवारशष्पैः जलतृणधान्यबालतृणैः, यान्, तरुशकुनिकुरङ्गान् वृक्षपक्षिहरिणान्, अपुष्यत् पोषितवती, तेषु पूर्वोक्तेषु, दृष्टेषु अवलोकितेषु, प्रस्रवोद्भेदयोग्यः प्रसरणोत्पत्तियोग्यः (प्रस्तरोद्भेदयोग्यः इति पाठे तु प्रस्तरस्य पाषाणस्य उद्भेदे विदारणे योग्यः समर्थः), मम रामस्य, हृदयस्य चित्तस्य, द्रव इव आर्द्रता इव, कोऽपि अनिर्वचनीयः, विकारः विकृतिः, भवति जायते ॥२५॥

अनुवाद—सीतादेवी ने (अपने) करकमलों से जल, नीवारधान्य और कोमल घास देकर जिन वृक्षों, पक्षियों और हरिणों का पोषण किया था, उन्हें देखने पर मेरे हृदय से फूटकर निकलने वाले प्रवाह की तरह कोई अनिर्वचनीय विकार उत्पन्न हो रहा है ॥२५॥

टिप्पणी—मैथिली—मिथिलाया ईश्वरः इति मैथिलः 'तस्येदम्' इत्यनेन अण् प्रत्ययः, मैथिलस्य अपत्यं स्त्री इति मैथिली 'अत इञ्' इत्यनेन इञ्, तत 'इतो मनुष्यजातेः' इत्यनेन ङीष् । करकमलवितीर्णैः—करः कमलमिव इति करकमलम् । उपमितसमास, तेन वितीर्णैः वि√तॄ+क्त कर्मणि । नीवार=तिन्नी धान । शष्प=नवतृण । इस श्लोक में यथासंख्य और उपमा अलङ्कारों में अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध से सांकर्य है । यह मालिनी छन्द है ॥२५॥

वासन्ती—महाराज ! ननु पृच्छामि कुशलं कुमारलक्ष्मणस्येति ?

वासन्ती—महाराज ! मैं पूछ रही हूँ—कुमार लक्ष्मण कुशल से तो हैं ?

रामः—(*आत्मगतम्*) अये ! महाराजेति निष्प्रणयमामन्त्रणपदम्। सौमित्रिमात्रके बाष्पस्खलिताक्षरः कुशलप्रश्नः । तथा मन्ये विदितसीतावृत्तान्तेयमिति । (*प्रकाशम्*) आः, कुशलं कुमारलक्ष्मणस्य । (*इति रोदिति* ।)

व्याख्या—अये इति विषादसूचकमात्मसम्बोधनम् , महाराजेति महाराजेत्यानुपूर्वीकं, निष्प्रणयं प्रणयशून्यम्, आमन्त्रणपदम् सम्बोधनशब्दः । सौमित्रिमात्रके केवले लक्ष्मणे, बाष्पस्खलिताक्षर बाष्पेण अश्रुणा स्खलितानि अस्पष्टोच्चारितानि अक्षराणि वर्णा यस्मिन् स तथोक्तः, कुशलप्रश्नः मङ्गलजिज्ञासा । तथा तेन हेतुना, इयं वासन्ती, विदितसीतावृत्तान्ता विदितः ज्ञातः सीतायाः जानक्याः वृत्तान्तः उदन्तः यया सा तथाभूता, (अस्ति) इति मन्ये निश्चिनोमि । आः इति सोपालम्भाङ्गीकारद्योतकमव्ययम् (आम् इति पाठे तु स्वीकारार्थमव्ययं बोध्यम्) ।

अनुवाद—राम—(*अपने आप*) अरे ! 'महाराज' यह सम्बोधनपद प्रणय का अभाव सूचित करता है, और (वासन्ती ने) आँसू के कारण अस्पष्ट उच्चारित अक्षरों में केवल लक्ष्मण की ही कुशल-जिज्ञासा की है । इसलिए मैं समझता हूँ कि वासन्ती को सीता का सब समाचार ज्ञात हो गया है । (*प्रकाश रूप से*) हाँ, कुमार लक्ष्मण की कुशल है । (*यह कहकर रोने लगते हैं* ।)

टिप्पणी—निष्प्रणयम्—निर्गतः प्रणयो यस्मात् तत् निष्प्रणयम्= स्नेहरहितम् । सौमित्रिमात्रके—सुमित्रायाः अपत्यं पुमान् इति सौमित्रिः, सुमित्रा+इञ् 'बाह्वादिभ्यश्च' इत्यनेन, सौमित्रिरेव सौमित्रिमात्रकम् तस्मिन् 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति समासः, ततः विषयाधिकरणे 'सप्तम्यधिकरणे च' इति सप्तमी ।

वासन्ती—(*रोदिति* ।) अयि देव ! किं परं दारुणः खल्वसि ?

वासन्ती—(*रोती हैं* ।) हे महाराज ! आप अतिशय कठोर क्यों हो गये हैं ?

सीता—सहि वासन्दि ! किं तुमं एव्ववादिणी होसि ? पूआरुहो सव्वस्स अज्जउत्तो, विसेसदो मह पिअसहीए । [सखि वासन्ति ! किं त्वमेववादिनी भवसि ? पूजार्हः सर्वस्यार्यपुत्रः, विशेषतो मम प्रियसख्याः ।]

सीता—सखि वासन्ति ! क्यों तुम इस प्रकार बोल रही हो (अर्थात् आर्यपुत्र के प्रति कठोर भाषण कर रही हो) ! आर्यपुत्र तो सबके माननीय हैं, विशेष कर मेरी प्यारी सखी के।

टिप्पणी—'पूजार्ह' के बदले 'प्रियार्ह' भी पाठ मिलता है। उसका अर्थ होगा—प्रिय व्यवहार या भाषण के योग्य।

वासन्ती—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां,
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥ २६ ॥

अन्वय—त्वं मे जीवितम् असि, त्वं द्वितीयं हृदयम्, त्वं नयनयोः कौमुदी, त्वम् अंगे अमृतम्, इत्यादिभिः प्रियशतैः मुग्धाम् अनुरुध्य ताम् एव— अथवा शान्तम्, अतः परेण किम् ? ॥ २६ ॥

व्याख्या—त्वं जानकी, मे मम, जीवितं जीवनम्, असि वर्तसे, त्वं, (मे) द्वितीयम् अपरं, हृदयं चित्तम् (असि), त्वं, (मे) नयनयोः नेत्रयोः, कौमुदी चन्द्रिका (असि), त्वं, (मे) अंगे वक्षःप्रभृत्यवयवे, अमृतं सुधा (असि), इत्यादिभिः एवंभूतैरन्यैश्च, प्रियशतैः अमितैः प्रियवचनैः, मुग्धां सरलबुद्धिशालिनीम्, अनुरुध्य अनुनीय, ताम् एव नितान्तविश्वासकारिणीं सीतामेव (वने निर्वासितवानिति शेषः), अथवा आहोस्वित्, शान्तं विरतं (मम वाक्यमत्रैव समाप्तं भवत्वित्यर्थः), अतः अस्मात्, परेण अनन्तरेण (कथनेन), किं किम्प्रयोजनम् ? ॥ २६ ॥

अनुवाद—तुम मेरे जीवन हो, तुम मेरे दूसरा हृदय हो, तुम मेरी नयन-चन्द्रिका (आँखों को चाँदनी की तरह आप्यायित करने वाली) हो, तुम मेरे अंगों के वास्ते अमृत हो—इत्यादि शतशः प्रिय वचनों से भोली (सीता) को बहलाकर उसी को— अथवा बस, इसके आगे कहने से क्या लाभ ? ॥ २६ ॥

टिप्पणी—कौमुदी—चन्द्र-कला। कौ पृथिव्या मोदयति हर्षयति जनान् इति कुमुदः चन्द्रः, कु√मुद्+क, तस्य कला कौमुदी, कुमुद+अण्—ङीप्। कौमुदी शब्द की निरुक्ति इस प्रकार भी है—'कौ मोदन्ते जना यस्मा-त्तेनेयं कौमुदी मता'। प्रियशतैः=अनन्त प्रिय वचनों से। यहाँ शत शब्द

अनन्ततावोधक है । 'शत सहस्रमयुत सर्वमानन्त्यवाचकम् ।' इस श्लोक में रूपक, अतिशयोक्ति और आक्षेप अलकारों में परस्पर अगागिभाव सम्बन्ध है, अतः सकर अलकार उत्पन्न हो जाता है ॥ २६ ॥

(इति मूर्च्छति ।)

(यह कहकर मूर्च्छित हो जाती हैं ।)

तमसा—स्थाने वाक्यनिवृत्तिर्मोहश्च ।

तमसा—(दारुण शोक के कारण उसकी) वचन-समाप्ति और मूर्च्छा उचित समय पर हुई है ।

टिप्पणी—स्थाने = युक्त, उचित । 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमर. । किसी-किसी पुस्तक में यह वाक्य राम का कहा गया है और इसी वाक्य से जुड़ा हुआ 'सखि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि' यह पाठ मिलता है ।

राम—सखि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

राम—सखि ! आश्वस्त हो, आश्वस्त हो ।

वासन्ती—*(समाश्वस्य)* तत्किमिदमकार्यमनुष्ठितं देवेन ?

वासन्ती—*(आश्वस्त होकर)* फिर आपने ऐसा अनुचित काम क्यों किया ?

सीता—सहि वासन्दि ! विरम विरम । [सखि वासन्ति ! विरम विरम ।]

सीता—सखि वासन्ति ! रुको रुको ।

रामः—लोको न मृष्यतीति ।

व्याख्या—लोकः प्रजावर्गः, न मृष्यति न सहते (सीतायाः गृहे अवस्थानम् इति शेषः), इति अस्मात् कारणात् (सीतानिर्वासनरूपमकार्यं विहितम् इत्यर्थः) ।

अनुवाद—राम—लोग सहन नहीं करते हैं (अर्थात् सीता का घर में रहना पसंद नहीं करते, इसलिए मैंने ऐसा अनुचित किया)।

वासन्ती—कस्य हेतोः ?

वासन्ती—किस कारण (अर्थात् लोग किसलिए सीता का घर में रहना नहीं चाहते हैं) ?

राम—स एव जानाति किमपि ।

राम—वे ही कुछ जानते हैं (अर्थात् इसका यदि कोई अनिर्वचनीय कारण हो तो वह प्रजा ही को मालूम है, हमें नहीं)।

तमसा—चिरादुपालम्भ ।

तमसा—बहुत काल के बाद उलाहना दिया (अर्थात् परम पतिव्रता सीता का दोषाविष्कार करने वाले प्रजावर्ग के प्रति जो उपालम्भपूर्वक बात्त आपको बहुत पहले कहना चाहिए था, वह अब कहा है)।

टिप्पणी—किन्हा पुस्तकों में 'चिरादुपालम्भ' की जगह 'उचितस्तादुपालम्भ' पाठ है। इसका अर्थ होगा—'यह उलाहना ठीक है'।

वासन्ती—

अयि कठोर ! यशः किल ते प्रियं
किमयशो ननु घोरमतः परम्।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ ! कथं बत मन्यसे ॥ २७ ॥

अन्वय—अयि कठोर ! ते यशः किल प्रियम्, ननु अतः परं घोरम् अयशः किम् ? नाथ ! हरिणीदृशः विपिने किम् अभवत् ? कथय, बत कथं मन्यसे ? ॥ २७ ॥

व्याख्या—अयि कठोर निष्करुणहृदय ! ते तव, यशः किल कीर्तिरेव, प्रियम् अभिलषितम्, ननु इति अनुनये, अतः निरपराधभार्यानिर्वासनजन्यात् यशसः, परम् अधिकम्, घोरं भयङ्करम्, अयशः अकीर्तिः, किं किमस्ति ? (न किमप्यस्तीत्यर्थः) नाथ हे स्वामिन् ! हरिणीदृशः मृगनयनायाः, विपिने वने, किम् अभवत् का दशा अभवत् ?, कथय ब्रूहि, बत इति खेदे, (अत्र विषये) कथं मन्यसे किं विचारयसि (अर्थात् हिंस्रजन्तुसमाकुले वने एकाकिनी परित्यक्ता आसन्नप्रसवा सीता जीवति मृता वेति किं निश्चयसि ?) ॥ २७ ॥

अनुवाद—वासन्ती—ऐ निष्ठुर ! आपको यश ही प्यारा है। किन्तु (अतिपवित्र चरित्रवाली निरपराध पत्नी को निर्वासित करने से जो अयश आपको मिला है), इससे बढ़कर भयानक अपकीर्ति क्या हो सकती है ? जंगल में मृगनयनी (सीता) का क्या हुआ ? हा नाथ ? बतलाइये, आप (इस विषय में) क्या सोचते हैं (अर्थात् हिंसक जन्तुओं से भरे वन में

अकेली छोड़ दी गई सीता जीवित है या मर चुकी, इस सम्बन्ध में आपका क्या निर्णय है ?) ॥ २७ ॥

टिप्पणी—हरिणीदृशः—हरिण्या इव दृक् यस्याः सा तस्याः। इस श्लोक में यश के लिये किये गये कार्य से अयश के संघटित हो जाने के कारण विषमालंकार है। 'हरिणीदृशः' इसमें लुप्तोपमा अलंकार है। फिर दोनों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह द्रुतविलम्बित छंद है। इसका लक्षण है—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' ॥ २७ ॥

सीता—सहि वासन्दि ! तुम एव्व दारुणा कठोरा अ। जा एव्व पलवन्त पलावेसि। [सखि वासन्ति ! त्वमेव दारुणा कठोरा च। येव प्रलपन्तं प्रलापयसि।]

सीता—सखि वासन्ति ! तुम ही भयानक और निष्ठुर हो, जो इस प्रकार प्रलाप करते हुए (आर्यपुत्र को) प्रलाप के लिए प्रेरित कर रही हो।

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'प्रलपन्तं प्रलापयसि' की जगह 'विलपन्ती प्रदीपयसि' पाठ मिलता है। उसका अर्थ होगा—'विलाप करती हुई (हम लोगों की शोकाग्नि को और भी) उद्दीपित कर रही हो।'

तमसा—प्रणय एव व्याहरति शोकश्च।

तमसा—(तुम्हारा) स्नेह और (तुम्हारी दशाजन्य) शोक इस प्रकार बोल रहा है (अर्थात् स्नेह और शोक से प्रेरित होने के कारण ही वासन्ती राम को इस प्रकार उलाहना दे रही है, न कि अपने अभिमत से वह बोल रही है)।'

रामः—सखि ! किमत्र मन्तव्यम् ?

राम—सखि ! (अब) इस विषय में क्या कहना है ?

त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे-
स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः।
ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा
क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता ॥ २८ ॥

अन्वय—त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टेः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः

-तस्या ज्योत्स्नामयी इव मृदुबालमृणालकल्पा अङ्गलतिका क्रव्याद्भि नियतं विलुप्ता ॥ २८ ॥

व्याख्या—त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे त्रस्तस्य भीतस्य एकहायनस्य एकवर्षवयस्कस्य कुरङ्गस्य हरिणस्य इव विलोले अतिचञ्चले दृष्टी नेत्रे यस्या तस्या, परिस्फुरितगर्भभरालसाया परिस्फुरितस्य प्रसवकालतया अतिकम्पितस्य गर्भस्य भ्रूणस्य भरेण भारेण अलसाया मन्थराया, तस्या सीताया, ज्योत्स्नामयी इव चन्द्रिकानिर्मितेव, मृदुबालमृणालकल्पा मृदु कोमलं यद् बालमृणाल नवोत्पन्नबिस तत्कल्पा तत्तुल्यकोमलेत्यर्थ, अङ्गलतिका देहलता, क्रव्याद्भि मासभोजिभि व्याघ्रादिजन्तुभि, नियत निश्चित, विलुप्ता विनाशिता (इत्येष मम निश्चय) ॥ २८ ॥

अनुवाद—डरे हुए एकवर्षीय हरिण की तरह अतिचञ्चल नेत्रों वाली और कँपते हुए गर्भ के भार से अलसित होने वाली सीता का ज्योत्स्ना से बना हुए की तरह, कोमल एव नवीन मृणाल के तुल्य और लताव्रदृश शरीर मासभोजी जन्तुओं द्वारा अवश्यमेव नष्ट हो गया होगा ॥ २८ ॥

टिप्पणी—मृदुबालमृणालकल्पा—ईषदसमाप्त मृदुबालमृणालम् इति मृदुबालमृणाल+कल्पप् स्त्रियाम्। अङ्गलतिका = देहयष्टि, लता तुल्य कृश शरीर। अङ्ग लतिका इव इति अङ्गलतिका उपमितसमास, अल्पा लता इति लतिका, लताशब्दात् अल्पार्थे कप्रत्यय, तत 'केऽण' इति ह्रस्व, तत 'प्रत्ययस्थात्'—इति इत्वम्। क्रव्याद्भि = मासभक्षी हिंस्र जन्तुओं से। क्रव्यम् आममासम् अदन्तीति क्रव्याद, क्रव्य√अद्+विट् 'क्रव्ये च' इत्यनेन। विलुप्ता—तुदादिगणीय लुप्लृ छेदने धातु से कर्म में क्त प्रत्यय। इस श्लोक में चार लुप्तोपमा अलकारों में अङ्गाङ्गिभाव संबंध होने से सकर अलंकार है। 'मृदुबालमृणाल' में 'मृ' की सकृत् समानता से वृत्त्यनुप्रास अलंकार भी है। यह वसन्ततिलका छन्द है ॥ २८ ॥

सीता—अज्जउत्त ! धरामि एसा धरामि। [आर्यपुत्र ! ध्रिये एषा ध्रिये।]

सीता—आर्यपुत्र ! मैं (शरीर) धारण कर रही हूँ, धारण कर रही हूँ (अर्थात् जीवित हूँ)।

टिप्पणी—ध्रिये = अवतिष्ठे। यह रूप तुदादिगणीय धृङ् अवस्थाने धातु

के लट् लकार उत्तमपुरुष एकवचन का है। इसका दो बार उच्चारण संभ्रम में हुआ है। राम के दु.ख से अतिशय व्यथित एवम् आत्मविस्मृत हो जाने के कारण सीता के मुख से हठात् ये शब्द निकल पड़े।

रामः—हा प्रिये जानकि ! कासि ?

राम—हा प्रिये सीते ! तुम कहाँ हो ?

सीता—हद्धी हद्धी ! अण्णो विअ अज्जउत्तो पमुक्ककण्ठं परुण्णो होदि। [हा धिक् हा धिक् ! अन्य इवार्यपुत्र प्रमुक्तकण्ठं प्ररुदितो भवति।]

सीता—हाय धिक्कार है ! हाय धिक्कार है ! साधारण जन की तरह आर्यपुत्र फूट-फूट कर विलाप कर रहे हैं।

टिप्पणी—प्रमुक्तकण्ठम् = उच्चैःस्वरम्। प्रमुक्तः अनिरुद्धः कण्ठो ध्वनिर्यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा प्रमुक्तकण्ठम्।

तमसा—वत्से ! साम्प्रतिकमेवैतत्। कर्तव्यानि खलु दुःखितैर्दुःखनिर्वापणानि।

तमसा—बेटी ! यह (रामभद्र का रोना) उचित ही है। क्योंकि दुःखितों को दुःख विनाश के उपाय करने ही चाहिएँ।

टिप्पणी—साम्प्रतिकम्—साम्प्रतमेव इति साम्प्रत+टक् स्वार्थे। दुःखनिर्वापणानि = दु.खविनाशोपाय। दु.खानि निर्वाप्यन्ते विनाश्यन्ते एभिः इति दुःखनिर्वापणानि। निर्√वा+णिच्+ल्युट् करणे निर्वापणानि, दुःखस्य निर्वापणानि। कहते हैं कि जी भर रो लेने से दुःख हलका हो जाता है।

पूरोत्पीडे तटाकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं प्रलापैरेव धार्यते ॥ २९ ॥

अन्वय—तटाकस्य पूरोत्पीडे परीवाहः प्रतिक्रिया (भवति)। हृदयं च शोकक्षोभे प्रलापैः एव धार्यते ॥ २९ ॥

व्याख्या—तटाकस्य जलाशयस्य, पूरोत्पीडे पूरस्य तीरचतुष्टयमध्यवर्तिजलभागस्य, उत्पीडे अत्याधिक्ये (सति), परीवाहः प्रणालीद्वारेण विवृद्धजलनिःसारणं, प्रतिक्रिया प्रतीकारः (तटभङ्गादिनिवारणोपायो वर्तते तथा),

हृदय च चित्तमपि, शोकक्षोभे शोकेन उद्वेलितावस्थायां (सत्यां), प्रलापैः एव रोदनहेतुभिरनर्थकैर्वचोभिरेव, धार्यते पुनर्व्यवस्थाप्यते ॥ २६ ॥

अनुवाद—जलाशय के जल में (वृष्टि के कारण) अतिशय वृद्धि हो जाने पर नाली चीर कर बढ़ा हुआ पानी निकाल देना प्रतीकार (तट आदि के नष्ट होने से बचाने का उपाय) होता है। (इसी प्रकार) चित्त भी शोक से उद्वेलित हो जाने पर विलापों से ही स्वस्थ किया जाता है ॥ २६ ॥

टिप्पणी—पूरोत्पीडे—तालाब में बाढ़ आने पर तालाब के लबालब भर जाने पर। परीवाह = बढ़े हुए पानी के बहने का मार्ग, फालतू पानी का निकास। परि/वह्+घञ् 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इस सूत्र से 'रि' में इकार को दीर्घ होता है। प्रतिक्रिया = उपाय। प्रति/कृ+श करणे। शोकक्षोभे—शोकेन क्षोभ तस्मिन्। शोक से क्षोभ होने पर। इस श्लोक में पूरोत्पीड आदि से शोकक्षोभ आदि के प्रणिधानगम्य साम्य होने से दृष्टान्त नामक अलंकार है ॥ २६ ॥

विशेषतो रामभद्रस्य बहुप्रकारकष्टो जीवलोकः।

विशेष कर रामभद्र के लिए तो संसार नाना प्रकार के क्लेशों से परिपूर्ण है। (क्योंकि—)

इदं विश्वं पाल्यं विधिवदभियुक्तेन मनसा
प्रियाशोको जीवं कुसुममिव घर्मो ग्लपयति।
स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभ-
स्तदद्याप्युच्छ्वासो भवति ननु लाभो हि रुदितम् ॥३०॥

अन्वय—अभियुक्तेन मनसा इदं विश्वं विधिवत् पाल्यम्, घर्मः कुसुममिव प्रियाशोकः जीवं ग्लपयति। स्वयं त्यागं कृत्वा विलपनविनोदोऽपि असुलभः, तत् अद्यापि उच्छ्वासो भवति, ननु रुदितं लाभो हि ॥ ३० ॥

व्याख्या—अभियुक्तेन निरन्तर सावधानेन, मनसा चित्तेन, इदं दृश्यमानं, विश्वं संसारं, विधिवत् विधानपूर्वकं, पाल्यं रक्षणीयम्, घर्मः आतपः, कुसुममिव पुष्पमिव, प्रियाशोकः सीताविरहदुःखं, जीवं जीवनं, ग्लपयति क्लमयति अवसादयतीत्यर्थः। स्वयम् आत्मना, त्यागं निर्वासनं, कृत्वा विधाय, विलपनविनोदोऽपि विलपनेन विलापेन विनोदः शोकापनयनमपि, असुलभः दुर्लभः (यतो हि स्वयं त्यागं कृत्वा यदि विलपेत् तर्हि प्रजायाः परिहासभाजनं

स्याग्, अतः विलापो दुर्लभः), तत् तदपि तादृशविनोदालाभेऽपीत्यर्थः, अद्यापि एतत्कालपर्यन्तमपि, उच्छ्वास. जीवनधारणं, भवति, (अस्यामवस्थायां) ननु निश्चयेन, रुदित रोदन, लाभो हि लाभ एव भवति ॥ ३० ॥

अनुवाद—(रामभद्र को) निरन्तर सावधान मन से इस ससार का विधिपूर्वक पालन करना पड़ता है। जैसे घाम फूल को मुरझाता है उसी तरह प्रियाविरहजन्य शोक (उनके) जीवन को म्लान कर रहा है। स्वय त्याग करने के कारण विलाप द्वारा भी हलका करना भी (उनके लिए) सुलभ नहीं है। फिर भी अब तक (वे) जीवन-धारण कर रहे हैं। (ऐसी अवस्था में यहाँ) विलाप करना (उनके लिए) लाभदायक ही होगा ॥ ३० ॥

टिप्पणी—स्वय कृत्वा त्यागः ······ ···भाव यह है कि यदि राम विलाप करके अपने दुःख को दूर करना चाहें तो वह भी उनके लिए असम्भव है। क्योंकि उन्होंने तो स्वय सीता का त्याग किया है। अतः यदि वे विलाप करें तो ससार क्या कहेगा। इस श्लोक मे समुच्चय, उपमा और परिणाम इन तीन अलकारों में अगाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से सकर अलकार है। यह शिखरिणी छद है ॥ ३० ॥

राम·—कष्ट भोः ! कष्टम् ।
राम—हाय ! बड़ा कष्ट है।

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा तु न भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—हृदयं शोकोद्वेगाद् दलति द्विधा तु न भिद्यते, विकल. काय. मोहं वहति चेतना न मुञ्चति। अन्तर्दाहः तनूं ज्वलयति भस्मसात् न करोति, मर्मच्छेदी विधिः प्रहरति जीवित न कृन्तति ॥ ३१ ॥

व्याख्या—शोकोद्वेगात् वेदनया व्याकुलत्वात्, हृदयम् अन्त करण, दलति विदीर्णं भवति, (किन्तु) द्विधा द्विखण्डीभूय तु, न भिद्यते न भिन्न भवति, विकलः शोकविह्वल., कायो देह., मोहं मूर्च्छां, वहति भजते, (किन्तु) चेतना सज्ञा, न मुञ्चति न त्यजति। अन्तर्दाहः मनस्तापः, तनूं शरीरं, ज्वलयति

सन्तापयति, (किन्तु) भस्मसात् भस्मीभूता, न करोति न विदधाति, मर्मच्छेदी मर्मस्थानच्छेदनशीलः, विधिः दैव, प्रहरति प्रहार करोति, (किन्तु) जीवित जीवन, न कृन्तति न छिनत्ति न विनाशयतीत्यर्थ. ॥ ३१ ॥

अनुवाद—वेदना से व्याकुल होने के कारण (मेरा) हृदय विदीर्ण होता है, किन्तु दो खण्डों में विभक्त नहीं हो जाता है। शोक से विह्वल (मेरा) शरीर मूर्च्छित होता है, किन्तु चेतना का त्याग नहीं कर देता है। (मेरे) मन का सन्ताप देह को जलाता है, किन्तु भस्म नहीं कर देता है। (इसी प्रकार) मर्मस्थान में छेद करने वाला विधाता या भाग्य (मुझ पर) प्रहार करता है, किन्तु जीवन का उच्छेद नहीं कर देता है ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—उद्वेग—उत् √विज्+घञ् भावे । भिद्यते—√भिद्+लट्—ते कर्मकर्तरि । अन्तर्दाहः—अन्तः मध्ये दाहः अन्तर्दाहः सुप्सुपेति समासः। किन्हीं पुस्तकों में 'शोकोद्वेगात्' की जगह 'गाढोद्वेगः' पाठ है। इसके अनुसार अर्थ होगा—'गाढ़ शोकावेग हृदय को विदीर्ण करता है, किन्तु दो खण्डों में विभक्त नहीं कर देता है' ॥ 'गाढोद्वेगम्' भी पाठभेद मिलता है। इसके अनुसार अर्थ होगा—'अतिशय उद्वेग वाला हृदय विदीर्ण होता है, किन्तु दो खण्डों में विभक्त नहीं हो जाता है'। इस श्लोक के चारों चरणों में विशेषोक्ति अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार है। यह हरिणी छंद है ॥ ३१ ॥

हे भगवन्तः पौरजानपदाः !

हे महानुभाव नागरिको एवं देशवासियो !

न किल भवतां देव्याः स्थानं गृहेऽभिमतं तत-
स्तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता ।
चिरपरिचितास्ते ते भावास्तथा द्रवयन्ति मा-
मिदमशरणैरद्यास्माभिः प्रसीदत रुद्यते ॥ ३२ ॥

अन्वय—देव्याः गृहे स्थान भवतां न अभिमतम्, ततः तृणमिव शून्ये वने त्यक्ता न च अनुशोचिता अपि। चिरपरिचिताः ते ते भावाः मा तथा द्रवयन्ति, अद्य अशरणैः अस्माभिः इद रुद्यते, प्रसीदत ॥ ३२ ॥

व्याख्या—देव्याः सीतायाः, गृहे गेहे, स्थान स्थितिः, भवता युष्माकं, न अभिमत न अभिप्रेतम्, ततः तस्मात् कारणात्, (सीता) तृणमिव तुच्छ-

शुष्कघासादिरिव, शून्ये विजने, वने विपिने, त्यक्ता विसृष्टा, न च अनुशोचिता तदर्थम् अनुतापोऽपि न कृत इत्यर्थः, (इदानीन्तु) चिरपरिचिताः बहुकालाभ्यस्ताः, ते ते पूर्वानुभूताः, भावाः पदार्थाः, मा माम्, तथा तेन प्रकारेण, द्रवयन्ति व्याकुलीकुर्वन्ति, (यथा) अद्य अस्मिन् दिने, अशरणैः रक्षकशून्यैः, अस्माभिः, इदम् एतत्, रुद्यते रोदनं क्रियते, (यूयं) प्रसीदत प्रसन्ना भवत (अर्थात् रोदनेऽपि विघ्नं न कुरुत) ॥ ३२ ॥

अनुवाद—घर में सीता देवी का रहना आप लोगों को पसंद नहीं आया। इसलिए (मैंने) उसे विजन वन में तृण की तरह छोड़ दिया और उसके लिए पश्चात्ताप भी नहीं किया। (पर इस समय) चिरपरिचित ये (वृक्ष, पक्षी, मृग आदि) पदार्थ मुझे इस तरह व्याकुल कर रहे हैं कि मैं अशरण होकर रो रहा हूँ, आप लोग प्रसन्न हों॥ ३२ ॥

टिप्पणी——भवताम्—यहाँ 'क्तस्य च वर्तमाने' सूत्र से कर्ता में षष्ठी हुई। अनुशोचिता—अनु√शुच्+णिच्=क्त कर्मणि। द्रवयन्ति=द्रवित करते हैं। द्रववत् शब्दात् तत्करोतीत्यर्थे 'तत्करोति तदाचष्टे' इत्यनेन णिच्, मतुपो लोपः, टिलोपश्च। अशरणैः—अविद्यमानं शरणं येषां ते अशरणाः, तैः अनुक्ते कर्तरि तृतीया। 'शरणं रक्षणे गृहे' इति विश्वः। यहाँ सीता-त्याग रूप हेतु के रहने पर भी अनुताप रूप फल का अभाव होने से विशेषोक्ति अलंकार है और 'तृणमिव' में उपमा अलंकार है। फिर इन दोनों—अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह हरिणी छंद है॥ ३२ ॥

वासन्ती—(*स्वगतम्*) अतिगभीरमापूरणं शोकसागरस्य। (*प्रकाशम्*) देव! अतिक्रान्ते धैर्यमवलम्ब्यताम्।

वासन्ती—(*अपने आप*) (इनके) शोक-समुद्र की परिपूर्णता अत्यन्त गम्भीर है। (*प्रकाश रूप से*) महाराज! बीती हुई बातों में धैर्य का अवलम्बन कीजिये।

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में स्वगत वाला वाक्य तमसा का है और 'आपूरणम्' के स्थान में 'अवघूर्णनम्' पाठ है। इस पाठ के अनुसार अर्थ होगा—'शोक-सागर का आवर्त्त (भँवर) अत्यन्त गम्भीर है।'

रामः—किमुच्यते धैर्यमिति?

राम—क्या कह रही हो—धैर्य धारण करूँ (इसकी तो पराकाष्ठा हो गई)।

देव्या शून्यस्य जगतो द्वादशः परिवत्सरः।
प्रणष्टमिव नामापि न च रामो न जीवति ॥ ३३ ॥

अन्वय—देव्या शून्यस्य जगतो द्वादशः परिवत्सरः। नाम अपि प्रणष्टम् इव, च रामो न जीवति (इति) न ॥ ३३ ॥

व्याख्या—देव्या सीतया, शून्यस्य रहितस्य, जगतः संसारस्य, द्वादशः द्वादशानां पूरणः, परिवत्सरः वर्षः (अस्ति)। (तस्याः) नाम अपि अभिधानमपि, प्रणष्टम् इव विलुप्तम् इव, च अथ च, रामो रामभद्रः, न जीवति प्राणान् न धारयति, (इति) न नहि (अपि तु जीवत्येव) ॥ ३३ ॥

अनुवाद—सीता से रहित संसार का यह बारहवाँ वर्ष बीत रहा है। सीता का नाम भी मिट सा गया है। फिर भी राम नहीं जीता है, सो बात नहीं है (अर्थात् राम जीता ही है) ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—द्वादशः—द्वौ च दश चेति द्वादश, द्वादशानां पूरणः इत्यर्थे द्वादशन्+डट् 'तस्य पूरणे डट्' इत्यनेन। परिवत्सरः=साल। यहाँ 'प्रणष्टमिव' में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ३३ ॥

सीता—ओहरामि अ मोहिआ विअ एदेहिं अज्जउत्तस्स पिअवअणेहिं। [अपहरामि च मोहितेव एतैरार्यपुत्रस्य प्रियवचनैः।]

सीता—आर्यपुत्र के इन प्रिय वचनों से मैं विमूढ़-सी हो कर काल-यापन कर रही हूँ।

तमसा—एवमेव वत्से !

तमसा—वत्से ! बात तो ऐसी ही है।

नैता. प्रियतमा वाचः स्नेहार्द्राः शोकदारुणाः
एतास्ता मधुनो धाराः श्च्योतन्ति सविषास्त्वयि ॥ ३४ ॥

अन्वय—स्नेहार्द्राः शोकदारुणाः एताः वाचः प्रियतमाः न, ताः एताः मधुनः सविषाः धाराः त्वयि श्च्योतन्ति ॥ ३४ ॥

व्याख्या—स्नेहार्द्राः स्नेहेन आर्द्राः सरसाः, (तथा) शोकदारुणाः शोकेन दुःसहवियोगदुःखेन दारुणाः कठोराः, एताः रामोक्ताः, वाचः गिरः, प्रियतमाः न अतीवप्रीतिजनकाः न, (यतः) ताः त्वया श्रुताः, एताः रामवाचः,

मधुन' चौद्रस्य, सविषा: विषसम्पृक्ता., धारा. प्रवाहा:, त्वयि शीतोपरि, श्च्योतन्ति क्षरन्ति पतन्तीत्यर्थ. ॥ ३४ ॥

अनुवाद—स्नेह से सिक्त पर शोक के कारण कठोर ये राम की बातें बहुत प्रीतिजनक नहीं हैं। (कारण) ये तो विष से भरी हुई मधु की धारायें हैं, जो तुम्हारे ऊपर टपक रही हैं ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—यहाँ विरोधाभास तथा निदर्शना अलङ्कारों में अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से सङ्कर अलङ्कार हो जाता है। पक्षान्तर में अपह्नुति अलङ्कार है ॥ ३४ ॥

राम'—अयि वासन्ति ! मया खलु—

राम—ओह वासन्ति ! मैंने—

यथा तिरश्चीनमलातशल्यं प्रत्युप्तमन्त: सविषश्च दन्त' ।
तथैव तीव्रो हृदि शोकशङ्कुर्मर्माणि कृन्तन्नपि किं न सोढ. ॥ ३५ ॥

अन्वय—यथा अन्तः प्रत्युप्तं तिरश्चीनम् अलातशल्यं सविषो दन्तश्च तथैव हृदि तीव्रः शोकशङ्कुः मर्माणि कृन्तन् अपि किं न सोढः ? ॥ ३५ ॥

व्याख्या—यथा येन प्रकारेण, अन्तः हृदये, प्रत्युप्तं विद्धं, तिरश्चीनं तिर्यग्भूतम्, अलातशल्यम् उल्मुककीलकं, सविष. विषसहित:, दन्तश्च दशनश्च, तथैव तेन प्रकारेणैव, हृदि हृदये, तीव्रो गाढ., शोकशङ्कु' शोक एव शङ्कु' शल्य, मर्माणि मर्मस्थलानि, कृन्तन्नपि छिन्दन्नपि, किं न सोढ' किं न सह्यः कृतः ? ॥ ३५ ॥

अनुवाद—हृदय में धँसे हुए तिरछे और जलते हुए कीले के समान तथा विषयुक्त दाँत के सदृश, मर्मस्थान का भेदन करता हुआ शोकरूपी बाण क्या मैंने नहीं सहन किया है (अर्थात् मैंने हृदय-प्रविष्ट प्रज्वलित लौह-शलाका और विषयुक्त दन्त की तरह वेदनादायक एवं मर्मभेदी दु'सह शोक रूपी शल्य का सहन किया है फिर भी तुम धैर्य धारण करने का उपदेश देती हो) ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—अलातशल्यम्—अलातरूप शल्यम् मध्यमपदलोपी समास या अलात शल्यमिव उपमित समास। अलात = अङ्गार। 'अङ्गारोऽलातमुल्मुकम्' इत्यमर। तिरश्चीनम् = तिरछा, टेढ़ा। तिर्यञ्च् शब्दात् 'विभाषाऽञ्चेरदिक् स्त्रियाम्' इति सूत्रेण खप्रत्यय' तस्य ईनादेशः। इस श्लोक में उपमा,

रूपक और अर्थापत्ति अलङ्कारों में अंगागिभाव सम्बन्ध होने से सङ्कर अलङ्कार है। इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के मेल से यहाँ उपजाति छन्द है॥ ३५॥

सीता—एवं वि मन्दभाइणी अहं जा पुणो आआसआरिणी अज्जउत्तस्स। [एवमपि मन्दभागिन्यहं या पुनरायासकारिणी आर्यपुत्रस्य।]

सीता—मैं इतनी अभागिनी हूँ कि आर्यपुत्र के लिए फिर से कष्टदायिनी हो गई।

राम—एवमतिगूढस्तम्भितान्तःकरणस्यापि मम संस्तुतवस्तुदर्शनादद्यायमावेगः। तथाहि—

व्याख्या—एवम् अनेन प्रकारेण, अतिगूढस्तम्भितान्तःकरणस्यापि अतिगूढम् अत्यन्तं गुप्तं (अतिनिश्चलमिति पाठे तु अतिनिश्चलं) यथा स्यात् तथा स्तम्भितं स्थिरीकृतम् अन्तःकरणं चित्तं येन तस्यापि, मम रामस्य, संस्तुतवस्तुदर्शनात् संस्तुतानां पूर्वपरिचितानां वस्तूनां पदार्थानां दर्शनात् ईक्षणात् (संस्तुतबहुतरप्रियदर्शनात् इति पाठे तु संस्तुतानां बहुतराणाम् अनेकेषां प्रियाणां प्रियपदार्थानां दर्शनात्), अद्य अस्मिन् दिने (उद्दाम इति पाठे तु प्रचण्ड), अयम् एतावान्, आवेगः चित्तविकारः।

अनुवाद—राम—इस प्रकार अत्यन्त गुप्त रूप से अन्तःकरण को नियन्त्रित रखने पर भी आज पूर्वपरिचित वस्तुओं के अवलोकन से मेरे चित्त में विकार उत्पन्न हो गया है। जैसा कि—

लोलोल्लोलक्षुभितकरणोज्जृम्भणस्तम्भनार्थं
यो यो यत्नः कथमपि समाधीयते तं तमन्तः।
हित्वा भित्त्वा प्रसरति बलात्कोऽपि चेतोविकार-
स्तोयस्येवाप्रतिहतरयः सैकतं सेतुमोघः॥ ३६॥

अन्वय—लोलोल्लोलक्षुभितकरणोज्जृम्भणस्तम्भनार्थं यो यो यत्नः कथमपि समाधीयते तं तं कोऽपि चेतोविकारः अप्रतिहतरयः तोयस्य ओघः सैकतं सेतुमिव अन्तः बलात् हित्वा भित्त्वा प्रसरति॥ ३६॥

व्याख्या—लोलोल्लोलक्षुभितकरणोज्जृम्भणस्तम्भनार्थं लोलात् चञ्चलादपि उल्लोलम् अतिचञ्चलमिति यावत् तद् यथा तथा क्षुभितस्य क्षोभं प्राप्तस्य (वेलोल्लोल० इति पाठे तु वेलायाः मर्यादायाः उल्लोलस्य उद्गतस्य क्षुभितस्य

इत्यादि व्याख्या कार्या), करुणस्य शोकस्य यत् उज्जृम्भणं प्रकाशः तस्य स्तम्भनार्थं निवारणार्थं, यो यो यत्नः यो यः प्रयास., कथमपि कृच्छ्रेण, समाधीयते क्रियते, त त यत्न, कोऽपि अननुभूतपूर्व. चेतोविकार· चित्तविकृतिः, अप्रतिहतरय· केनाप्यनिवारितवेग·, तोयस्य जलस्य, ओघ. प्रवाह, सैकतं वालुकामयं, सेतुमिव आलिमिव, अन्त. मध्ये, बलात् हठात्, हित्वा गत्वा, भित्त्वा भङ्क्त्वा, प्रसरति विस्तृतो भवति ॥ ३६ ॥

अनुवाद—अत्यत चचलतापूर्वक उद्वेलित शोक के प्राकट्य को रोकने के लिये मैं जो-जो उपाय करता हूँ, उन-उन उपायों को निष्फल करके मेरे चित्त में एक प्रबल विकार उसी प्रकार उत्पन्न हो जाता है जैसे कि बालू के बने हुए बाँध को तोड़ कर जल बड़े वेग से वह निकलता है ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—सैकतम् = बालुओं का बना हुआ । सिकताभिः निर्मितम् इति सैकतम्, सिकता + अण् 'सिकताशर्कराभ्याञ्च' इत्यनेन । सेतु = पुल । 'सेतुरालौ स्त्रिया पुमान्' इत्यमर· । इस श्लोक में उपमा अलकार है । यह मन्दाक्रान्ता छद है ॥ ३६ ॥

सीता—अज्जउत्तस्स एदिणा दुव्वारदारुणारम्भेण दुःखसजोएण परिमुसिअणिअदु·ख पमुक्कजीविअ मे हिअअं फुडइ । [आर्यपुत्रस्यैतेन दुर्वारदारुणारम्भेण दु.खसयोगेन परिमुषितनिजदु.ख प्रमुक्तजीवितं मे हृदयं स्फुटति ।]

व्याख्या—एतेन परिदृश्यमानेन, दुर्वारदारुणारम्भेण दुर्वार निरोद्धुमशक्य. स चासौ दारुण भीषण· एतादृशः आरम्भः उपक्रमो यस्य तेन, दुःखसयोगेन कष्टसम्बन्धेन, प्रमुक्तजीवित प्रमुक्त त्यक्त जीवितं जीवन येन तत्, परिमुषितनिजदु·ख परिमुषितम् अपहृतं निजम् आत्मीय दु ख यस्य तत्, मे मम, हृदय, स्फुटति विदीर्णं भवति ।

अनुवाद—सीता—आर्यपुत्र के इस दुर्निवार एव भीषण आरम्भ वाले दु·ख के सयोग से मेरा हृदय, जो जीवनशून्य होने के कारण स्वकीय दुःख से रहित है, विदीर्ण होता जा रहा है ।

टिप्पणी—दुर्वारदारुणारम्भेण = जिसका आरम्भ अनिवार्य तथा भयंकर है, उससे । किन्हीं पुस्तकों में 'दु·खसयोगेन' के स्थान में

दु खसद्दोभेण' और 'स्फुटति' के बदले 'आकम्पित मे हृदयम्' पाठभेद मिलते हैं ।

वासन्ती—(स्वगतम्) कष्टमत्यासक्तो देव । तदाक्षिपामि तावत् । (प्रकाशम्) चिरपरिचितानिदानीं जनस्थानभागानवलोकनेन मानयतु देव ।

व्याख्या—कष्ट दु खसूचकमव्ययमिदम् । देव महाराज , अत्यासक्त अत्यन्तासक्तियुक्त । तत् तस्माद्धेतो , आक्षिपामि परिचालयामि मनश्चक्षुषी चेति भाव , तावत् इति वाक्यालङ्कारे । इदानीम् अधुना, चिरपरिचितान् चिराभ्यस्तान्, जनस्थानभागान् जनस्थानस्यांशविशेषान् , अवलोकनेन प्रेक्षणेन, मानयतु सत्करोतु, देव ।

अनुवाद—वासन्ती—(*मन में*) हाय कष्ट है । महाराज (सीता के प्रति) अत्यन्त आसक्त हो गये हैं । इसलिये इनके मन को दूसरी ओर ले जाती हूँ । (*प्रकट*) अब महाराज बहुत दिनों से परिचित जनस्थान के भागों को दृष्टिपात से पवित्र करें ।

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'अत्यासक्त ' के स्थान में 'अभ्यापन्न ' पाठ है , उसका अर्थ होगा—विपद्ग्रस्त अर्थात् अत्यन्त शोकाकुल । 'आपन्न आपत्प्राप्त स्यात्' इत्यमर ।

राम —एवमस्तु । (*इत्युत्थाय परिक्रामति ।*)

राम—ऐसा ही हो । (*यह कहकर उठकर चलने लगते हैं ।*)

सीता—सन्दीवण एव्व दु खस्स पिअसहीए विणोदणोवाओ त्ति तक्केमि । [सन्दीपन एव दु खस्य प्रियसख्या विनोदनोपाय इति तर्कयामि ।]

व्याख्या—सन्दीपने उद्दीपने, एव, प्रियसख्या वासन्त्या , विनोदनोपाय मनोरञ्जनोपाय शोकापनोदनसाधनमित्यर्थ , (अस्ति) इति तर्कयामि जानामि ।

अनुवाद—प्रिय सखी का, चित्त आह्लादित करने का उपाय दु ख का उद्दीपक ही होगा, ऐसा मेरा अनुमान है ।

वासन्ती—देव देव !

वासन्ती—महाराज ! महाराज !

अस्मिन्नेव लतागृहे त्वमभवस्तन्मार्गदत्तेक्षणः
964 सा हंसैः कृतकौतुका चिरमभूद्गोदावरीसैकते[1]।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्य बद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्धः प्रणामाञ्जलिः ॥ ३७ ॥

अन्वय—अस्मिन्नेव लतागृहे त्वं तन्मार्गदत्तेक्षणः अभवः, सा हंसैः कृतकौतुका गोदावरीसैकते चिरम् अभूत्। आयान्त्या तया त्वां परिदुर्मनायितम् इव वीक्ष्य कातर्यात् अरविन्दकुड्मलनिभः मुग्धः प्रणामाञ्जलिः विहितः॥ ३७॥

व्याख्या—अस्मिन्नेव सम्मुखस्थे एव, लतागृहे निकुञ्जे, त्वं रामः, तन्मार्गदत्तेक्षणः तस्याः सीतायाः मार्गे आगमनपथे दत्ते वितीर्णे ईक्षणे चक्षुषी येन स तथोक्तः, अभवः आसीः, (किन्तु) सा सीता, हंसैः, कृतकौतुका कृतं विहितं कौतुकं जलविहारादिना कौतूहलं यया तादृशी सती, गोदावरीसैकते गोदावर्याः तटे, चिरं बहुकालम्, अभूत् स्थिता। (अनन्तरम्) आयान्त्या गोदावरीतीरादागच्छन्त्या, तया सीतया, त्वां रामं, परिदुर्मनायितमिव विलम्बकरणात् नितरां चिन्तितचेतसमिव, वीक्ष्य अवलोक्य, कातर्यात् भवत्कोपसम्भावनाजनितत्रासात्, अरविन्दकुड्मलनिभः पद्मकोरकतुल्यः, मुग्धः मनोहरः, प्रणामाञ्जलिः, प्रणामस्य अञ्जलिः प्रणामसूचकपाणिद्वयसंयोग इत्यर्थः, बद्धः रचितः॥ ३७॥

अनुवाद—इसी निकुंज में आप सीता के आने के मार्ग पर दृष्टि लगाये हुए (अर्थात् उसकी बाट जोहते हुए) अवस्थित थे, किन्तु वह गोदावरी के किनारे हंसों के साथ कौतुक करने में बहुत देर तक रुक गई थी। आने पर उसने आपको अप्रसन्नचित्त की तरह देख कर भय के कारण कमलकलिका-तुल्य मनोहर एवं प्रणामसूचक अंजलि बाँध ली थी (अर्थात् अपराध क्षमा करने के लिए हाथ जोड़ कर प्रणाम किया था) ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—आयान्त्या—आ/या+शतृ स्त्रियाम् आयान्ती तया। परिदुर्मनायितम्=अस्वस्थचित्त। परि परितो दुर् दुःस्थं मनो यस्य न परिदुर्मनाः, अपरिदुर्मनाः परिदुर्मना इव आचरति इत्यर्थे 'भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च

---

१. 'रोधसि' इति पाठान्तरम्।

हलः' इति क्यङ्, सलोपः, दीर्घः, तदन्तात् कप्रत्ययः। कातर्यात्=कातरता या आसत्रता। ईषत् तरति या सा कातरा 'ईषदर्थे' इत्यनेन कोः कादेशः, ततश्च कातराया भावः इत्यर्थे 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इत्यनेन ष्यञ्प्रत्यय.। अरविन्दकुड्मलनिभः=अरविन्दस्य कुड्मलेन सदृशः इति अस्वपदविग्रहनित्यसमासे अरविन्दकुड्मलनिभ इति पद सिध्यति। यहाँ आर्थी उपमा अलकार है और 'परिदुर्मनायितमिव' में उत्प्रेक्षा अलंकार है। इन दोनों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से ससृष्टि अलकार हो जाता है। यह शार्दूलविक्रीडित छद है ॥ ३७ ॥

सीता—दालुणासि वासन्ति ! दालुणासि। जा एदेहिं हिअअमम्मुग्घाडिअसल्लसघट्टनेहिं पुणोपुणोवि मं मन्दभाइणि अज्जउत्तं अ सुमरावेसि। [दारुणासि वासन्ति ! दारुणासि। या एतैर्हृदयमर्मोद्घाटितशल्यसङ्घट्टनैः पुन. पुनरपि मां मन्दभागिनीमार्यपुत्रं स्मरयसि।]

व्याख्या—दारुणासि अतिकठोरा भवसि, या त्वम्, एतै. श्रुतपूर्वैः, हृदयमर्मोद्घाटितशल्यसङ्घट्टनैः हृदयस्य अन्तःकरणस्य मर्मणः सन्धिस्थानात् उद्घाटित निष्कासित यत् शल्य कीलक तस्य सघट्टनैः स्थापनैः, पुनः पुनरपि भूयो भूयोऽपि, आर्यपुत्र, मन्दभागिनीम् अल्पभाग्या, मा सीताम्, स्मरयसि स्मरण कारयसि।

अनुवाद—सीता—तुम कठोर हो, वासन्ती! कठोर हो। (क्योंकि) तुम इन हृदय के मर्मस्थान से निकाले हुए बाणों का सयोजन करके (अर्थात् बार-बार पुराने शोक-वृत्तान्त का कथन करके) आर्यपुत्र को बार-बार मुझ मदभागिनी का स्मरण दिला रही हो।

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'हृदयमर्मोद्घाटितशल्यसंघट्टनैः' के स्थान में 'हृदयमर्मगूढशल्यघट्टनै.' पाठ है। इसका अर्थ होगा—'हृदय के मर्मस्थान में छिपे हुए शल्य के सचालन से'। 'स्मरयसि' की जगह सन्तापयसि' पाठभेद का अर्थ होगा—'सतप्त कर रही हो'।

रामः—अयि चण्डि जानकि! इतस्ततो दृश्यसे, नानुकम्पसे।

राम—अरी अत्यन्त कोप करने वाली सीते! इधर-उधर दिखाई देती हो, पर दया नहीं करती हो।

हा हा देवि ! स्फुटति हृदय ध्वसते[1] देहबन्धः
शून्य मन्ये जगदविरतज्वालमन्तर्ज्वलामि ।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथ मन्दभाग्यः करोमि ? ॥३८॥

अन्वय—हा हा देवि ! हृदयं स्फुटति, देहबन्धो ध्वसते, जगत् शून्यं मन्ये, अन्तः अविरतज्वाल ज्वलामि, सीदन् विधुरः अन्तरात्मा अन्धे तमसि मज्जति इव, मोहो विष्वक् स्थगयति, मन्दभाग्य. कथं करोमि ? ॥ ३८ ॥

व्याख्या—हा हा इति शोकद्योतकमव्ययम् द्विरुक्त्या ग्रातिशय्यं प्रकल्प्यते । देवि जानकि ? हृदय वक्ष., स्फुटति विदीर्यते, देहबन्धः शरीरबन्धन, ध्वसते शिथिलीभवति, जगत् विश्व, शून्य पदार्थरहितं, मन्ये अवगच्छामि, अन्त. मध्ये, अविरतज्वालम् अविरता अविश्रान्ता. ज्वालाः तापा. यस्मिन् कर्मणि तद् यथा स्यात् तथा ज्वलामि दग्धो भवामि, सीदन् अवसन्नः सन्, विधुर प्रबल-प्रियावियोगदु.खेन दुःखस्थ., अन्तरात्मा जीवः, अन्धे तमसि गाढान्धकारे, मज्जति इव लीयत इव, मोह. मूर्च्छा, विष्वक् समन्तात्, स्थगयति आवृणोति, मन्दभाग्य' अभाग्य., (अहम्) कथ किं, करोमि आचरामि (अर्थात् कमुपायमव-लम्बे इति न जानामि) ॥ ३८ ॥

अनुवाद—हा देवि, हा (मेरा) हृदय विदीर्ण हो रहा है, (मेरे) अगों का जोड़ ढीला पड़ा रहा है, (मैं) ससार को शून्य समझ रहा हूँ, (मैं) भीतर ही भीतर अविश्रान्त ज्वाला से जल रहा हूँ, (मेरी) विरही अन्तरात्मा मानो अवसाद-ग्रस्त होकर प्रगाढ़ अन्धकार में डूब रही है और मूर्च्छा (मुझे) चारों ओर से आवृत्त कर रही है, (ऐसी अवस्था में) मैं अभागा क्या करूँ ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—हा = शोकसूचक अव्यय । 'हा विषादशुगर्तिषु' इत्यमर । अन्धे— अन्ध करोति इति अन्ध + णिच् (नामधातु) + अच् कर्तरि अन्धम्, तस्मिन् । अन्तरात्मा—अन्त स्थ आत्मा कर्मधारय समास । विष्वक्—विषु (अव्यय) अञ्चतीति विषु√अञ्च् + क्विन कर्तरि । इस श्लोक में समुच्चय,

१—स्रसते इति पाठभेद ।

काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा अलंकार अगाभिमान से संकीर्ण हैं। यह मन्दाक्रान्ता छन्द है ॥ ३८ ॥

(*इति मूर्च्छति*।)

(*यह कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं*।)

सीता—हद्धी हद्धी ! पुणोवि मुद्धो अज्जउत्तो । [हा धिक् हा धिक ! पुनरपि मूढ आर्यपुत्र. ।]

सीता—हाय धिक्कार है, हाय धिक्कार है ! आर्यपुत्र फिर मूर्च्छित हो गये ।

वासन्ती—देव ! समास्वसिहि समाश्वसिहि ।

वासन्ती—महाराज ! आश्वस्त हों, आश्वस्त हों ।

सीता—अज्जउत्त ! मं मन्दभाइणिं उद्दिसिअ सअलजीवलोअमङ्गलिअजम्मलाहस्स दे वारं वारं ससइदजोविअदालुणो दशापरिणामो त्ति हा हदह्मि (*इति मूर्च्छति*।) [आर्यपुत्र ! मां मन्दभागिनीमुद्दिश्य सकलजीवलोकमाङ्गलिकजन्मलाभस्य ते वारं वारं संशयितजीवितदारुणो दशापरिणाम इति हा हतास्मि ।]

व्याख्या—मन्दभागिनीम् अल्पभाग्या, मां सीताम्, उद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य, सकलजीवलोकमाङ्गलिकजन्मलाभस्य सकलः समग्रः जीवलोकः प्राणिलोकः तस्य माङ्गलिको जन्मलाभो यस्मात् स तथाभूतस्य (मङ्गलाधारस्य इति पाठे तु कल्याणनिलयस्य इति व्याख्येयम्), ते तव, वारंवारं पुनः पुनः, संशयितजीवितदारुणः संशयित सन्देहमापन्न जीवित जीवन यस्मिन् स तथोक्त. अतएव दारुणः भयङ्करः, दशापरिणाम. अवस्था-परिणतिः परिवर्तनं वा, इति हेतो', हतास्मि नाशितास्मि ।

अनुवाद—सीता—आर्यपुत्र ! जगत् की उत्पत्ति को मङ्गलमय बनाने वाले अर्थात् जगत् का कल्याण करने वाले आप मुझ मन्दभागिनी के कारण बार-बार ऐसी दशा में परिणत हो जाते हैं, जिसमें जीवन संशयापन्न हो जाता है (*अर्थात् जीवन खतरे में पड़ जाता है*) । हाय ! इस कारण मैं विनष्ट हो रही हूँ। (*यह कहकर मूर्च्छित हो जाती हैं* ।)

तमसा—वत्से ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । पुनस्ते पाणिस्पर्श एव रामभद्रस्य जीवनोपाय. ।

तमसा—बेटी ! आश्वस्त हो, आश्वस्त हो। फिर तुम्हारे हाथ का स्पर्श ही रामभद्र को जीवित या सचेत करने का उपाय है।

वासन्ती— कथमद्यापि नोच्छ्वसिति ? हा प्रियसखि सीते ! क्वासि ? सम्भावयात्मनो जीवितेश्वरम्।

वासन्ती—क्यों अभी भी सचेत नहीं हो रहे हैं ? हाय प्रिय सखि सीते ! कहाँ हो ? अपने प्राणनाथ को होश में लाओ।

(सीता ससम्भ्रममुपसृत्य हृदि ललाटे च स्पृशति।)

(सीता आकुलतापूर्वक समीप जाकर (रामचन्द्र के) हृदय और ललाट का स्पर्श करने लगती हैं।)

वासन्ती—दिष्ट्या प्रत्यापन्नचेतनो रामभद्रः।

वासन्ती—भाग्य से रामभद्र होश में आ गये।

राम —

आलिम्पन्नमृतमयैरिव प्रलेपैरन्तर्वा बहिरपि वा शरीरधातून्।
सस्पर्शः पुनरपि जीवयन्नकस्मादानन्दादपरमिवादधाति मोहम्॥३६॥

अन्वय—अकस्मात् सस्पर्शः अमृतमयैः प्रलेपैः अन्तर्वा बहिरपि वा शरीरधातून् आलिम्पन्निव जीवयन् पुनरपि आनन्दात् अपरं मोहम् आदधाति इव॥ ३६॥

व्याख्या—अकस्मात् सहसा घटितः, सस्पर्शः आमर्शन जानकीकरस्पर्श इति यावत्, अमृतमयैः सुधास्वरूपैः, प्रलेपैः लेपनैः, अन्तर्वा मध्यवर्तिनो वा बहिरपि वा बहिःस्थितानपि वा, शरीरधातून् रक्तमांसादीन्, आलिम्पन् इव सर्वतो लिप्तान् कुर्वन् इव, जीवयन् संज्ञां प्रापयन्, पुनरपि भूयोऽपि, आनन्दात् सुखोत्पादनात्, अपरम् अन्यं, मोहं जडताम्, आदधाति इव उत्पादयति इव॥ ३६॥

अनुवाद—राम—अचानक प्राप्त यह स्पर्श अमृतमय लेपों से भीतरी तथा बाहरी शारीरिक धातुओं को सब ओर से लिप्त करते हुए की तरह चेतना प्रदान करके फिर मानो आनन्द से दूसरी तरह की जड़ता उत्पन्न कर रहा है॥ ३६॥

टिप्पणी—अमृतमयैः—अमृतस्य विकाराः इति अमृत+मयट् अमृतमयाः, तैः। अन्तर्वा—अत्र वा शब्दोऽप्यर्थे। यथा 'अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु

साधु वा' किरातार्जुनीयम्। शरीरधातून्=शोणित, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि, शुक्र और रस—इन सातों को। यहाँ बाहरी धातु से त्वचा विवक्षित है। सब का फलितार्थ यह है कि यह स्पर्श बाहर-भीतर सर्वत्र शरीर को आप्यायित कर रहा है। श्लोक के प्रथम पाद में उत्प्रेक्षा अलङ्कार और उत्तरार्ध के 'जीवयन् मोह तनोति' में विरोधाभास अलङ्कार है। फिर दोनों में अङ्गाङ्गिभाव के कारण सङ्कर अलङ्कार उत्पन्न होता है। यह प्रहर्षिणी छन्द है ॥ ३६ ॥

(सानन्द *निमीलिताक्ष एव*) सखि वासन्ति! दिष्ट्या वर्धसे। (*आँख मूँदे हुए ही आनन्द के साथ*) सखी वासन्ती! भाग्यवश बढ़ रही हो।

वासन्ती—कथमिव?

वासन्ती—कैसे?

रामः—सखि! किमन्यत्? पुनरपि प्राप्ता जानकी।

राम—सखि! और क्या! सीता पुनः प्राप्त हो गई।

वासन्ती—अयि देव रामभद्र! क्व सा?

वासन्ती—हे महाराज रामभद्र! कहाँ है वह!

रामः—(*स्पर्शसुखमभिनीय*) पश्य, नन्वियं पुरत एव।

राम—(*स्पर्शजन्य आनन्द का अभिनय कर*) देखो, यह सामने ही तो है।

वासन्ती—अयि देव रामभद्र! किमिति मर्मच्छेददारुणैरेभिः प्रलापैः प्रियसखीविपत्तिदुःखदग्धामपि मां पुनर्मन्दभाग्यां दहसि?

व्याख्या—किमिति कथं, मर्मच्छेददारुणैः मर्मणः जीवनस्थानस्य छेदेन भेदेन दारुणैः भयङ्करैः, एभिः 'पुनः प्राप्ता जानकी' इत्यादिभिः, प्रलापैः अनर्थकवचोभिः, प्रियसखीविपत्तिदुःखदग्धामपि प्रियसख्याः प्रियसहचर्याः सीतायाः विपत्त्या विपदा यद् दुःख कष्टं तेन दग्धामपि सन्तप्तामपि, मन्दभाग्याम् अल्पभाग्यां, मां वासन्तीं, पुनः भूयः, दहसि सन्तापयसि!

अनुवाद—हे महाराज रामभद्र! प्यारी सखी की विपत्ति वेदना में जली हुई मुझ मदभागिनी को क्यों इन मर्मच्छेदकारी अनर्थक बातों से बार-बार जला रहे हैं?

सीता—ओसरिदुं इच्छम्मि । एसो उण चिरप्पणअसंभारसोम्मसीअलेण अज्जउत्तप्फरिसेण दीहदारुणं वि झत्ति सदावं उल्लाहअन्तेण वज्जलेहावणद्धो विअ परिअद्धवावारो आसजिओ विअ मे अग्गहत्थो । [अपसर्तुमिच्छामि । एष पुनः चिरप्रणयसम्भारसौम्यशीतलेन आर्यपुत्रस्पर्शेन दीर्घदारुणमपि झटिति सन्तापमुल्लाघयता वज्रलेपोपनद्ध इव पर्यस्तव्यापार आसञ्जित इव मेऽग्रहस्तः ।]

व्याख्या—अपसर्तुम् दूरं यातुम्, इच्छामि वाञ्छामि । चिरप्रणयसम्भारसौम्यशीतलेन चिरप्रणयस्य दीर्घकालीनप्रेम्णः सम्भारेण समूहेन सौम्यः सुन्दरः शीतलः शीतश्च तेन (चिरसद्भावसौम्यशीतलेन इति पाठे तु चिरसद्भावेन बहुकालानुरागेण इत्यर्थः कार्यः), दीर्घदारुणमपि दीर्घः बाहुकालीनः अतएव दारुणः भयङ्करः तं, सन्तापं शोकम्, झटिति शीघ्रम्, उल्लाघयता लघूकुर्वता, आर्यपुत्रस्पर्शेन, वज्रलेपोपनद्ध इव वज्रलेपेन सुदृढलेपविशेषेण उपनद्धः बद्ध इव, पर्यस्तव्यापारः पर्यस्तः अपगतः व्यापारः क्रिया यस्य सः अविचल इत्यर्थः, मे मम, अग्रहस्तः हस्ताग्रभागः, आसञ्जित इव लग्न इव (विद्यते) । क्वचित् पुस्तके 'वज्रलेपोपनद्ध इव' इत्यस्य अनन्तरं 'स्विद्यन् निःसहविपर्यस्तो वेपते अवश इव मे हस्तः' इति पाठो दृश्यते । तत्र स्विद्यन् घर्माक्तो भवन् निःसहम् अक्षमं यथा स्यात् तथा विपर्यस्तः पतितः अतएव अवश इव जड इव मे हस्तः वेपते कम्पते इति व्याख्या कार्या ।)

अनुवाद—मैं हट जाना चाहती हूँ । (क्योंकि) आर्यपुत्र का यह स्पर्श चिरकालीन प्रेम-समूह के कारण सुन्दर तथा शीतल है और दीर्घकालवर्ती भयंकर सताप को भी शीघ्र घटाने वाला है ; इससे मेरे हाथ का अगला भाग मानो वज्रलेप से बँधे हुए की तरह अविचल होकर जुट गया है ।

रामः—सखि ! कुतः प्रलापः ?

राम—सखि ! प्रलाप क्यों है ?

गृहीतो यः पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधरः
सुधासूतेः पादैरमृतशिशिरैर्यः परिचितः ।

अन्वय—पूर्वं परिणयविधौ कङ्कणधरो यो गृहीतः, सुधासूतेः अमृतशिशिरैः पादैः यः परिचितः ।

व्याख्या—पूर्वं पुरा, परिणयविधौ विवाहकरणकाले, कङ्कणधरः वैवाहिकमङ्गलसूत्रधारकः, यः पाणिः, गृहीतः धृतः, सुधासूतेः सुधायाः अमृतस्य सूतिः उत्पत्तिः यस्मात् तस्य चन्द्रस्य इति यावत्, अमृतशिशिरैः सुधावच्छीतलैः, पादैः, किरणैः, यः पाणिः, परिचितः विशेषेण अवगतः, ('चिर स्वेच्छास्पर्शैः' इति पाठे तु चिर दीर्घकाल यावत् स्वेच्छास्पर्शैः स्वेच्छया स्वाच्छन्द्येन स्पर्शाः आमर्शनानि तैः इति व्याख्येयम्)।

अनुवाद—पहले विवाह काल में चन्द्रमा की अमृत-तुल्य शीतल किरणों से परिचित (अर्थात् चन्द्रकिरणवत् आह्लादजनक) तथा विवाह का कंगन धारण करने वाले (सीता के) जिस हाथ को मैंने ग्रहण किया था।

सीता—अज्जउत्त ! सो एव्व दाणिंसि तुमम्। [आर्यपुत्र ! स एवेदानीमसि त्वम्।]

सीता—आर्यपुत्र ! इस समय भी आप वही हैं (अर्थात् पहले मेरे प्रति आपकी जैसी अलौकिक दया, अनुराग आदि थे वैसे अभी भी हैं।)

रामः—

स एवायं तस्यास्तदितरकरौपम्यसुभगो
मया लब्धः पाणिर्ललितलवलीकन्दलनिभः ॥ ४० ॥

अन्वय—ललितलवलीकन्दलनिभः तदितरकरौपम्यसुभगः स एवायं तस्याः पाणिः मया लब्धः ॥ ४० ॥

व्याख्या—ललितलवलीकन्दलनिभः ललित कोमलं यत् लवलीकन्दल लवल्या 'लवली' इतिनामकलतायाः कन्दल नवाङ्कुरः तन्निभः तत्सदृशः, तदितरकरौपम्यसुभगः तस्मात् गृहीतात् करात् इतरः अपरः यः करः हस्तः तेन यत् औपम्य सादृश्य तेन सुभगः सुन्दरः ('तुहिनकरकौपम्यसुभगः' इति पाठे तु तुहिनानां तुषाराणां करकाणां वर्षोपलानाञ्च यत् औपम्य सादृश्य तेन सुभगः इति व्याख्येयम्।) स एवायं प्रागुक्त एवायं, तस्याः सीतायाः, पाणिः करः, मया रामेण, लब्धः प्राप्तः ॥ ४० ॥

अनुवाद—राम—कोमल लवलीलता के नये अंकुर के समान (सुकुमार) तथा उनके दूसरे हाथ की उपमा से विभूषित (अर्थात् अन्य जनों के करों से अनुपमेय होने के कारण उन्हीं के दूसरे हाथ से उपमा देने योग्य) वही हाथ मैंने प्राप्त किया है ॥ ४० ॥

टिप्पणी—पादे=किरणों से। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। इस श्लोक के पूर्वार्ध में अर्थश्लेष अलंकार और उत्तरार्ध में उपमा अलंकार हैं। फिर इनमें अंगांगिभाव सबन्ध होने से संकर अलंकार की सृष्टि होती है॥ ४०॥

(*इति गृह्णाति।*)

(*यह कह कर सीता का हाथ पकड़ते हैं।*)

सीता—हद्धी हद्धी! अज्जउत्तप्फरिसमोहिदाए पमादो मे संवुत्तो। [हा धिक् हा धिक्! आर्यपुत्रस्पर्शमोहिताया: प्रमादो मे संवृत्तः।]

सीता—हाय धिक्कार है, हाय धिक्कार है! आर्यपुत्र के स्पर्श से मोहित हो जाने के कारण मुझसे असावधानी हो गई (अन्यथा आर्यपुत्र हाथ कैसे पकड़ लेते?)।

राम—सखि वासन्ति! आनन्दमीलितः प्रियास्पर्शसाध्वसेन परवानस्मि। तत्त्वमपि धारय माम्।

व्याख्या—आनन्दमीलितः आनन्देन हर्षेण मीलितः पिहितनेत्रः ('आनन्दनिमीलितेन्द्रियः' इति पाठे तु आनन्देन निमीलितानि मुद्रितानि इन्द्रियाणि चक्षुर्हस्तादीनि यस्य सः इति व्याख्येयम्), प्रियास्पर्शसाध्वसेन प्रियायाः सीतायाः स्पर्शः आमर्शनं तेन यत् साध्वसं भयं तेन, परवान् पराधीनः, अस्मि भवामि। तत् तस्मात्, त्वमपि वासन्ती अपि, मां रामं, धारय गृहाण (यावताऽहं भूमौ न पतेयम्। क्वचित् पुस्तके 'तत्त्वं तावदेनां धारय' इति पाठः, तत्र एनां सीतां धारय (येन इयं न पलायिता स्यात्) इति बोध्यम्)।

अनुवाद—राम—सखि वासन्ति! मेरी आँखें हर्ष से मुँद गई हैं और मैं प्रिया के स्पर्शजन्य भय से पराधीन हो गया हूँ। अतः तुम भी मुझे पकड़ो (ताकि मैं गिरने न पाऊँ)।

टिप्पणी—साध्वस=भय। 'भीतिभीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः। वस्तुतः आनन्दातिरेक से हृदय में उत्पन्न होने वाली हलचल को यहाँ साध्वस कहा गया है। साधु अत्यन्तम् अस्यते निक्षिप्यते मनोऽनेन इति साध्वस, साधु√अस्+अच्। परवान्=पराधीन। 'परतन्त्रः पराधीनः परवान् नाथवानपि।' इत्यादि।

वासन्ती—कष्टमुन्माद एव।

वासन्ती—हाय! यह अवश्य ही उन्माद है। (अन्यथा ये सीता के सर्वथा अभाव में भी सीता-प्राप्ति-सूचक वाक्य नहीं बोलते।)।

(*सीता ससम्भ्रम हस्तमाक्षिप्यापसर्पति।*)

(*सीता फुर्ती से हाथ खींच कर खिसक जाती हैं।*)

रामः—धिक् प्रमादः।

राम—धिक्कार है, प्रमाद हो गया।

करपल्लवः स तस्याः सहसैव जडो जडात्परिभ्रष्टः।
परिकम्पिनः प्रकम्पी करान्मम स्विद्यतः स्विद्यन्॥ ४१॥

अन्वय—जडः प्रकम्पी स्विद्यन् तस्याः सः करपल्लवः जडात् परिकम्पिनः स्विद्यतो मम करात् सहसा एव परिभ्रष्टः॥ ४१॥

व्याख्या—जडः स्तब्धः, प्रकम्पी वेपमानः, स्विद्यन् स्वेदयुक्तो भवन्, तस्याः सीतायाः, सः गृहीतपूर्वः, करपल्लवः किसलयसदृशः करः, जडात् स्तब्धात्, परिकम्पिनः कम्पमानात्, स्विद्यतः घर्माक्तात्, मम मे, करात् हस्तात्, सहसा एव हठात् एव, परिभ्रष्टः परिच्युतः॥ ४१॥

अनुवाद—सीता का वह पाणि पल्लव (पल्लव तुल्य सुकुमार हाथ) जो स्तब्ध, (अपने कार्य में अक्षम) कंपायमान तथा स्वेदयुक्त (पसीजता हुआ) था, मेरे स्तब्ध, काँपते हुए एवं पसीजते हुए हाथ से हठात् छूट गया॥४१॥

टिप्पणी—इस श्लोक में करच्युति के प्रति जड़ता, परिकम्पित्व तथा स्वेदयुक्तता हेतु हैं। अतः पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार है और 'करपल्लव' में लुप्तोपमा अलंकार है। इन दोनों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलङ्कार हो जाता है। यहाँ पारस्परिक स्पर्श से सीता और राम दोनों में सात्त्विक भाव उत्पन्न होते हैं, इसलिए विप्रलम्भशृङ्गार रस है। सात्त्विक भाव आठ प्रकार का होता है—'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः। वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः॥' साहित्यदर्पण। यह आर्या छंद है। आर्या का लक्षण श्रुतबोध में इस प्रकार है—'यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या'॥ ४१॥

सीता—हद्धी हद्धी! अज्जवि अणुबद्धबहुधुम्मन्तवेअणं ण

संठावेमि अत्ताणम्। [हा धिक् हा धिक्! अद्याप्यनुबद्धबहुघूर्णमान-वेदनं न संस्थापयाम्यात्मानम्।]

व्याख्या—अद्यापि अस्मिन्नपि समये, अनुबद्धबहुघूर्णमानवेदनम् अनुबद्धा सञ्जाता बह्वी प्रचुरा घूर्णमाना भ्रमन्ती वेदना पीडा यस्य तम्, आत्मानं स्वं, न संस्थापयामि न स्थिरं करोमि। (क्वचित् पुस्तके, 'अनवस्थितस्तिमितमूढ-घूर्णमाननयनो न पर्यवस्थापयत्यात्मानम्' इति पाठो दृश्यते। तत्र अनवस्थिते अस्थिरे स्तिमिते अनुभूतस्पर्शसुखस्मरणेन निश्चले मूढे विषयज्ञानरहिते घूर्णमाने इतस्ततो भ्रमती नयने नेत्रे यस्य स तथोक्तः (आर्यपुत्रः), आत्मानं स्वं न पर्यवस्थापयति न प्रकृतिस्थं करोति इति व्याख्येयम्।)

अनुवाद—सीता—हाय धिक्कार है, हाय धिक्कार है! अभी भी चक्कर काटती हुई (अर्थात् बाहर न निकलने वाली) अत्यधिक वेदना से युक्त आत्मा को स्थिर नहीं कर पा रही हूँ।

तमसा—(*सस्नेहकौतुकस्मितं निर्वर्ण्य*)

तमसा—(*स्नेह, कौतुक तथा मन्द मुसकान के साथ देखकर*)

सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी जाता प्रियस्पर्शसुखेन वत्सा।
मरुन्नवाम्भः परिधूतसिक्ता[1] कदम्बयष्टिः स्फुटकोरकेव ॥ ४२ ॥

अन्वय—वत्सा प्रियस्पर्शसुखेन मरुन्नवाम्भःपरिधूतसिक्ता स्फुटकोरका कदम्बयष्टिरिव सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी जाता ॥ ४२ ॥

व्याख्या—वत्सा जानकी, प्रियस्पर्शसुखेन प्रियस्य वल्लभस्य स्पर्शेन अङ्ग-सङ्गेन यत् सुखम् आनन्दः तेन, मरुन्नवाम्भःपरिधूतसिक्ता मरुता वायुना नवाम्भसा च वर्षारम्भे नववृष्टजलेन च (यथाक्रमं) परिधूता कम्पिता सिक्ता च आर्द्रीकृता च सा तथोक्ता, स्फुटकोरका स्फुटाः विकसिताः कोरकाः कलिका यस्याः सा, कदम्बयष्टिरिव कदम्बशाखेव सस्वेदरोमाञ्चितकम्पिताङ्गी सस्वेदानि घर्माक्तानि रोमाञ्चितानि पुलकितानि कम्पितानि च वेपमानानि च अङ्गानि अवयवाः यस्याः सा तथोक्ता, जाता समभवत् ॥ ४२ ॥

अनुवाद—बेटी सीता के सभी अंग प्रियतम के स्पर्श सुख के कारण स्वेद, रोमाञ्च और कम्पन से युक्त हो रहे हैं, अतएव वह वायु से कम्पित,

---

१ प्रविधूत—इति पाठभेदः।

नवीन वर्षा जल से सिक्त एवं विकसित कलियों वाली कदम्ब वृक्ष की शाखा की तरह दिखाई दे रही है ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—रोमाञ्चित—रोमाञ्च+इतच् 'तदस्य सजातं तारकादिभ्य इतच्' इत्यनेन । इस श्लोक में उपमा अलंकार है । 'मरुन्नवाम्भःपरिधूतसिक्ता' में यथासंख्य अलंकार है । दोनों की स्थिति परस्पर सापेक्ष होने से संकर अलंकार उत्पन्न होता है । यह उपजाति छन्द है ॥ ४२ ॥

सीता—(*स्वगतम्*) अवसेन एदेण अत्ताणएण लज्जाविदह्मि भअवदीए तमसाए । किंति क्खु एसा मण्णिस्सदि—'एसो परिच्चाओ, एसो अहिमङ्गे' त्ति । [अवशेनैतेनात्मना लज्जापितास्मि भगवत्या तमसया । किमिति किलैषा मंस्यते 'एष परित्याग एषोऽभिषङ्ग' इति ।]

व्याख्या—अवशेन आनन्दविह्वलेन, एतेन मदीयेन, आत्मना देहेन, (द्वारेण) भगवत्या, तमसया, लज्जापितास्मि, लज्जां प्रापितास्मि, एषः, परित्यागः परिवर्जनम्, एष, अभिषङ्गः आसक्तिः', इति एतत्, एषा तमसा, किं मंस्यते किं भोत्स्यति !

अनुवाद—सीता—(*मन में*) मेरे आनन्द-वशीभूत शरीर ने भगवती तमसा के समक्ष मुझे लज्जित कर दिया । ये क्या सोचती होंगी—'कहाँ तो यह परित्याग और कहाँ यह प्रेम !'

राम.—(*सर्वतोऽवलोक्य*) हा कथं नास्त्येव । ननु करुणे वैदेहि !

राम—(*सब ओर ताककर*) हाय ! क्यों नहीं है ! हे निष्ठुर सीते !

सीता—अक्करुणह्मि, जा एव्वंविहं तुमं पेक्खन्दी एव्व जीवेमि । [अकरुणास्मि, यैवंविधं त्वां पश्यन्त्येव जीवामि ।]

सीता—मैं निष्ठुर ही हूँ, जो इस अवस्था में आपको देखती हुई जी रही हूँ ।

राम—कासि प्रिये ! देवि ! प्रसीद प्रसीद । न मामेवंविधं परित्यक्तुमर्हसि ।

राम—कहाँ हो प्रिये ! देवि ! प्रसन्न हो, प्रसन्न हो । इस अवस्था में तुम्हें मेरा परित्याग करना उचित नहीं है ।

सीता—अयि अज्जउत्त ! विप्पदीवं विअ । [अयि आर्यपुत्र ! विप्रतीपमिव ।]

सीता—हे आर्यपुत्र ! यह तो आप विपरीत की तरह कह रहे हैं।

टिप्पणी—विप्रतीपम्=विशेषेण प्रतीपम् प्रतिकूलम् । किन्हीं पुस्तकों में 'विपरीतमिवेदम्' पाठ है । उसका भी वही अर्थ होगा । पतिव्रता-शिरोमणि सीता के विनय की रक्षा के लिये कवि ने 'विप्रतीपमिव' में इव शब्द का प्रयोग किया है, अन्यथा उक्ति प्रत्युक्ति की दृष्टि से यहाँ एव शब्द का ही प्रयोग उचित होता।

वासन्ती—देव ! प्रसीद प्रसीद । स्वेनैव लोकोत्तरेण धैर्येण संस्तम्भयातिभूमिं गतमात्मानम् । कुत्र मे प्रियसखी ?

व्याख्या—स्वेनैव स्वकीयेनैव, लोकोत्तरेण लोकातिगेन, धैर्येण चित्त-स्थैर्येण, अतिभूमिं चरमसीमां, गत प्राप्तम ('अतिभूमिगतविप्रलम्भम्' इति पाठे अतिभूमिगतः चरमसीमाप्राप्तः विप्रलम्भः वियोगः यत्र त तथोक्तम्), आत्मानं मानस, सस्तम्भय स्थिरीकुरु । कुत्र क्व, मे मम, प्रियसखी प्रियसहचरी सीतेति भाव. ?

अनुवाद—वासन्ती—महाराज ! प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये । अपने ही लोकोत्तर (असाधारण) धैर्य से चरम सीमा का भी अतिक्रमण करने वाले मन को स्थिर कीजिये । मेरी प्यारी सहेली कहाँ है ?

राम—व्यक्तं नास्त्येव । कथमन्यथा वासन्त्यपि न पश्येत् ? अपि खलु स्वप्न एष स्यात् ? न चास्मि सुप्तः । कुतो रामस्य निद्रा ? सर्वथापि स एवैष भगवाननेकवारपरिकल्पितो विप्रलम्भः पुनः पुन-रनुबध्नाति माम् ।

व्याख्या—व्यक्तम् असन्दिग्धम्, नास्ति एव सीता न विद्यते इत्येव । अन्यथा सीताया विद्यमानत्वे, वासन्ती अपि वनदेवता अपि, कथ, कस्माद्धेतोः, (ता) न पश्येत् न ईक्षेत ? एष सीतायाः अनुभव, स्वप्न स्यादपि स्वप्नो भवेत् किम् ? (अत्र अपिशब्दः सम्भावनार्थकः खलुशब्दो वाक्यालंकारे), (अहं) न च, सुप्तोऽस्मि निद्रितोऽस्मि । रामस्य रामचन्द्रस्य, कुतः कस्मात्, निद्रा स्वाप ? सर्वथापि सर्वप्रकारैरपि, स एव पूर्वानुभूत एव, एषः, भगवान्

सामर्थ्यवान्, अनेकप्रकारपरिकल्पित. बहुप्रकारचिन्तितः, विप्रलम्भः भ्रमः, मा राम, पुनः पुनः भूयोभूयः, अनुबध्नाति अनुसरति ।

अनुवाद—राम—स्पष्ट है कि सीता बिलकुल नहीं हैं, अन्यथा वासन्ती भी (उन्हें) कैसे नहीं देखती ? क्या यह स्वप्न है ? पर मैं सोया तो नहीं हूँ । भला राम को नींद कहाँ से आ सकती है ? निश्चय ही यह बड़ी शक्तिशाली एवम् बार-बार चिन्ता करने से उत्पन्न भ्रम (धोखा) बार बार मुझे घेर रहा है ।

सीता—मए एव्व दारुणाए विप्पलद्धो अज्जउत्तो । [मयैव दारुणया विप्रलब्ध आर्यपुत्रः ।]

सीता—दारुण प्रकृति वाली मैंने ही आर्यपुत्र को भ्रम में डाला है ।

वासन्ती—देव ! पश्य पश्य ।

वासन्ती—महाराज ! देखिये, देखिये ।

पौलस्त्यस्य जटायुषा विघटितः कार्ष्णायसोऽयं रथ-
स्ते चैते पुरतः पिशाचवदनाः कङ्कालशेषाः खराः ।
खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिरितः सीतां चलन्तीं वह-
न्नन्तर्व्यापृतविद्युदम्बुद इव द्यामभ्युदस्थादरिः ॥४३॥

अन्वय—जटायुषा विघटित. अयं पौलस्त्यस्य कार्ष्णायसो रथः, पुरतः एते ते पिशाचवदनाः कङ्कालशेषाः खराः, खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिः अरिः चलन्तीं सीता वहन् अन्तर्व्यापृतविद्युत् अम्बुद इव इतः द्याम् अभ्युदस्थात् ॥४३॥

व्याख्या—जटायुषा जटायुनामकगृध्रेण, विघटितः भग्न, अयं दृश्यमानः, पौलस्त्यस्य रावणस्य, कार्ष्णायसः कृष्णवर्णेन लौहेन निर्मितः, रथः स्यन्दनः (वर्तते), पुरतः अग्रतः, एते इमे, ते दृश्यमानाः, पिशाचवदनाः पिशाचवद्वदनं मुखं येषां ते, कङ्कालशेषाः अस्थिपञ्जरावशिष्टाः, खराः रावणरथवाहकगर्दभविशेषाः (विद्यन्ते), खड्गच्छिन्नजटायुपक्षतिः खड्गेन असिना छिन्ने जटायोः पक्षती पक्षमूले येन सः, अरिः शत्रुः रावण इति भावः, चलन्तीं कम्पमानां ('ज्वलन्तीम्' इति पाठे तु सतीतेजसा क्रोधेन वा जाज्वल्यमाना), सीतां जानकीं, वहन् धारयन्, अन्तर्व्यापृतविद्युत् अन्तर्मध्ये व्यापृता चलन्ती विद्युत् तडित् यस्य स तथोक्तः, अम्बुद इव मेघ इव, इतः अस्मात्, द्याम् आकाशम्, अभ्युदस्थात् अभ्युत्पपात ॥४३॥

अनुवाद—(छद्मराज) जटायु द्वारा भंग किया हुआ यह रावण का कृष्णलौहनिर्मित (काले लोहे का बना हुआ) रथ है, सामने पिशाच के समान मुख वाले और कङ्कालमात्रावशिष्ट (अस्थिमात्र से बचे हुए) ये सभी रावण के रथवाहक खच्चर हैं और तलवार से जटायु के पैरों को काटकर छटपटाती हुई सीता को यहीं से लेकर शत्रु (रावण) बादल के समान, जिसके अन्दर बिजली चमक रही हो, आकाश में उड़ गया था ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—जटायुषा—जटं संहतम् आयुर्यस्य स जटायु अथवा जटा पक्षमूलमेवायुर्यस्य स तथोक्तः तेन । कार्ष्णायस=काले रंग के लोहे का बना हुआ । कृष्ण च तद् अयः कृष्णायस समासान्तः टच्, तेन निर्वृत्तम् इत्यर्थे 'तेन निर्वृत्तम्' इति सूत्रेण अण् प्रत्यय । जटायु—जटया याति इति जटायुः, जटा√या+कु 'मृगय्वादयश्च' इत्यनेन । पक्षतिः=पंख की जड़ । पक्षस्य मूलम् इत्यर्थे पक्ष+ति 'पक्षात् तिः' इति सूत्रेण । पिशाचवदना—पिशितम् (कच्चा मांस) अश्नातीति पिशित√अश्+अण् कर्तरि पृषोदरादित्वात् पिशाच इति, तस्य वदन पिशाचवदन, तदिव वदन येषाम्, ते । द्याम्=आकाश को । 'द्योदिवौ द्वे स्त्रियामभ्रं व्योमपुष्करमम्बरम् ।' इत्यमरः । अभ्युदस्थात्=ऊपर को उठ गया अर्थात् उड़ गया । अभि उद् पूर्वक स्था धातु के लुङ्लकार का यह रूप है । यहाँ 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' सूत्र से आत्मनेपद का निषेध होता है । इस श्लोक में उपमा अलकार है । यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ ४३ ॥

सीता—(सभयम्) अज्जउत्त ! तादो वावादीअदि । ता परित्ताहि परित्ताहि । अहं वि अवहरिज्जामि । [आर्यपुत्र ! तातो व्यापाद्यते । तस्मात् परित्रायस्व परित्रायस्व । अहमप्यपह्रिये ।]

सीता—(भय सहित) आर्यपुत्र ! पिता (जटायु) की हत्या हो रही है और मैं हरी जा रही हूँ । अतएव रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ।

राम—(सवेगमुत्थाय) आः पाप ! तातप्राणसीतापहारिन् ! लङ्कापते ! क्व यास्यसि ?

राम—(वेगपूर्वक उठकर) अरे पापी ! पिता के प्राण एवं सीता का अपहरण करने वाला रावण कहाँ जाता है ?

टिप्पणी—आः=एक क्रोधप्रकाशक अव्यय । 'आस्तु स्यात् कोपपीडयोः'

इत्यमर । पाप = पापाचारिन्! पाप विद्यतेऽस्य इति पापः पाप+अच् 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यनेन । 'तिषु द्रव्ये पाप पुण्य सुखादि च' इत्यमरः ।

वासन्ती—अयि देव राक्षसकुलप्रलयधूमकेतो ! किमद्यापि ते मन्युविषय. ?

व्याख्या—राक्षसकुलप्रलयधूमकेतो ! राक्षसकुलस्य रावणादिराक्षससमूहस्य प्रलये विनाशे धूमकेतु अशुभसूचको नक्षत्रविशेषः वा अग्नि. तत्सम्बुद्धौ, किम्, अद्यापि सम्प्रत्यपि, ते तव मन्युविषयः क्रोधविषयः (अस्ति) ?

अनुवाद—वासन्ती—ऐ महाराज ! राक्षसवंश के विनाश के लिये धूमकेतु ! क्या अभी भी आपके क्रोध का विषय या कोपभाजन कोई है ? (अर्थात् राक्षस-वंश का समूल नाश करने के उपरान्त आपको क्रोध नहीं करना चाहिये)।

सीता— अह्महे ! उब्भन्तह्मि । [अहो ! उद्भ्रान्तास्मि ।]

सीता—हाय ! मैं उद्भ्रान्त (अतिशयभ्रान्तियुक्त) हो गई हूँ ।

टिप्पणी—किन्ही पुस्तकों में 'उम्मत्तिआ या उन्मत्ता' पाठ है । उसका अर्थ 'उन्मादयुक्त' समझना चाहिए । काम की आठवीं दशा उन्माद कहलाती है । उन्माद का लक्षण दर्पणकार ने इस प्रकार किया है—'चित्तसम्मोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः । अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥'

रामः—अन्वर्थ एवायमधुना प्रलापो वर्तते ।

राम—यह प्रलाप अब सच्चा हो गया है (अथवा 'आ पाप !' इत्यादि मेरा वचन पहले अनर्थ (सार्थक) ही था, पर अब प्रकार (निरर्थक) हो गया है । क्योंकि पहले जटायु प्राण हरण तथा सीतापहरण आदि घटनाएँ वास्तविक थीं, किन्तु अब ये अवास्तविक हैं ।)

टिप्पणी—अन्वर्थः—अनुगतः अर्थः यस्य स अन्वर्थः = यथार्थः । किसी पुस्तक में 'अन्य एवायमधुना विपर्ययो वर्तते' पाठ है । इसका अर्थ होगा—'इस समय यह तो दूसरा ही व्यतिक्रम हो गया है अर्थात् अब का सीता-वियोग पूर्व वियोग से विलक्षण है; कारण पहले का वियोग सावधिक था, अब का निरवधिक है ।

रसाधानां भावादनिरवधिविनोदव्यतिकरै-

र्विमर्दैर्वीराणां जगति जनितात्यद्भुतरसः ।

विरोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभू-
त्कटुस्तूष्णीं[1] सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः[2] ॥ ४४ ॥

अन्वय—उपायानां भावात् अविरतविनोदव्यतिकरैः वीराणां विमर्दैः जगति जनिताद्भुतरसः मुग्धाक्ष्याः स वियोगः रिपुघातावधिः अभूत् खलु । तु कटुः तूष्णीं सह्यः अयं प्रविलयः निरवधिः (अस्ति) ॥ ४४ ॥

व्याख्या—उपायानां साधनानां, भावात् सत्त्वात्, अविरतविनोदव्यतिकरैः अविरता अविश्रान्ता ये विनोदा दुःखविस्मृतिहेतवः तेषां व्यतिकरः परस्पर-मेलनं येषु तैः तथोक्तैः, वीराणां शूराणां लक्ष्मणहनूमदादीनामिति यावत्, विमर्दैः युद्धादिव्यापारैः, जगति भुवने, जनिताद्भुतरसः जनितः उत्पादितः अद्भुतरसः महानद्भुतनामा रसो येन स तथोक्तः, मुग्धाक्ष्याः मनोहर-नयनायाः, स पूर्वानुभूतः, वियोगः विच्छेदः, रिपुघातावधिः रिपूणां रावणादि-शत्रूणां घातः वधः एव अवधिः समयसीमा यस्य स तथाविधः अभूत् जातः, खलु इति निश्चयेन । तु किन्तु, कटुः तीक्ष्णः, तूष्णीं सह्यः उपायाभावात् मौन-भावेन मर्षणीयः, अयम् अनुभूयमानः, प्रविलयः प्रवियोगः, निरवधिः अवधि-रहितः अनन्तकालस्थायीत्यर्थः (अस्ति) ॥ ४४ ॥

अनुवाद—सुनयना (सीता) का वह (पहला) वियोग, जिसमें उपायों के रहने (अर्थात् साधन-सम्पन्नता) के कारण (हनुमान, सुग्रीव आदि) वीरों के सतत मनोरञ्जनयुक्त युद्ध-व्यापारों से जगत् में महान् अद्भुत रस उत्पन्न हुआ था, शत्रुओं (रावण आदि) के विनाश-काल तक रहने वाला था (अर्थात् सावधिक था), किन्तु (सीता का) यह महावियोग, जो क्रूर एवम् उपायाभाव के कारण चुपचाप सहने योग्य है, अवधिशून्य है (अर्थात् यावज्जीवन रहने वाला है) ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—उपायानाम्—उपायन्ते समधिगम्यन्ते पदार्था यैः ते उपायाः, उप√अय्+घञ् । अत्यद्भुतरसः—अद्भुत रस की उत्पत्ति वीर रस से मानी गई है—'हास्यो भवति शृङ्गारात् करुणो रौद्रकर्मणः' । अद्भुतश्च

१—'कथम्' इति पाठभेदः । २—'निरवधिरिदानीन्तु विरहः' इति पाठा-न्तरम् । 'तु प्रविलयः' इत्यस्य स्थाने 'त्वप्रतिविधि' इत्यपि पाठभेदो लभ्यते । तस्य 'प्रतिविधानरहितः' इत्यर्थः कार्यः ।

तथा वीराद् बीभत्साच्च भयानकः ॥' मुग्धाक्ष्या —मुग्धे अक्षिणी यस्याः सा मुग्धाक्षी तस्याः , अत्र बहुव्रीहिसमासे कृते 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्' इति सूत्रेण समासान्त षच् ततश्च 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष्। निरवधि —नास्ति अवधि = समयसीमा यस्य स निरवधि । इस श्लोक में व्यतिरेक, वाक्यार्थहेतुक, काव्यलिंग और अर्थापत्ति अलंकार हैं। इनमें परस्पर अंगांगिभाव सम्बन्ध होने से संकर अलंकार हो जाता है। यह शिखरिणी छंद है ॥ ४४ ॥

सीता—णिरवहित्ति हा हदह्मि मन्दभाइणी । (*इति रोदिति* ।)
[निरवधिरिति हा हतास्मि मन्दभागिनी ।]

सीता—अवधिहीन है, हाय ! मैं मंदभागिनी मर गई। (*यह कहकर रोने लगती है*।)

राम —कष्टं भो !
राम—आह ! कष्ट है।

व्यर्थं यत्र कपीन्द्रसख्यमपि मे, वीर्यं हरीणां वृथा,
प्रज्ञा जाम्बवतो न यत्र, न गतिः पुत्रस्य वायोरपि ।
मार्गं यत्र न विश्वकर्मतनयः कर्तुं नलोऽपि क्षमः,
सौमित्रेरपि पत्रिणामविषये तत्र प्रिये ! क्वासि मे ? ॥४५॥

अन्वय—हे प्रिये ! यत्र मे कपीन्द्रसख्यमपि व्यर्थं, हरीणां वीर्यं वृथा, यत्र जाम्बवतः प्रज्ञा न, वायोः पुत्रस्य अपि गतिः न, यत्र विश्वकर्मतनयः नलोऽपि मार्गं कर्तुं न क्षमः, मे सौमित्रेरपि पत्रिणाम् अविषये तत्र क्व असि ? ॥ ४५ ॥

व्याख्या—हे प्रिये प्रीतिदायिनि सीते !, यत्र यस्मिन् स्थाने, मे मम, कपीन्द्रसख्यमपि सुग्रीवसख्यमपि, व्यर्थं निष्फलं, हरीणां कपीनां, वीर्यं पराक्रमः, वृथा निष्फलं, यत्र यस्मिन् स्थाने, जाम्बवतः एतन्नामकभल्लूकपतेः, प्रज्ञा प्रखरा बुद्धिः, न न समर्थेति भावः, वायोः पुत्रस्यापि हनुमतोऽपि, गतिः गमनं, न न क्षमेति भावः, यत्र यस्मिन् स्थाने, विश्वकर्मतनयः विश्वकर्मणः पुत्रः, नलोऽपि नलनाम्ना प्रसिद्धः वानरोऽपि, मार्गं (सेतुरचनादिना) पन्थानं, कर्तुं विधातुं, न क्षमः न समर्थः, मे मम, सौमित्रेरपि लक्ष्मणस्यापि, पत्रिणां शराणाम्, अवि-

पये अगोचरे, तत्र तादृशे, क कुत्र स्थाने, असि विद्यसे ? (अय भावः, रामः सीताया मरणं निश्चित्य कथयति—तदानीम् इहलोके एव तव सत्ताया निश्चितत्वात् सुग्रीवहनुमदादिद्वारेण तवान्वेषणं सफलं जातम्, परमिदानीं लोकान्तरे स्थितायास्तव अन्वेषणे प्राक्तन सर्वमपि साधनं निष्फलं स्यात्) ॥ ४५ ॥

अनुवाद—हे प्रिये ! जहाँ सुग्रीव के साथ मेरी मित्रता भी निष्फल है, जहाँ वानरों का पराक्रम भी व्यर्थ है, जहाँ जाम्बवान की प्रखर बुद्धि भी समर्थ नहीं है, जहाँ वायुपुत्र हनुमान की भी गति सम्भव नहीं है, जहाँ विश्वकर्मा का पुत्र नल भी (पुल बाँध कर) मार्ग बनाने में क्षम नहीं है और जहाँ मेरे (भाई) लक्ष्मण के बाणों की भी पहुँच नहीं है, ऐसे किस स्थान में तुम विद्यमान हो ? ॥ ४५ ॥

टिप्पणी—सख्यम्—सखि+यत् । हरीणाम् = बन्दरों का । 'शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ।' इत्यमरः । विश्वकर्मतनयः = विश्वकर्मा का पुत्र । ऋतध्वज मुनि के शाप से वानररूपधारी विश्वकर्मा ने घृताची नामक अप्सरा के गर्भ से नल को उत्पन्न किया था । सौमित्रेः = लक्ष्मण का । सुमित्रायाः अपत्य पुमान् सौमित्रिः, सुमित्रा+इञ् 'बाह्वादिभ्यश्च' इत्यनेन । पत्त्रिणाम् = बाणों का । 'पत्त्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । इस श्लोक में समुच्चय अलंकार है और उससे व्यतिरेकालंकार ध्वनित होता है । यह शार्दूलविक्रीडित छंद है ॥ ४५ ॥

सीता—बहुमाणिदह्मि पुव्वविरहे । [बहुमानितास्मि पूर्वविरहे ।]

सीता—पहले के वियोग में मैं बहुत सम्मानित हुई हूँ ।

राम—सखि वासन्ति ! दुःखायैव सुहृदामिदानीं रामदर्शनम् । कियच्चिरं त्वां रोदयिष्यामि । तदनुजानीहि मां गमनाय ।

राम—सखि वासन्ति ! इस समय राम का दर्शन बन्धुजनों के लिये दुःखदायी है । कितनी देर तक तुम्हें रुलाऊँगा ! अत. मुझे जाने की आज्ञा दो ।

सीता—(*सोद्वेगमोहं तमसामाश्लिष्य*) हा भअवदि तमसे ! गच्छदि दाणिं अज्जउत्तो किं करिस्सम् ? (*इति मूर्च्छति*) [हा भगवति तमसे ! गच्छतीदानीमार्यपुत्रः । किं करोमि ?]

सीता—(*उद्वेग तथा मोह के साथ तमसा से लिपटकर*) हाय

भगवति तमसे! अब आर्यपुत्र आ रहे हैं, क्या करूँ?) यह कहकर बेसुध हो जाती हैं)

तमसा—वत्से जानकि! समाश्वसिहि समाश्वसिहि। विधिस्त्वानुकूलो भविष्यति। तदायुष्मतोः कुशलवयोर्वर्षवृद्धिमङ्गलानि सम्पादयितुं भागीरथीपदान्तिकमेव गच्छाव।

तमसा—वत्से सीते! आश्वस्त हो, आश्वस्त हो। तुम्हारा भाग्य फिरेगा। इसलिये आयुष्मान् कुश और लव की वर्षवृद्धि (जन्मगाँठ) के मङ्गलमय कार्य का सम्पादन करने के लिये भागीरथी के चरणों के निकट ही हम लोग चलें।

टिप्पणी—विधि = भाग्य। 'भाग्य स्त्री नियतिर्विधि' इत्यमरः। वर्षवृद्धिमङ्गलानि = जन्मदिवस के अवसर पर किये जाने वाले उत्सव। उस दिन तिथितत्त्व के अनुसार इन देवताओं की पूजा करनी चाहिये—'द्विभुज जटिल सौम्य सुवृद्ध चिरजीविनम्। मार्कण्डेय नरो भक्त्या पूजयेत् प्रयतस्तथा। ततो दीर्घायुष व्यास राम द्रौणि कृप बलिम्। प्रह्लादञ्च हनूमन्त विभीषणमथार्चयेत्।'

सीता—भअवदि! पसीद। खणमेत्त वि दुल्लहदंसणं पेक्खामि। [भगवति! प्रसीद। क्षणमात्रमपि दुर्लभदर्शनं पश्यामि।]

सीता—भगवति! प्रसन्न हो। दुर्लभ दर्शन वाले आर्यपुत्र को क्षण भर और देख लूँ।

राम—अस्ति चेदानीमश्वमेधसहधर्मचारिणी मे।

राम—इस समय अश्वमेध यज्ञ के लिये मेरी सहधर्मिणी (पत्नी) है।

टिप्पणी—यहाँ राम का अग्रिम वाक्य 'तत्रापि तावद् बाष्पदिग्धं चक्षुर्विनोदयामि' जोड़ देने से प्रसंग ठीक बैठता है। अन्यथा विलाप करते-करते बीच ही में *'अश्वमेधसहधर्मचारिणी' की बात उठाना अप्रासंगिक-सा प्रतीत होता है।* यह प्रसंग रामचन्द्रजी ने इसलिये छेड़ दिया कि वासन्ती यह न कहने पाये कि यदि आपका मनोविनोद यहाँ नहीं हो रहा है तो घर जाने *पर भी सान्त्वना मिलने की क्या सम्भावना है।* मन में वासन्ती के इस प्रश्न का समाधान देने के लिये ही रामचन्द्रजी ने कहा कि 'अश्वमेध के लिये

धर्मपत्नी (सीता की प्रतिमा बनवायी) है, उसे देख-देखकर नेत्रों को आप्यायित करूँगा।'

सीता—(*साक्षेपं स्वगतम्*) अज्जउत्त ! का सा ? [आर्यपुत्र ! का सा ?]

सीता—(*आक्षेप के साथ मन में*) आर्यपुत्र ! वह कौन है !

वासन्ती—परिणीतमपि किम् ?

वासन्ती—विवाह भी कर लिया क्या ?

टिप्पणी—यद्यपि वासन्ती को आत्रेयी से यह सब बातें मालूम थीं कि रामचन्द्रजी ने दूसरा विवाह नहीं किया है, प्रत्युत अश्वमेधयज्ञीय धर्म निर्वाह के लिये सीता की प्रतिमूर्ति बनवायी है, अतः वासन्ती का यह प्रश्न असमीचीन प्रतीत होता है, किन्तु सीता के दुःख से अत्यन्त दुःखित होने के कारण वासन्ती को आत्रेयी की बात विस्मृत हो गई थी—ऐसा मान लेने पर प्रश्न सार्थक हो सकता है।

रामः—नहि नहि। हिरण्मयी सीताप्रतिकृतिः।

राम—नहीं नहीं। सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा है।

टिप्पणी—हिरण्मयी—सुवर्णरचित। हिरण्यस्य विकारः इत्यर्थे 'मयड् वैतयोः' इत्यनेन मयट् प्रत्ययः। प्रतिकृति = प्रतिनिधि या प्रतिमा। 'प्रतिमा प्रतियातना प्रतिच्छाया। प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिः।' इत्यमरः। वास्तविक सीता के न रहने से अश्वमेध में उनकी प्रतिमूर्ति को प्रतिनिधि मान कर काम चलाया गया था। कात्यायन का वचन है—'यथोक्तवस्त्वसम्पत्तौ ग्राह्यं तदनुकारि यत्। यवानामिव गोधूमा व्रीहीणामिव शालयः।'

सीता—(*सोच्छ्वासास्रम्*) अज्जउत्त ! दाणिं सि तुमम्। अह्महे, उक्खादिदं दाणिं मे परिच्चाअसल्लं अज्जउत्तेण। [आर्यपुत्र ! इदानीमसि त्वम्। अहो, उत्खातितमिदानीं मे परित्यागशल्यमार्यपुत्रेण।]

व्याख्या—सोच्छ्वासास्रम् उच्छ्वासश्चास्रञ्च ताभ्याम् ऊर्ध्वश्वासअश्रुभ्यां सह सहितं यथा स्यात् तथा (आह), आर्यपुत्र ! त्वम्, इदानीम् अधुना असि त्वमेव वर्तसे इति भावः। आर्यपुत्रेण त्वया, इदानीम् एतर्हि, मे मम, परित्यागशल्यं परित्यागः निर्वासनम् एव शल्यं शङ्कुः, तत् उत्खातितम् उद्धृतम्।

('परित्यागलज्जाशल्यम्' इति पाठे तु परित्यागेन या लज्जा सैव शल्य शङ्कु इति व्याख्येयम् ।)

अनुवाद—सीता—(*ऊर्ध्वश्वास तथा अश्रुपात सहित*) आर्यपुत्र ! इस समय आप आप ही हैं । अहा ! अब आर्यपुत्र ने मेरे परित्याग रूपी शल्य को उखाड़ दिया ।

राम —तत्रापि तावद् बाष्पदिग्ध चक्षुर्विनोदयामि ।

व्याख्या—तत्रापि हिरण्मय्या तत्प्रतिकृत्तावपि, बाष्पदिग्धम् अश्रुलिप्त, चक्षुः नेत्र, विनोदयामि तर्पयामि ।

अनुवाद—राम—सीता की सुवर्णमयी मूर्ति से भी मैं अश्रुपूर्ण नेत्रों को आप्यायित करता हूं ।

सीता—धण्णा खु सा, जा एव्व अज्जउत्तेण बहुमण्णीअदि । जा एव्व अज्जउत्त विणोदयन्ती आसाबन्धणं खु जादा जीअलोअस्स । [धन्या खलु सा, यैवमार्यपुत्रेण बहु मन्यते । यैवमार्यपुत्र विनोदयन्त्याशानिबन्धन खलु जाता जीवलोकस्य ।]

व्याख्या—सा हिरण्मयी सीताप्रतिकृति , धन्या श्लाघ्या, या प्रतिकृति , अ उ ।, एवम् इत्थ, बहु मन्यते बहुमानास्पदीक्रियते । या, एवम्, आर्यपुत्र, विनोदयन्ती आनन्दयन्ती (सती), जीवलोकस्य प्राणिलोकस्य, आशानिबन्धनम्, आशाहेतुस्वरूपा, जाता अभवत् ।

अनुवाद—वह (मेरी प्रतिमा) धन्य है, जिसको आर्यपुत्र बहुत मानते हैं और जो इस प्रकार आर्यपुत्र को आनन्द देती हुई जीवलोक की आशा रक्षक हो गई है ।

तमसा—(*सस्मितस्नेहार्द्र परिष्वज्य*) अयि वत्से ! एवमात्मा स्तूयते ।

तमसा—(*स्नेहसिक्त मुस्कराहट के साथ आलिंगन करके*) अरी वत्स ! इस प्रकार तुम अपनी प्रशसा कर रही हो ।

सीता—(*सलज्जमधोमुखी स्वगतम्*) परिहसिदह्मि भअवदीए । [परिहसितास्मि भगवत्या ।]

सीता—(*लज्जा के साथ नतमुखी होकर अपने आप*) भगवती ने मेरा परिहास किया ।

वासन्ती—महानय व्यतिकरोऽस्माकं प्रसादः। गमनं प्रति यथा कार्यहानिर्न भवति तथा कार्यम्।

वासन्ती—आपके इस समागम से हम अत्यन्त अनुगृहीत हैं। प्रस्थान के सम्बन्ध में आप वैसा ही करें जिससे कार्य की हानि न हो।

टिप्पणी—व्यतिकर = समागम, सम्मेलन, । प्रसाद = अनुग्रह।

राम.—तथाऽस्तु।

राम—वैसा ही हो (जैसा तुमने कहा ह)।

सीता—पडिऊला दाणि मे वासन्दी संवुत्ता। [प्रतिकूलेदानीं मे वासन्ती सवृत्ता।]

सीता—इस समय वासन्ती मेरी प्रतिकूल हो गई हैं।

तमसा—वत्से ! एहि गच्छाव.।

तमसा—बेटी ! आओ, चलें।

सीता—एव्व करम्ह [एव करिष्याव.]

सीता—ऐसा ही करें।

तमसा—कथं वा गम्यते, यस्यास्तव—

तमसा—या कैसे चलें, जिस तुम्हारे—

प्रत्युप्तस्येव दयिते तृष्णादीर्घस्य चक्षुप.।
सर्मच्छेदोपमैर्यत्नैः सन्निकर्षो निरुध्यते ॥ ४६ ॥

अन्वय—दयिते प्रत्युप्तस्य इव तृष्णादीर्घस्य चक्षुप. मर्मच्छेदोपमैः यत्नैः सन्निकर्षः निरुध्यते ॥ ४६ ॥

व्याख्या—दयिते वल्लभे रामभद्रे इत्यर्थः, प्रत्युप्तस्य इव रोपितस्य इव, तृष्णादीर्घस्य तृष्णया बलवद्दर्शनाकाङ्क्षया दीर्घस्य आयतस्य, चक्षुपः नेत्रस्य, सन्निकर्षः दयितं प्रति सम्बन्ध, मर्मच्छेदोपमैः मर्मस्थलभेदनतुल्यै., यत्नै. प्रयत्नै, निरुध्यते निवर्त्यते ('आकर्षो न समाप्यते' इति पाठे तु आकर्षः दर्शनाकर्षण, न समाप्यते न विरम्यते इति व्याख्येयम्।) ॥ ४६ ॥

अनुवाद—प्रियतम में रोपे या गहराई से घुसे हुए की तरह और देखने की बलवत्तर आकाङ्क्षा से लम्बायमान हुए नेत्रों का (प्रियतम से) सम्बन्ध मर्मस्थलों में छेद करने के समान प्रयत्नों से रोका जा सकता है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—कहीं 'मर्मच्छेदोपमै.' के स्थान में 'मर्मच्छेदपरैः' पाठ मिलता है। उसका अर्थ होगा—'मर्म वेध करने में प्रवृत्त'। इस श्लोक में *क्रियोत्प्रेक्षा अलकार है। यह पथ्यावक्त्र छन्द है* ॥ ४६ ॥

सीता—णमो सुकिदपुण्णजणदंसणिज्जाणं अज्जउत्तचलणकमलाणम् (*इति मूर्च्छति।*) [नमः सुकृतपुण्यजनदर्शनीयाभ्यामार्यपुत्रचरणकमलाभ्याम्।]

व्याख्या—सुकृतपुण्यजनदर्शनीयाभ्याम् सुकृत सुष्टु आचरित पुण्य धर्म. यैः ते सुकृतपुण्याः ते च ते जनाः लोकाः सुकृतपुण्यजनाः तैः दर्शनीयाभ्याम् अवलोकनीयाभ्याम्, आर्यपुत्रचरणकमलाभ्याम् आर्यपुत्रस्य रामभद्रस्य चरणकमलाभ्याम् चरणौ पादौ कमले इव अरविन्दे इव ताभ्या, नमः। ('नमो नमोऽपूर्वपुण्यजनितदर्शनेभ्य' आर्यपुत्रचरणकमलेभ्य.' इति पाठे तु अपूर्वपुण्यजनितदर्शनेभ्यः अपूर्वेण अत्युत्कटेन पुण्येन जनित सम्पादित दर्शन येषा तेभ्यः इति व्याख्येयम्।)

अनुवाद—सीता—अच्छी तरह धर्माचरण करने वाले लोगों से दर्शन करने योग्य आर्यपुत्र के चरण-कमलों को नमस्कार है। (*यह कहकर मूर्च्छित हो जाती हैं।*)

तमसा—वत्से! समास्ससिहि।

तमसा—वत्से! आश्वस्त हो।

सीता—(*आश्वस्य*) केच्चिरं वा मेहान्तरेण पुण्णचन्ददंसणम्? [कियच्चिरं वा मेघान्तरेण पूर्णचन्द्रदर्शनम्?]

सीता—(*आश्वस्त होकर*) मेघ के व्यवधान के कारण कितनी देर तक पूर्ण चन्द्र का दर्शन होगा? (अर्थात् जैसे मेघाच्छन्न दुर्दिन में कदाचित् वायु से बादल के फट जाने पर पूर्ण चन्द्र का क्षणिक दर्शन होता है उसी तरह मुझे भी ग्रहों की अशुभ दशा में पूर्व सञ्चित पुण्य रूप पवन की अनुकूलता से आर्यपुत्र के चरणरूप चन्द्र का क्षणिक दर्शन हुआ।)

तमसा—अहो संविधानकम्।

तमसा—सृष्टि आश्चर्य है। (अर्थात् विधाता की सृष्टि असंख्य प्रकार की होने के कारण अत्यन्त विचित्र है।)

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान् ।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम् ॥ ४७ ॥

अन्वय—एकः करुणो रस एव निमित्तभेदात् भिन्न पृथक् पृथक् विवर्तान् श्रयते इव, यथा अम्भः आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारान् (श्रयते), तु तत् समस्त सलिलम् एव हि ॥ ४७ ॥

व्याख्या—एक एकाकी, करुणः (प्रियावियोगजन्य) शोकस्थायिभावः, रस एव (काव्यानुशीलन) निरतिशयानन्दसंविद्रूपः, निमित्तभेदात् (सीतारामाद्यालम्बनरूप) कारणभेदात्, भिन्न भेद गतः (सन्), पृथक्-पृथक् भिन्नान्-भिन्नान्, विवर्तान् शृंगारादिपरिणामान् श्रयते इव भजते इव (परमार्थतः स एक एव करुणो रस इति), यथा येन प्रकारेण, अम्भः जलम्, आवर्तबुद्बुदतरगमयान् आवर्तः जलभ्रमिः बुद्बुदः जलस्फोट तरंगः ऊर्मिः तन्मयान् तत्स्वरूपान्, विकारान् परिणामान् (श्रयते), तु किन्तु, तत् आवर्तादिक, समस्त समग्र, सलिलमेव जलमेव ॥ ४७ ॥

अनुवाद—एक करुण रस ही कारणभेद से भिन्न होकर उसी तरह पृथक्-पृथक् परिणामों का अवलम्बन करता है (अर्थात् शृंगार आदि अनेक रसों में परिणत होता है) जैसे एक जल (ही) भँवर, बुलबुला और तरंगरूप (अनेक) विकारों (परिणामों) को प्राप्त होता है, पर वास्तव में वह सब जल ही है उससे भिन्न पदार्थ नहीं है ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—निमित्तभेदात्—निमित्ते भेदः निमित्तभेद. सुप्सुपा, तस्मात् हेतौ पचमी । विवर्तान्=वि√वृत्+घञ् । आवर्त—आ√वृत्+घञ् । तरङ्ग—√तॄ+अगच् । यहाँ वाचक क्रियोत्प्रेक्षा अलकार और श्रौती उपमा अलकार में अंगागिभाव सम्बन्ध होने से सकर अलकार की सृष्टि होती है । यह वसन्ततिलका छन्द है । इस पद्य से कवि ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि करुण रस ही प्रधान रस है और सब रस उसी के परिणाम हैं । इससे वेदान्त के विवर्तवाद का सिद्धान्त भी प्रतिपादित हुआ है ॥ ४७ ॥

रामः—विमानराज ! इत इतः ।

राम—विमानश्रेष्ठ ! इधर-इधर ।

तमसावासन्त्यौ—(*सीतारामौ प्रति*)

तमसा और वासन्ती (*सीता और राम के प्रति*)

अवनिरमरसिन्धुः सार्धमस्मद्विधाभिः
स च कुलपतिराद्यश्छन्दसां यः प्रयोक्ता ।
स च मुनिरनुयातारुन्धतीको वसिष्ठ-
स्तव वितरतु भद्रं भूयसे मंगलाय ॥ ४८ ॥

अन्वय—अवनिः अमरसिन्धुः अस्मद्विधाभिः सार्धं यः छन्दसाम् आद्यः प्रयोक्ता स च कुलपतिः अनुयातारुन्धतीकः स च मुनिः वसिष्ठश्च तव भूयसे मंगलाय भद्रं वितरतु ॥ ४८ ॥

व्याख्या—अवनिः पृथिवी, अमरसिन्धुः गंगा, अस्मद्विधाभिः अस्मादृशीभिः तमसासदृशीभिः नदीभिः वासन्तीसदृशीभिः वनदेवताभिश्चेत्यर्थः, सार्धं सह, यः छन्दसां वेदादन्येषाम् अनुष्टुप्प्रभृतीनाम्, आद्यः प्रथमः, प्रयोक्ता प्रयोगकर्ता, स च प्रसिद्धः, कुलपतिः दशसहस्रमुनीनाम् अन्नदानेन परिपालनपूर्वकमध्यापयिता वाल्मीकिः, अनुयातारुन्धतीकः अनुयाता अनुगता अरुन्धती एतदाख्यतत्पत्नी यस्य स तथोक्तः, स च प्रसिद्धः, मुनिः ऋषिः, वशिष्ठश्च रघुकुलगुरुश्च, तव सीतायाः रामस्य च, भूयसे महते, मंगलाय कल्याणाय, भद्रं मंगलं, वितरतु ददातु ॥ ४८ ॥

अनुवाद—हमारी जैसी नदियों (तमसा के पक्ष में नदियों और वासन्ती के पक्ष में वनदेवताओं) सहित पृथिवी और गङ्गा, छन्दों के प्रथम प्रयोक्ता प्रसिद्ध कुलपति वाल्मीकि और अरुन्धती समेत मुनि वसिष्ठ आपके महान् कल्याण के लिये आशीर्वाद प्रदान करें ॥ ४८ ॥

टिप्पणी—अवनि=पृथिवी । 'क्ष्माऽवनिर्मेदिनी मही' इत्यमरः । अमरसिन्धुः=देवनदी, गंगा । 'सिन्धुर्नद्यां महानदे' इति धरणिः । कुलपतिः =वह ब्रह्मर्षि जो दश सहस्र मुनियों का भरण-पोषण करते हुए उन्हें पढ़ाये । 'मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात् । अध्यापयति विप्रर्षिः स वै कुलपतिः स्मृतः ।' मंगलाय—अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी । इस श्लोक में तुल्ययोगिता अलंकार है । यह मालिनी छन्द है ॥ ४८ ॥

(*इति निष्क्रान्ताः सर्वे* ।)

(इसके बाद सब चले गये ।)

इति महाकविश्रीभवभूतिविरचिते उत्तररामचरिते छाया नाम तृतीयोऽङ्कः ॥ ३ ॥

महाकवि भवभूतिरचित उत्तररामचरित नाटक में छाया नामक तीसरा अंक समाप्त ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सीता के अदृश्य रहते हुए भी छाया-रूप में प्रवेश करने के कारण इस अंक का नाम छाया पड़ा। अथवा परमार्थतः सीता नहीं आई थीं, किन्तु राम ने पञ्चवटी में सकल्पवश सीता के स्पर्श आदि के उत्प्रेक्षा की थी—यह दरसाने के लिये कवि ने अंक का नाम छाया रखा।

इति श्रीतारिणीशशर्मकृतोत्तररामचरितेन्द्रकलाख्यव्याख्यायां तृतीयाङ्क-विवरण समाप्तम् ॥ ३ ॥

चतुर्थोऽङ्कः

(तत प्रविशतस्तापसौ ।)

(तदनन्तर दो तपस्वी आते हैं ।)

एक—सौधातके ! दृश्यतामद्य भूयिष्ठसन्निधापितातिथिजनस्य समधिकारम्भरमणीयता भगवतो वाल्मीकेराश्रमपदस्य । तथाहि—

व्याख्या—अद्य अस्मिन् दिने, भूयिष्ठसन्निधापितातिथिजनस्य भूयिष्ठम् अत्यधिकं यथा स्यात् तथा सन्निधापिता (निमन्त्रणादिना) समुपस्थापिता अतिथिजना आगन्तुकलोका यस्मिन् तस्य (आश्रमपदस्य विशेषणमेतत्), भगवत ऐश्वर्यशालिन , वाल्मीकं प्राचेतसस्य, आश्रमपदस्य आश्रमस्थानस्य, समधिकारम्भरमणीयता समधिकारम्भे प्रचुरतरायोजने रमणीयता चारुता, दृश्यताम् अवलोक्यताम् ।

अनुवाद—एक—सौधातके ! आज भगवान् वाल्मीकि के आश्रम की, जहाँ प्रचुर संख्या में अतिथिगण पधारे हुए हैं, अत्यधिक आयोजनों से बढ़ती हुई शोभा तो देखो ।

टिप्पणी—एक=दण्डायन नामक छात्र । इस अङ्क में दण्डायन और सौधातकि नामक दो छात्र आपस में वार्तालाप करते हुए दिखाई पड़ते हैं । *यह अङ्क मिश्र विष्कम्भक से आरम्भ होता है ।* सौधातके !—सुधातुरपत्यं पुमान् इति सौधातकि , तत्सम्बुद्धौ सौधातक !, सुधातृ+इञ् अकङ् आदेशश्च 'सुधातुरकङ् च' इत्यनेन । सन्निधापित—सम्—नि/धा+णिच्+क्त कर्मणि । आश्रमपदस्य=आश्रमस्थान का । 'पदं व्यवसितित्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमर ।

नीवारौदनमण्डमुष्णमधुरं सद्यः प्रसूतप्रिया
पीतादभ्यधिकं तपोवनमृगः पर्याप्तमाचामति ।
गन्धेन स्फुरता मनागनुसृतो भक्तस्य सर्पिष्मत
कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते ॥ १ ॥

अन्वय—तपोवनमृगः सद्यःप्रसूतप्रियापीतात् अभ्यधिकम् उष्णमधुरं नीवारौदनमण्ड पर्याप्तम् आचामति। सर्पिष्मतो भक्तस्य स्फुरता गन्धेन मनाक् अनुसृतः कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः परिस्तीर्यते ॥१॥

व्याख्या—तपोवनमृगः आश्रमस्थमृगः, सद्यःप्रसूतप्रियापीतात् सद्यः अचिरं प्रसूता प्रसववती या प्रिया हरिणी तया पीतं निपीतं तस्मात्, अभ्यधिकम् अतिरिक्तं पीतावशिष्टमित्यर्थः, उष्णमधुरम् उष्णं च तन्मधुरम् अशीतसुस्वादु इत्यर्थः, नीवारौदनमण्डं नीवारस्य तृणधान्यस्य ओदनः भक्तः तस्य मण्डं, पर्याप्तं यथेष्टम्, आचामति पिबति। सर्पिष्मतः घृतयुक्तस्य, भक्तस्य ओदनस्य, स्फुरता उद्गच्छता, गन्धेन सौरभेण, मनाक् ईषत्, अनुसृतः अनुगतः, कर्कन्धूफलमिश्रशाकपचनामोदः कर्कन्धूफलैः बदरीफलैः मिश्राः युक्ताः ये शाकाः वास्तूकादयः तेषां पचनात् पाकात् (उत्थितः) आमोदः गन्धः, परिस्तीर्यते सर्वतो व्याप्नोति ॥१॥

अनुवाद—आश्रम का मृग सद्यःप्रसूता हरिणी के पीने से बचा हुआ तिन्नी के चावल का उष्ण और स्वादिष्ठ माँड यथेच्छ पी रहा है, और प्रचुर घृतयुक्त भात की सुगन्ध का कुछ अनुसरण करने वाला बदरीफलमिश्रित शाक के पाक का आमोद चारों ओर फैल रहा है ॥१॥

टिप्पणी—सद्यःप्रसूता—तुरन्त की ब्याई हुई। समाने अह्नि इति सद्यः निपातनात् साधुः, सद्यःप्रसूता इति विग्रहे 'सह सुपा' इति समासः। सद्यःप्रसूतप्रिया—सद्यःप्रसूता और प्रिया में कर्मधारय समास, 'पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु' सूत्र से पुंवद्भाव। आचामति=पीता है। आङ्पूर्वक चम् धातु के लट् लकार का यह रूप है। यहाँ 'आङि चमः इति वक्तव्यम्' इससे दीर्घ होता है। भक्त=भात। 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नमोदनोऽस्त्री स दीदिविः' इत्यमरः। कर्कन्धू=बेर। 'कर्कन्धूर्बदरी कोलिः' इत्यमरः। परिस्तीर्यते—परि√स्तॄ+लट्—ते कर्मणि। इस श्लोक में पर्यायोक्त अलंकार है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१॥

सौवास्तकिः—साअदं अणेअप्पआराणं जिण्णकुच्चाणं अणज्झाअकालआणं तपोधणाणम्। [स्वागतमनेकप्रकाराणां जीर्णकूर्चानामनध्यायकारणानां तपोधनानाम्।]

व्याख्या—अनेकप्रकाराणां नानाविधानां जीर्णकूर्चानां पक्वश्मश्रूणां

अतिशयवृद्धानामित्यर्थः (अथवा जीर्णे शिथिल कूर्चे भ्रूद्वयान्तर्वर्ति स्थानं येषां तेषाम्) अनध्यायकारणानाम् पाठनिवृत्तिहेतुभूतानां, तपोधनानां तपस्विनां, स्वागतं सुष्ठु आगमनं (भवतु)।

अनुवाद—सौधातकि—अनेक प्रकार के तपस्वियों का, जिनकी दाढ़ी सफेद हो गई है और जो (हमारे लिये) अनध्याय के कारण हो गये हैं, स्वागत हो।

टिप्पणी—जीर्णकूर्चानाम्—पकी दाढ़ी मूँछ वालों का अर्थात् वृद्धों का। यह शब्द उपहासार्थ प्रयुक्त हुआ है। अनध्यायकारणानाम्—अधि√इ+घञ् भावे=अध्याय =अध्ययनम्, न अध्याय अनध्याय, तस्य कारणानि, तेषाम्। प्राचीन काल में किसी विशिष्ट अतिथि के आगमन पर अनध्याय मनाया जाता था। 'अनध्याय प्रकुर्वीत शिष्टे च गृहमागते।'

प्रथम —(*विहस्य*) अपूर्वः खलु बहुमानहेतुर्गुरुषु सौधातके !

प्रथम—(हँसकर) सौधातकि ! गुरुजनों के प्रति ('जीर्णकूर्चानाम्') यह सम्मानसूचक शब्द विलक्षण है।

टिप्पणी—गुरुषु—अतिथि सब के गुरु माने गये हैं—'गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः। पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वस्याभ्यागतो गुरुः॥'

सौधातकि —भो दण्डाअण ! किणामहेओ दाणिं एसो महत्तस्स इत्थिआसत्थस्स धुरधरो अज्ज अग्गिही आअदो ? [भो दण्डायन ! किंनामधेय एष महतः स्त्रीसार्थस्य धुरन्धरोऽद्यातिथिरागतः ?]

व्याख्या—दण्डायन ! इदं प्रथमतापसस्य नाम्ना सम्बोधनम् (भाण्डायन ! इति पाठे तु भण्डस्य महर्षेर्युवापत्यमिति भाण्डायनः, भण्ड शब्दात् 'नगादिभ्यो यञ्' इत्यनेन यञ् तद् वात् 'यञिञोश्च' इत्यनेन फक्—आयन, तत्सम्बुद्धौ), एष, महतः प्रचुरस्य, स्त्रीसार्थस्य स्त्रीसमूहस्य, धुरं धर धुर्यः, आगतः समुपस्थितः, अतिथिः, किंनामधेयः किमाख्यः (अस्ति) ?

अनुवाद—सौधातकि—दण्डायन ! यह जो आज विशाल स्त्री समूह के अग्रणी अतिथि पधारे हुए हैं, उनका क्या नाम है ?

दण्डायन —धिक्प्रहसनम् ! नन्वयमृष्यशृङ्गाश्रमादरुन्धतीं पुरस्कृत्य महाराजदशरथस्य दारानधिष्ठाय भगवान् वसिष्ठः प्राप्तः। तत् किमेवं प्रलपसि ?

दण्डायन—उपहास को धिक्कार है। अरे! ये तो ऋष्यशृङ्ग के आश्रम से अरुन्धती को आगे करके महाराज दशरथ की पत्नियों को साथ लिये भगवान् वसिष्ठ आये हुए हैं। इसलिए क्यों ऐसी अनर्थक बातें करते हो?

सौधातकि—हुं वसिट्ठो? [हुं वसिष्ठ ?]

सौधातकि—ऐं, वसिष्ठ हैं?

दण्डायन —अथ किम्?

दण्डायन—और क्या?

सौधातकि —मए उण जाणिदं कोवि वग्घो विअ एसोत्ति। [मया पुनर्ज्ञातं कोऽपि व्याघ्र इव एष इति।]

सौधातकि—मैने तो समझा कि यह कोई बाघ-जैसा (जन्तु) है।

टिप्पणी—'व्याघ्रो वा वृको वा एष इति' इस पाठभेद में 'यह बाघ या भेड़िया है' ऐसा अर्थ करना चाहिए।

दण्डायन.—आ:, किमुक्तं भवति?

दण्डायन—आह, ऐसा क्यों कहते हो?

सौधातकि —जेण परावडिदेण एव्व सा वराई कविला कल्लाणी वलामोडिअ मडमडाइआ। [येन परापतितेनैव सा वराकी कपिला कल्याणी बलात्कृत्य मडमडायिता।]

व्याख्या—येन हेतुना, परापतितेनैव आगतमात्रेणैव, सा अस्मत्परिचिता, वराकी दीना, कपिला कपिलवर्णविशिष्टा, कल्याणी वत्सतरी, बलात्कृत्य बलपूर्वक मडमडायिता मडमडशब्दयुक्ता कृता।

अनुवाद—सौधातकि—जिस लिए आते ही उन्होंने उस बेचारी कैली बछिया को जबर्दस्ती मड़मड़ा दिया (अर्थात् मरवा दिया या 'मड़मड़' शब्दपूर्वक चबा लिया)।

टिप्पणी—मडमडायिता=मड़मड़ शब्दयुक्त कराई गई अर्थात् मार डाली गई। 'मडमड' इति अनुकरणशब्दात् 'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्द्धादनितौ डाच्' इत्यनेन डाच्प्रत्ययः, ततः मडमडाकरोति इत्यर्थे 'लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्' इत्यनेन क्यष् प्रत्यय, ततः कर्मणि क्तः, स्त्रियां टाप्।

दण्डायन —समांसो मधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्यमानाः

श्रोत्रियायाभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा महाजं वा पचन्ति गृहमेधिनः। तं हि धर्मसूत्रकाराः समामनन्ति।

व्याख्या—समांस, मांसेन सहितः इति समांसः पलसहित इत्यर्थः, मधुपर्कः अतिथ्यादिपूजापचारभेदः, इति एवम्, आम्नायं वेदवचनं, बहुमन्यमाना प्रमाणीकुर्वन्तः, गृहमेधिनः गृहस्थाः, श्रोत्रियाय वेदविद्यादिसम्पन्नाय, अभ्यागताय अतिथये, वत्सतरीम् अल्पवयस्कां गोवत्सां द्विहायनीमित्यर्थः, वा अथवा, महोक्षं महावृषभं, वा अथवा, महाजं महाछागं, पचन्ति श्रपयन्ति (निर्वपन्ति इति पाठः तु ददति इति व्याख्येयम्)। हि यस्मात् तं श्रोत्रियोद्देश्यकवत्सतर्यादि पाकं निर्वापं वा, धर्मसूत्रकाराः धर्मशास्त्रप्रणेतारः, समामनन्ति उपदिशन्ति।

अनुवाद—दण्डायन—'मांस के साथ मधुपर्क देना चाहिए' इस वेद-वचन का समादर करने वाले गृहस्थ लोग श्रोत्रिय अतिथि के लिए दो वर्ष की बछिया या विशाल बैल या बड़े बकरे को पकाते हैं, जिसलिए कि धर्मशास्त्रकार इसको धर्म बताते हैं।

टिप्पणी—मधुपर्क =दही, घी, मधु, जल और चीनी के योग से बना हुआ पदार्थविशेष। मधुना पृच्यतेऽसौ इति मधुपर्कः, मधु√पृच्+घञ्। 'दधि सर्पिर्जलं क्षौद्रं सितैताभिस्तु पञ्चभिः। प्रोच्यते मधुपर्कस्तु सर्वदेवौघतुष्टये॥' कालिकापुराण। गृह्यसूत्र के अनुसार आचार्य, ऋत्विक्, वैवाह्य, राजा, उत्कृष्ट जाति के अथवा समान जाति के प्रियजन और स्नातक को मधुपर्क देना चाहिए। प्राचीन युग में मधुपर्क मांस के साथ दिया जाता था। मनु का वचन है—'मधुपर्के च यज्ञे च पितृदैवतकर्मणि। अत्रैव च पशुं हिंस्यात् नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः॥' किन्तु कलियुग में मधुपर्क के लिए पशु हिंसा निषिद्ध बताई गई है—'देवरेण सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः। मांसादनं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा॥ इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः।' बृहन्नारदीयपुराण। आम्नायम्=वेद को। आम्नायते अभ्यस्यते इत्याम्नायः वेदः, आ√म्ना+घञ्। श्रोत्रियाय=वेदविद्याविभूषित ब्राह्मण के लिए। छन्दः अधीते इति छन्दस्+घ—इय 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' इत्यनेन निपातनात् श्रोत्रादेशः। श्रोत्रिय का लक्षण देवल ने यह किया है—'एकां शाखां सकल्पां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य वा। षट्कर्मनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित्॥' वत्सतरीम्=

थोड़ी अवस्था की बछिया को। वत्सशब्दात् अनिभल्पार्थे 'वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे' इत्यनेन तप् प्रत्ययः तत. स्त्रियां ङीप्। महोक्षम् = विशाल बैल को। महांश्चासौ उक्षा च इति विग्रहे 'अचतुरविचतुर' इत्यादिना अच् प्रत्ययान्तो निपात।

सौधातकि.—भो णिग्गहीदोम्हि [भोः, निगृहीतोऽस्मि।]

सौधातकि—अरे! तुम पराजित हो गये।

दण्डायनः—कथमिव?

दण्डायन—कैसे?

सौधातकिः—जेण आअदेसु वसिट्ठमिस्सेसु वच्छदरी विससिदा। अज्ज एव्व पच्चाअदस्स राएसिणो जणअस्स भअवदा वम्मीइणा दहिमहूहिं एव्व णिव्वत्तिदो महुवक्को। वच्छदरी उण विसज्जिदा। [येनागतेषु वसिष्ठमिश्रेषु वत्सतरी विशसिता। अद्यैव प्रत्यागतस्य राजर्षेर्जनकस्य भगवता वाल्मीकिना दधिमधुभ्यामेव निर्वर्तितो मधुपर्कः। वत्सतरी पुनर्विसर्जिता।]

व्याख्या—येन हेतुना, आगतेषु, आयातेषु, वसिष्ठमिश्रेषु महामान्यवसिष्ठेषु, वत्सतरी द्विवर्षीया गौः, विशसिता व्यापादिता मधुपर्कार्थमिति शेषः. (किन्तु) अद्यैव अस्मिन्नेव दिवसे, प्रत्यागतस्य समुपस्थितस्य, राजर्षेः राज्यस्वामिनः तपस्विनः, जनकस्य विदेहराजस्य, मधुपर्कः, भगवता विभूतिमता, वाल्मीकिना प्राचेतसेन, दधिमधुभ्यामेव केवलेन दध्ना मधुना एव, निर्वर्तितः निष्पादितः, पुनः किन्तु, वत्सतरी द्विहायनी गौः, विसर्जिता मुक्ता।

अनुवाद—सौधातकि—जिसलिए कि माननीय वसिष्ठ जी के आने पर बछिया मारी गई, किन्तु आज ही आये हुए राजर्षि जनक को भगवान् वाल्मीकि ने केवल दही और मधु का मधुपर्क प्रदान किया, पर बछिया को छोड़ दिया। (अतः 'मांस सहित मधुपर्क देना चाहिए' यह तुम्हारा वचन परास्त हो गया।)

दण्डायन—अनिवृत्तमांसानामेव कल्पं व्याहरन्ति केचित्। निवृत्तमांसस्तु तत्रभवान् जनकः।

व्याख्या—अनिवृत्तमांसाना न निवृत्त मांस मांसभोजनं येषां तेषां मांसभोजिनां जनानामित्यर्थः, एवं कल्पं मधुपर्के मांसदानविधिं, व्याहरन्ति ब्रुवन्ति,

केचित् आपस्तम्बादयो धर्मशास्त्रकारा, तु किन्तु, तत्रभवान् पूज्य, जनक, निवृत्तमास मासभक्षणाद् विरत (अस्ति)।

अनुवाद—जिन्होंने मास खाना नहीं छोड़ा है, उनके लिए कुछ धर्म शास्त्रकार मास सहित मधुपर्क का विधान बताते हैं, परन्तु पूज्य जनक जी ने तो मास भक्षण का त्याग कर दिया है।

सौधातकि—कि णिमित्तम्? [किन्निमित्तम्?]

सौधातकि—किस कारण?

दण्डायन—यद्देव्या सीतायास्तादृशं दैवदुर्विपाकमुपश्रुत्य वैखानस संवृत्त, तस्य कतिपयसंवत्सरश्चन्द्रद्वीपतपोवने तपस्तप्यमानस्य।

व्याख्या—यत् यस्मात्, देव्या, सीताया, तादृशम् अतिदारुणमित्यर्थ, दैवदुर्विपाक भाग्यदुष्परिणामम्, उपश्रुत्य लोकपरम्परया आकर्ण्य, वैखानस वानप्रस्थ, संवृत्त सञ्जात, (तथा) चन्द्रद्वीपतपोवने चन्द्रद्वीपाख्यस्य कस्यचित् स्थानस्य कस्मिंश्चिदाश्रमे, तपस्तप्यमानस्य तपस्या कुर्वत, तस्य जनकस्य, कतिपयसंवत्सर कतिपयहायन (अतीत)।

अनुवाद—दण्डायन—जिसलिए कि सीता देवी का वैसा भाग्य दुष्परिणाम सुनकर जनक वानप्रस्थ हो गये हैं और चन्द्रद्वीप नामक तपोवन में तपस्या करते हुए उन्हें कई वर्ष बीत गये हैं।

सौधातकि—तदो किंति आअदो? [तत किमित्यागत?]

सौधातकि—वहाँ से क्यों आये?

दण्डायन—सम्प्रति च प्रियसुहृद भगवन्त प्राचेतस द्रष्टुम्।

दण्डायन—इस समय प्रिय बन्धु भगवान् वाल्मीकि को देखने के लिए आये हैं।

सौधातकि—अवि अज्ज सम्बन्धिणीहिं सम णिउत्त दसण ण वेत्ति? [अप्यद्य सम्बन्धिनीभि सम निर्वृत्त दर्शनमस्य न वेति?]

सौधातकि—आज सम्बन्धिनियों (समधिनों) से इनकी भेंट हो गई कि नहीं!

दण्डायन—सम्प्रत्येव भगवता वसिष्ठेन देव्या कौसल्याया

सकाशं भगवत्यरुन्धती प्रहिता यत् 'स्वयमुपेत्य स्नेहाद्य द्रष्टव्य' इति ।

दण्डायन—अभी-अभी भगवान् वसिष्ठ ने भगवती अरुन्धती को कौसल्या देवी के पास यह कहने के लिए भेजा है कि वे स्वय नजदीक जाकर स्नेहपूर्वक जनक का दर्शन करें ।

सौधातकि.—जह एदे दुविरा परप्पर मिलिदा, तह अह्मे वि वडुहि सह मिलिअ अणज्झअमहूस्स्व खेलन्तो मणेम्ह । अह कुत्थ सो जणओ ? [यथैते स्थविरा. परस्पर मिलिता , तथावामपि वटुभि. सह मिलित्वान-ध्यायमहोत्सव खेलन्तो मानयाव । अथ कुत्र स जनकः ?]

व्याख्या—यथा येन प्रकारेण, एते, स्थविरा· वृद्धाः, परस्पर मिलिता· अन्योन्यमेकत्र समवेता , तथा तेन प्रकारेण, आवामपि सौधातकि-दण्डायनावपि वटुभिः अपरापरबालकैः, सह सम, मिलित्वा, अनध्यायमहोत्सवम् अनध्याये पाठनिषेधदिवसे चिरमनुष्ठितो यो महोत्सव. आनन्दजनकव्यापार· तम्, खेलन्त. क्रीडन्तः, मानयावः सम्भावयाव· । अथ इदानीं, कुत्र क्व, स जनक स विदेहराज. ?

अनुवाद—सौधातकि—जैसे ये वृद्धगण परस्पर मिले हैं, उसी प्रकार हम दोनों भी (अन्यान्य) बालकों के साथ मिल कर खेलते हुए अनध्याय-महोत्सव मनायें ।

टिप्पणी—वटुभि =बालकों क साथ । 'बालको मानवो बालः किशोरो वटुरित्यपि' इति शब्दरत्नावली । खेलन्त. = अर्थात् खेल से । इसमें 'लक्षणहेत्वो क्रियाया.' सूत्र स हेत्वर्थ में शतृप्रत्यय हुआ है ।

दण्डायन·—तदय प्राचेतसवसिष्ठावुपास्य सम्प्रत्याश्रमस्य वहिर्वृक्षमूलमधितिष्ठति । य एप —

दण्डायन—सो ये (जनक) वाल्मीकि और वसिष्ठ की अर्चना करके सम्प्रति आश्रम के बाहर वृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं । जो ये—

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'तदय' के बाद 'ब्रह्मवादी पुराणराज-र्षिर्जनक' यह अधिक पाठ मिलता है । इसमें ब्रह्मवादी का अर्थ वेद के उपदेष्टा समझना चाहिए । वृक्षमूलम्—इसमें 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' सूत्र से कर्मसंज्ञा होने पर द्वितीया हुई ।

✓ हृदि नित्यानुषक्तेन सीताशोकेन तप्यते
अन्तःप्रसृतदहनो जरन्निव वनस्पतिः ॥ २ ॥

अन्वय—अन्तःप्रसृतदहनः जरन् वनस्पतिः इव हृदि नित्यानुषक्तेन सीताशोकेन तप्यते ॥ २ ॥

व्याख्या—अन्तःप्रसृतदहनः अन्तः अभ्यन्तरे प्रसृतः परिव्याप्तः दहनः वह्निः यस्य स तथोक्तः, जरन् जीर्णः ('ज्वलन्' इति पाठे तु 'दीप्यमानः' इति व्याख्येयम्), वनस्पतिरिव वृक्ष इव, हृदि हृदये नित्यानुषक्तेन निरन्तरलग्नेन, सीताशोकेन सीताविषयकदुःखेन, तप्यते सन्तापमनुभवति ॥ २ ॥

अनुवाद—(जनक अपने) हृदय में सदा रहने वाले सीता के शोक से उसी तरह सतत होते रहते हैं जैसे (अपने) भीतर फैली हुई आग वाला जीर्ण वृक्ष।

टिप्पणी—नित्यानुषक्तेन—अनु √षञ्ज्+क्त कर्मणि कर्तरि वा = अनुषक्त, नित्यम् अनुषक्तः सुप्सुपा समासः, तेन। यहाँ श्रौती उपमा अलङ्कार है। यह पथ्यावक्त्रा छन्द है। ॥ २ ॥

(*इति निष्क्रान्तौ।*)
(*इसके बाद दोनों चले गये*)
इति मिश्रविष्कम्भः।
मिश्रविष्कम्भक समाप्त।
(*ततः प्रविशति जनकः।*)
(*तदनन्तर जनक प्रवेश करते हैं।*)

जनकः—

अपत्ये यत्तादृग्दुरितमभवत्तेन महता
विपक्कस्तीव्रेण प्रणिहितहृदयेन व्यथयता।
पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे
निकृन्तन्मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विरमति ॥ ३ ॥

अन्वय—अपत्ये तादृक् यत् दुरितम् अभवत् महता तीव्रेण प्रणिहितहृदयेन व्यथयता तेन विपक्कः पटुः धारावाही चिरेण अपि नव इव मे मन्युः क्रकच इव मर्माणि निकृन्तन् न विरमति ॥ ३ ॥

व्याख्या—अपत्ये सन्ताने सीतायामित्यर्थः, तादृक् तथाविध, यत्, दुरित पापं वननिर्वासनरूप दुर्गतमित्यर्थः, अभवत् जात, महता विशालेन, तीव्रेण तीव्रेण, व्रणितहृदयेन व्रणित क्षत हृदय वक्षो येन तेन, व्यथयता व्यथा कुर्वता, तेन दुरितेन, विषक्तः हृदि दृढतर निहितः, पटुः विदारणसमर्थः, धारावाही निरन्तरस्थायी, चिरेणापि बहुकालेनापि नव इव नूतन इव, मे मम, मन्युः सीतानिर्वासनजनित. शोक कोपो वा, क्रकच इव करपत्रमिव, मर्माणि अन्तःसन्धिस्थानानि, निकृन्तन् छिन्दन्, न विरमति न शाम्यति ॥३॥

अनुवाद—जनक—सन्तान (सीता) को जो वैसा लोकापवादरूप पाप या निर्वासनरूप दुःख हुआ, उस विशाल, तीव्र, हृदय को क्षत-विक्षत करने वाले और वेदना उत्पन्न करने वाले पाप या दुःख से विशेषतः सम्बद्ध, हृदय-विदारण में समर्थ, निरन्तर रहने वाला और बहुत काल बीत जाने पर भी नवीन प्रतीत होने वाला मेरा सीताविषयक शोक या कोप आरे की भाँति (मेरे) मर्मस्थल को चीरने से विरत नहीं होता है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—व्रणित—व्रण (घाव) से युक्त । व्रणः सञ्जातोऽस्य इति विग्रहे व्रणशब्दात् तारकादित्वात् इतच् प्रत्यय. । चिरेण—'अपवर्गे तृतीया' इति सूत्रेणात्र तृतीया । मन्युः = शोक या क्रोध । 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमर. । क्रकच = आरा । 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रम्' इत्यमरः । विरमति—इसमें 'व्याङ्परिभ्यो रमः' से परस्मैपद हुआ । इस श्लोक में पूर्णोपमा और उत्प्रेक्षा अलकारों मे अगागिभाव सम्बन्ध होने से संकर अलकार हो जाता है । यह शिखरिणी छन्द है ॥ ३ ॥

कष्टम् ! एव नाम जरया दुःखेन च दुरासदेन भूय· पराकसान्तपनप्रभृतिभिस्तपोभिः शोषितान्त शरीरधातोरवष्टम्भ एव । अद्यापि मम दग्धदेहो न पतति । 'अन्धतामिस्रा ह्यसूर्या नाम ते लोका. प्रेत्य तेभ्यः प्रतिविधीयन्ते, य आत्मघातिन' इत्येवमृषयो मन्यन्ते । अनेकसंवत्सरातिक्रमेऽपि प्रतिक्षणपरिभावनास्पष्टनिर्भास. प्रत्यग्र इव न मे दारुणो दुःखसंवेगः प्रशाम्यति । अयि मात· देवयजनसम्भवे ! ईदृशस्ते निर्माणभागः परिणत. ? येन लज्जया स्वच्छन्दमप्याक्रन्दितुं न शक्यते । हा पुत्रि !

व्याख्या—कष्टम् अतिशयदुःखबोधकमव्ययमिदम्, एव नाम इत्थ-

प्रभूतेन सुस्पष्टेनेत्यर्थः, जरया वार्द्धक्येन, दुःसहेन दुःसहेन, दुःखेन च कष्टेन च, भूयः पुनः, पराकसान्तपनप्रभृतिभिः पराको द्वादशाहोपवाससाध्यो व्रतविशेषः सान्तपन द्व्यहसाध्यो व्रतविशेषः पराकसान्तपने प्रभृती आदी येषां तैः, तपोभिः क्लेशसमार्थैः व्रतैः, शोषितान्तःशरीरधातोः शोषिताः शोषणं प्रापिताः अन्तःशरीरधातवः अन्तर्देहधातवो यस्य तस्य मम, अवष्टम्भ एव प्राणावलम्बनमेव ('तपोभिः' इत्यस्य अनन्तरम् 'आत्तरसधातुरनुपयुज्यमानः' इति पाठभेदे तु आत्ताः गृहीता विशोषिता इत्यर्थः रसा' रक्तप्रभृतयः द्रवपदार्थाः धातवः मांसादयः यस्य सः अनुपयुज्यमानः अनुपयुक्तः राज्यशासनादिव्यापारे असमर्थ इति भावः इति व्याख्येयम्)। अद्यापि अधुनापि, मम मे, दग्धदेहः दग्धपदार्थवत् साररहितः कायः, न पतति न नश्यति। (ननु तर्हि आत्महत्यैव क्रियतामितिचेत्तत्राह—) 'अन्धतामिस्राः अन्धम् अन्धकरणं तामिस्रं तमःसहतिः येषु ते, असूर्याः सूर्यरहिताः अथवा असुरसम्बन्धिनः, नाम असूर्या इति नाम्ना प्रकाशिता इत्यर्थः, ते प्रसिद्धाः, लोकाः भुवनानि (सन्ति), प्रेत्य मृत्वा, तेभ्य' लोकेभ्यः, प्रतिविधीयन्ते नियुज्यन्ते (ते जनाः), ये, आत्मघातिनः आत्महत्याकारिणः (भवन्ति)'। अनेकसंवत्सरातिक्रमेऽपि अनेकेषां बहूनां संवत्सराणाम् अब्दानाम् अतिक्रमेऽपि अपगमेऽपि, प्रतिक्षणपरिभावनास्पष्टनिर्भासः प्रतिक्षणं सतत परिभावनया परिचिन्तया स्पष्टः परिस्फुटो निर्भासः प्रकाशः यस्य स तथोक्तः, प्रत्यग्र इव नूतन इव, मे, दारुणः कठोरः, दुःखसंवेगः शोकप्रावल्यम्, न प्रशाम्यति न नश्यति। ईदृशः एवम्प्रकारः, ते तत्र, निर्माणभागः सृष्टेरंशः जीवनशेषभाग इति भावः, परिणतः परिणामं प्राप्तः। येन असत्परिणामेन हेतुना, लज्जया त्रपया, स्वच्छन्दम् इच्छानुरूपम्, आक्रन्दितुमपि रोदितुमपि, न शक्यते न पार्यते।

अनुवाद—दारुण दुःख है! इस प्रकार वृद्धावस्था, दुःसहनीय दुःख और फिर पराक, सान्तपन आदि व्रतानुष्ठान रूप तपस्याओं के कारण शरीरान्तर्वर्ती धातुओं के सूख जाने से (शरीर को) केवल प्राणों का ही सहारा मिल रहा है। (अतएव) अभी भी मेरा दग्धप्राय शरीर धराशायी नहीं हो रहा है। (यदि कहें कि जीवन भार स्वरूप है तो आत्महत्या कर लेनी चाहिए, इसका निराकरण करते हैं—) 'जो आत्महत्या करते हैं, उन्हें मरने पर सूर्यरहित अथवा असुरों के, अन्धा बनाने वाले एवं अन्धकारपरिपूर्ण लोकों में जाना

पड़ता है।' ऐसा ऋषिगण मानते हैं। अनेक वर्षों के बीत जाने पर भी मेरा दारुण दुःखप्रवाह, जो प्रतिक्षण स्थायी चिन्ता के कारण स्पष्ट और प्रकाशित है, शान्त नहीं हो रहा है। हा माँ! यज्ञभूमिसमुत्पन्ने! तुम्हारे जीवन का शेष भाग इस रूप में परिणत हुआ? जिससे लज्जा के कारण स्वच्छन्दतापूर्वक रोया भी नहीं जा सकता। हाय वेटी!

टिप्पणी—दुरासदेन—दुःखेन आसद्यते इति दुर्—आ √ सद्+खल् कर्मणि=दुरासदम्, तेन। पराकसान्तपनप्रभृतिभिः—पराक और सान्तपन ये दोनों व्रत हैं, जिनमें पराक व्रत द्वादशाहसाध्य है। इसमें बारह दिन उपवास करना पड़ता है। जैसा कि मनु ने कहा है—'यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्। पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः॥' सान्तपन व्रत दो दिन में सम्पन्न होता है। प्रथम दिन पञ्चगव्य और कुशोदक पर रहना पड़ता है और दूसरे दिन उपवास करना पड़ता है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ने कहा है—'कुशोदकञ्च गोक्षीरं दधि मूत्रं शकृद्घृतम्। प्राश्यापरेऽह्न्युपवसेत् कृच्छ्रं सान्तपनं चरन्॥' अन्धतामिस्राः· · · यह ईशोपनिषद् का वाक्य है। वहाँ इस रूप में पठित है—'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥' अन्धयति इति अन्ध+णिच् स्वार्थे+अच् कर्तरि=अन्धा, तमः अस्ति अस्याम् इति तमस्+र मत्वर्थे=तमिस्रा रात्रिः, तमिस्रा एव इति तमिस्रा+अण् स्वार्थे=तामिस्रा, अन्धा तामिस्रा येषु ते अन्धतामिस्राः।

अनियतरुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम्।
वदनकमलकं शिशोः स्मरामि स्खलदसमञ्जसमञ्जुजल्पितं ते॥ ४॥

अन्वय—अनियतरुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रं स्खलदसमञ्जसमञ्जुजल्पितं शिशोः ते वदनकमलकं स्मरामि॥ ४॥

व्याख्या—अनियतरुदितस्मितम् अनियते अनिर्दिष्टे रुदितस्मिते रोदनहास्ये यस्मिन् तत् तथाभूतं, विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम् विराजन्ति शोभमानानि कतिपयानि अल्पसंख्यकानि कोमलानि सुकुमाराणि दन्तकुड्मलाग्राणि दशनमुकुलाग्राणि यस्मिन् तत् तथोक्तम्, (तथा) स्खलदसमञ्जसमञ्जुजल्पितं स्खलत् पतत् सम्पूर्णोच्चारणसामर्थ्याभाववशात् न परिस्फुटमुच्चरदित्यर्थः असमञ्जसम् असम्बद्धम् मञ्जु सुन्दरं जल्पितं वचनं यस्मिन् तत्

तथोक्त, शिशोः बालिकायाः, ते तव, वदनकमलकं पद्मवत् सुन्दर मुख, स्मरामि चिन्तयामि ॥ ४ ॥

अनुवाद—(मैं) अनियमित रूप से रोने और हँसने वाले, कलियों के अग्रभाग के समान कोमल कतिपय दाँतों से शोभित होने वाले और (वाणी के) स्खलन एवम् असम्बद्धता के रहते हुए भी सुन्दर वचन वाले तुम्हारे शैशव के लघु मुखकमल का स्मरण कर रहा हूँ ॥ ४ ॥

टिप्पणी—दन्तकुड्मलाग्राणि—दन्ताः कुड्मलाग्राणि इव इति विग्रहे उपमितसमास । वदनकमलकम्—वदन कमलमिव इति वदनकमलम् उपमितसमास, अल्प वदनकमलम् इति वदनकमलकम् 'अल्पे' इति सूत्रे ए कन्प्रत्ययः । यहाँ स्वभावोक्ति और उपमा अलकारों में अगागिभाव सम्बन्ध होने से सकर अलकार हो जाता है । यह पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ ४ ॥

भगवति वसुन्धरे ! सत्यमतिदृढासि ।

भगवति पृथ्वि ! सचमुच, तुम बहुत कठोर हो ।

त्वं वह्निर्मुनयो वसिष्ठगृहिणी गङ्गा च यस्या विदु
    र्माहात्म्यं यदि वा रघोः कुलगुरुर्देवः स्वयं भास्करः ।
विद्यां वागिव यामसूत भवती शुद्धिं गतायाः पुन-
    स्तस्यास्त्वद्दुहितुस्तथा विशसनं किं दारुणेऽमृष्यथाः ? ॥ ५ ॥

अन्वय—दारुणे ! त्व वह्निः मुनयः वसिष्ठगृहिणी गङ्गा च यदि वा रघोः कुलगुरुः स्वय भास्करः देवः यस्याः माहात्म्य विदुः, वाक् विद्याम् इव भवती याम् असूत तस्याः शुद्धिं गतायाः त्वद्दुहितुः पुनः तथा विशसनं किम् अमृष्यथाः ? ॥ ६ ॥

व्याख्या—दारुणे ! कठोरे ! त्व भवती, वह्नि अग्निदेवः, मुनयः वसिष्ठवाल्मीकिप्रभृतय, वसिष्ठगृहिणी अरुन्धती, गङ्गा जाह्नवी, यदि वा तथा, रघोः रघुवंशीयानामित्यर्थः, कुलगुरु वशस्यादिपुरुष, स्वयं साक्षात्, भास्करो देवः सूर्यदेवः, यस्याः सीतायाः माहात्म्य महिमान, विदुः जानन्ति, वाक् सरस्वती, विद्याम् इव शास्त्रम् इव, भवती त्व, याम् सीताम्, असूत प्रसूतवती, तस्याः, शुद्धिं वह्निशुद्धि निर्दोषत्वमित्यर्थः, गतायाः प्राप्तायाः, त्वद्दुहितुः तव तनयायाः, पुनः भूयः, तथा तेन प्रकारेण, विशसनं हिंसनं निर्वासनेन विनाशनमित्यर्थः, किं केन प्रकारेण, अमृष्यथाः सोढवती ? ॥ ५ ॥

अनुवाद—हे निष्ठुरे ! तुम, अग्निदेव, (वशिष्ठ आदि) मुनिगण, वशिष्ठपत्नी (अरुन्धती), गङ्गा और रघुवंशियों के आदिपुरुष साक्षात् सूर्यदेव जिस (सीता) की महिमा को जानते हैं तथा जैसे सरस्वती विद्या को उत्पन्न करती है वैसे तुमने जिसको उत्पन्न किया, उस निर्दोष प्रमाणित पुत्री का वैसा (निर्वासन रूप) विनाश तुमने कैसे सहन किया ? ॥ ५ ॥

टिप्पणी—रघो कुलगुरु —अत्र सम्बन्धिशब्दस्य सापेक्षत्वेऽपि 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इतिवत् गमकत्वात् समास. । विदु'—विद् (ज्ञाने)+लट्—झि—उस् 'विदो लटो वा' इति सूत्रेण । विद्यायाम्—शङ्कराचार्य के मत में वस्तु (= ब्रह्म) के स्वरूप का अवधारण (निश्चयकरण) ही विद्या है। अमृष्यथा —मृष् (तितिक्षायाम्)+लङ्-थास् । इस श्लोक में तुल्ययोगिता और श्रौता उपमा अलङ्कारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलङ्कार हो जाता है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ ५ ॥

(नेपथ्ये)

(*नेपथ्य में*)

इत इतो भगवतीमहादेव्यौ ।

भगवती और महादेवी इधर-इधर से पधारें ।

टिप्पणी—यह कञ्चुकी का वाक्य है। इसमे भगवती शब्द अरुन्धती के लिए प्रयुक्त हुआ है और महादेवी शब्द कौशल्या के लिए ।

जनक —(*दृष्ट्वा*) अये ! गृष्टिनापदिश्यमानमार्गा भगवत्यरुन्धती । (*उत्थाय*) का पुनर्महादेवीत्याह ? (*निरूप्य*) हा हा, कथमियं महाराजस्य दशरथस्य धर्मदारा. प्रियसखी मे कौसल्या ? क एतां प्रत्येति सैवेयमिति नाम ?

व्याख्या—अये इति विषादमूलकमव्ययम्, गृष्टिना तदाख्येन कञ्चुकिना, उपदिश्यमानमार्गा उपदिश्यमान' निर्दिश्यमान. मार्ग पन्थाः यस्या. सा, भगवती, अरुन्धती (अस्ति)। निरूप्य पर्यवेक्ष्य, धर्मदारा. धर्मपत्नी, इयं दृश्यमाना, सैव पूर्वदृष्टेव, इति, एतां कौशल्यां, क., प्रत्येति विश्वसिति ?

अनुवाद—जनक—(*देख कर*) अरे ! भगवती अरुन्धती हैं, जिनको गृष्टि नामक कञ्चुकी रास्ता दिखला रहा है। (*खड़े होकर*) फिर महादेवी

किसको कहा है ? (गौर से देख कर) हाय हाय ! ये महाराज दशरथ की धर्मपत्नी मेरी प्रिय सखी कौशल्या कैसे दिखाई दे रही हैं ? कौन इन्हें पहचानेगा कि ये वही (कौशल्या) हैं ?

टिप्पणी—धर्मदारा—धर्मप्रयोजना दारा धर्मदारा शाकपार्थिवादित्वात् समास। कोई यहाँ 'अश्वस्य घास अश्वघास' की तरह 'धर्मस्य दारा धर्मदारा' षष्ठी तत्पुरुष मानते हैं।

आसीदियं दशरथस्य गृहे यथा श्रीः
श्रीरेव वा किमुपमानपदेन सैषा।
कष्टं बतान्यदिव दैववशेन जाता
दुःखात्मकं किमपि भूतमहो विकारः ॥ ६ ॥

अन्वय—इयं दशरथस्य गृहे श्रीर्यथा आसीत् वा श्रीरेव (आसीत्), उपमानपदेन किम् ? बत कष्टं सा एषा दैववशेन अन्यत् किमपि दुःखात्मकं भूतम् इव जाता, अहो विकारः ॥ ६ ॥

व्याख्या—इयं दृश्यमाना कौशल्या, दशरथस्य, गृहे भवने, श्रीर्यथा लक्ष्मीवत्, आसीत् अतिष्ठदित्यर्थः, वा अथवा, श्रीरेव लक्ष्मीरेव (आसीत्), उपमानपदेन श्रीसादृश्यवाचकयथाशब्दप्रयोगेण, किम् किम्प्रयोजनम् ?, बत इति खेदे, कष्टं दुःखं, सा लक्ष्मीसदृशा लक्ष्मीभूता वा, एषा कौशल्या, दैववशेन अदृष्टवशेन, अन्यत् अपरं, किमपि अज्ञाताश्रुतपूर्वं किञ्चित्, दुःखात्मकं दुःखस्वरूपं, भूतं जीवविशेषं, इव वद्वत्, जाता सम्पन्ना, अहो विकारः आश्चर्यं परिणाम इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अनुवाद—ये (कौशल्या) दशरथ के महल में लक्ष्मी की तरह थीं अथवा लक्ष्मी ही थीं। सादृश्यवाचक शब्द के प्रयोग से क्या प्रयोजन ? हाय ! कष्ट है ! यह वही (लक्ष्मीस्वरूप कौशल्या) दैववशात् दूसरे किसी दुःखरूप प्राणी के समान हो गई हैं। परिणाम आश्चर्य है (अर्थात् जो यह पहले लक्ष्मीस्वरूप थीं वही आज इतने विकृत आकार में दिखाई दे रही हैं कि पहचानना भी कठिन हो गया है।) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—बत कष्टम्—अत्यन्त दुःख प्रकट करने के लिए इन दो समानार्थक पदों का प्रयोग किया गया है। जाता—इसमें उद्देश्य की प्रधानता से स्त्रीत्व हुआ है। दुःखात्मकम्—दुःखम् आत्मा स्वरूपं यस्य

तत्=दु खमय। इस श्लोक में उपमा, अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा अलंकारों के परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलकार हो जाता है। यह वसन्ततिलका छन्द है ॥ ६ ॥

अयमपरः पापो दशाविपर्यासः।

यह एक और पापजन्य अवस्था-परिवर्तन उपस्थित हो गया है (तात्पर्य यह है कि सीता के चिरवियोग से महाशोकरूप दशा-परिवर्तन तो था ही, अब कौशल्या के साक्षात्कार से परस्पर आर्तनाद आदि रूप दूसरा दशा परिवर्तन भी उपस्थित हो गया है।)

य एव मे जन पूर्वमासीन्मूर्तो महोत्सव ।
क्षते क्षारमिवासह्यं जात तस्यैव दर्शनम् ॥ ७ ॥

अन्वय—य एव जनः पूर्वं मे मूर्तः महोत्सव आसीत्, तस्यैव दर्शनं क्षते क्षारम् इव असह्य जातम् ॥ ७ ॥

व्याख्या—य एव कौशल्यारूपः जन॰, व्यक्तिः, पूर्वं प्राक् दशरथजीवन-काले इत्यर्थः, मे मम, मूर्त शरीरी, महोत्सव, परमानन्दकारणम्, आसीत् अभवत् (इदानीम्) तस्यैव कौशल्यारूपजनस्यैव, दर्शनम् अवलोकन, क्षते शरीरस्य छिन्नस्थान स्फुटितव्रणादौ वा, क्षारमिव लवणमिव, असह्यम् असहनीयं, जात सवृत्तम् ॥ ७ ॥

अनुवाद—जो ही जन (अर्थात् कौशल्या) पहले मेरे लिए देहधारी महोत्सव के तुल्य (अर्थात् परमानन्दस्वरूप) था, (इस समय) उसी का दर्शन घाव पर नमक (छिड़कने) के समान असह्य हो रहा है ॥ ७ ॥

टिप्पणी—मूर्त. —√मूर्च्छ्+क्त कर्तरि। महोत्सवः—महान् उत्सव 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययो.' इत्यनेन महत आत्वम्। असह्यम्—सोढुं शक्यम् इति,√सह्+यत् कर्मणि सह्यम्, न सह्यम् असह्यम्। इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में हेतु या रूपक अलंकार और उत्तरार्द्ध में श्रौती उपमा अलकार है। दोनों के परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलकार हो जाता है ॥ ७ ॥

(ततः प्रविशत्यरुन्धती कौशल्या कञ्चुकी च)

(तदनन्तर अरुन्धती, कौशल्या और कंचुकी का प्रवेश होता है।)

अरुन्धती—ननु अभीम 'द्रष्टव्य. स्वयमुपेत्यैव वैदेह' इत्येव वः गुरोरादेशः। अतएव चाह प्रेषिता। तत्कोऽय पदे पदे महानध्यवसायः?

व्याख्या—ननु भो (कौशल्यां प्रति), ब्रवीमि कथयामि, (यत्) स्वयम् आत्मना, उपेत्यैव समीपं गत्वैव, वैदेहः विदेहदेशाधिपतिर्जनकः, द्रष्टव्यः साक्षात्कर्तव्यः, इत्येवम् इत्थं, वः युष्माकं, कुलगुरोः वसिष्ठस्य, आदेशः आज्ञा। अतएव अस्मादेव हेतोः, अहं च अरुन्धती च प्रेषिता प्रेरिता। तत् तस्मात्, पदे पदे प्रतिपदं, कोऽयं किंहेतुकः इत्यर्थः, महानध्यवसायः अतीव अनुद्यमः अप्रवृत्तिरित्यर्थः ?

अनुवाद—अरे ! मैं कहती हूँ, 'आपके कुलगुरु का आदेश है कि स्वयं समीप जाकर ही विदेहपति जनक का दर्शन करें।' इसीलिए मैं भी भेजी गई हूँ। तब पग पग पर यह भारी अप्रवृत्ति (न जाने की चेष्टा) क्यों ?

कञ्चुकी—देवि ! संस्तभ्यात्मानमनुरुध्यस्व भगवतो वसिष्ठस्यादेशमिति विज्ञापयामि।

कञ्चुकी—महारानी ! मन को स्थिर करके भगवान् वसिष्ठ की आज्ञा का पालन करें, यही मेरा निवेदन है।

टिप्पणी—आत्मानम्=मन को। 'आत्मा पुंसि स्वभावे च प्रयत्न मनसोरपि' इति मेदिनी।

कौशल्या—ईरिसे काले मिहिलाहिवो मए दिट्ठव्वो त्ति सम्मं एव्व मव्वदुःखाइं ओदरन्ति। ता ण सक्कणोमि उव्वट्टमाणमूलबन्धणं हिअअं पज्जवत्थावेदुम्। [ईदृशे काले मिथिलाधिपो मया द्रष्टव्य इति सममेव सर्वदुःखान्यवतरन्ति। तस्मान्न शक्नोम्युद्वर्तमानमूलबन्धनं हृदयं पर्यवस्थापयितुम्।]

ऐसे (दारुण) समय में मुझे मिथिलापति का साक्षात्कार करना है, इस कारण सभी दुःख एक साथ ही उतर पड़े हैं। अतएव (अपने) चित्त को, जिसके अन्तस्तल की ग्रन्थियाँ टूट चुकी हैं, स्थिर नहीं कर पा रही हूँ।

टिप्पणी—कहीं 'अवतरन्ति' की जगह 'समुद्भवन्ति' पाठ है। उसका अर्थ होगा—'उत्पन्न हो रहे हैं'। उद्वर्तमानमूलबन्धनम्=जिसका यथास्थान अवस्थित करने वाला प्रधान बन्धन उच्छिन्नप्राय हो गया है, उसको। उद्वर्तमानं मूलबन्धनं यस्य तत्। पर्यवस्थापयितुम्=प्रकृतिस्थ करने के लिए।

अरुन्धती—अत्र कः सन्देहः ?

अरुन्धती—इसमें क्या सन्देह ?

सन्तानवाहीन्यपि मानुषाणां दुःखानि सम्बन्धिवियोगजानि ।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि स्रोतःसहस्रैरिव सम्प्लवन्ते ॥ ८ ॥

अन्वय—मानुषाणां सन्तानवाहीन्यपि सम्बन्धिवियोगजानि दुःखानि प्रेयसि जने दृष्टे दुःसहानि (भूत्वा) स्रोतःसहस्रैः इव सम्प्लवन्ते ॥ ८ ॥

व्याख्या—मानुषाणां मानवानां, सन्तानवाहीन्यपि धारावाहीन्यपि, सम्बन्धिवियोगजानि बन्धुविरहोत्पन्नानि, दुःखानि कष्टानि, प्रेयसि प्रियतमे, जने मनुष्ये, दृष्टे साक्षात्कृते (सति), दुःसहानि असह्यानि (भूत्वा), स्रोतःसहस्रैः इव असंख्यप्रवाहैः इव, सम्प्लवन्ते उच्छ्वलन्ति ॥ ८ ॥

अनुवाद—मनुष्यों के निरवच्छिन्न रूप से प्रवाहित होने वाले बन्धुवियोगजन्य दुःख अत्यन्त प्रिय व्यक्ति का साक्षात्कार होने पर असह्य होकर असंख्य धाराओं के रूप में बहने लगते हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—मानुषाणाम्—मनोरपत्यानि इति मानुषाः, मनुशब्दात् 'मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च' इत्यनेन अञ्प्रत्यय षुगागमश्च । सन्तानवाहीनि—सम्/तन्+घञ् भावे सन्तानः, तेन वोढुं शीलमेषाम् इति सन्तान/वह्+णिनि कर्तरि ताच्छील्ये । प्रेयसि—अतिशयेन प्रियः इति प्रिय+ईयसुन् प्रेयान्, तस्मिन् । दुःसहानि—दुर्/सह्+खल् कर्मणि दुःसहम्, तानि । स्रोतःसहस्रैः—स्रोतसां सहस्राणि, तैः. करणे तृतीया । इस श्लोक में क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है । यह इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ८ ॥

कौशल्या—कहं णु खु वच्छाए मे बहूए वणगदाए तस्सा पिदुणो राएसिणो मुहं दंसम्ह ? [कथं नु खलु वत्साया मे वध्वा वनगतायास्तस्याः पितू राजर्षेर्मुखं दर्शयाम ?]

कौशल्या—अपनी प्यारी बहू के वन चले जाने पर उसके पिता राजर्षि को कैसे मुँह दिखलाऊँ ?

अरुन्धती—

एष वः श्लाघ्यसम्बन्धी जनकानां कुलोद्वहः ।
याज्ञवल्क्यो मुनिर्यस्मै ब्रह्मपारायणं जगौ ॥ ९ ॥

अन्वय—एष वः श्लाघ्यसम्बन्धी जनकानां कुलोद्वहः (अस्ति), यस्मै याज्ञवल्क्यो मुनिः ब्रह्मपारायणं जगौ ।

व्याख्या—एष पुरोवर्ती, व यु माक, श्लाघ्यसम्बन्धी श्लाघ्य प्रशस्य सम्बन्धी पुनश्वशुर, जनकाना जनकवंशीयाना, कुलोद्वह वंशधुरन्धर, (अस्ति), यस्मै जनकाय, याज्ञवल्क्य एतन्नामक, मुनि ऋषि, ब्रह्मपारायण ब्रह्मण वेदस्य पारायण साकल्य जगौ उपदिदेश ॥ ६ ॥

अनुवाद—अरुन्धती—जनकवंशीय राजाओं के वंश प्रवर्तक (अर्थात् जनकवंश म सर्वश्रेष्ठ) ये आपके सम्बन्धी (समधी) श्लाघनीय हैं, जिन्हें याज्ञवल्क्य मुनि ने समस्त वेद (या वेदान्त) का उपदेश किया था ॥ ६ ॥

टिप्पणी—श्लाघ्यसम्बन्धी ✓ श्लाघ+ण्यत्, श्लाघ्यश्चासौ सम्बन्धी कर्मधारय। कुलोद्वह =कुलश्रेष्ठ। उत् ऊर्ध्व वहति प्रापयति इति उद्वह, उत्✓वह्+अच् पचादित्वात्। कुलस्य उद्वह । ब्रह्मपारायणम्=सकल वेद। पार समाप्तिम् अयते अनेन इति पारायण समस्ताश ब्रह्मणो वेदस्य पारायणम् इति ब्रह्मपारायणम् ॥ ६ ॥

कौशल्या—एसो सो महाराअस्स हिअअणिव्विसेसो वच्चाए मे वहूए पिदा विदेहराओ सीरद्धओ । सुमरिदह्मि अणिव्वेदरमणीए दिवहे। हा देव्व! सव्व त णत्थि। [एष स महाराजस्य हृदयनिर्विशेषो वत्साया मे वध्वा पिता विदेहराज सीरध्वज । स्मारितास्मि अनिर्वेदरमणीयान् दिवसान्। हा दैव! सर्व तन्नास्ति।]

व्याख्या—एष पुरोवर्ती, स जनक, महाराजस्य दशरथस्य, हृदय निर्विशेष अभिन्नहृदय, मे मम, वत्साया वात्सल्यभागिन्या वध्वा स्नुषाया, पिता तात, विदेहराज विदेहेश्वर, सीरध्वज एतन्नामक (अस्ति)। अनिर्वेद रमणीयान् न विद्यते निर्वेद दु ख येषु ते अनिर्वेदा ते च ते रमणीया आनन्द जनका तान्, दिवसान् दिनानि, स्मारिता अस्मि स्मरण प्रापिता भवामि ('सम्भावितास्मि अनुपस्थितमहोत्सवे दिवसे' इति पाठभेदे तु अनुपस्थित-महोत्सवे न उपस्थित महोत्सव प्रचुरानन्दो यस्मिन् स तथोक्त तस्मिन्, दिवसे दिने, सम्भावितास्मि सम्मानितास्मि इति व्याख्येयम्) हा इति कष्ट, दैव अदृष्ट! तत् महोत्सवजनक, सर्व निखिल वस्तु, नास्ति न विद्यते।

अनुवाद—कौशल्या—ये महाराज के अभिन्न हृदय और मेरी प्यारी बहू के पिता मिथिलेश्वर सीरध्वज जी हैं। इन्होंने अम्लान (क्षोभरहित) रमणीय दिनों का स्मरण दिला दिया है। हा विधाता! अब वह सब नहीं

है (अर्थात् अब आह्लाद के कारणभूत महाराज, सीता और उसके सम्भावित पुत्र आदि कुछ नहीं है)।

टिप्पणी—सीरध्वज = जिसकी पताका पर हल या सर्प का चिह्न विद्यमान हो। सीरः ध्वजे यस्य सः। कहते हैं कि सीर = सर्प या हल का चिह्न जनकवंशीय राजाओं के झंडे पर बना रहता था। 'सीरोऽर्कहलयोः पुंसि' इति मेदिनी।

जनकः—(*उपसृत्य*) *भगवत्यरुन्धति ! वैदेहः सीरध्वजोऽभिवादयते ।*

जनक—(*समीप जाकर*) भगवति अरुन्धति ! विदेहदेशवासी सीरध्वज आपको प्रणाम करता है।

यया पूतम्मन्यो निधिरपि पवित्रस्य महस
पतिस्ते पूर्वेषामपि खलु गुरूणां गुरुतमः।
त्रिलोकीमङ्गल्यामवनितललीनेन शिरसा
जगद्वन्द्यां देवीमुषसमिव वन्दे भगवतीम् ॥ १० ॥

अन्वय—पवित्रस्य महसः निधिरपि पूर्वेषां गुरूणां गुरुतमः अपि ते पतिः यया पूतम्मन्यः खलु, त्रिलोकीमङ्गल्यां जगद्वन्द्यां देवीम् उषसम् इव भगवतीम् अवनितललीनेन शिरसा वन्दे ॥ १० ॥

व्याख्या—पवित्रस्य अतिविशुद्धस्य, महसः तेजसः, निधिरपि आश्रयोऽपि, पूर्वेषां पूर्ववर्तिनां, गुरूणां शिक्षकाणां, (मध्ये) गुरुतमः प्रधानतमः, अपि, ते तव, पतिः स्वामी वसिष्ठ इत्यर्थः, यया भवत्या, पूतम्मन्यः आत्मानं पवित्रं मन्यमानः, खलु निश्चयेन, त्रिलोकीमङ्गल्यां त्रिभुवनकल्याणकारिणीं, जगद्वन्द्यां सर्वलोकनम्यां, देवीं द्योतमानाम्, उषसमिव उषःकालाधिष्ठात्रीं देवतामिव, भगवतीम् ऐश्वर्यशालिनीं भवतीमिति यावत्, अवनितललीनेन भूमितलसलग्नेन, शिरसा मस्तकेन, वन्दे प्रणमामि ॥ १० ॥

अनुवाद—पवित्र (ब्रह्म) तेज की निधि एवं पुरातन गुरुओं के गुरु होते हुए भी आपके पति जिस (आप) से अपने को पवित्र मानते हैं, उन उषा देवी (प्रातःकाल की अधिष्ठात्री देवी) की भाँति त्रिभुवनमंगलदायिनी, जगद्वन्दनीया तथा ऐश्वर्यसम्पन्ना आपको मैं भूतल पर रखे हुए मस्तक से प्रणाम करता हूँ ॥ १० ॥

टिप्पणी—महसः = तेज का। 'महस्तु उत्सवतेजसो.' इत्यमरः। पूतम्मन्यः—अपने को पावन मानने वाला। आत्मानं पूतं मन्यते इति विग्रहे 'आत्ममाने खश्च' इत्यनेन खशप्रत्यय तथा 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागमः। त्रिलोकीमङ्गल्याम्—त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी, तस्याः मङ्गल्या, मङ्गलाय हिता इति मङ्गल्या 'तस्मै हितम्' इत्यनेन यत् प्रत्यय। उषसम्—प्रभात अर्थ में यह शब्द नपुंसक है, किन्तु तदधिष्ठात्री देवी के अर्थ में स्त्रीलिंग। 'उषः प्रत्युषसि क्लीबं पितृप्रसवाञ्च योषिति' इति मेदिनी। इस श्लोक मे पूर्णोपमा अलंकार है। यह शिखरिणी छंद है॥ १०॥

अरुन्धती—अक्षरं ते ज्योतिः प्रकाशताम्। स त्वां पुनातु देवः परो रजसां, य एष तपति।

व्याख्या—ते तव, अक्षरम् अविनाशि ('परम्' इति पाठे तु 'सर्वप्रधानम्' इति व्याख्येयम्), ज्योतिः तेजः, प्रकाशताम् आविर्भवतु। सः प्रसिद्धः, रजसां रजआदिसकलदोषाणां, परः अतीतः, देवः आदित्यः, त्वां जनक, पुनातु पवित्रीकरोतु, य एषः सर्वप्रत्यक्षगोचर इति भावः, तपति तापदानं करोति।

अनुवाद—अरुन्धती—आपको अविनाशी तेज प्रकाशित हो (अर्थात् परब्रह्म का साक्षात्कार हो)। जो यह तापदान करते हैं (अर्थात् जगत् को प्रकाशित करते हैं), वे रज आदि दोषों से परे आदित्यदेव आपको पवित्र करें।

टिप्पणी—ज्योतिः = परब्रह्म। क्योंकि 'ज्योतिर्दर्शनात्' इस वेदान्तसूत्र पर शङ्कराचार्य ने भाष्य किया है—'परमेव ब्रह्म ज्योतिःशब्द'मिति। किन्हीं पुस्तकों म 'परो रजसां' की जगह 'परोरजाः' पाठ है। उसका अर्थ होगा—रजोगुण से अतीत। रजसः परः इति विग्रहे 'राजदन्तादिषु परम्' इत्यनेन रजस. परनिपातः तथा 'पारस्करप्रभृतीनि च' इत्यनेन सुडागमः।

जनक—आर्ये गृष्टे! अप्यनामयमस्याः प्रजापालकस्य मातुः?

व्याख्या—आर्ये माननीये, गृष्टे वसुकिन्! अस्याः पुरोऽवस्थितायाः, प्रजापालकस्य प्रजारक्षकस्य, मातुः जनन्याः, अनामयम् आरोग्यम्, अपि अस्ति किम्?

अनुवाद—जनक—मान्य वसुकिन्! ये प्रजापालक (राम) की माता (कौशल्या) आरोग्यवती तो हैं?

टिप्पणी—अनामयम् = आरोग्य । 'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्' इति मनुः । प्रजापालकस्य—इस शब्द से व्यंग्य सूचित होता है अर्थात् राम प्रजा के पालक हैं, पत्नी के पालक नहीं।

कञ्चुकी—(स्वगतम्) निरवशेषमतिनिष्ठुरमुपालब्धाः स्मः । (प्रकाशम्) राजर्षे ! अनेनैव मन्युना चिरपरित्यक्तरामभद्रदर्शना नार्हसि दुःखयितुमतिदुःखितां देवीम् । रामभद्रस्यापि दैवदुर्योगः कोऽपि। यत्किल समन्ततः प्रवृत्तबीभत्सकिंवदन्तीकाः पौराः । न चाग्निशुद्धिमनल्पका प्रतियन्तीति दारुणमनुष्ठितं देवेन ।

व्याख्या—निरवशेष नि. न विद्यते अवशेषो यस्मिन् तद् यथा स्यात् तथा ('निर्विशेषम्' इति पाठे तु निरतिशयमित्यर्थो विधेयः), अतिनिष्ठुरं नितान्तरूक्षम्, उपालब्धा कृतोपालम्भाः, स्मः भवामः । अनेनैव सीतानिर्वासनजनितेनैव, मन्युना शोकेन क्रोधेन वा, चिरपरित्यक्तरामभद्रदर्शना चिरं दीर्घकालं परित्यक्तं परिहृतं रामभद्रस्य रघुमणेः दर्शनम् अवलोकनं यया तादृशीम्, अतिदुःखितां नितान्तदुःखशालिनीं, देवीं महाराज्ञीं दुःखयितुं दुःखितां कर्तुं, न अर्हसि न योग्यो भवसि । रामभद्रस्यापि रामस्यापि, कोऽपि अनिर्वचनीयः, दैवदुर्योगः अदृष्टदुःसम्बन्धः, यत् यस्मात् कारणात्, किल निश्चयेन, समन्ततः सर्वतः, पौराः पुरवासिनः, प्रवृत्तबीभत्सकिंवदन्तीकाः प्रवृत्ता प्रचरिता बीभत्सा जुगुप्सिता किंवदन्ती जनश्रुतिः येभ्यः ते तथाभूताः (सन्ति) । अनल्पकाः अत्यल्पाः क्षुद्राशया इति यावत्, अग्निशुद्धिम् अग्निपरीक्षया प्रमाणितनिर्दोषत्वं, न च प्रतियन्ति न च विश्वसन्ति, इति अस्माद्धेतोः देवेन रामभद्रेण, दारुणं निर्वासनरूपं भयङ्करं कर्म, अनुष्ठितम् आचरितम् ।

अनुवाद—कञ्चुकी—(*मन में*) इन्होंने बड़ी कठोरता के साथ कुछ भी न छोड़कर (अर्थात् सब कुछ कहकर) हम लोगों को उलाहना दिया है। (*प्रकट रूप से*) राजर्षे ! इसी शोक या क्रोध के कारण बहुत काल से रामभद्र का दर्शन त्याग किये हुई अत्यन्त दुःखिता महारानी को कष्ट देना आपके लिये उचित नहीं है। रामभद्र का भी कोई भाग्य दुष्परिणाम रहा है, जिससे चारों तरफ पुरवासी लोग बीभत्स किंवदन्ती उड़ाने में प्रवृत्त हो गये। वे क्षुद्राशय पुरवासी सीता देवी की अग्निपरीक्षा द्वारा प्रमाणित निर्दोषता पर

विश्वास नहीं करते हैं। अतएव महाराज ने ऐसा (सीता-निर्वासन रूप) दारुण कर्म किया।

जनक—(*सरोषम्*) आः, कोऽयमग्निर्नामास्मत् प्रसूतिपरिशोधने ? कष्टम्, एवंवादिना जनेन रामभद्रपरिभूता अपि पुनः परिभूयामहे।

व्याख्या—आः इति क्रोधसूचकम् अव्ययम्, अस्मत्प्रसूतिपरिशोधने अस्मत्प्रसूतेः मम पुत्र्याः परिशोधने पवित्रतासम्पादने, अयं त्वया कथ्यमानः, अग्निर्नाम अग्निरिति प्रसिद्ध पदार्थः, क न कोऽपीत्यर्थः। एवंवादिना 'अग्नौ सीतायाः शुद्धि.' इति वादिना, जनेन कञ्चुकिप्रभृतिलोकेन, रामभद्रपरिभूता अपि (चारित्र्यदोषापवादेन सीताया निर्वासनात्) रामेण तिरस्कृता अपि, (वय) पुनः भूयः, परिभूयामहे अवमन्यामहे।

अनुवाद—जनक—(*क्रोध के साथ*) ओह ! मेरी पुत्री को परिशुद्ध करनेवाला यह अग्नि कौन होता है ? कष्ट है कि 'अग्नि ने सीता को निर्दोष प्रमाणित किया' यह बोलने वाले लोग (चारित्रिक दोषापवाद के कारण सीता को निर्वासित करने वाले) रामभद्र द्वारा तिरस्कृत किये गये हम लोगों को पुनः अपमानित कर रहे हैं।

टिप्पणी—आः--यह शब्द मकारान्त अव्यय है। यहाँ क्रोधार्थक है ! कञ्चुकी ने अग्नि का प्रसंग छेड़ा, इसलिए जनक जी को क्रोध हुआ। नाम—यह शब्द यहाँ कुत्सार्थक अव्यय है। अपने से भी अधिक पवित्र सीताजी को पवित्र करना अग्नि के लिए हास्यास्पद है, यही इस शब्द से ध्वनित किया गया है।

अरुन्धती—(*निःश्वस्य*) एवमेतत्। अग्निरिति वत्सां प्रति लघून्यक्षराणि। सीतेत्येव पर्याप्तम्। हा वत्से !

अरुन्धती—(*आह सींचकर*) यह ऐसा ही है (अर्थात् आपका कथन सत्य है)। सीता के लिए 'अग्नि' ये अक्षर क्षुद्र हैं (अर्थात् पवित्रताश में सीता के साथ अग्नि की तुलना करने पर पावित्र्य के प्रभाव में सीता ही अधिक पवित्र मानी जायगी)। 'सीता' यह नाम ही पर्याप्त है (अर्थात् 'सीता' इसके उच्चारणमात्र से सब पवित्र होते हैं, फिर उसकी शुद्धि दूसरे सामान्य पावन पदार्थ से क्या होगी !) हाय बेटी !

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं द्रढयति
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥११॥

अन्वय—मम शिशुर्वा शिष्या वा असि यत् तत् तथा तिष्ठतु, तु विशुद्धेः उत्कर्षः त्वयि मम भक्तिं द्रढयति। ननु शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु, जगतां वन्द्या असि, गुणिषु गुणाः पूजास्थानं, लिङ्गं न वयश्च न ॥ ११ ॥

व्याख्या—(त्वं) मम अरुन्धत्याः, शिशुर्वा बालिका वा, शिष्या वा अन्तेवासिनी वा, असि भवसि, (इति) यत् शिशुभवनं शिष्याभवनं वा (अस्ति), तत् शिशुत्वं शिष्यात्वं वा, तथा तेनैव प्रकारेण, तिष्ठतु वर्तताम्, तु किन्तु, विशुद्धेः पवित्रतायाः, उत्कर्षः अतिरेकः, त्वयि सीतायां, मम अरुन्धत्याः, भक्तिम् अनुरागं, द्रढयति दृढीकरोति। ननु इति अवधारणे, (तव) शिशुत्वं शैशवं, स्त्रैणं वा स्त्रीत्वं वा, भवतु अस्तु, (किन्तु त्वं) जगतां लोकानां, वन्द्या प्रणम्या, असि विद्यसे, (यतो हि) गुणिषु गुणवत्सु, गुणाः पातिव्रत्यशालीनत्वादि धर्माः, पूजास्थानं सम्मानास्पदं (भवति), लिङ्गं स्त्रीत्वपुंस्त्वादिकं जटोपवीतादिकं वा, न नहि (पूजास्थानं भवति), वयश्च वार्धक्यावस्था च, न नहि (पूजास्थानं भवति) ॥ ११ ॥

अनुवाद—तुम चाहे मेरी बालिका हो या शिष्या हो और इस बालभाव या शिष्यभाव का सबंध जैसा है वैसा ही रहे, परन्तु (तुम्हारी) पवित्रता का उत्कर्ष तुम्हारे प्रति मेरी भक्ति को दृढ़ करता है। तुम में चाहे शिशुत्व हो या स्त्रीत्व, तुम निश्चय ही जगत् की पूजनीया हो। क्योंकि गुणवानों में गुण ही पूजा के स्थान होते हैं न (कि स्त्रीत्व, पुंस्त्व आदि) चिह्न और (बालकत्व, वृद्धत्व आदि) अवस्थायें (पूज्य होती हैं अर्थात् जो गुणी व्यक्ति होते हैं उनके गुण ही पुजते हैं, लिंगभेद अथवा आयु का विचार नहीं किया जाता है) ।

टिप्पणी—स्त्रैणम् = स्त्रीभाव। स्त्रीशब्दात् 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इत्यनेन नञ्प्रत्ययः। गुणाः पूजास्थानं……—कालिदास ने भी रघुवंश में कहा है—'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते', 'वृत्तं हि महितं सताम्'। इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास अलंकार और परिसंख्या अलंकार में परस्पर

अगागिभाव सम्बन्ध होने से सकर अलंकार हो जाता है। यह शिखरिणी छन्द है ॥११॥

कौशल्या—अहो समुम्मूलअन्ति विअ वेअणाओ । (इति मूर्च्छति ।) (अहो, समुन्मूलयन्तीव वेदनाः ।)

कौशल्या—हाय ! वदनायें मानो जड़ से उखाड़ रही हैं। (*यह कह कर मूर्च्छित हो जाती हैं।*)

जनक —हन्त ! किमेतत् ?

जनक—हाय ! यह क्या ?

अरुन्धती—राजर्षे ! किमन्यत् ?

अरुन्धती—राजर्षे ! दूसरा और क्या ?

स राजा तत्सौख्य स च शिशुजनस्ते च दिवसाः
स्मृतावाविर्भूत त्वयि सुहृदि दृष्टे तदखिलम्।
विपाके घोरेऽस्मिन्नथ[1] खलु विमूढा तव सखी
पुरन्ध्रीणा चित्त कुसुमसुकुमार हि भवति ॥१२॥

अन्वय—सुहृदि त्वयि दृष्टे स राजा तत् सौख्य स च शिशुजनः ते च दिवसा. तदखिलम् स्मृतौ आविर्भूतम् । अथ अस्मिन् घोरे विपाके तव सखी विमूढा खलु, हि पुरन्ध्रीणा चित्त कुसुमसुकुमार भवति ॥१२॥

व्याख्या—सुहृदि बन्धौ, त्वयि जनके, दृष्टे अवलोकिते, सः प्रसिद्ध', राजा दशरथ., तत् अनिर्वचनीय, सौख्यं सुखसमूहः, स च प्रसिद्ध' शिशुजनः सीतारामादिः, ते च प्रसिद्धाः, दिवसाः दिनानि, तत् एतत्, अखिल दशरथादिसमस्त, स्मृतौ स्मरणपथे, आविर्भूत सम्प्राप्तम्। अथ अनन्तरम्, अस्मिन् अनुभूयमाने, घोरे भयानके, विपाके परिणामे, तव ते, सखी सम्बन्धिनी, विमूढा मूर्च्छिता, हि यस्मात्, पुरन्ध्रीणा पतिपुत्रवतीना कुलस्त्रीणा, चित्त मनः, कुसुमसुकुमार पुष्पवत् कोमल, भवति जायते ॥१२॥

अनुवाद—आप जैसे बधु के साक्षात्कार होने पर वे राजा (दशरथ), वह सुख समूह, वे (रामभद्र प्रभृति) शिशुगण और वे (महानन्दपूर्ण) दिन—ये सारी चीजें (महारानी के) स्मृतिपथ पर अंकित हो गईं। अनन्तर

---

१. ननु खलु इति पाठान्तरम्।

इस दारुण परिणाम (अर्थात् अवस्था-परिवर्तन) के कारण आपकी सखी मूर्च्छित हो गयी है, क्योंकि कुलाङ्गनाओं का चित्त फूल के समान कोमल होता है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—सौख्यम् = सुख । सुखशब्दात् स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। पुरन्ध्री = पति, पुत्र, कन्या आदि से भरी-पूरी स्त्री। विपाके—वि√पच् + घञ् भाव विपाकः विषमपरिणामः। इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास और लुप्तोपमा अलङ्कारों की स्थिति परस्पर सापेक्ष होने से सङ्कर अलङ्कार हो जाता है। यह शिखरिणी छन्द है ॥ १२ ॥

जनकः—हन्त ! सर्वथा नृशंसोऽस्मि। यच्चिरस्य दृष्टान् प्रियसुहृदः प्रियदारानस्निग्ध इव पश्यामि।

व्याख्या—हन्त इति विषादसूचकम्, सर्वथा सर्वप्रकारेण, नृशंसोऽस्मि क्रूरोऽस्मि। यत् यस्मात् कारणात्, चिरस्य दृष्टान् बहुकालात् परमवलोकितान्, प्रियसुहृदः अतिस्निग्धस्य सख्युः, प्रियदारान् प्रियपत्नीं कौशल्यामित्यर्थः, अस्निग्ध इव स्नेहरहित इव पश्यामि अवलोकयामि।

अनुवाद—जनक—हाय ! मैं सब तरह से क्रूर हूँ, जो चिर काल के बाद दृष्टिगोचर हुई प्रिय सखा (दशरथ) की प्रिय पत्नी (कौशल्या) को स्नेह-शून्य-सा होकर देख रहा हूँ।

स सम्बन्धी श्लाघ्यः प्रियसुहृदसौ तच्च हृदयं
स चानन्दः साक्षादपि च निखिलं जीवितफलम्।
शरीरं जीवो वा यदधिकमतोऽन्यत्प्रियतरं
महाराजः श्रीमान् किमिव मम नासीद्दशरथः ॥ १३ ॥

अन्वय—स श्लाघ्यः सम्बन्धी असौ प्रियसुहृत् तच्च हृदयं स च साक्षात् आनन्दः अपि च निखिलं जीवितफलं शरीरं जीवो वा अतः अधिकम् अन्यत् प्रियतरं श्रीमान् महाराजो दशरथो मम किमिव न आसीत् ? ॥ १३ ॥

व्याख्या—सः प्रसिद्धः दशरथ इत्यर्थः, श्लाघ्यः प्रशंसनीयः, सम्बन्धी वैवाहिकसम्बन्धवान्, असौ दशरथः, प्रियसुहृत् परमप्रेमास्पदं सखा, तच्च स च दशरथः, हृदयं हृदयतुल्यः, स च दशरथः, साक्षात् प्रत्यक्षः, आनन्दः हर्षः, अपि च अन्यच्च, निखिलं समग्रं, जीवितफलं आयुष्फलं, शरीरं देहः, जीवो वा आत्मा वा, अतः अस्मात् जीवात् इत्यर्थः, अधिकं प्रियत्वेनातिरिक्तं, अन्यत् अपरं,

प्रियतरम् अभीष्टतरम् (अभूत्), श्रीमान् लक्ष्मीवान्, महाराज सम्राट् दशरथ, मम, किमिव नासीत् अपि तु सर्वमेवासीदित्यर्थ ॥ १३ ॥

अनुवाद—वे (दशरथ) प्रशंसनीय समधी थे, वे प्रेमी बंधु थे, वे हृदय-स्वरूप थे, व साक्षात् आनन्द थे, वे सम्पूर्ण जीवन क फलस्वरूप थे, वे (मेरा) शरीर अथवा आत्मा थे और आत्मा से भी अधिक प्रियतर (परमात्मा) थे। श्रीमान् महाराज दशरथ मेरे क्या नहीं थ ? (अर्थात् सब कुछ थे) ॥ १३ ॥

टिप्पणी—यहाँ अतिशयोक्ति, रूपक और अर्थापत्ति अलंकारों में परस्पर अगागिभाव सम्बध होने से सकर अलंकार हो जाता है। यह शिखरिणी छद है ॥ १३ ॥

कष्टमियमेव सा कौशल्या।

हाय कष्ट है! ये ही वे कौशल्या हैं—

यदस्या पत्युर्वा रहसि परमन्त्रायितमभू
दभूव दम्पत्यो पृथगहमुपालम्भविषय ।
प्रसादे कोपे वा तदनु मदधीनो विधिरभू
दल वा तत्स्मृत्वा दहति यदवस्कन्द्य हृदयम् ॥ १४ ॥

अन्वय—अस्या पत्युर्वा रहसि यत् परमन्त्रायितम् अभूत्, अह दम्पत्यो पृथक् उपालम्भविषय अभूवम्। तदनु प्रसादे कोपे वा मदधीनो विधि अभूत्, तत् स्मृत्वा अल यत् हृदयम् अवस्कन्द्य दहति ॥ १४ ॥

व्याख्या—अस्या कौशल्याया, पत्युर्वा (अस्या) स्वामिनो वा, रहसि विजने, यत्, परमन्त्रायितम् गुप्तभाषण विचारो वा ('परमं दूषितम्' इति पाठभेदे तु परमम् अत्यन्त दूषित प्रणयकलह इति व्याख्येयम्), अभूत् आसीत्, (तत्र) अह जनक, दम्पत्यो पतिपत्न्यो, पृथक् भिन्नं यथा स्यात् तथा, उपालम्भविषय उपालम्भस्य सनिन्दभाषणस्य विषय पात्रम्, अभूवम् आसम्। तदनु तत्पश्चात्, प्रसादे उभयो प्रसन्नतासम्पादनविषये, कोपे वा क्रोधोत्पादने वा, मदधीन मदायत्त, विधि व्यवस्था, अभूत् आसीत्, तत् पूर्ववृत्त, *स्मृत्वा स्मरण कृत्वा, अल व्यर्थम्, यत् पूर्ववृत्तवृन्द, हृदय चित्तम्,* अवस्कन्द्य आक्रम्य, दहति सन्तापयति ॥ १४ ॥

अनुवाद—एकान्त में ये (कौशल्या) या इनके पति जो कुछ मंत्रणा (या प्रणय-कलह) करते थे, उसमें दम्पती अलग अलग मुझे उलाहना देते

थे (अर्थात् दशरथ के दोष रहने पर कौशल्या मुझसे कहती थीं कि आपके सखा ने मुझसे यह दुर्व्यवहार किया, किन्तु आप उनसे कुछ नहीं कहते हैं और कौशल्या के दोष रहने पर दशरथ कहते थे कि आपकी सखी ने मेरा यह अपराध किया, पर आप कुछ नहीं कहते)। तत्पश्चात् (अर्थात् उलाहना सुन लेने के बाद) उनको प्रसन्न करने या कुपित करने का काम मेरे जिम्मे रहता था। (अब) उस अतीत वृत्तान्त का, जो हृदय पर आक्रमण करके जला रहा है, स्मरण करना व्यर्थ है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—रहसि = विजन स्थान में। 'विविक्तविजनच्छन्ननिःशलाकस्तथा रहः' इत्यमर.। स्मृत्वा अलम् = इसमें 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इस सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हुआ। मदधीन.—मयि अधि इति मदधि+ख—ईन 'अध्युत्तरपदात्खः' इत्यनेन, अत्र 'सप्तमी शौण्डैः' इत्यनेन सप्तमीतत्पुरुषः। इस श्लोक में दम्पतीनिष्ठ गुप्तभाषण या दूषणरूप कारण से जनक के उपालम्भ रूप कार्य की उत्पत्ति होती है, अतः असंगति अलंकार है। यह शिखरिणी छन्द है ॥ १४ ॥

अरुन्धती—हा कष्टम्! अतिचिरनिरुद्धनिःश्वासनिष्पन्दहृदयमस्याः।

व्याख्या—अस्याः कौशल्यायाः, अतिचिरनिरुद्धनिःश्वासनिष्पन्दहृदयम् अतिचिरं सुदीर्घकालं निरुद्धाः स्तम्भिताः निःश्वासाः श्वासवायवः यस्मिन् तत् निष्पन्दं निश्चेष्टं हृदयं वक्षःस्थलम् (अनुभूयते)।

अनुवाद—अरुन्धती—हाय कष्ट है! इनका हृदय चिरकाल तक रोके गये प्राणवायु के कारण स्पन्दन रहित हो गया है।

जनकः—हा प्रियसखि! (*इति कमण्डलूदकेन सिञ्चति।*)

जनक—हाय प्यारी सखी! (*यह कह कर कमण्डलु का जल छिड़क देते हैं।*)

कञ्चुकी—

सुहृदिव प्रकटय्य सुखप्रदां प्रथममेकरसामनुकूलताम्।
पुनरकाण्डविवर्तनदारुणः परिशिनष्टि विधिर्मनसो रुजम् ॥ १५ ॥

अन्वय—विधिः प्रथमं सुहृत् इव सुखप्रदाम् एकरसाम् अनुकूलतां प्रकटय्य पुनः अकाण्डविवर्तनदारुणः (भूत्वा) मनसो रुजं परिशिनष्टि ॥ १५ ॥

व्याख्या—विधि विधाता भाग्य वा, प्रथम पूर्वं, सुहृदिव बन्धुरिव, सुखप्रदाम् आनन्ददायिनीम् ('सुखप्रद' इति पाठभेदे तु अयं विधिशब्दस्य विशेषणं स्यात्), एकरसाम् एक एकविध रस आस्वाद यस्या, तथाविधाम्, अनुकूलताम् आनुकूल्य, प्रकटय्य प्रकटीकृत्य, पुन. भूय पश्चादित्यर्थ, अकाण्डविवर्तनदारुण अकाण्डे अनवसरे विवर्तनेन परिवर्तनेन दारुण भीषण:, (भूत्वा) मनस. चित्तस्य, रुज पीडा, परिशिनष्टि सर्वतोभावेन करोति उत्पादयतीत्यर्थ. ॥ १५ ॥

अनुवाद—कचुकी—(महारानी कौशल्या का) विधाता या भाग्य पहले बन्धु की तरह आनन्ददायिनी परम एक ही प्रकार के रस से युक्त (अर्थात् धारावाहिकरूपसे केवल सुखशालिनी) अनुकूलता उत्पन्न करके पुन असमय में परिवर्तन द्वारा भीषण हो कर विशेष रूप से मन में पीड़ा उत्पन्न कर रहा है ॥ १५ ॥

टिप्पणी—अनुकूलताम्—अनुगत. कूलम् अनुकूलं प्रादितत्पुरुष, तस्य भाव. । प्रकटय्य—प्र √कट्+णिच्+क्त्वा—ल्यप् । अकाण्ड—न काण्ड.=अवसर । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु' इत्यमर' । इस पद्य में सुखदाता विधाता से दु.ख की उत्पत्ति निरूपित होने के कारण विषमालकार है और 'सुहृदिव' में श्रौती उपमा अलकार है । दोनों की स्थिति परस्पर सापेक्ष होने से सकर अलकार हो जाता है । यह द्रुतविलम्बित छद है ॥ १५ ॥

कौशल्या—(*आश्वस्य*) हा वच्छे जाणइ ! कहिं सि ? सुमरामि दे णवविवाहलच्छीपरिग्गहेक्कमङ्गलं सफुल्लमुद्धमुहपुण्डरीअं आरुहन्तकोमुदीचन्दसुन्दरम् । णहि मे पुणोवि जादे ! उज्जोअहि उज्जङ्गम् । सव्वदा महाराओ एव्वं भणादि—'एसा रहुउलमहत्तराण वहू, अह्माण दु जणअसुदा दुहिदेव्व' । [हा वत्से जानकि ! कुत्रासि ? स्मरामि ते नवविवाहलक्ष्मीपरिग्रहैकमङ्गलं सम्फुल्लमुग्धमुखपुण्डरीकं मारोहत्कौमुदीचन्द्रसुन्दरम् । नहि मे पुनरपि जाते ! उद्द्योतयोत्सङ्गम् । सर्वदा महाराज एवं भणति—'एषा रघुकुलमहत्तराणां वधूरस्माकं तु जनकसुता दुहितैव' ।]

व्याख्या—आश्वस्य आश्वस्ता भूत्वा, कुत्रासि ? क वर्तसे ?, ते तव, नवविवाहलक्ष्मीपरिग्रहैकमङ्गलं नवविवाहस्य नवपरिणयस्य या लक्ष्मी. शोभा तस्याः परिग्रहः धारणम् तेन एकम् अद्वितीयं मङ्गलं शुभं यस्य तत् ('मङ्गलम्' इत्यस्य स्थाने 'मण्डनम्' इति पाठभेदे तु परिग्रह एव एकं मण्डनं भूषणं यस्य तथाविधम् इति व्याख्येयम्), आरोहत्कौमुदीचन्द्रसुन्दरम् कौमुद्या कार्त्तिकपूर्णिमाया चन्द्रः इति कौमुदीचन्द्रः आरोहन् प्रादुर्भवन् च असौ कौमुदीचन्द्रः आरोहत्कौमुदीचन्द्र. स इव सुन्दरं मनोहरं, सम्फुल्लमुग्धमुखपुण्डरीकं सम्फुल्लं प्रस्फुटितं मुग्धं नयनाभिरामं मुखपुण्डरीकं मुखारविन्दं ('प्रस्फुरच्छुद्धहसितमुग्धमुखपुण्डरीकम्' इति पाठभेदे तु प्रस्फुरत् विलसत् शुद्धं निर्मलं हसितं स्मितं यस्मिन् तथाविधम् अतएव मुग्धं मनोहरं मुखं वदनं पुण्डरीकमिव कमलमिव इति व्याख्येयम् । (इतोऽग्रे 'आस्फुरत्कौमुदचन्द्रचन्द्रिकासुन्दरैरङ्गैरुल्लासय' इत्यपि पाठो लभ्यते, तत्र आस्फुरन्ती दीप्यन्ती कौमुदस्य कार्त्तिकपूर्णिमाचन्द्रस्य चन्द्रिका ज्योत्स्ना तद्वत् सुन्दरैः मनोहरैः अङ्गैः अवयवैः उल्लासय आनन्दय इति व्याख्येयम), स्मरामि चिन्तयामि । जाते ! वत्से !, पुनरपि भूयोऽपि एहि आगच्छ, मे मम, उत्सङ्गं क्रोडम्, उद्द्योतय प्रकाशय । सर्वदा सर्वस्मिन् समये, महाराजः दशरथः, एवम् इत्थं, भणति कथयति—'एषा इयं, जनकसुता जानकी रघुकुलमहत्तराणां रघुकुलस्य रघुवंशस्य महत्तराणाम् अतिमहतां मनुप्रभृतीनामित्यर्थः, वधूः स्नुषा, तु किन्तु, अस्माकं मम, दुहिता एव पुत्री एव (जनकेन सह मित्रत्वसम्बन्धात्) ।

अनुवाद—कौशल्या—(*आश्वस्त होकर*) हाय बेटी सीता ! कहाँ हो ? तुम्हारे मुखकमल का, जो नवविवाह की शोभा धारण कर अनुपम मंगल से सम्पन्न, कार्त्तिकी पूर्णिमा के चद्रमा की तरह शोभायमान, विकसित एवं मनोहर था, स्मरण कर रही हूँ । बेटी ! आओ । फिर मेरी गोद को सुशोभित करो । महाराज सदा ऐसा कहा करते थे कि—यह सीता रघुकुल के महापुरुषों की पुत्रवधू है, किन्तु (राजर्षि जनक से मित्रता होने के कारण) हमारी तो कन्या ही है ।

कञ्चुकी—यथाह देवी ।

कञ्चुकी—महारानी का कहना यथार्थ है ।

पञ्चप्रसूतेरपि तस्य राज्ञ प्रियो विशेषेण सुबाहुशत्रु ।
वधूचतुष्केऽपि तथैव नान्या प्रिया तनूजाऽस्य यथैव सीता ॥ १६ ॥

अन्वय—पञ्चप्रसूते अपि तस्य राज्ञ सुबाहुशत्रु विशेषेण प्रिय तथैव अस्य वधूचतुष्केऽपि सीता एव तनूजा यथा प्रिया अन्या न ॥ १६ ॥

व्याख्या—पञ्चप्रसूते अपि पञ्चसंख्यक सतानयुक्तस्य अपि, तस्य दशरथस्य, राज्ञ महाराजस्य, सुबाहुशत्रु सुबाहो राक्षसानुचरराक्षसविशेषस्य शत्रु निहन्ता राम इत्यर्थ, विशेषेण अन्येभ्य अधिकतरेण, प्रिय स्नेहभाजनम् (अभूत्), तथैव तेनैव प्रकारेण, वधूचतुष्केऽपि वधूना स्नुषाणा चतुष्केऽपि चतुष्टयेऽपि, सीता एव जानकी एव, तनूजा पुत्री, यथा इव, प्रिया प्रीतिभाजनम्, अन्या अपरा, न तत्समा न प्रिया इत्यर्थ ॥ १६ ॥

अनुवाद—महाराज दशरथ के पाँच सतानों के रहते हुए भी राम सबसे अधिक प्यारे थे। उसी प्रकार चार बहुओं में सीता ही उन्हें पुत्री की तरह प्यारी थीं और कोई वैसी नहीं थी ॥ १६ ॥

टिप्पणी—पञ्चप्रसूते. = पाँच सतानों वाले। पञ्च प्रसूतय = अपत्यानि यस्य स. तस्य। राजा दशरथ के राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न नामक चार पुत्र तथा शान्ता नामक एक पुत्री था। सुबाहुशत्रु = राम। सुबाहु राक्षस मारीच का साथी था, उसके मारने वाले राम थे। वधूचतुष्केऽपि = चार बहुओं के रहने पर भी। चत्वारि परिमाणानि अस्य इति चतुष्क चतुर् शब्दात् 'सख्याया अतिशदन्ताया कन्' इति सूत्रेण कन् प्रत्यय। वधूना चतुष्क इति वधूचतुष्क तस्मिन् वधूचतुष्के, अधिकरणे सप्तमी। सीता, ऊर्मिला, श्रुतकीर्ति और माण्डवी—ये चार बहुएँ थीं। इस श्लोक में उपमा अलकार है। यह उपजाति छद है ॥ १६ ॥

जनक —हा प्रियसख महाराज दशरथ ! एवमसि सर्वप्रकारहृदयङ्गम.। कथ विस्मर्यसे ?

जनक—हा प्रिय बधु महाराज दशरथ ! इस प्रकार आप सब तरह से हृद्य (प्रीतिभाजन) थे। कैसे विस्मृत हो सकते हैं अर्थात् हम आपको कैसे भूल सकते हैं ?

टिप्पणी—हृदयङ्गम —हृदय गच्छतीति हृदय√गम्+खच् कर्तरि। 'खच् प्रकरणे गमे. सुप्युपसख्यानम्' इति खच्।

कन्यायाः किल पूजयन्ति पितरो जामातुराप्तं जनं
सम्बन्धे विपरीतमेव तदभूदाराधनं ते मयि।
त्वं कालेन तथाविधोऽप्यपहृतः सम्बन्धबीजं च तद्
घोरेऽस्मिन्मम जीवलोकनरके पापस्य धिग्जीवितम् ॥१७॥

अन्वय—कन्यायाः पितरः जामातुः आप्तं जनं पूजयन्ति किल, सम्बन्धे मयि ते तत् आराधनं विपरीतम् एव अभूत्। तथाविधोऽपि त्वं कालेन अपहृतः तत् सम्बन्धबीजं च, अस्मिन् घोरे जीवलोकनरके पापस्य मम जीवितं धिक्॥ १७॥

व्याख्या—कन्यायाः दुहितुः, पितरः पितृपितामहादयः, जामातुः वरस्य, आप्तं जनम् आत्मीयं लोकं, पूजयन्ति सम्मानयन्ति, किल इति प्रसिद्धौ, सम्बन्धे वैवाहिकसम्पर्के, मयि जनके, ते तव, तत् लोकप्रसिद्धम्, आराधनं पूजनं, विपरीतम् एव सामाजिकरीतिविरुद्धमेव, अभूत् जातम्। तथाविधोऽपि तादृशोऽपि, त्वं भवान्, कालेन समयेन, अपहृतः लोकान्तरं नीतः, तत् तथाविधं, सम्बन्धबीजं च आवयोर्वैवाहिकसम्बन्धमूलं च सीतेति यावत्, (अपहृतम्), अस्मिन् विद्यमाने, घोरे भयङ्करे, जीवलोकनरके जीवलोकः प्राणिलोकः नरक इव निरय इव इति जीवलोकनरकः तस्मिन्, पापस्य पापिनः, मम जनकस्य, जीवितं जीवनं धिक् निन्दनीयमित्यर्थः॥ १७॥

अनुवाद—कन्या के पितृपक्ष के लोग जामाता के बन्धुजनों की पूजा करते हैं, यह बात प्रसिद्ध है; परन्तु हम लोगों के सम्बन्ध में (अर्थात् हमारी और आपकी सन्तानों के वैवाहिक सम्बन्ध में) यह बात उल्टी हुई (अर्थात् जहाँ हमें आपकी पूजा करनी चाहिए थी वहाँ आप ही हमारी पूजा करते रहे)। आप इस प्रकार के (सज्जन) होते हुए भी काल-कवलित हो गये और सम्बन्ध की मूल कारण सीता भी काल द्वारा अपहृत हो गई। (अतएव) इस भयकर और नरकस्वरूप संसार में मुझ पापी के जीवन को धिक्कार है॥ १७॥

टिप्पणी—यहाँ जीवलोक में नरक का अभेद रूप से अध्यास किया गया है, अतः निरङ्ग रूपक अलंकार है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है॥१७॥

कौशल्या—जादे जाणइ! किं करोमि? दिढवज्जलेवपडिबद्ध-णिच्चलं हदजीविदं मं मन्दभाइणीं ण पडिच्चअदि। [जाते जानकि!

किं करोमि ? दृढवज्रलेपप्रतिबन्धनिश्चलं हतजीवितं मां मन्दभागिनीं न परित्यजति ।]

व्याख्या—जाते वत्से, जानकि ! सीते ! किं करोमि ? किमाचरामि ! दृढवज्रलेपप्रतिबन्धनिश्चल दृढेन कठोरेण वज्रलेपेन वज्रवद्दुर्भेद्यघनद्रव्य लेपनेन य. प्रतिबन्ध· उत्क्रमणनिरोधः तेन निश्चल स्थिर, हतजीवित दग्धप्राणा', मन्दभागिनीं हतभाग्या, मा कौशल्या, न परित्यजति न मुञ्चति ।

अनुवाद—कौशल्या—बेटी सीता ! क्या करूँ ! मेरा निन्दनीय जीवन मानो कठोर वज्रलेप के बन्धन से निश्चल हो जाने के कारण मुझ मन्दभागिनी का परित्याग नहीं कर रहा है ।

अरुन्धती—आश्वसिहि राज्ञि ! बाष्पविश्रामोऽप्यन्तरेषु कर्तव्य एव । अन्यच्च किं न स्मरसि यदवोचदृष्यशृङ्गाश्रमे युष्माकं कुलगुरुः 'भवितव्यं तथेत्युपजातमेव । किन्तु कल्याणोदर्कं भविष्यति' इति ।

व्याख्या—राज्ञि ! राजमहिषि ! आश्वसिहि आश्वस्ता भव । अन्तरेषु मध्ये मध्ये, बाष्पविश्रामोऽपि, कर्तव्य एव विधातव्य एव । अन्यच्च अपरञ्च, किं न, स्मरसि चिन्तयसि ? युष्माकं भवतीनां, कुलगुरुः वसिष्ठ, ऋष्यशृङ्गाश्रमे ऋष्यशृङ्गस्य जामातुः आश्रमे तपोवने, यदवोचत् यदकथयत्—'भवितव्य भाव्य, तथा तेन प्रकारेण, उपजातमेव सञ्जातमेव, किन्तु, कल्याणोदर्कं कल्याणं मङ्गलम् एव उदर्क· उत्तरफल यस्य तत्. भविष्यति सम्पत्स्यते' ।

अनुवाद—अरुन्धती—महारानी ! आश्वस्त हों । बीच-बीच में अश्रुपात को रोकना भी चाहिए । और आप यह क्यों नहीं स्मरण करती हैं कि आपके कुलगुरु ने ऋष्यशृङ्ग जी के आश्रम में कहा था—'जो होनी थी वह तो हो ही गई, किन्तु परिणाम मङ्गलमय होगा' ।

टिप्पणी—उपजातम्—दुष्ट जातम् इत्यर्थे उप√जन्+क्त कर्तरि । यहाँ उप का अर्थ दोष है । 'उप सामर्थ्यदाक्षिप्यदोषाख्यानात्ययेषु च' इति विश्वः । कल्याणोदर्कम्——कल्याणम् उदर्कः अस्य । उदर्क=भाविफल । 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः ।

कौशल्या—कुदो अदिक्कन्दमणोरहाये मह एदम् ? [कुतोऽतिक्रान्तमनोरथाया ममैतत् ?]

कौशल्या—नष्ट मनोरथवाली मुझको यह कहाँ से होगा ?

अरुन्धती—तत् किं मन्यसे राजपत्नि ! मृषोद्यं तदिति । न हीदं क्षत्रिये ! मन्तव्यम् ।

अरुन्धती—राजरानी ! तो आप क्या समझती हैं कि उन्होंने असत्य कहा है ? राजपुत्रि ! आपको ऐसा नहीं समझना चाहिए ।

टिप्पणी—**मृषोद्यम्**—मिथ्या वचन । मृषा = मिथ्या उद्यते = कथ्यते इत्यर्थे मृषोपपदात् वद् धातोः 'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याऽव्यथ्याः' इति सूत्रेण क्यप्प्रत्ययो निपातितः । क्षत्रिये—'अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे' इस वार्तिक से विकल्प करके ङीष् और आनुक् होने के कारण यहाँ क्षत्रिय शब्द में टाप् हुआ ।

आविर्भूतज्योतिषां ब्राह्मणानां ये व्याहारास्तेषु मा संशयो भूत् ।
भद्रा ह्येषां वाचि लक्ष्मीर्निषक्ता नैते वाचं विप्लुतार्थां वदन्ति ॥ १८ ॥

अन्वय—आविर्भूतज्योतिषां ये व्याहाराः तेषु संशयो मा भूत् । हि एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीः निषक्ता एते विप्लुतार्थां वाचं न वदन्ति ॥ १८ ॥

व्याख्या—आविर्भूतज्योतिषां आविर्भूतं स्वयं प्रकाशितं ज्योतिः ब्रह्मतेजः येषां तेषां, ब्राह्मणानां विप्राणां, ये व्याहाराः वचनानि, तेषु वचनेषु, संशयः सन्देहः, मा भूत् न अस्तु, हि यस्मात्, एषां ब्राह्मणानां, वाचि वचने, भद्रा कल्याणी, लक्ष्मीः सिद्धिः, निषक्ता नित्यलग्ना (भवति) ॥ १८ ॥

अनुवाद—ब्रह्मतेज या ब्रह्मसाक्षात्कार से सम्पन्न ब्राह्मणों के कथनों में सन्देह नहीं करना चाहिये , क्योंकि इन (ब्राह्मणों) की वाणी में कल्याण-दायिनी सिद्धि नित्य विराजमान रहती है ॥ १८ ॥

टिप्पणी—**व्याहार** = वचन । 'व्याहार उक्तिर्लपितं भाषितं वचनं वचः' इत्यमरः । भद्रा...—यह वाक्य 'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि'—इस वैदिक वाक्य का अनुकरण है । वैदिक वाक्य का उद्धरण महाभाष्य आदि ग्रन्थों में मिलता है । महाभाष्य में कैयट ने 'लक्ष्मी' का अर्थ किया है—'या लक्ष्मीर्वेदान्तेषु परमार्थसंविल्लक्षणा उक्ता सा' । इस श्लोक में कारण द्वारा कार्यसमर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है । यह शालिनी छन्द है ॥ १८ ॥

(*नेपथ्ये कलकलः । सर्वे आकर्णयन्ति* ।)

(*नेपथ्य में कोलाहल होता है । सब सुनने लगते हैं* ।)

जनक—अये, शिष्टानध्याय इत्यस्खलितं खेलतां बटूनां कोलाहलः ।

जनक—अरे ! शिष्टों के आगमन से अनध्याय हो गया है, इसलिये जी भरकर खेलते हुए बालकों का यह कोलाहल है।

कौशल्या—सुलहसोक्खं दाणि बालत्तणं होदि। (निरूप्य) अह्महे, एदाणं मज्झे को एसो रामभद्दस्स कोमारलच्छीसावट्टम्भेहिं मुद्धललिदेहिं अंगेहिं दारओ अह्माणं लोअणे सीअलावेदि ? [सुलभ सौख्यमिदानीं बालत्वं भवति। अहो, एतेषां मध्ये क एष रामभद्रस्य कौमारलक्ष्मीसावष्टम्भैर्मुग्धललितैरङ्गैर्दारकोऽस्माकं लोचने शीतलयति ?]

व्याख्या—बालत्व शिशुत्व, सुलभसौख्य सुलभम् अनायासलभ्यं सौख्य यस्मिन् तथाभूत, भवति जायते। एतेषा वटूना, मध्ये, एषः अय, कः, दारकः बालः, रामभद्रस्य रामस्य, कौमारलक्ष्मीसावष्टम्भैः कौमारलक्ष्म्याः शैशवशोभायाः सावष्टम्भैः आलम्बनसहितैः, मुग्धललितैः, मनोहरसुकुमारैः, अङ्गैः अवयवैः, अस्माक मम, लोचने नेत्रे, शीतलयति शीतल करोति ?

अनुवाद—बाल्यावस्था में आनन्द अनायास मिलता रहता है। (देखकर) अहा ! इन (बालकों) के बीच यह कौन बालक रामभद्र की बाल्यकालीन शोभा से सम्पन्न तथा मनोहर एवं सुकुमार अंगों से हमारे नेत्रों को शीतल कर रहा है !

टिप्पणी—सावष्टम्भैः—अव √स्तम्भ्+घञ् भावे=अवष्टम्भ, 'अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः' इत्यनेन सस्य षः, अवष्टम्भेन सह इति सावष्टम्भानि, तैः।

अरुन्धती—(स्वगतम्, सहर्षोत्कण्ठम्) इदं नाम भागीरथीनिवेदितं रहस्यकर्णामृतम्। न त्वेव विद्मः कतरोऽयमायुष्मतोः कुशलवयोरिति। (प्रकाशम्)।

अरुन्धती—(मन में हर्ष और उत्कंठा के साथ) यह गंगाजी का बताया हुआ गुप्त एवं कानों के लिए अमृत के समान वृत्तान्त है। किन्तु मैं यह नहीं जानती कि आयुष्मान् कुश और लव में से यह कौन है। (प्रकट)

कुवलयदलस्निग्धश्यामः शिखण्डकमण्डनो
वटुपरिषदं पुण्यश्रीकः श्रियेव सभाजयन्।
पुनरपि शिशुर्भूतो वत्सः स मे रघुनन्दनो
झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम् ? ॥१६॥

अन्वय—कुवलयदलस्निग्धश्यामः शिखण्डकमण्डनः पुण्यश्रीकः श्रिया बटुपरिषदं सभाजयन् इव पुनः शिशुः भूतः स मे वत्सो रघुनन्दन इव कोऽयं दृष्टः झटिति दृशोः अमृताञ्जनं कुरुते ॥ १६ ॥

व्याख्या—कुवलयदलस्निग्धश्यामः कुवलयस्य नीलोत्पलस्य दलमिव पत्रमिव स्निग्धः चिक्कणः श्यामः नीलश्च, शिखण्डकमण्डनः शिखण्डकं काकपक्षः मण्डनं भूषणं यस्य सः, पुण्यश्रीकः पुण्या पवित्रा श्रीः शोभा यस्य सः, श्रिया कान्त्या, बटुपरिषदं बटूनां विप्रबालकानां परिषदं समाजं, सभाजयन् इव अलंकुर्वन् इव, पुनः भूयः, शिशुः बालः भूतः सञ्जातः, सः, मे मम, वत्सः वात्सल्यभाजनं, रघुनन्दन इव रामभद्र इव, कः, अयं समीपवर्ती, दृष्टः अवलोकितः (सन्) झटिति द्रुतं, दृशोः चक्षुषोः, अमृताञ्जनम् अमृतमयं नेत्राञ्जनं, कुरुते विदधाति ॥ १६ ॥

अनुवाद—नीलकमल के पत्ते के समान कोमल तथा श्यामवर्ण, काकपक्ष (जुल्फ) से भूषित, पवित्रशोभासम्पन्न और देह की कान्ति से मानो ब्राह्मण-बालकों को अलंकृत करता हुआ यह कौन पुनः शैशव अवस्था धारण किये हुए मेरे वत्स रामभद्र की तरह दृष्टिगोचर होकर सहसा (मेरे) नेत्रों में अमृत का आंजन लगा रहा है ? ॥ १६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में क्रियोत्प्रेक्षा और उपमा अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार होता है। यह हरिणी छंद है ॥ १६ ॥

कञ्चुकी—नूनं क्षत्रियब्रह्मचारी दारकोऽयमिति मन्ये ।

कञ्चुकी—मेरी समझ से निश्चय ही यह बालक क्षत्रिय ब्रह्मचारी है।

जनकः—एवमेतत् । तथा हि—

जनक—ऐसा ही है। देखिये—

चूडाचुम्बितकङ्कपत्रमभितस्तूणीद्वयं पृष्ठतो
भस्मस्तोकपवित्रलाञ्छनमुरो धत्ते त्वचं रौरवीम् ।
मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधो वासश्च माञ्जिष्ठकं
पाणौ कार्मुकमक्षसूत्रवलयं दण्डं तथा पैप्पलम्[1] ॥२०॥

अन्वय—पृष्ठतः अभितः चूडाचुम्बितकङ्कपत्रं तूणीद्वयं, भस्मस्तोकपवित्र-

१ 'दण्डोऽपरः पैप्पलः' इति पाठभेदः ।

लाञ्छनम् उरः, रौरवीं त्वचम्, अधः मौर्व्या मेखलया नियन्त्रित माञ्जिष्ठक वासः, पाणौ कार्मुकम्, अक्षसूत्रवलयम्, तथा पैप्पल दण्ड धत्ते ॥ २० ॥

व्याख्या—पृष्ठतः पृष्ठदेशम्, अभितः उभयतः, चूडाचुम्बितकङ्कपत्र चूडाभिः शिखाभिः चुम्बितानि स्पृष्टानि कङ्कपत्राणि कङ्कस्य एतन्नामकपक्षिणः पत्राणि बाणपुङ्खस्थिताः पक्षा यस्य तथाविध, तूणीद्वयम् इषुधियुगल, भस्म स्तोकपवित्रलाञ्छन भस्मना विभूतीना स्तोकेन अल्पपरिमाणेन (०स्तोक० इत्यस्य स्थाने ०स्तोम० इति पाठभेदे तु स्तोमेन पुञ्जेन इति व्याख्येयम्) पवित्र पूत लाञ्छन चिह्न यस्य तत्, उरः वक्ष स्थलम्, रौरवीं रुरुमृगस्य, त्वच चर्म, अध. अधस्तात्, मौर्व्या मूर्वालतातन्तुनिर्मितया, मेखलया काञ्च्या कटिसूत्रेणेत्यर्थ., नियन्त्रित संयमित माञ्जिष्ठक मञ्जिष्ठानामलतारञ्जितम्, वास. वस्त्र, पाणौ करे, कार्मुक धनु., अक्षसूत्रवलय रुद्राक्षमाला, तथा एव, पैप्पलम् आश्वत्थ, दण्ड यष्टि, धत्ते धारयति ॥ २० ॥

अनुवाद—यह पीठ की दोनों ओर चोटी का स्पर्श करने वाले कङ्कपत्रों (बाणों में लगे हुए कङ्क पक्षी के पत्तों) से युक्त दो तरकश, वक्ष स्थल पर थोड़े से भस्म के चिह्न, रुरुमृग का चर्म, (वक्ष स्थल से) नीचे मूर्वालता के तन्तुओं से निर्मित मेखला से बँधा हुआ मजीठ के रंग का वस्त्र, और हाथ में धनुष, रुद्राक्षमाला एवं पीपल का दण्ड धारण किये हुए है ॥ २० ॥

टिप्पणी—अभित. = दोनों तरफ । अभि+तसिल् 'पर्यभिभ्या च' 'सर्वोभयार्थाभ्यामेव' इत्यनेन । कङ्क = एक मांसाहारी पक्षी । इसके पंख बाण में लगाये जाते थे । रौरवीम् = रुरु (मृगविशेष) की । रुरोः इयम् इत्यर्थे रुरु+अण्, ङीप् । मौर्व्या = मूर्वाया इयम् इति मूर्वा+अण् स्त्रियाम् मौर्वी तया । माञ्जिष्ठकम् = मजीठ के रंग में रँगा हुआ । मञ्जिष्ठया रक्तम् इत्यर्थे मञ्जिष्ठाशब्दात् 'तेन रक्त रागात्' इत्यनेन अण्प्रत्यय. तदन्तात् स्वार्थे कन् प्रत्ययश्च । इस पद्य में 'धत्ते' इस एक ही क्रिया के साथ 'तूणीद्वय' आदि पदों का कर्मत्वेन सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता अलङ्कार है । इसमें क्षत्रिय ब्रह्मचारी का लक्षण बताया गया है । यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ २० ॥

भगवत्यरुन्धति ! किमित्युत्प्रेक्षसे कुतस्त्योऽयम् ? इति ।

भगवति अरुन्धति ! आपका क्या अनुमान है ? यह बालक कहाँ से आया है ?

टिप्पणी—कुतस्त्य—कुत आगत इत्यर्थे कुतस्शब्दात् 'अव्ययात्त्यप्' इति सूत्रेण त्यप् प्रत्ययः ।

अरुन्धती—अद्यैव वयमागता ।

अरुन्धती—आज ही हम लोग आये हैं (अर्थात् जैसे आप आज आये हैं उसी तरह हम लोग भी आज आये हैं, फलतः आपकी तरह हम भी इससे अपरिचित हैं) ।

जनक—आर्य गृष्टे ! अतिकौतुकं वर्तते । तद्भगवन्तं वाल्मीकिमेव गत्वा पृच्छ । इमं च दारकं ब्रूहि 'वत्स ! केऽप्येते प्रवयसस्त्वां दिदृक्षव' इति ।

जनक—आर्य कञ्चुकिन् ! बड़ा कुतूहल हो रहा है । इसलिये भगवान् वाल्मीकि से जाकर पूछिये । इस बालक से भी कहिये—'ये अपरिचित वृद्धगण तुम्हें देखना चाहते हैं' ।

टिप्पणी—केऽपि = अपरिचित । प्रवयसः = वृद्ध लोग । प्रकृष्टं वयः येषां ते प्रवयसः । दिदृक्षवः = देखने को इच्छुक । √दृश् + सन् + उ ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः (*इति निष्क्रान्तः*)

कञ्चुकी—महाराज की जो आज्ञा (*यह कहकर चला गया* ।)

कौशल्या—किं मण्णेध । एव्वं भणिदो आअमिस्सदि वा ण वेत्ति । [किं मन्यध्वे ? एवं भणित आगमिष्यति वा नवेति ।]

कौशल्या—आप लोग क्या सोचते हैं, इस प्रकार बुलाने पर वह आएगा या नहीं ?

जनकः—भिद्यते वा सद्वृत्तमीदृशस्य निर्माणस्य ?

व्याख्या—ईदृशस्य एवंविधस्य, निर्माणस्य आकृतेः, सद्वृत्तं सद्व्यवहारः, भिद्यते वा भिन्नं भवति किम् ?

अनुवाद—ऐसी (अलौकिकगुणविशिष्ट) आकृति का सद्व्यवहार नष्ट होता है क्या ? (अर्थात् बालक का रूप ही बताता है कि वह विनयसम्पन्न है) ।

टिप्पणी—निर्माणस्य = निर्मित पदार्थ का । 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते' इस न्याय के बल से यहाँ *निर्माण* का अर्थ निर्मित पदार्थ समझना चाहिये । भिद्यते—यह कर्मकर्ता का प्रयोग है । इसमें 'कर्मवत्

त्यक्रिय.' सूत्र से कर्मवद्भाव होने पर यक् और आत्मनेपद होता है। यहां तात्पर्य यह है कि 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' इस न्याय के अनुसार अलौकिक सौन्दर्यसम्पन्न बालक में सुशीलता, सदाचार आदि गुण अवश्य होंगे, अतः वह हमारे बुलाने पर आएगा या नहीं, ऐसा प्रश्न ही नहीं होना चाहिये।

कौशल्या—(*निरूप्य*) कहं सविणअणिसमिदगिट्ठिवअणो विसज्जिदासेससरिसदारओ एत्तोमुहं पसरिदो एव्व स वच्छो। [कथं सविनयनिशामितगृष्टिवचनो विसर्जिताशेषसदृशदारक इतोमुखं प्रसृत एव स वत्स ।]

व्याख्या—निरूप्य सविशेषं दृष्ट्वा, सविनयनिशामितगृष्टिवचनः सविनयं नम्रतापूर्वकं निशमितं श्रुतं गृष्टेः तदाख्यस्य कञ्चुकिनः वचनं वाक्यं येन तथोक्तः, विसर्जिताशेषसदृशदारकः विसर्जिताः त्यक्ताः, अशेषाः निखिलाः सदृशाः समानाः दारकाः बालकाः येन सः, वत्सः बालकः, इतोमुखम् अस्मान् प्रतीत्यर्थः, प्रसृत एव प्रस्थित एव।

अनुवाद—कौशल्या—(*अच्छी तरह देखकर*) कैसे नम्रतापूर्वक कंचुकी की बात सुनकर अपने सदृश सभी बालकों को छोड़कर वह चिरञ्जीव इधर ही आ रहा है!

जनक—(*चिरं निर्वर्ण्य*) भो. किमप्येतत्।

जनक—(बहुत देर तक अवलोकन कर) अहा! यह तो अपूर्व है।

महिम्नामेतस्मिन् विनयशिशिरो मौग्ध्यमसृणो[1]
विदग्धैर्निर्ग्राह्यो न पुनरविदग्धैरतिशयः।
मनो मे सम्मोहः[2] स्थिरमपि हरत्येव बलवा-
नयोधातुं यद्वत्परिलघुरयस्कान्तशकलः॥ २१॥

अन्वय—एतस्मिन् विनयशिशिरो मौग्ध्यमसृणो महिम्नाम् अतिशयो विदग्धैः निर्ग्राह्यः पुनः अविदग्धैः न, बलवान् सम्मोहः मे स्थिरमपि मनः परिलघुः अयस्कान्तशकलः अयोधातुं यद्वत् हरत्येव॥ २१॥

---

१. 'विनय-शिशुता-मौग्ध्य-मसृणो' इत्याकारकसमस्तपदरूप. पाठभेदः।

२ 'सम्मोदः' इति पाठभेदः।

व्याख्या—एतस्मिन् शिशौ, विनयशिशिर विनयेन नम्रभावेन शिशिर' शीतल', मौग्ध्यमसृण मौग्ध्येन सौन्दर्येण मसृण' कोमल., महिम्ना महत्त्वाना शौर्यगाम्भीर्यादिव्यञ्जकमहापुरुषभावानामित्यर्थ , अतिशय आधिक्य, विदग्धै. निपुणै निर्ग्राह्यः निश्चेयः बोद्धुं शक्य इति यावत्, पुन' किन्तु, अविदग्धै अनिपुण , न नहि (निर्ग्राह्यः), बलवान् अतिप्रबलः, सम्मोहः मुग्धता, मे मम, स्थिरमपि निश्चलमपि, मन चेतः, परिलघुः नितान्तक्षुद्र., अयस्कान्तशकलः चुम्बकखण्ड', अयोधातु लौहं, यद्वत् इव, हरत्येव आकर्षत्येव ॥ २१ ॥

अनुवाद—इस (शिशु) में नम्रता से शीतल और सुन्दरता से कोमल जो (शौर्य, गाम्भीर्यादि रूप) महिमा का उत्कर्ष है, उसे विज्ञ व्यक्ति ही जान सकते हैं, अविज्ञ नहीं। (इसके प्रति उत्पन्न) बलवान मोह मेरे स्थिर मन को भी उसी तरह खींच रहा है जैसे छोटा-सा चुम्बक का टुकड़ा लोहे को (अपनी ओर) खींचता है ॥ २१ ॥

टिप्पणी—महिम्नाम्—महतां भाव इत्यर्थे महत्+इमनिच्, तेषाम। इस पद्य के द्वितीय चरण में शाब्दी परिसंख्या और द्वितीयार्ध में श्रौती उपमा अलंकार है। इन दोनों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह शिखरिणी छन्द है ॥ २१ ॥

लव.—(*प्रविश्य स्वगतम्*) अविज्ञातवय क्रमौचित्यात् पूज्यानपि सतः कथमभिवादयिष्ये ? (*विचिन्त्य*) अय पुनरविरुद्धप्रकार इति वृद्धेभ्यः श्रूयते। *सविनयमुपसृत्य प्रकाशम्*) एष वो लवस्य शिरसा प्रणामपर्याय.।

व्याख्या—अविज्ञातवय क्रमौचित्यात् अवस्थाभिवादनपौर्वापर्यौचित्य-ज्ञानाभावात् ('अज्ञातनामक्रमाभिजनान्' इति पाठभेदे तु नाम नामधेय क्रमः पौर्वापर्यम् अभिजन कुलञ्च ते अज्ञाता अविदिता नामक्रमाभिजना येषा तान् इति व्याख्येयम्), पूज्यान् पूजनीयान , सतोऽपि, भवतोऽपि, कथ केन प्रकारेण अभिवादयिष्ये नमस्करिष्यामि ? पुनः किन्तु, अय मनसा निश्चीयमान', अविरुद्धप्रकारः अनिन्दनीया रीतिः, इति एव, वृद्धेभ्यः प्राचीनगुरुभ्य', श्रूयते आकर्ण्यते। एषः इदानीमनुष्ठीयमान , वः युष्मभ्यं, लवस्य मे, शिरसा मस्तकेन, प्रणामपर्याय. प्रणामाना नमस्काराणां पर्यायः परम्परा पूज्यताक्रमेण अभिवादनमिति यावत्।

अनुवाद—(*प्रवेश करके अपने आप*) अवस्था और क्रम के औचित्य का ज्ञान न होने के कारण पूज्य होते हुए भी इन सबको किस प्रकार प्रणाम करूँ ? (*सोचकर*) अच्छा, 'यह प्रणाम करने की रीति निर्दोष है' ऐसा गुरुजनों से सुना जाता है। (*विनयपूर्वक समीप जाकर प्रकाशरूप से*) यह लव शिर झुकाकर पूज्यानुक्रम से आप लोगों को प्रणाम करता है।

टिप्पणी—अविज्ञातवयःक्रमौचित्यात्—वयश्च क्रमश्च इति वयःक्रमौ द्वन्द्वसमास., तयो. औचित्यम् ष० त०, विज्ञात च तद्वयःक्रमौचित्य विज्ञातवय.क्रमौचित्य कर्म० स०, तस्य अभाव अव्य० स० अविज्ञातवय.क्रमौचित्य, तस्मात्। प्रणामपर्याय =पर्याय से प्रणाम अर्थात् जो जैसे पूज्य हैं, उसके अनुसार अभिवादन। इससे 'समाया प्रत्येकं न नमस्कुर्यात्' इस गौतम मुनि के वचन का भी निर्वाह हो जाता है।

अरुन्धतीजनकौ—कल्याणिन्! आयुष्मान् भूया·।

अरुन्धती और जनक—भद्र! दीर्घायु होओ।

कौशल्या—जाद! चिरजीव। [जात! चिरं जीव।]

कौशल्या—वत्स! चिरजीवी होओ।

अरुन्धती—एहि वत्स! (*लवमुत्सङ्गे गृहीत्वा आत्मगतम्*)
दिष्ट्या न केवलमुत्सङ्गश्चिरान्मनोरथोऽपि मे पूरितः।

अरुन्धती—आओ बेटा! (*लव को गोद में लेकर अपने मन में*) भाग्य से केवल मेरी गोद ही नहीं, चिरकालीन मनोरथ भी पूर्ण हुआ।

कौशल्या—जाद! इदो वि दाव एहि। (उत्सङ्गे गृहीत्वा) अम्हहे, ण केवलं दरविप्फुट्टकुवलयदलसामलुज्जलेण देहबन्धणेण, कवलिदारविन्दकेसरकसाअकण्ठकलहंसघोसाणुणादिणा सरेण अ राममद्दं अणुसरेदि। ण कठोरकमलगब्भप्पम्हलसरीरप्फरसो वि तारिसो एव्व। जाद! पेक्खामि दे मुहपुण्डरीअम्। (*चिबुकमुन्नमय्य निरूप्य सबाष्पाकूतम्*) रामि! किं ण पेक्खसि? णिउणं णिरूअअन्ता वच्छाए मे वहूए मुहचन्देण विसंवददि एव्व। [जात! इतोऽपि तावदेहि। अहो! न केवलं दरविस्पष्टकुवलयदलश्यामलोज्ज्वलेन, देहबन्धनेन, कवलितारविन्दकेसरकषायकण्ठकलहंसघोषानुनादिना स्वरेण च रामभद्रमनुसरति। ननु कठोरकमलगर्भपक्ष्मलशरीरस्पर्शोऽपि तादृश एव। जात! पश्यामि

ते मुखपुण्डरीकम्। राजर्षे! किं न पश्यसि? निपुणं निरूप्यमाणो वत्साया मे वध्वा मुखचन्द्रेणापि संवदत्येव।]

व्याख्या—जात! वत्स!, इतोऽपि ममोत्सङ्गदेशेऽपि, एहि आगच्छ। उत्सङ्गे गृहीत्वा क्रोडे कृत्वा, दरविस्पष्टकुवलयश्यामलोज्ज्वलेन दरम् अल्प विस्पष्टं प्रस्फुटितं यत् कुवलयं नीलोत्पलं तद्वत् श्यामलं श्यामवर्णम् उज्ज्वलं निर्मलं तेन, देहबन्धनेन शरीरघटनेन, केवलम् एव, (रामभद्रम् अनुसरति इति न, अपितु) कवलितारविन्दकेसरकषायकण्ठकलहंसघोषानुनादिना कवलितः भक्षितः यः अरविन्दानां पद्मानां केसरः किञ्जल्कः तेन कषायः रक्तः सुमधुर इत्यर्थः, कण्ठः कण्ठस्वरः यस्य तादृशः यः कलहंसः राजहंसः तस्य घोषः शब्दः तम् अनुनदति अनुवदति इति तेन, स्वरेण च कण्ठध्वनिना च, रामभद्रं रामम्, अनुसरति अनुकरोति। कठोरकमलगर्भपक्ष्मलशरीरस्पर्शोऽपि कठोरस्य कठिनस्य परिपूर्णवयवस्येत्यर्थः कमलस्य पद्मस्य यो गर्भः अभ्यन्तरभागः तद्वत् पक्ष्मलः सुकुमारः यः शरीरस्पर्शः देहस्पर्शः सोऽपि, तादृश एव रामभद्रस्य अनुरूप एव। जात! ते तव, मुखपुण्डरीकं मुखकमलं, पश्यामि प्रेक्षे। चिबुकम् अधरनिम्नभागम्, उन्नमय्य उत्तोल्य, निरूप्य सविशेषं दृष्ट्वा, सबाष्पाकूतं बाष्पेण अश्रुणा आकूतेन अभिप्रायेण च सहितं यथा स्यात् तथा (आह), राजर्षे! जनक!, किं न पश्यसि? किं न प्रेक्षसे? निपुणं सावधानं, निरूप्यमाणः अवलोक्यमानः (अयं) वत्सायाः वात्सल्यभाजः, मे मम, वध्वाः स्नुषायाः सीताया इत्यर्थः, मुखचन्द्रेणापि वदनेन्दुनापि, संवदत्येव उपमामारोहत्येव।

अनुवाद—कौशल्या—वत्स! यहाँ भी एक बार आओ। (*गोद में लेकर*) अहा! यह शिशु किञ्चित् विकसित नीलकमल के समान श्यामल और निर्मल शरीर की रचना से ही नहीं, प्रत्युत कमल-केसर भक्षण करने के कारण अत्यन्त मधुर स्वरवाले राजहंस के सदृश स्वर से भी रामभद्र का अनुकरण करता है। ओह! पूर्णविकसित कमल के भीतर वाले पत्र की तरह कोमल इसका देहस्पर्श भी वैसा ही है (अर्थात् रामभद्र के शरीर स्पर्श के समान ही है)। वत्स! मैं तुम्हारा मुखकमल देखूँ। (*ठुड्डी को उठाकर विशेष रूप से देखकर आँसू और विशेष अभिप्राय के साथ*) राजर्षि जी!

क्या आप नहीं देख रहे हैं कि सावधानी से निरीक्षण करने पर यह (इसका मुख) बहू सीता के मुखचन्द्र से भी मिल रहा है।

जनक—पश्यामि सखि! पश्यामि।

जनक—देख रहा हूँ, सखि! देख रहा हूँ।

कौशल्या—अह्माहे! उम्मत्तीभूदं विअ मे हिअअं कुदो मुहं विलवदि। [अहो! उम्मत्तीभूतमिव मे हृदयं कुतोमुखं विलपति।]

व्याख्या—अहो! आश्चर्यम्। मे मम, हृदयं मानसम्, उन्मत्तीभूतमिव उन्मादग्रस्तमिव, कुतोमुखं कुत्र स्थितं मुखं यस्य तत् (भूत्वा), विलपति विलापं करोति।

अनुवाद—कौशल्या—आश्चर्य है कि मेरा हृदय उन्मादग्रस्त की तरह किस विषय में लगकर विलाप कर रहा है।

जनक—(*निरूप्य*)

जनक—(*गौर से देखकर*)

वत्सायाश्च रघूद्वहस्य च शिशावस्मिन्नभिव्यज्यते
सवृत्तिः[1] प्रतिबिम्बितेव निखिला सैवाकृतिः सा द्युतिः।
सा वाणी विनयः स एव सहजः पुण्यानुभावोऽप्यसौ
हा हा देवि[2]! किमुत्पथैर्मम मनः पारिप्लवं धावति ॥२२॥

अन्वय—अस्मिन् शिशौ वत्सायाश्च रघूद्वहस्य च सवृत्तिः प्रतिबिम्बिता इव अभिव्यज्यते, सा एव निखिला आकृतिः, सा द्युतिः, सा वाणी, स एव सहजो विनयः, असौ पुण्यानुभावः अपि, हा हा देवि! मम मनः पारिप्लवम् (सत्) उत्पथैः किं धावति ?॥ २२ ॥

व्याख्या—अस्मिन् दृश्यमाने, शिशौ बाले, वत्सायाश्च सीतायाश्च, रघूद्वहस्य च रघुवंशधुरन्धरस्य रामस्य च, सवृत्तिः सम्बन्धः, प्रतिबिम्बिता इव प्रतिफलिता इव, अभिव्यज्यते लक्ष्यते, सा एव तादृशी एव, निखिला समग्रा, आकृतिः आकारः, सा तादृशी, द्युतिः कान्तिः, सा वाणी तादृशी वाक्, स एव तदनुरूप एव, सहजः स्वाभाविकः विनयः नम्रभावः, असौ अयं, पुण्यानुभावः अपि पवित्रप्रभावः अपि (तादृश एव), (हन्त! सीता न जीवति, अयं

१—'सम्पूर्ण०' इति समस्तपदरूपेण पाठभेदः। २—'दैव' इति पाठान्तरम्।

तस्याः पुत्र. इति दुराशैव इत्याह—हा हेति ।) हा हा देवि ! सीते !, मम मे, मनः मानस, पारिप्लवं चञ्चलम् (सत्), उत्पथैः विपरीतमार्गैं, किं कथं, धावति ? द्रुत गच्छति ? ॥ २२ ॥

अनुवाद—इस शिशु में सीता और राम का सम्बन्ध प्रतिबिम्ब रूप में दिखाई दे रहा है। क्योंकि इसकी वही (सीता और राम की-सी) आकृति है, वही कान्ति है, वही वाणी है, वही स्वाभाविक विनय है और यह पवित्र प्रभाव भी उन्हीं की तरह है। हाय हाय सीते ! मेरा मन क्यों चञ्चल होकर विपरीत पथ पर दौड़ रहा है ? ॥ २२ ॥

टिप्पणी—रघूद्वहस्य=रघुवश में श्रेष्ठ। रघूणामपत्यानि पुमासः रघवः, रघुशब्दात् 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इति सूत्रेण अञ्प्रत्यय., 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' इतिसूत्रेण अञो लुक् बहुत्वञ्च। उत्पथैः—उच्छृङ्खलाः पन्थान. इति विग्रहे 'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इति सूत्रेण समासान्तः अप्रत्ययः। पारिप्लवम्—परितः प्लवते इति परि√प्लु+अच् कर्तरि परिप्लवम्, तदेव पारिप्लवम् प्रज्ञाद्यण् स्वार्थे। इस पद्य में अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता और पर्यायोक्ति अलकार है। इनकी स्थिति परस्पर सापेक्ष होने से सकर अलकार हो जाता है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ २२ ॥

कौशल्या—जाद ! अत्थि दे मादा ? सुमरसि वा तादम् ? [जात ! अस्ति ते माता ? स्मरसि वा तातम् ?]

कौशल्या—वत्स ! तुम्हारी माँ है ? अथवा पिता का स्मरण करते हो ?

लवः—नहि ।

लव—नहीं ।

कौशल्या—तदो कस्स तुमम् ? [तत. कस्य त्वम् ?]

कौशल्या—तब तुम किसके (सरक्षण में) हो ?

लवः—भगवत. सुगृहीतनामधेयस्य वाल्मीके. ।

लव—सुगृहीत नाम वाले (अर्थात् प्रात.स्मरणीय) भगवान् वाल्मीकि के ।

कौशल्या—अयि जाद ! कहिदव्व कहेहि । [अयि जात ! कथयितव्य कथय ।]

कौशल्या—अरे बेटा ! बताने योग्य बातें बताओ (अर्थात् मैं जो बातें पूछती हूँ, वह ठीक-ठीक बताओ)।

लव—एतावदेव जानामि।

लव—इतना ही मैं जानता हूँ (अर्थात् भगवान् वाल्मीकि के अतिरिक्त माता-पिता के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता हूँ।)

(*नेपथ्ये*)

(*नेपथ्य में*)

भो भो सैनिकाः ! एष खलु कुमारश्चन्द्रकेतुराज्ञापयति—'न केनचिदाश्रमाभ्यर्णभूमय आक्रमितव्या' इति।

व्याख्या—सैनिकाः। सेनासमवेताः पुरुषाः !, चन्द्रकेतुः लक्ष्मणात्मजः, *आज्ञापयति आदिशति*—केनचित् युष्मत्सु केनापि सैनिकेन, आश्रमाभ्यर्णभूमयः आश्रमस्य तपोवनस्य अभ्यर्णभूमयः निकटवर्तिप्रदेशाः, न आक्रमितव्याः न आक्रमणीयाः तत्र तरुलतादिच्छेदनेन कापि बाधा नोत्पादनीया इत्यर्थः।

अनुवाद—हे सैनिको ! ये कुमार चन्द्रकेतु आज्ञा देते हैं कि तपोवन के निकटवर्ती प्रदेशों में कोई आक्रमण न करे (अर्थात् किसी प्रकार की हानि न पहुँचाए)।

अरुन्धतीजनकौ—अये ! मेध्याश्वरक्षाप्रसङ्गादुपागतो वत्सश्चन्द्रकेतुर्द्रष्टव्य इत्यमौ सुदिवसः।

अरुन्धती और जनक—अहा ! यज्ञिय अश्व की रक्षा के सिलसिले में आये हुए वत्स चन्द्रकेतु को देखेंगे, अतः आज शोभन दिन है।

कौशल्या—वच्छलक्खणस्स पुत्तओ आणवेदित्ति अमिदबिन्दुसुन्दराइं अक्खराइं सुणीअन्दि। [वत्सलक्ष्मणस्य पुत्रक आज्ञापयतीत्यमृतबिन्दुसुन्दराण्यक्षराणि श्रूयन्ते।]

कौशल्या—'वत्स लक्ष्मण का पुत्र आदेश देता है' ये अक्षर अमृतबिन्दु के समान सुन्दर सुनाई दे रहे हैं।

टिप्पणी—अमृतबिन्दुसुन्दराणि—अमृतस्य बिन्दवः अमृतबिन्दवः त इव सुन्दराणि अमृतबिन्दुसुन्दराणि।

लव—आर्ये ! क एष चन्द्रकेतुर्नाम ?

लव—आर्य ! ये चन्द्रकेतु कौन हैं ?

जनकः—जानासि रामलक्ष्मणौ दाशरथी ?

जनक—दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण को जानते हो ?

टिप्पणी—दाशरथी—दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथिः, दशरथ+इञ्, दाशरथिशब्दस्य द्वितीयाद्विवचने दाशरथी इति ।

लवः—एतावेव रामायणकथापुरुषौ ?

लव—ये ही दोनों रामायण कथा के प्रधान पात्र हैं ?

जनकः—अथ किम् ?

जनक—और क्या ?

लव.—तत् कथं न जानामि ?

लव—तब क्यों नहीं जानता हूँ ?

जनक.—तस्य लक्ष्मणस्यायमात्मजश्चन्द्रकेतु. ।

जनक—उन लक्ष्मण का पुत्र यह चन्द्रकेतु है ।

लव.—ऊर्मिलायाः पुत्रस्तर्हि मैथिलस्य राजर्षेर्दौहित्र. ।

लव—तब ये आर्या ऊर्मिला के पुत्र और राजर्षि जनक के दौहित्र हैं ।

अरुन्धती—आविष्कृतं कथाप्रावीण्यं वत्सेन ।

अरुन्धती—वत्स ने (रामायण की) कथा में (अपनी) प्रवीणता दिखाई है ।

जनक—(*विचिन्त्य*) यदि त्वमीदृश. कथायामभिज्ञस्तद् ब्रूहि तावत्पृच्छामस्तेषां दशरथस्य पुत्राणां कियन्ति किन्नामधेयान्यपत्यानि केषु दारेषु प्रसूतानि ?

व्याख्या—यदि, त्वं, कथायां रामायणाख्याने, ईदृशः एवम्प्रकारः, अभिज्ञः विज्ञः, तत् तदा, ब्रूहि कथय, तावत्, पृच्छामः अवलोकयामः, तेषां प्रसिद्धानां, दशरथस्य, पुत्राणां तनयानां, कियन्ति कतिसङ्ख्यकानि, किन्नामधेयानि किमाख्यानि, अपत्यानि सुताः, केषु, दारेषु पत्नीषु, प्रसूतानि उत्पन्नानि (अर्थात् रामादीनां के हि पुत्राः किमाख्यास्तु पत्नीषु उत्पन्नाः इति ब्रूहि) ।

अनुवाद—जनक—(*विचारकर*) यदि तुम रामायण की कथा के ऐसे अभिज्ञ हो तो हम तुम्हारी शिक्षा जानना चाहते हैं । बताओ—

'दशरथ के उन पुत्रों की किस किस पत्नी से किस किस नामवाले कितने पुत्र उत्पन्न हुए हैं ?'

लव —नाय कथाविभागोऽस्माभिरन्येन वा श्रुतपूर्वः ।

लव—क्या य इस भाग को हमने या अन्य किसी ने नहीं सुना है।

जनक.—किं न प्रणीतः कविना ?

जनक—क्या कवि ने (इसकी) रचना नहीं की है !

लवः—प्रणीत , न तु प्रकाशित । तस्यैव कोऽप्येकदेशः प्रबन्धान्तरेण रसवानभिनेयार्थः कृत । त च स्वहस्तलिखित मुनिर्भगवान् व्यसृजद्भगवतो भरतस्य तौर्यत्रिकसूत्रधारस्य ।

व्याख्या—प्रणीत विरचित , न तु प्रकाशित किन्तु प्रकाश न नीत'। तस्यैव रामादे. अपत्यविवरणाशस्यैव, कोऽपि अनिर्धारित , एकदेश' भागविशेष , प्रबन्धान्तरेण अन्यप्रबन्धविशेषेण, रसवान् करुणविप्रलम्भाख्यरसयुक्त , अभिनेयार्थ. अभिनय अभिनययोग्य. अर्थ. इतिवृत्तरूप वस्तु यस्य तथाविध , कृत' रचित , त च भागविशेष, स्वहस्तलिखित स्वकरेणैवाङ्कितं, मुनि वाल्मीकिः, तौर्यत्रिकसूत्रधारस्य तौर्यत्रिकस्य नृत्यगीतवाद्यस्य सूत्रधारस्य प्रयोजकाचार्यस्य, भरतस्य तदाख्यस्य मुने' (समीपे) व्यसृजत् प्रेषितवान् ।

अनुवाद—लव—रचना की है, किन्तु प्रकाशित नहीं किया है। उसी के एक भाग को अन्य प्रबन्ध के साथ मिलाकर सरस एवम् अभिनय के उपयुक्त बनाया है। भगवान् वाल्मीकि ने उसको अपने हाथ से लिखकर नृत्य, गीत और वाद्य के प्रयोगकर्ता भगवान् भरत के पास भेजा है।

टिप्पणी—तौर्यत्रिक=नृत्य, गीत और वाद्य—ये तीनों । 'तौर्यत्रिक नृत्यगीतवाद्य नाट्यमिद त्रयम्' इत्यमरः । तूर्यं मुरजादि तत्र भव तौर्यम्, तौर्योपलक्षितं त्रिकमिति तौर्यत्रिकम् ।

जनकः—किमर्थम् ?

जनक—किसलिए !

लवः—स किल भगवान् भरतस्तमप्सरोभिः प्रयोजयिष्यतीति ।

लव—वे भगवान् भरत अप्सराओं के द्वारा उस (भाग) का अभिनय करायेंगे ।

जनक.—सर्वमिदमाकूतकरमस्माकम् ।

जनक—यह सब बातें हमारे लिए कुतूहलजनक हैं।

टिप्पणी—'आकूततरम्' इस पाठभेद के अनुसार 'अतिशय गूढ़ अभिप्राय युक्त' अर्थ करना चाहिये।

लव:—महती पुनस्तस्मिन् भगवतो वाल्मीकेरास्था। ततः कैषाञ्चिद्-न्तेवासिना हस्तेन तत् पुस्तकं भरताश्रमं प्रति प्रेषितम्। तेषामनुयात्रिकश्चापपाणिः प्रमादच्छेदनार्थमस्मद्भ्राता प्रेषितः।

व्याख्या—तस्मिन् रामायणभागविशेषे, भगवतः वाल्मीकेः, महती आस्था आदरातिशय इत्यर्थः। ततः, केषाञ्चित्, अन्तेवासिना छात्रेण, हस्तेन करेण, तत्, पुस्तकं, भरताश्रमं, प्रति, प्रेषितं प्रेरितम्। प्रमादच्छेदनार्थम् अनवधानता-निवारणार्थं, तेषाम् अन्तेवासिनाम्, अनुयात्रिकः अनुगामी, चापपाणिः धनुर्हस्तः, अस्मद्भ्राता मम सहोदरः, प्रेषितः प्रेरितः।

अनुवाद—लव—उस भाग में भगवान् वाल्मीकि की बड़ी आस्था है। अतः उन्होंने वह पुस्तक कई छात्रों के द्वारा भरतमुनि के आश्रम में भेजी है, और प्रमाद-निवारण (अर्थात् सुरक्षा) के लिए हाथ में धनुष धारण किये हुए मेरे भाई को उनका अनुगामी बनाकर भेजा है।

टिप्पणी—अनुयात्रिकः = अनुयायी। अनु पश्चात् यात्रा प्रयाण प्रयोजनमस्य इति विग्रहे अनुयात्रा + ठञ्—इक। चापपाणिः = हाथ में धनुष लिये हुए। पाणौ चापं यस्य इति विग्रहे बहुव्रीहिसमासः, 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ' इत्यनेन चापपदस्य पूर्वप्रयोगः।

कौशल्या—भादावि दे अत्थि? [भ्रातापि तेऽस्ति?]

कौशल्या—तुम्हारा भाई भी है?

लवः—अस्त्यार्यः कुशो नाम।

लव—कुश नामक पूजनीय भ्राता हैं।

कौशल्या—जेट्ठेत्ति भणिदं होदि। [ज्येष्ठ इति भणितं भवति।]

कौशल्या—तो वे ज्येष्ठ भ्राता हैं?

लवः—एवमेतत्। प्रसवानुक्रमेण स किल ज्यायान्।

लव—जी हाँ, उत्पत्ति के क्रम से वे ज्येष्ठ हैं।

जनकः—किं यमावायुष्मन्तौ?

जनक—क्या तुम दोनों यमज (जुड़वें) हो ?

लवः—अथ किम् ?

लव—और क्या ?

जनक.—वत्स ! कथय कथाप्रपञ्चस्य कियान् पर्यन्तः ?

जनक—कथा के विस्तार की सीमा कहाँ तक है (अर्थात् कथा की परिसमाप्ति कहाँ होती है) ?

लव—अलीकपौरापवादोद्विग्नेन राज्ञा निर्वासितां देवीं देवयजनसम्भवां सीतामासन्नप्रसववेदनामेकाकिनीमरण्ये लक्ष्मणः परित्यज्य प्रतिनिवृत्त इति ।

व्याख्या—अलीकपौरापवादोद्विग्नेन अलीक. अयथार्थो य. पौराणां पुरवासिनाम् अपवादः तेन उद्विग्नः व्याकुल· तेन, राज्ञा रामचन्द्रेण, निर्वासिता परिवर्जिता, देवयजनसम्भवा यज्ञभूमिसमुत्पन्नाम्, आसन्नप्रसववेदनाम् आसन्ना सन्निहिता प्रसवस्य गर्भविमोचनस्य वेदना पीडा यस्याः ताम्, एकाकिनीम् असहायां, देवीं, सीताम्, अरण्ये वने, परित्यज्य मुक्त्वा, लक्ष्मण, प्रतिनिवृत्त प्रत्यायात· (अयोध्याम्), इति इत्यन्तः कथाप्रपञ्च इति भावः ।

अनुवाद—लव—(जहाँ) पुरवासियों के असत्य अपवाद से उद्विग्न राजा द्वारा त्यागी हुई असहाय एव प्रसव वेदना से पीड़ित सीता देवी को, जिनकी उत्पत्ति यज्ञ भूमि से हुई थी, वन में छोड़ कर लक्ष्मण लौट गये हैं (वहीं कथा का अवसान हो जाता है)।

कौशल्या—हा वच्छे मुद्धमुहि ! को दाणिं दे सरीरकुसुमस्स झत्ति देव्वदुव्विलासपरिणामो एक्काइणीए णिवडिदो ? [हा वत्से मुग्धमुखि ! क इदानीं ते शरीरकुसुमस्य झटिति दैवदुर्विलासपरिणाम एकाकिन्या निपतित ?]

व्याख्या—मुग्धमुखि ! मुग्ध मनोहर मुख वदन यस्या. सा मुग्धमुखी तत्सम्बुद्धौ, एकाकिन्याः असहायाः, ते तव, शरीरकुसुमस्य पुष्पतुल्यदेहस्य, झटिति सहसा, क अनिर्वचनीय, दैवदुर्विलासपरिणाम· दैवस्य भाग्यस्य दुष्टः यः विलास. व्यापारः तस्य परिणाम· परिपाक·, निपतितः सञ्जात ?

अनुवाद—कौशल्या—हाय सुन्दर मुँह वाली बेटी ! असहाय अवस्था में

तुम्हारे पुष्प सदृश शरीर के लिए सहसा कैसा भाग्य की दुश्चेष्टा का परिणाम उपस्थित हो गया ?

जनक—हा वत्से !

जनक—हाय बेटी !

नूनं त्वया परिभवञ्च वनञ्च घोरं
तञ्च व्यथां प्रसवकालकृतामवाप्य ।
क्रव्याद्गणेषु परितः परिवारयत्सु
सन्त्रस्तया शरणमित्यसकृत्स्मृतोऽहम् ॥२३॥

अन्वय—परिभव च घोर वन च, प्रसवकालकृता ता व्यथा च अवाप्य परितः क्रव्याद्गणेषु परिवारयत्सु सन्त्रस्तया त्वया अहं शरणम् इति नूनम् असकृत् स्मृतः ॥ २३ ॥

व्याख्या—परिभव (निर्वासनात्) तिरस्कार, घोर भयानक, वनम् अरण्य, प्रसवकालकृता प्रसवक्षणसम्भूता, ता प्रसिद्धा, व्यथा च वेदना च, अवाप्य प्राप्य, परितः समन्ततः, क्रव्याद्गणेषु मासभोजिश्वापदजन्तुसमूहेषु, परिवारयत्सु परिवेष्टमानेषु (सत्सु), सन्त्रस्तया अतिभीतया, त्वया सीतया, अहं जनक, शरण रक्षकः, इति एवम्, नूनं निश्चितम्, असकृत् वारंवार, स्मृतः चिन्तितः ॥ २३ ॥

अनुवाद—(निर्वासनजन्य) तिरस्कार, भयानक वन और प्रसवकाल की वेदना के साथ-साथ मासभक्षी हिंसक जन्तुओं द्वारा चारों ओर से घिर जाने पर अत्यन्त भयभीत होकर तुमने मुझे रक्षक जानकर निश्चय ही बार-बार स्मरण किया होगा ॥२३॥

टिप्पणी—क्रव्यात् = मासभक्षी जीव । शरणम् = रक्षक । 'शरण गृहरक्षित्रो' इत्यमरः । यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि विपन्नावस्था में रक्षा हेतु मनुष्य माँ-बाप का नाम लेता है । अतः जनक जी ने अनुमान किया कि सीता ने उस अवस्था में मेरा स्मरण अवश्य किया होगा । इस पद्य में तुल्ययोगिता अलङ्कार है । यह वसन्ततिलका छन्द है ॥ २३ ॥

लवः—आर्ये ! कावेतौ ?

लव—आर्ये ! ये दोनों कौन है ?

अरुन्धती—इयं कौशल्या, अयं जनकः। (*लवः सबहुमानखेद-कौतुकं पश्यति।*)

अरुन्धती—ये कौशल्या हैं और ये जनक हैं (*लव विशेष आदर, खेद तथा कुतूहल के साथ देखने लगता है।*)

जनक—अहो! निर्दयता दुरात्मनां पौराणाम्, अहो! रामभद्रस्य क्षिप्रकारिता!!

जनक—ओह! दुष्टात्मा पुरवासियों की (ऐसी) निर्दयता! ओह! रामभद्र की (इतनी) शीघ्रकारिता (जल्दबाजी)!!

एतद्वैशसघोरवज्रपतनं शश्वन्ममोत्पश्यतः
क्रोधस्य ज्वलितुं झटित्यवसरश्चापेन शापेन वा।

अन्वय—एतद्वैशसघोरवज्रपतन शश्वत् उत्पश्यतो मम क्रोधस्य चापेन शापेन वा झटिति ज्वलितुम् अवसरः।

व्याख्या—एतत् सीतानिर्वासनरूप यत् वैशस हिंसन तदेव घोर भीषणं वज्रपतनम् अशनिअभिपातः, शश्वत् निरन्तरम्, उत्पश्यतः चिन्तयत, मम जनकस्य, क्रोधस्य कोपानलस्य, चापेन धनुषा, वा अथवा, शापेन शपनेन, झटिति आशु ('धगिति' इति पाठभेदे तु 'धक्' इति शब्द कृत्वा इति व्याख्येयम्), ज्वलितुं दाहयितुम, अवसरः समयः (उपस्थितः)।

अनुवाद—इस (निर्वासन द्वारा सीता की) हिंसा रूप भीषण वज्रपात का चिन्तन करते हुए मेरे क्रोध (रूप अग्नि) के धनुष द्वारा अथवा शाप द्वारा शीघ्र प्रज्वलित होने का समय उपस्थित है।

टिप्पणी—वैशस—विशसति हिनस्ति इति वि√शस्+अच् कर्तरि विशसः, तस्य कर्म इति विशस+अण् वैशसम्। ज्वलितुम्—यहाँ 'कालसमयवेलासु तुमुन्' से तुमुन् प्रत्यय हुआ। इस पद्य में निरङ्गरूपक अलंकार है।

कौशल्या—(*समयकम्पम्*) भअवदि! परित्ताअदु। पसादेहि कुविदं रायसिम्। [भगवति! परित्रायताम्, प्रसादय कुपितं राजर्षिम्।]

कौशल्या—(*भय और कम्पन के साथ*) भगवति! रक्षा कीजिये, क्रुद्ध राजर्षि को प्रसन्न कीजिये।

लव:—

एतद्धि परिभूतानां प्रायश्चित्तं मनस्विनाम् ।

अन्वय—परिभूतानां मनस्विनां हि एतत् प्रायश्चित्तम् ।

व्याख्या—परिभूतानां तिरस्कृतानाम्, मनस्विनां प्रशस्तचेतसां, हि निश्चयेन, एतत् चापशापादिभिः वैरनिर्यातनं, प्रायश्चित्तं दोषक्षालनकारणं (भवति) ।

अनुवाद—लव—अपमानित मनस्वी व्यक्तियों का यह (धनुष द्वारा अथवा शाप द्वारा बदला चुकाना) निश्चित रूप से प्रायश्चित्त है ।

अरुन्धती—

राजन्नपत्यं रामस्ते पाल्याश्च कृपणाः प्रजाः ॥ २४ ॥

अन्वय—राजन् ! रामः ते अपत्यं कृपणाः प्रजाश्च पाल्याः ॥ २४ ॥

व्याख्या—राजन् ! हे नृप !, रामः रामभद्रः, ते तव, अपत्यं सन्तानं, कृपणाः दीनाः, प्रजाश्च पौरजनाश्च, (ते) पाल्याः रक्षणीयाः ॥ २४ ॥

अनुवाद—अरुन्धती—राजन् ! रामभद्र आपकी सन्तान हैं और दीन प्रजायें पालन करने योग्य हैं ॥ २४ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में अप्रस्तुत प्रशंसा, निरङ्गरूपक तथा पदार्थ-हेतुक काव्यलिंग अलंकार हैं । इनकी स्थिति परस्पर सापेक्ष होने से संकर अलंकार हो जाता है ॥ २४ ॥

जनक—

शान्तं वा रघुनन्दने तदुभयं तत्पुत्रभाण्डं हि मे
भूयिष्ठद्विजबालवृद्धविकलस्त्रैणश्च पौरो जनः ॥ २५ ॥

अन्वय—वा रघुनन्दने तत् उभयं शान्तं हि तत् मे पुत्रभाण्डं, पौरो जनश्च भूयिष्ठद्विजबालवृद्धविकलस्त्रैणः ॥ २५ ॥

व्याख्या—वा अथवा, रघुनन्दने रामभद्रे, तत् पूर्वोक्तम्, उभयं चापबाणं शापदानञ्च, शान्तं विरतं (भवतु), हि यस्मात्, ततं रघुनन्दन इत्यर्थः, मे मम, पुत्रभाण्डं पुत्ररूपमूलधनं, पौरो जनश्च पुरवासी लोकश्च, भूयिष्ठद्विजबालवृद्धविकलस्त्रैणः भूयिष्ठाः प्रचुराः द्विजाः ब्राह्मणाः बालाः बालकाः वृद्धाः स्थविराः विकलाः हीनेन्द्रियाः स्त्रैणानि स्त्रीसमूहाश्च यस्मिन् सः तादृशः (अस्ति) ॥ २५ ॥

अनुवाद—अथवा रामभद्र के प्रति वे दोनों (धनुष धारण करना और शाप देना) निवृत्त हों, क्योंकि वे मेरे पुत्ररूप मूलधन हैं और पुरवासी लोगों में बहुत से ब्राह्मण, बालक, वृद्ध, अपंग और स्त्रियाँ हैं ॥ २५ ॥

टिप्पणी—पुत्रभाण्डम्=पुत्रधन । 'भाण्ड मूलवणिग्धने' इति विश्व । भूयिष्ठ —अतिशयेन बहव इति बहु+इष्ठन्=भूयिष्ठा । इस पद्य में पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है । यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ २५ ॥

(*प्रविश्य सम्भ्रान्ता*)

(*हडबडी के साथ आकर*)

बटव —कुमार ! कुमार !! अश्वोऽश्व इति कोऽपि भूतविशेषो जनपदेष्वनुश्रूयते, सोऽयमधुनाऽस्माभि प्रत्यक्षीकृत ।

व्याख्या—बटव विप्रकुमारा , अश्वोऽश्व इति घोटक इति संज्ञया प्रसिद्ध , कोऽपि अदृष्टपूर्व इत्यर्थ , भूतविशेष प्राणिविशेष , जनपदेषु पुर ग्रामादिप्रदेशेषु, अनुश्रूयते आकर्ण्यते, सोऽय तादृशोऽश्व अस्माभि बटुभि, प्रत्यक्षीकृत दृष्टिगोचरीकृत ।

अनुवाद—विप्रबालकगण—कुमार ! कुमार !! देहातों में जो घोड़ा घोड़ा यह अदृष्टपूर्व प्राणिविशेष (अर्थात् घोड़ा नामक जानवर) सुना जाता है, उसे अभी अभी हम लोगों ने देखा है ।

टिप्पणी—कुमार, कुमार—यहां आश्चर्य एवं हर्ष प्रकट करने के लिए दो बार उच्चारण किया गया है । तपोवन के बालकों ने कभी घोड़ा देखा नहीं था । अत रामचन्द्र जी के अश्वमेधीय अश्व को एकाएक तपोवन में आये देखकर उन्हें बड़ा कुतूहल हुआ । उन्होंने लव को घोड़ा दिखाने के लिए 'कुमार, कुमार' कहकर सम्बोधित किया । जनपदेषु=देश, देशविशेष का ग्राम भाग । आचार्य पैठीनसि ने घोड़े को ग्राम्य पशु माना है—'गौर विरजाऽश्वोऽश्वतरो गर्दभो मनुष्यश्चेति सप्त ग्राम्या पशव ।' प्रत्यक्षीकृत — अक्ष्ण प्रति इति प्रति अक्षि अव्ययीभाव समास टच् समासान्त प्रत्यक्षम्, तत् अस्ति अस्य इति प्रत्यक्ष+अच् मत्वर्थ प्रत्यक्ष , अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष सम्पद्यमान कृत इति प्रत्यक्ष+च्वि √कृ+क्त कर्मणि प्रत्यक्षीकृत ।

लव —अश्वोऽश्व इति नाम पशुसमाम्नाये सांग्रामिके च पठ्यते, तत् ब्रूत कीदृश ?

लव—पशुशास्त्र और युद्धशास्त्र में 'अश्व' 'अश्व' इस रूप का पाठ मिलता है। इसलिए बताओ, वह कैसा है?

टिप्पणी—पशुसमाम्नाये = पशु नामक सग्रहशास्त्र में। सम्यक् आम्नायते इति समाम्नाय पशूना समाम्नायः, तस्मिन्। साङ्ग्रामिके = रण-कौशलबोधक शास्त्र, धनुर्वेद में। संग्रामम् अर्हति इति संग्राम + ठञ्—इक।

बटवः—अये, श्रूयताम्—

विप्रबालकगण—अजी, सुनो—

पश्चात् पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रं
दीर्घग्रीवः स भवति खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्
किं व्याख्यानैर्व्रजति स पुनर्दूरमेह्येहि यामः ॥ २६ ॥

अन्वय—पश्चात् विपुलं पुच्छं वहति, तच्च अजस्रं धूनोति, स दीर्घग्रीवो भवति, तस्य चत्वार एव खुराः, शष्पाणि अत्ति, आम्रमात्रान् शकृत्पिण्डकान् प्रकिरति, व्याख्यानैः किम्? स पुनः दूरं व्रजति, एहि एहि, यामः ॥ २६ ॥

व्याख्या—(सः) पश्चात् देहपश्चाद्भागे, विपुलं विशालं, पुच्छं लाङ्गूलं, वहति धारयति, तच्च पुच्छञ्च, अजस्रम् अविरतं, धूनोति कम्पयति, सः घोटकः, दीर्घग्रीवः दीर्घा आयता ग्रीवा गलदेशः यस्य तथाविधः, भवति जायते, तस्य घोटकस्य, चत्वार एव चतुःसंख्यका एव, खुराः शफानि, (सः) शष्पाणि नूतनतृणानि, अत्ति खादति, आम्रमात्रान् आम्रफलपरिमितान्, शकृत्पिण्डकान् पुरीषखण्डान्, प्रकिरति विसृजति, व्याख्यानैः विशेषकथनैः, किम् अलम्?, सः घोटकः, पुनः भूयः, दूरं विप्रकृष्टदेशं, व्रजति गच्छति एहि एहि आगच्छ आगच्छ, यामः गच्छाम (वयम्) ॥ २६ ॥

अनुवाद—वह (घोडा) देह की पिछाड़ी में विशाल पुच्छ धारण किये हुए है और उसे सतत हिलाता रहता है। उसकी ग्रीवा लम्बी है और उसके चार ही खुर हैं। वह कोमल घास खाता है और आम के फल के बराबर लीद करता है। विशेष कहने से क्या? वह फिर दूर जा रहा है। आओ-आओ, हम जाते हैं ॥ २६ ॥

टिप्पणी—अजस्रम्—न जस्यति मुञ्चति इति न√जस्+र कर्तरि अजस्रम् तत् यथा तथा। आम्रमात्रान्—आम्र मात्रा परिमाणमेषाम् आम्रमात्रा, तान्। इस पद्य में अश्वरूप एक कर्तृकारक के साथ 'वहति' आदि अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध होने से दीपक अलंकार, आम्रफल के साथ पुरीषखण्डों का साम्य प्रतिपादन करने से उपमा अलंकार और अश्व के स्वरूप का हूबहू वर्णन करने से स्वभावोक्ति अलंकार हैं। फिर इन तीनों की स्थिति परस्पर सापेक्ष होने से संकर अलंकार हो जाता है। यह मन्दाक्रान्ता छन्द है ॥ २६ ॥

(*इत्यजिने हस्तयोश्चाकर्षन्ति।*)

(*यह कहकर वे लव के मृगचर्म और दोनों हाथ पकड़कर खींचने लगते हैं।*)

लव —(*सकौतुकोपरोधविनयम्*) आर्याः ! पश्यत। एभिर्नीतोऽस्मि। (*इति त्वरितं परिक्रामति।*)

लव—(*घोड़ा देखने का*) कुतूहल (*साथियों का*) (*अत्याग्रह और नम्रता के साथ*) आर्यवृन्द ! देखें। ये लोग मुझे ले जा रहे हैं। (*यह कहकर तुरन्त चल देता है।*)

अरुन्धतीजनकौ—महत्कौतुकं वत्सस्य।

अरुन्धती और जनक—वत्स को बड़ा कुतूहल है।

टिप्पणी—'पूरयतु कुतूहलं वत्स' इस पाठ भेद का अर्थ होगा 'वत्स (अपनी) उत्सुकता पूर्ण करे'।

कौशल्या—अरण्णगब्भरूवालावेहिं तुह्मे तोसिदा अह्मे अ। भअवदि ! जाणामि तं पेक्खन्ती वञ्चिदा विअ। ता इदो अण्णदो भविअ पेक्खम्ह दाव पलायन्तं दीहाउम् [अरण्यगर्भरूपालापैर्यूयं तोषिता वयं च। भगवति ! जानामि तं पश्यन्ती वञ्चितेव। तस्मा दितोऽन्यतो भूत्वा प्रेक्षामहे तावत्पलायमानं दीर्घायुषम्।]

व्याख्या—अरण्यगर्भरूपालापैः अरण्यगर्भाणां वनोत्पन्नबालकानां रूपैः आकृतिभिः आलापैः सम्भाषणैः, यूयं, वयं च, तोषिताः प्रसादिताः। भगवति ! जानामि अवगच्छामि, तं लवं, पश्यन्ती अवलोकयन्ती, वञ्चिता इव प्रतारिता इव। तस्मात्, इतः अस्मात् स्थानात्, अन्यतो

भूत्वा अन्यस्मिन् स्थाने अवस्थाय, पलायमान धावन्त, दीर्घायुष चिरजीविन, प्रेक्षामहे पश्यामः।

अनुवाद—कौशल्या—अरण्य में उत्पन्न शिशुओं के रूप और सम्भाषणों से हम और आप सब लोग प्रमुदित हुए। भगवति ! मैं समझती हूँ कि उसको देखती हुई मैं ठगी-सी गयी। इसलिए यहाँ से अन्यत्र अवस्थित होकर हम दौड़ते हुए चिरञ्जीव को देखें।

टिप्पणी—'भअवदि ! जाणामि, एदं अणालोअन्ती ण जीआमि विअ, (भगवति ! जानामि, एतमनालोकयन्ती न जीवामीव,) इस पाठभेद का अर्थ होगा—'भगवति ! मैं समझती हूँ कि उसको न देखती हुई मैं मानो जीवित नहीं रह पाऊँगी'।

अरुन्धती—अतिजवेन दूरमतिक्रान्त स चपल. कथं दृश्यते ?

अरुन्धती—अत्यन्त वेग से दूर चला गया वह चञ्चल (बालक) कैसे दिखाई देगा ?

कञ्चुकी—(*प्रविश्य*) भगवान् वाल्मीकिराह—'ज्ञातव्यमेतदवसरे भवद्भिरिति।

कञ्चुकी—(*प्रवेश कर*) भगवान वाल्मीकि ने कहा—'आप लोगों को यह (लव का समाचार) यथासमय ज्ञात हो जाएगा'।

जनक—अतिगम्भीरमेतत् किमपि। भगवत्यरुन्धति ! सखि कौशल्ये ! आर्य गृष्टे ! स्वयमेव गत्वा भगवन्तं प्राचेतसं पश्यामः।

जनक—यह कोई अत्यन्त गम्भीर बात है। भगवति अरुन्धति ! सखि कौशल्ये ! आर्य कञ्चुकिन् ! स्वयं चलकर हम लोग वाल्मीकि का दर्शन करें।

(*इति निष्क्रान्तो वृद्धवर्गः।*)

(*उसके बाद वृद्धगण चले गये।*)

(*प्रविश्य*)

(*प्रवेश कर*)

बटव.—पश्यतु कुमारस्तावदाश्चर्यम्।

विप्रबालकगण—कुमार ! यह आश्चर्य (अर्थात् अद्भुत प्राणी को) देखो।

लव —दृष्टमवगत च । नूनमाश्वमेधिकोऽयमश्व ।

लव—देखा और जान भी लिया । निश्चय ही यह घोड़ा अश्वमेध का है ।

टिप्पणी—आश्वमेधिक = अश्वमेधयज्ञ का । अश्वमेध प्रयोजनम् अस्य इति विग्रहे अश्वमेध + ठञ् —इक ।

बटव —कथ ज्ञायते ?

विप्रबालकगण—कैसे जानते हो ?

लव —ननु मूर्खा ! पठितमेव हि युष्माभिरपि तत्काण्डम् । किं न पश्यथ प्रत्येक शतसख्या कवचिनो दण्डिनो निषङ्गिणश्च रक्षितार । तत्प्रायमेवान्यदपि दृश्यते । यदि च विप्रत्ययस्तत्पृच्छत ।

व्याख्या—ननु भो मूर्खा ! अज्ञा !, पठितमेव अधीतमेव, युष्माभिरपि भवद्भिरपि, तत्काण्डम् अश्वमेधप्रतिपादकवेदभाग । किं न पश्यथ किं न अवलोकयथ, प्रत्येक सर्वास्वेव भागे इत्यर्थ , शतसख्या शत सख्या येषा ते, कवचिन कवचधारिण , दण्डिन दण्डायुधा , निषाङ्गिणश्च तूणीर वन्तश्च, रक्षितार रक्षका (सन्ति), त प्रायमेव कवचिप्रभृतिबहुलमेव, अन्यदपि सैन्यमपि, दृश्यते अवलोक्यते । यदि च, विप्रत्यय विरुद्धप्रत्यय अर्थात् अविश्वास , तत् तर्हि, पृच्छत जिज्ञासध्वम् ।

अनुवाद—लव—अरे मूर्खों ! तुम लोगों ने भी तो अश्वमेध प्रकरण वाला भाग पढ़ा ही है । क्या देख नहीं रहे हो कि प्रत्येक दिशा में (अर्थात् घोड़े की चारों ओर) सैकड़ों कवचधारी, दण्डधारी और तरकश वाले रक्षक गण नियुक्त हैं । ऐसे लोगों की बहुलता से युक्त सेना भी तो दिखाई दे रही है । यदि विश्वास न होता हो तो (जाकर) पूछ लो ।

बटव —भो भो , किम्प्रयोजनोऽयमश्व परिवृत पर्यटति ?

व्याख्या—भो भो इति सम्बोधनार्थक शब्द , अय दृश्यमान , अश्व घोटक , किम्प्रयोजन किमुद्देश्यक , परिवृत परिवेष्टित , (सन्) पर्यटति ! परिभ्रमति ?

विप्रबालकगण—हो ! हो ! रक्षकों से घिरा हुआ यह घोड़ा किस उद्देश्य से घूम रहा है ?

लव—(सस्पृहमात्मगतम्) अश्वमेध इति नाम विश्वविजयिनां क्षत्रियाणामूर्जस्वलः सर्वक्षत्रपरिभावी महानुत्कर्षनिकषः ।

व्याख्या—सस्पृहं स्पृहया अश्वमेधेच्छया सहितम्, आत्मगतं स्वगतम्, अश्वमेध इति नाम, विश्वविजयिनां विश्वं जगत् विजेतुं वशीकर्तुं शीलं येषां तेषां, क्षत्रियाणां राजन्यमञ्ज्ञानाम्, ऊर्जस्वलः बलवान्, सर्वक्षत्रपरिभावी सर्वान् क्षत्रियान् परिभवितुं न्यक्कर्तुं शीलं यस्य तादृशः, महान्, उत्कर्षनिकषः उत्कर्षस्य सर्वप्राधान्यस्य निकषः शाणः परीक्षास्थानमित्यर्थः ।

अनुवाद—लव—(*स्पृहा के साथ मन में*) विश्वविजेता क्षत्रियों के तेज का सूचक तथा सकल क्षत्रियों के पराभव का बोधक अश्वमेध यज्ञ महान् उत्कर्ष की कसौटी है ।

(*नेपथ्ये*)

(*नेपथ्य में*)

योऽयमश्वः पताकेयमथवा वीरघोषणा ।
सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विषः ॥ २७ ॥

अन्वय—अयं यः अश्वः, इयं सप्तलोकैकवीरस्य दशकण्ठकुलद्विषः पताका अथवा वीरघोषणा ॥ २७ ॥

व्याख्या—अयं निकटवर्ती, यः, अश्वः घोटकः, इयम् एषा, सप्तलोकैकवीरस्य सप्तसु भूरभृतिषु लोकेषु भुवनेषु एकवीरस्य अद्वितीयशूरस्य, दशकण्ठकुलद्विषः दशकण्ठस्य रावणस्य कुलं वंशं द्वेष्टि यः सः दशकण्ठकुलद्विट् तस्य, पताका जयपत्राङ्किता वैजयन्ती, अथवा आहोस्वित्, वीरघोषणा वीरत्वप्रख्यापनवार्ता ॥ २७ ॥

अनुवाद—यह जो घोड़ा है, सो सात भुवनों में अद्वितीय वीर एवं रावण-वंश के शत्रु रामचन्द्र जी की विजय-पताका अथवा वीरत्व की घोषणा है ॥ २७ ॥

टिप्पणी—इयम्—यह विधेयभूत पताका अथवा वीरघोषणा की प्रधानता के कारण स्त्रीलिंग है, अन्यथा अश्व के अनुसार पुंल्लिंग होना चाहिये था । सप्तलोकैकवीरस्य—सप्तावयवाश्च ते लोकाश्च सप्तलोकाः तेषु एकवीरः तस्य, सप्तलोक में म. पदलोपी समास करना चाहिये, अन्यथा सप्तलोकी हो जायगा । सात लोक ये हैं—'भूर्भुवः स्वर्महश्चैव जनश्च तप एव

च। सत्यलोकश्च सप्तैते लोकास्तु परिकीर्तिताः ।।' अग्निपुराण। एक. मुख्य वीरः एकवीरः तस्य। यद्यपि व्याकरण के अनुसार 'वीरैक.' प्रयोग होना चाहिये, किन्तु 'निरङ्कुशा कवयः' के अनुसार कोई दोष नहीं है। दशकण्ठकुलद्विपः— दशकण्ठकुल✓ द्विप्+क्विप्+कर्तरि, तस्य। इस श्लोक से घोड़े के विषय में किये गये बालकों के प्रश्न का उत्तर हो जाता है। इसमें अतिशयोक्ति अलङ्कार है ॥ २७ ॥

लवः —(*सगर्वम्*) अहो ! सन्दीपनान्यक्षराणि।

लव—(*गर्व के साथ*) अरे ! ये (जो यह अश्व इत्यादि) अक्षर (वाक्य) तो उत्तेजित करने वाले हैं।

वटवः—किमुच्यते ? प्राज्ञः खलु कुमारः।

विप्रबालकगण—क्या कहते हैं ? कुमार तो पण्डित हैं।

लवः—भो भोः —तत् किमक्षत्रिया पृथिवी ? यदेवमुद्घोष्यते।

लव—ओ रक्षको ! तो क्या पृथ्वी क्षत्रिय-विहीन हो गयी है, जो इस प्रकार घोषणा कर रहे हो !

(नेपथ्ये)

(*नेपथ्य में*)

रे रे ! महाराजं प्रति कुतः क्षत्रियः ?

अरे ! महाराज (रामचन्द्र) के प्रति क्षत्रिय कहाँ ! (अर्थात् उनका विरोधी कोई क्षत्रिय नहीं है।)

लवः—धिग् जाल्मान्।

लव—मूर्खों को धिक्कार है।

टिप्पणी—जाल्मान् = अविवेकियों को। 'जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्' इत्यमरः।

यदि नो सन्ति सन्त्येव, केयमद्य विभीषिका ?
किमुक्तैरेभिरधुना तां पताकां हरामि वः ॥ २८ ॥

अन्वय—नो सन्ति यदि सन्ति एव अद्य इयं का विभीषिका ? अधुना एभिः उक्तैः किम् ? वः तां पताकां हरामि ॥ २८ ॥

व्याख्या—नो सन्ति यदि क्षत्रिया न विद्यन्ते चेत्, सन्ति एव विद्यन्त एव ('यदि ते सन्ति सन्त्येव' इति पाठभेदे तु यदि चेत् ते रामचन्द्रा

सन्ति विद्यन्ते सन्तु एव तिष्ठन्तु एव न मे कापि क्षतिः उपकृतिर्वा इति भावः इति व्याख्येयम्), अद्य अस्मिन् दिने, इयम् एषा, का विभीषिका ? किमर्थं भयप्रदर्शनम् ? एभिः अमीभिः, उक्तैः वाग्विन्यासैः, किम् अलम् ('एभिरधुना' इत्यस्य स्थाने 'मच्चिपत्यैव' इति पाठभेदस्य 'वेगेन गत्वैव' इति व्याख्या कार्या), व युष्माकं, ता पूर्वोक्ता, पताका वैजयन्ती पताकाभूतमश्वमित्यर्थः, हराम बलात् नयामि ॥ २८ ॥

अनुवाद—यदि कहा कि क्षात्रिय नहीं हैं तो हैं हीं (अर्थात् तुम्हारे कहने से क्षात्रियों का अभाव नहीं हो जाता, वे अवश्य हैं)। आज यह विभीषिका कैसी है (अर्थात् तुम डर क्या दिखला रहे हो) ? अभी इन बातों से क्या प्रयोजन ? मैं तुम्हारी उस पताका (अर्थात् विजयध्वजरूप अश्व) का हरण करता हूँ ॥ २८ ॥

टिप्पणी—विभीषिका—वि√भी+णिच्, पुक्+ण्वुल् भावे धात्वर्थ-निर्देश। यहाँ 'यदि तुममें शक्ति हो तो इस पताका का रक्षा करो' इस अर्थान्तर का आगम हो जाने से अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ २८ ॥

हे बटवः! परिवृत्य लोष्टैरभिघ्नन्त उपनयतैनमश्वम्। एष रोहितानां मध्येचरो भवतु।

व्याख्या—हे बटवः! विप्रकुमाराः! परिवृत्य वेष्टयित्वा, लोष्टैः शुष्क-मृत्पिण्डैः पाषाणखण्डैर्वा, अभिघ्नन्तः ताडयन्तः, एनमश्वम् अश्वमेधीयघोटकम्, उपनयत आश्रमसमीपं प्रापयत। एषः घोटकः, रोहितानां मृगविशेषाणां, मध्येचरः अभ्यन्तरचरणशीलः, भवतु।

अनुवाद—हे विप्रकुमारो! घेरकर ढेलों से मार-मारकर इस अश्व को आश्रम में ले जाओ। यह हरिणों के बीच में विचरण करे।

(*प्रविश्य सक्रोधः*)

(*क्रोध के साथ प्रवेश कर*)

पुरुषः—धिक् चपल! किमुक्तवानसि ? तीक्ष्णतरा ह्यायुधश्रेणयः शिशोरपि दृप्तां वाचं न सहन्ते। राजपुत्रश्चन्द्रकेतुर्दुर्दान्तः, सोऽप्य-पूर्वारण्यदर्शनाक्षिप्तहृदयो न यावदायाति, तावत्त्वरितमनेन तरुगहनेनापसर्पत।

व्याख्या——चपल ! चञ्चल। धिक् निन्दामि (त्वामिति शेषः) विमुक्तमानसि ! 'यदि ते सन्तु' इत्यादिकं विमसम्बद्धं वाक्यं गदितवान-सीत्यर्थः, तीक्ष्णतरा. अतितीव्राः, आयुधीयश्रेण्यः शस्त्रास्त्रधारिणो योद्धृवर्गाः, शिशोरपि बालस्यापि, दृप्ता गर्विता, वाच वाणीं, न सहन्ते न मर्षयन्ति। राजपुत्र राजकुमारः, चन्द्रकेतु तदाख्यः लक्ष्मणपुत्र, दुर्दान्तः दुर्दमनीयः ('अरिनिमर्दन' इति पाठभेदस्य 'शत्रुनाशकः' तथा 'आकृष्टशरासन.' इति पाठभेदस्य 'गृहीतचापः' इति व्याख्या कार्या), सोऽपि चन्द्रकेतुरपि, अपूर्वा-रण्यदर्शनाक्षिप्तहृदय. अपूर्वारण्यस्य अदृष्टपूर्ववनस्य दर्शनेन अवलोकनेन आक्षिप्तम् आकृष्ट हृदय चित्त यस्य तथाभूतः, न, यावत्, आयाति आगच्छति, तावत्, त्वरितम् अविलम्बितम्, अनेन पुरोवर्तिना, तद्गहनेन वृक्षवनेन निविडवनभागेनेत्यर्थः, अपसर्पत पलायध्वम्।

अनुवाद—पुरुष—चञ्चल ! छिः (तुझे धिक्कार है)! तूने क्या कहा ! अत्यन्त तीक्ष्ण स्वभाव वाले आयुधधारी लोग शिशु की भी गर्व से भरी हुई वाणी का सहन नहीं करते हैं। प्रचण्ड विक्रम वाले राजकुमार चन्द्रकेतु, जो आकृष्टचित्त होकर अपूर्व वन का अवलोकन कर रहे हैं, जब तक नहीं आ जाते हैं तब तक तुम लोग शीघ्र इस सघन वनपथ से होकर भाग जाओ।

बटवः—कुमार ! कृतं कृतमश्वेन । तर्जयन्ति विस्फारितशरासनाः कुमारमायुधीयश्रेण्यः । दूरे चाश्रमपदम् । इतस्त्वदेहि । हरिणप्लुतैः पलायामहे ।

व्याख्या—अश्वेन घोटकेन, कृतम् अलम्। विस्फारितशरासना. विस्फारितानि प्रसारितानि शरासनानि धनूंषि यैः ते, आयुधीयश्रेण्यः शस्त्रधारिसङ्घाः, कुमार त्वा, तर्जयन्ति भर्त्सयन्ति। दूरे विप्रकृष्टे, आश्रमपद तपोवनभूमिः। तत् तस्मात्, इतः अस्मात् स्थलात्, एहि आगच्छ। हरिणप्लुतैः मृगवत् तीव्रगमनैः, पलायामहे अपसरामः।

अनुवाद—विप्रबालकगण—कुमार ! घोड़ा हमें नहीं चाहिये, नहीं चाहिये। धनुष ताने हुए (या चमकाते हुए) शस्त्रधारियों के समूह कुमार की भर्त्सना कर रहे हैं। आश्रमस्थान भी दूर है। इसलिए आओ, हम लोग हरिण की तरह छलाँग मारते हुए भाग चलें।

टिप्पणी—आयुधीयश्रेण्यः = अस्त्रशस्त्रधारियों के समूह । आयुधेन चरन्ति ये ते आयुधीयाः, आयुधशब्दात् 'आयुधाच्छ च' इतिसूत्रेण छप्रत्ययः तस्य ईयादेशः, तेषां श्रेण्यः ।

लवः—(*स्मितं कृत्वा*) किं नाम विस्फुरन्ति शस्त्राणि ? (*इति धनुरारोपयन्*)

लव—(*मुस्कराकर*) क्या शस्त्र चमक रहे हैं ? (*यह कहकर धनुष पर डोरी चढ़ाते हुए*)

ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्र-
मुद्भूरिघोरघनघर्घरघोषमेतत् ।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्र-
जृम्भाविडम्बि विकटोदरमस्तु चापम् ॥ २६ ॥

अन्वय—ज्याजिह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रम् उद्भूरिघोरघनघर्घरघोषम् एतत् चापं ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बि विकटोदरम् अस्तु ॥ २६ ॥

व्याख्या—ज्याजिह्वया ज्या शिञ्जिनी जिह्वा रसना इव तया, वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रम् वलयिते वेष्टिते उत्कटे उग्रे कोटी अग्रभागद्वयं दंष्ट्रे विशालौ दन्ताविव यस्य तत्, उद्भूरिघोरघनघर्घरघोषम् उद्भूरयः असंख्या घोराः भयानकाः घनाः निबिडाः वा घनस्य मेघस्य इव घर्घरघोषाः घर्घरेत्येव शब्दाः यस्मात् तत् ('उद्भूरि०' इत्यस्य स्थाने 'उद्गारि०' इति पाठे तु उद्गारिणः उत्तिष्ठन्तः इति व्याख्येयम्), एतत् चापं मदीयं धनुः, ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बि ग्रासे जगतः कवलीकरणे प्रसक्तस्य प्रवृत्तस्य हसतः हास्यं कुर्वतः अन्तकस्य यमराजस्य यत् वक्त्रं मुखं तदेव यन्त्रं तस्य जृम्भा व्यादानं विडम्बयितुम् अनुकर्तुं शीलं यस्य तत्, (अतएव) विकटोदरं विकटं विशालं दारुणं वा उदरं मध्यं यस्य तत् तथोक्तम्, अस्तु भवतु ॥ २६ ॥

अनुवाद—जीभ के समान मौर्वी (धनुष की डोरी) से परिवेष्टित, दो विशाल दाँतों की तरह भयंकर दोनों अग्रभागों से युक्त और असंख्य, भयानक एवं निरन्तर घर्घर शब्द वाला यह धनुष (प्रलयकाल में जगत् को)

कवलित करने या ग्रास बनाने में प्रवृत्त तथा हास्ययुक्त यमराज के मुख रूप यन्त्र की जम्हाई का अनुकरण करने वाला और (अतएव) भयकर मध्य-भाग वाला हो जाय ।।२६।।

टिप्पणी—वलयिता—वलयेन योजिता इति वलय+णिच् (नामधातु)+क्त कर्मणि । इस पद्य में पाँच उपमा अलकार हैं जिनकी स्थिति परस्पर सापेक्ष होने से सकर अलकार हो जाता है । यद्यपि इस श्लोक में सयुक्तादि वर्णों के कर्णकटु होने से दुःश्रवत्व दोष कहा जा सकता है, किन्तु वीर रस के अनुकूल होने से वह दूषण भी भूषण हो जाता है । जैसा कि दर्पणकार ने कहा है—'वक्तरि क्रोधसयुक्ते वाच्येऽत्यन्त समुद्धते । रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तदु.श्रवत्व गुणो भवेत् ॥' यहाँ वीर रस है, ओजगुण है और गौडी रीति है । यह वसन्ततिलका छन्द है ।। २६ ।।

(*इति यथोचितं परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे* ।)

(*अनन्तर यथोचित रीति से घूमकर सभी चले जाते हैं* ।)

इति महाकविभवभूतिविरचित उत्तररामचरिते कौशल्याजनकयोगो नाम चतुर्थोऽङ्कः ।। ४ ।।

महाकवि भवभूति रचित उत्तररामचरित नाटक में कौशल्या और जनक मिलन नामक चौथा अक समाप्त ।। ४ ।।

इति श्रीतारिणीशशर्मकृतोत्तररामचरितेन्द्रवलाख्यव्याख्यादौ चतुर्थाङ्कविवरणं समाप्तम् ।। ४ ।।

पञ्चमोऽङ्कः

(नेपथ्ये)

(नेपथ्य में)

भो भो. सैनिकाः ! जातमवलम्बनमस्माकम् ।

हे योद्धाओ ! हम लोगों को सहारा मिल गया ।

नन्वेष त्वरितसुमन्त्रनुद्यमानप्रोद्वल्गत्प्रजवितवाजिना रथेन ।

उत्खातप्रचलितकोविदारकेतुः श्रुत्वा वः प्रधनमुपैति चन्द्रकेतुः ।। १ ।।

अन्वय—ननु त्वरितसुमन्त्रनुद्यमानप्रोद्वल्गत्प्रजवितवाजिना रथेन उत्खातप्रचलितकोविदारकेतुः एष चन्द्रकेतुः वः प्रधनं श्रुत्वा उपैति ।। १ ।।

व्याख्या—ननु इति सैनिकसम्बोधने, त्वरितसुमन्त्रनुद्यमानप्रोद्वल्गत्प्रजवितवाजिना त्वरितेन त्वरान्वितेन सुमन्त्रेण एतन्नाम्ना सारथिना नुद्यमानाः प्रेर्यमाणाः प्रोद्वल्गन्तः प्रचलन्तः प्रजविताः अतिशयवेगशालिनः वाजिनः अश्वाः यस्य तथाविधेन, रथेन स्यन्दनेन, उत्खातप्रचलितकोविदारकेतुः उत्खातेषु निम्नोन्नतप्रदेशेषु प्रचलितः विशेषेण कम्पितः कोविदारकेतुः रक्त काञ्चनवृक्षनिर्मितध्वजदण्डो यस्य स तथोक्तः, एष. दृश्यमानः, चन्द्रकेतुः लक्ष्मणपुत्रः, वः युष्माकं, प्रधनं युद्धं, श्रुत्वा आकर्ण्य, उपैति आगच्छति ।।१।।

अनुवाद—हे सैनिको ! तुम लोगों का युद्ध सुनकर ये चन्द्रकेतु शीघ्रतायुक्त सुमन्त्र की प्रेरणा से चलते हुए अतिशय वेगशाली घोड़ों वाले रथ से, जिसका ध्वज-दण्ड लाल कचनार के पेड़ की लकड़ी का बना हुआ है और ऊँची-नीची जमीन में (रथ के) चलने के कारण विशेष रूप से कम्पायमान है, समीप आ रहे हैं ।। १ ।।

टिप्पणी—त्वरित—त्वरा सञ्जाता अस्य इति त्वरा—इतच् । कोविदार०=कचनार । 'कोविदारश्चमरिकः कुद्दालो युगपत्रकः ।' इत्यमरः । प्रधनम्=युद्ध । 'युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम् ।' इत्यमरः । इस पद्य में पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार तथा अन्त्ययमक अलंकार हैं । इन दोनों

की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह प्रहर्षिणी छन्द है। इस अङ्क के प्रारम्भ से इस पद्य की समाप्ति तक का सन्दर्भ चूलिका है। कहा भी है—'नेपथ्यान्तःस्थितैः पात्रैश्चूलिकाऽङ्कस्य सूचनम्॥ १॥

(ततः प्रविशति सुमन्त्रसारथिना रथेन धनुष्पाणिः साद्भुतहर्षसम्भ्रमश्चन्द्रकेतुः ।)

(तदनन्तर सारथि सुमन्त्र के साथ रथ पर आरूढ एवं हाथ में धनुष लिये हुए चन्द्रकेतु का आश्चर्य, हर्ष एवं शीघ्रता से प्रवेश होता है।)

चन्द्रकेतुः—आर्य सुमन्त्र ! पश्य पश्य ।

चन्द्रकेतु—आर्य सुमन्त्र ! देखिये, देखिये—

किरति कलितकिंचित्कोपरज्यन्मुखश्री-
रविरतगुणगुञ्जत्कोटिना कार्मुकेण।
समरशिरसि चञ्चत्पञ्चचूडश्चमूना-
मुपरि शरतुषारं कोऽप्ययं वीरपोतः ॥ २ ॥

अन्वय—कलितकिञ्चित्कोपरज्यन्मुखश्रीः चञ्चत्पञ्चचूडः कोऽपि अयं वीरपोतः समरशिरसि अविरतगुणगुञ्जत्कोटिना कार्मुकेण चमूनाम् उपरि शरतुषारं किरति ॥ २ ॥

व्याख्या—कलितकिञ्चित्कोपरज्यन्मुखश्रीः कलितेन समुद्भूतेन किञ्चित्कोपेन ईषत्क्रोधेन रज्यन्ती लोहितायमाना मुखश्रीः वदनशोभा यस्य सः, चञ्चत्पञ्चचूडः चञ्चन्त्यः कम्पमानाः पञ्चचूडाः पञ्चसंख्यकाः शिखाः यस्य सः, कोऽपि अपरिचितः, अयं समीपवर्ती, वीरपोतः वीरशिशुः, समरशिरसि रणमूर्द्धनि, अविरतगुणगुञ्जत्कोटिना अविरतं विरामरहितं यथा स्यात् तथा गुणे ज्यायाम् गुञ्जन्त्यौ शब्दायमाने कोटी अटन्यौ यस्य तेन, कार्मुकेण धनुषा, चमूनां सैनिकानाम्, शरतुषारं शराः बाणाः तुषारः तुहिनम् इव तं, किरति विक्षिपति ॥ २ ॥

अनुवाद—यह कोई वीर बालक, जिसके मुख की कान्ति कुछ क्रोध करने से लाल हो गई है और पाँचों शिखायें कम्पित हो रही हैं, समराङ्गण में सेनाओं के ऊपर मौर्वी में निरन्तर गूँजते हुए दोनों नोक वाले धनुष से हिम की भाँति बाण गिरा रहा है ॥ २ ॥

टिप्पणी—पंचचूडः = पाँच शिखाओं से युक्त। 'पञ्चचूडा अङ्गिरसः' इस वचन के अनुसार पहले पाँच शिखायें भी रखी जाती थीं। चमूनाम् = सेनाओं के। 'पृतनाऽनीकिनी चमूः' इत्यमरः। इस पद्य में तुषारों से बाणों की समता प्रतिपादित होने के कारण लुप्तोपमा अलङ्कार है। यह मालिनी छन्द है॥ २॥

(*साश्चर्यम्*)

(*आश्चर्य के साथ*)

मुनिजनशिशुरेकः सर्वतः सम्प्रकोपा-
नव इव रघुवंशस्याप्रसिद्धः प्ररोहः।
दलितकरिकपोलग्रन्थिटङ्कारघोर-
ज्वलितशरसहस्रः कौतुकं मे करोति॥ ३॥

अन्वय—रघुवंशस्य नवः अप्रसिद्धः प्ररोहः इव एको मुनिजनशिशुः सम्प्रकोपात् सर्वतः दलितकरिकपोलग्रन्थिटङ्कारघोरज्वलितशरसहस्रः मे कौतुकं करोति॥ ३॥

व्याख्या—रघुवंशस्य रघुकुलस्य, नवः नवीनः, अप्रसिद्धः प्रसिद्धिमनधिगतः, प्ररोहः अङ्कुरः, इव तद्वत्, एकः द्वितीयरहितः, मुनिजनशिशुः मुनिबालकः, सम्प्रकोपात् अत्यन्तक्रोधात्, सर्वतः समन्तात्, दलितकरिकपोलग्रन्थिटङ्कारघोरज्वलितशरसहस्रः दलितानां निर्मथितानां करिकपोलानां हस्तिगण्डस्थलानां ये ग्रन्थयः सन्धिभागाः तेषां टङ्कारेण टमित्याकारकविदारणशब्देन घोरं भयंकरं ज्वलितं प्रदीप्तं शराणां बाणानां सहस्रं दशशती यस्य स तथोक्तः, (सन्) मे मम, कौतुकं कौतूहलं, करोति विदधाति॥ ३॥

अनुवाद—रघुकुल के नवीन अतएव अप्रसिद्ध अङ्कुर के समान यह एकाकी मुनिबालक अत्यन्त क्रोध से चारों ओर हाथियों की कपोल-ग्रन्थियों को विदीर्ण करके 'टम्' इस अव्यक्त विदारण शब्द से भयंकर तथा देदीप्यमान हजारों बाणों द्वारा मेरे कुतूहल को उत्पन्न कर रहा है॥ ३॥

टिप्पणी—मुनिजनशिशु = मुनिश्चासौ जनश्च मुनिजनः कर्मधारय, तस्य शिशुः षष्ठीतत्०। इस पद्य में उपमा अलङ्कार है और मालिनी छन्द है॥ ३॥

सुमन्त्र—आयुष्मन् !

सुमन्त्र—चिरञ्जीव !

अतिशयितसुरासुरप्रभाव शिशुमवलोक्य तथैव[1] तुल्यरूपम् ।
कुशिकसुतमखद्विषां प्रमाथे धृतधनुषं रघुनन्दन स्मरामि ॥ ४ ॥

अन्वय—तथैव तुल्यरूपम् अतिशयितसुरासुरप्रभाव शिशुम् अवलोक्य कुशिकसुतमखद्विषा प्रमाथे धृतधनुष रघुनन्दनं स्मरामि ॥ ४ ॥

व्याख्या—तथैव तेनैव प्रकारेण, तुल्यरूप समानाकारम्, अतिशयित सुरासुरप्रभावम् अतिशयित. अतिक्रान्त सुरासुराणा देवदैत्याना प्रभाव पराक्रमः येन तथाभूत, शिशुम् अमु बालकम्, अवलोक्य दृष्ट्वा, कुशिकसुत मखद्विषा कुशिकसुतस्य विश्वामित्रस्य मखद्विषा यज्ञविघातकाना मारीचादि-राक्षसानामित्यर्थ., प्रमाथे संहारे, धृतधनुष धनुर्धर, रघुनन्दनं रामभद्र, स्मरामि चिन्तयामि ॥ ४ ॥

अनुवाद—उसी प्रकार तुल्य रूप वाले तथा देव दानवों के पराक्रम का अतिक्रमण करने वाले इस शिशु को देखकर (मुझे) विश्वामित्र के यज्ञ में विघ्न डालने वाले राक्षसों का नाश करने के समय धनुष धारण किये हुए रामभद्र का स्मरण हो रहा है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस पद्य के प्रथम चरण में अतिशयोक्ति और द्वितीय चरण में उपमा एव स्मरण नामक अलकार हैं। फिर इन तीनों में अगागिभाव सम्बन्ध होने से सकर अलकार हो जाता है। यह पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ ४ ॥

चन्द्रकेतु—मम त्वेकमुद्दिश्य भूयसामारम्भ इति हृदयमपत्रपते ।

चन्द्रकेतु—किन्तु एक को लक्ष्य करके अनेक ने युद्धारम्भ किया है (अर्थात् एक मुनिकुमार से हमारे बहुसंख्यक सैनिक लड़ रहे हैं), यह देख कर मेरा हृदय लज्जित हो रहा है।

अयं हि शिशुरेकको समरभारभूरिस्फुरत्-
करालकरकन्दलीकलितशस्त्रजालैर्बलै ।
क्वणत्कनककिङ्किणीझणझणायितस्यन्दनै-
रमन्दमददुर्दिनद्विरदवारिदैरावृतः[2] ॥ ५ ॥

---

१. 'तथैव' इति पाठभेदः । २. 'वारिदै' इति पाठभेद. ।

अन्वय—समरभारभूरिस्फुरत्करालकरकन्दलीकलितशस्त्रजालैः क्वणत्कनककिङ्किणीझणझणायितस्यन्दनैः अमन्दमददुर्दिनद्विरदडामरैः बलैः अयम् एकको हि शिशुः आवृतः ॥ ५ ॥

व्याख्या—समरभारभूरिस्फुरत्करालकरकन्दलीकलितशस्त्रजालैः समरभारे तुमुलयुद्धे भूरि प्रचुरं यथा स्यात् तथा स्फुरन्ति प्रकाशमानानि करालानि भयानकानि करकन्दलीभिः स्तम्भसदृशविशालहस्तैः कलितानि गृहीतानि (०'जटिल'० इति पाठभेदे तु 'करकन्दलीषु जटिलानि निबिडानि' इति व्याख्येयम्), शस्त्रजालानि आयुधसमूहा येषां तैः, क्वणत्कनककिङ्किणीझणझणायितस्यन्दनैः, क्वणन्तीभिः शब्दायमानाभिः कनककिङ्किणीभिः स्वर्णक्षुद्रघण्टिकाभिः झणझणायिताः झणझणेत्यव्यक्तशब्दं कुर्वन्तः स्यन्दनाः रथाः येषां तैः, अमन्दमददुर्दिनद्विरदडामरैः अमन्दाः अनल्पाः मदाः दानजलानि दुर्दिनानि वृष्टय इव येषां ते ते च ते द्विरदाः गजाः तैः डामरैः भयङ्करैः, बलैः अस्मत्सैनिकैः, अयं पुरोवर्ती, एककः एकाकी, हि एव, शिशुः बालः, आवृतः हन्त वेष्टितः (इदमेव मे लज्जायाः कारणम्) ॥ ५ ॥

अनुवाद—तुमुल युद्ध में कदली वृक्ष के समान विशाल हाथों में स्थित अत्यन्त चमकीले एवं भयानक अस्त्रशस्त्रों वाली, शब्द करती हुई सोने की छोटी-छोटी घंटियों से झनझनाते हुए रथों वाली और प्रचुर मदजल की वृष्टि करने वाले हाथियों से भयङ्कर सेनाओं द्वारा यह अकेला ही बालक घिरा हुआ है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—कराल = भयङ्कर । 'करालो भीषणेऽन्यवत्' इति विश्वः । दुर्दिन = वृष्टि । 'घनान्धकारे वृष्टौ च दुर्दिनं कवयो विदुः ।' झणझणायित—झणझणेत्यव्यक्तानुकरणशब्दात् 'अव्यक्तानुकरणाद्'—इत्यनेन डाच्प्रत्ययः ततः 'लोहितादिडाज्भ्यः' इत्यनेन क्यष्प्रत्ययः ततः कर्तरि क्तप्रत्ययः । इस पद्य में उपमा अलङ्कार है और पृथ्वी छन्द है ॥ ५ ॥

सुमन्त्रः—वत्स ! एभिः समस्तैरपि नालमस्य, किं पुनर्व्यस्तैः ?

सुमन्त्र—वत्स ! ये सभी सेनायें सम्मिलित रूप में भी इसके लिए पर्याप्त नहीं हैं, फिर पृथक्-पृथक् रूप में तो कहना ही क्या ?

चन्द्रकेतुः—आर्य ! त्वर्यतां त्वर्यताम् । अनेन हि महानाश्रितजनप्रमारोऽस्माकमारब्धः । तथाहि—

चन्द्रकेतु—आर्य ! शीघ्रता करें। क्योंकि इसने हमारे आश्रित धनों का महान् विध्वंस आरम्भ कर दिया है। देखिये—

आगर्जद्गिरिकुञ्जकुञ्जरघटानिस्तीर्णकर्णज्वर-
ज्यानिर्घोषममन्ददुन्दुभिरवैराध्मातमुज्जृम्भयन्।
वेल्लद्भैरवरुण्डखण्डनिकरैर्वीरो विधत्ते भुवं
तृष्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्यमाणामिव ॥ ६ ॥

अन्वय—वीरः अमन्ददुन्दुभिरवैः आध्मातम् आगर्जद्गिरिकुञ्जकुञ्जरघटानिस्तीर्णकर्णज्वरज्यानिर्घोषम् उज्जृम्भयन् वेल्लद्भैरवरुण्डखण्डनिकरैः भुवं तृष्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्यमाणाम् इव विधत्ते ॥ ६ ॥

व्याख्या—(अथ) वीरः शूरः (बालकः), अमन्ददुन्दुभिरवैः अमन्दैः अनल्पैः दुन्दुभिरवैः भेरीशब्दैः, आध्मातं परिपूर्णम्, आगर्जद्गिरिकुञ्जकुञ्जरघटानिस्तीर्णकर्णज्वरज्यानिर्घोषम् आगर्जन्तः भयवशाद्गाढगर्जनं कुर्वन्तः ये गिरिकुञ्जकुञ्जराः पार्वत्यलतादिसमाच्छादितस्थानवर्तिनो हस्तिनः तेषां या घटा समूहः तस्यै निस्तीर्णः दत्तः (०'विस्तीर्ण०' इति पाठभेदे घटासु विस्तीर्णः प्रसारितः इति व्याख्येयम्) कर्णज्वरः श्रोत्रपीडा येन तं तथाविधं ज्यानिर्घोषं मौर्वीशब्दम् उज्जृम्भयन्, उत्पादयन्, वेल्लद्भैरवरुण्डखण्डनिकरैः वेल्लता लुठता भैरवाणां भीषणानां रुण्डखण्डानां कबन्धानां तन्मस्तकानां च निकरैः समूहैः, भुवं महीं तृष्यत्कालकरालवक्त्रविघसव्याकीर्यमाणां तृष्यतः पिपासतः कालस्य यमस्य यत् करालं भयानकं वक्त्रं मुखं तस्य विघसैः भुक्तावशिष्टद्रव्यैः व्याकीर्यमाणाम् इव समाच्छाद्यमानाम् इव, विधत्ते करोति ॥ ६ ॥

अनुवाद—नगाड़ों की गम्भीर ध्वनि से बढ़ने वाले तथा बहुत गरजते हुए पर्वतीय लताकुञ्जवर्ती गजसमूह के कानों में पीड़ा पहुँचाने वाले मौर्वी (धनुष की डोरी) के शब्द को उत्पन्न करता हुआ यह वीर बालक उछलते हुए भयंकर कबन्धों (सिर कटे धड़ों) तथा मस्तकों के समूह से पृथ्वी को मानो प्यासे यमराज के भयानक मुख के भुक्तशेष पदार्थों से परिव्याप्त कर रहा है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—घटा = हाथियों का झुण्ड। 'गजानां घटना घटा'

इत्यमरः। विघस = खाने के बाद बचा हुआ अंश। 'विघसो यज्ञशेषभोजनशेषयोः' इत्यमरः। वि/अद्+अप् 'उपसर्गे अदः' इत्यनेन, ततः 'घञपोश्च' इत्यनेन घसादेशः। इस पद्य में अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं। इनकी स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१६॥

सुमन्त्रः—(स्वगतम्) कथमीदृशेन सह वत्सस्य चन्द्रकेतोर्द्वन्द्वसम्प्रहारमनुजानीमः ? (विचिन्त्य) अथवा इक्ष्वाकुकुलवृद्धाः खलु वयम्। प्रत्युपस्थिते रणे का गतिः ?

व्याख्या—कथं केन प्रकारेण, ईदृशेन अद्भुतकर्मणा लवेन इत्यर्थः, सह साकं, वत्सस्य आयुष्मतः, चन्द्रकेतोः, द्वन्द्वसम्प्रहारं द्वन्द्वयुद्धम्, अनुजानीमः अनुमोदयाम ? विचिन्त्य विचार्य, अथवा आहोस्वित्, वयम्, इक्ष्वाकुकुलवृद्धाः इक्ष्वाकुवंशस्य स्थविराः (स्मः)। प्रत्युपस्थिते आपतिते, रणे समरे, का गतिः क उपायः ?

अनुवाद—सुमन्त्र—(मन में) मैं कैसे इस (अद्भुत पराक्रमी वीर) के साथ वत्स चन्द्रकेतु के द्वन्द्वयुद्ध का अनुमोदन करूँ ? (विचारकर) अथवा मैं इक्ष्वाकु कुल का वृद्ध हूँ। युद्ध छिड़ जाने पर उपाय ही क्या है ? (अर्थात् इस अनिवार्य द्वन्द्व युद्ध के लिए मुझे अनुमति देनी ही चाहिए।)

टिप्पणी द्वन्द्वसम्प्रहारम्—द्वयोः द्वयोः इति द्वन्द्वम् निपातनात्, सम्प्रहरन्ते अस्मिन् इति सम्—प्र / हृ+घञ् अधिकरणे = सम्प्रहारः = युद्धम्, द्वन्द्व सम्प्रहार द्वन्द्वसम्प्रहार सुप्सुपा, तम्।

चन्द्रकेतुः—(सविस्मयलज्जासम्भ्रमम्) हन्त धिक्! अपावृत्तानि सर्वतः सैन्यानि मम।

चन्द्रकेतु—(विस्मय, लज्जा और हड़बड़ी के साथ) हाय धिक्कार है! चारों तरफ से मेरी सेनायें भाग पड़ीं।

सुमन्त्रः—(रथवेगमभिनीय) आयुष्मन्! एष ते वाग्विषयीभूतः स वीरः।

सुमन्त्र—(रथ के वेग का अभिनय करके) आयुष्मन्! अब वह वीर आपके वार्तालाप का विषय हो गया है (अर्थात् निकट आ गया है)।

चन्द्रकेतुः—(*विस्मृतिमभिनीय*) आर्य ! किन्नामधेयमाख्यातमाख्यायकैः ?

चन्द्रकेतु—(*विस्मरण का अभिनय करके*) आर्य ! सवाददाताओं ने इसका क्या नाम बताया था ?

सुमन्त्रः—'लव' इति ।

सुमन्त्र—'लव'

चन्द्रकेतुः—

भो भो लव ! महाबाहो ! किमेभिस्तव सैनिकैः ।
एषोऽहमेहि मामेव तेजस्तेजसि शाम्यतु ॥ ७ ॥

अन्वय—भो भो महाबाहो ! लव ! एभिः सैनिकैः तव किम् ? एषः अहम् (अस्मि), मामेव एहि, तेजः तेजसि शाम्यतु ॥ ७ ॥

व्याख्या—भो भो महाबाहो लव ! हे आजानुलम्बितभुज ! एभिः निकटवर्तिभिः, सैनिकैः सैन्यैः, तव भवतः, किं किम्प्रयोजनमित्यर्थः, एषः त्वत्समीपस्थः, अहं चन्द्रकेतुः (अस्मि), मामेव एहि मामेव आगच्छ (योद्धुम्), तेजः शौर्यं, तेजसि शौर्ये, शाम्यतु लयं गच्छतु ॥ ७ ॥

अनुवाद—चन्द्रकेतु—हे विशाल भुजा वाले लव ! इन सैनिकों से तुम्हें क्या प्रयोजन ? (तुमसे युद्ध करने के लिए) यह मैं हूँ, मेरे ही निकट आओ । तेज तेज में लीन हो जाय ॥ ७ ॥

सुमन्त्रः—कुमार ! पश्य पश्य—

सुमन्त्र—कुमार ! देखिये, देखिये—

विनिवर्तित एष वीरपोतः पृतनानिर्मथनात्त्वयोपहूतः ।
स्तनयित्नुरवादिभावलीनामवमर्दादिव दृप्तसिंहशावः ॥ ८ ॥

अन्वय—एष वीरपोतः त्वया उपहूतः (सन्) दृप्तसिंहशावः स्तनयित्नुरवात् इभावलीनाम् अवमर्दात् इव पृतनानिर्मथनात् विनिवर्तितः ॥ ८ ॥

व्याख्या—एषः दृश्यमानः, वीरपोतः वीरबालः, त्वया भवता, उपहूतः आकारितः (सन्), दृप्तसिंहशावः मदोद्धतः सिंहशिशुः, स्तनयित्नुरवात् मेघगर्जनात्, इभावलीनां गजश्रेणीनाम्, अवमर्दात् इव हननादिव, पृतनानिर्मथनात् सैन्यसंक्षयात्, विनिवर्तितः विरतः (जातः) ॥ ८ ॥

अनुवाद—यह वीर बालक तुम्हारे बुलाने पर उसी तरह सेनाओं के महानाश से पराङ्मुख हो गया है जैसे दर्पयुक्त सिंह-शावक मेघ के गरजने पर गज-समूह के अवमर्दन से निवृत्त हो जाता है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—पृतनानिर्मथनात्—पृतना = सेना 'पृतनाऽनीकिनी चमूः' इत्यमरः, तस्याः निर्मथनम्, तस्मात् अपादाने पञ्चमी। उपहृतः—उप/हे+क्त कर्मणि। इस पद्य में उपमा अलङ्कार है। यह मालभारिणी छन्द है। मालभारिणी का लक्षण यह है—'विषमे ससजा यदा गुरू चेत् सभरा येन तु मालभारिणीयम्'। इस छन्द को औपच्छन्दसिक भी कहते हैं ॥ ८ ॥

(ततः प्रविशति धीरोद्धतपराक्रमो लवः।)

(तदनन्तर वीर एवम् उत्कट पराक्रमी लव आता है।)

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'धीरोद्धतपराक्रमः' के स्थान मे 'त्वरितोद्धतक्रमः' पाठ है। इसका अर्थ होगा—'शीघ्रता एव दर्प से चलते हुए'।

लवः—साधु, राजपुत्र ! साधु, सत्यमैक्ष्वाकः खल्वसि। तदहं परागत एवास्मि।

लव—वाह राजकुमार ! वाह, सचमुच तुम इक्ष्वाकुवंशीय हो। अत. मैं पहुँचा ही हूँ (अर्थात् युद्ध के लिए तुम्हारे सामने ही उपस्थित हूँ)।

टिप्पणी—ऐक्ष्वाक.—इक्ष्वाकोर्गोत्रापत्यं पुमान् इति इक्ष्वाकु+अञ् 'दाण्डिनायन'—इत्यादिना निपातनात् सिद्धिः।

(नेपथ्ये महान् कलकलः।)

(नेपथ्य में बड़ा शोरगुल होता है।)

लव.—(*सावेगं परावृत्य*) कथमिदानीं भग्ना अपि पुनः प्रतिनिवृत्ताः पृष्ठानुसारिणः पर्यवष्टम्भयन्ति मां चमूपतयः। धिग्जाल्मान्।

व्याख्या—सावेगं सोत्कण्ठं ('सावष्टम्भम्' इति पाठे तु 'अवष्टम्भेन स्थित्या सह' इति व्याख्येयम्), परावृत्य परासुन्मुखीभूय, कथं केन प्रकारेण, इदानीम् अधुना, भग्ना अपि मया पराजिताः सन्तोऽपि, पुन. भूय, प्रतिनिवृत्ताः युद्धस्थलमुपागता, पृष्ठानुसारिणः मत्पृष्ठानुसरणशीला, चमूपतय सेनापतयः, मा लवं, पर्यवष्टम्भयन्ति वेष्टयन्ति वा समीपस्थिता भवन्ति। जाल्मान् मूर्खान्, धिक् निन्दामि।

अनुवाद—(आवेग (उत्साह और उत्तेजना) के साथ लौटकर) कैसे ये सेनापति लोग मेरे द्वारा पराजित हो जाने पर भी अब फिर लौटकर मेरा पीछा करते हुए निकट पहुँच रहे हैं या मुझे घेर रहे हैं। अविचारियों को धिक्कार है।

अयं शैलाघातक्षुभितवडवावक्त्रहुतभुक्
　　प्रचण्डक्रोधार्चिर्निचयकवलत्वं व्रजतु मे।
समन्तादुत्सर्पद्घनतुमुलहेलाकलकलः
　　पयोराशेरोघः प्रलयपवनास्फालित इव ॥ ६ ॥

अन्वय—अयं समन्तात् उत्सर्पद्घनतुमुलहेलाकलकलः प्रलयपवनास्फालितः पयोराशेः ओघः इव मे शैलाघातक्षुभितवडवावक्त्रहुतभुक्प्रचण्डक्रोधार्चिर्निचय कवलत्वं व्रजतु ॥ ६ ॥

व्याख्या—अयं श्रूयमाणः, समन्तात् सर्वतः उत्सर्पद्घनतुमुलहेलाकलकल उत्सर्पन् उद्गच्छन् घनः निरन्तरः तुमुलः सङ्कुलः यः हेलायाः समरक्रीडायाः (क्वचित् 'हेला०' इत्यस्य स्थाने 'सेना' इति पाठः), कलकलः कोलाहलः, प्रलयपवनास्फालितः प्रलयपवनेन युगान्तकालीनवायुना आस्फालितः आलोडितः, पयोराशेः समुद्रस्य, ओघ इव जलसमूह इव, मे मम, शैलाघातक्षुभितवडवावक्त्रहुतभुक्प्रचण्डक्रोधार्चिर्निचयकवलत्वं शैलानां पर्वतानाम् आघातेन सङ्घर्षेण क्षुभितः उद्दीपितः यः वडवावक्त्रहुतभुक् वाडवाग्निः तद्वत् प्रचण्ड भयावहः यः क्रोधः रोषः स एव अर्चिषां ज्वालानां निचयः समूहः तस्य कवलत्वं ग्रासत्वं, व्रजतु गच्छतु ॥ ६ ॥

अनुवाद—प्रलयकालीन वायु के द्वारा उद्वेलित समुद्र की जल राशि जैसे पर्वतों के आघात से क्षुब्ध वडवानल की प्रचण्ड क्रोध ज्वालाओं के समूह का ग्रास होती है उसी तरह यह चारों ओर से फैलता हुआ घना एवं जटिल युद्ध क्रीड़ा का कोलाहल मेरे प्रचण्ड कोपानल का भक्ष्य बने ॥ ६ ॥

टिप्पणी—वडवावक्त्रहुतभुक् = वडवानल। एक बार और्व नामक मुनि अग्नि में अपना ऊरु (जाँघ) डालकर कुशा से मन्थन करने लगे। अनन्तर उनके ऊरु से अग्नि उत्पन्न हुई जो संसार को जलाने लगी। जब ब्रह्मा ने यह देखा तो मुनि को किसी तरह शान्त किया और उस अग्नि को

समुद्र-गर्भ-स्थित वडवा (घोड़ी) के मुँह में स्थापित करके उसके भक्ष्य के लिए समुद्र का जल निर्दिष्ट कर दिया। (मत्स्य पुराण)

इस पद्य में उपमा और रूपक अलंकारों में अंगांगिभाव सम्बन्ध होने से संकर अलंकार हो जाता है। यह शिखरिणी छन्द है ॥ ६ ॥

(सवेगं परिक्रामति।)

(वेग के साथ कदम रखता है।)

चन्द्रकेतुः—भो भो कुमार !

चन्द्रकेतु—हे कुमार !

अत्यद्भुतादपि गुणातिशयात्प्रियो मे
तस्मात् सखा त्वमसि यन्मम तत्तवैव।
तत् किं निजे परिजने कदनं करोषि
नन्वेष दर्पनिकषस्तव चन्द्रकेतुः ॥ १० ॥

अन्वय—अत्यद्भुतात् गुणातिशयात् अपि त्वं मे प्रियः सखा असि, तस्मात् यत् मम, तत् तव एव। तत् निजे परिजने किं कदनं करोषि ? ननु एष चन्द्रकेतुः तव दर्पनिकषः ॥ १० ॥

व्याख्या—अत्यद्भुतात् अतिविस्मयकरात्, गुणातिशयात् अपि शौर्याद्यतिरेकात् अपि, त्वं लवः मे मम, प्रियः सखा दयितं मित्रम्, असि भवसि, तस्मात् हेतो, यत् वस्तु, मम मत्सम्बद्धं, तत् वस्तु, तव एव भवत्सम्बद्धमेव, तत् तस्मात्, निजे स्वकीये, परिजने परिवारे, किं कथं, कदनं विमर्दनं, करोषि विदधासि ? ननु भो लव !, एषः तव पुरोवर्ती, चन्द्रकेतुः अहं, तव लवस्य, दर्पनिकषः दर्पस्य वीरत्वाभिमानस्य निकषः निकषपाषाणः परीक्षास्थानमित्यर्थः ॥ १० ॥

अनुवाद—तुम अत्यन्त विस्मयोत्पादक गुणाधिक्य के कारण मेरे प्रिय मित्र हो। अतः जो वस्तु मेरी है, वह तुम्हारा है। इसलिए क्यों अपने परिजनों को उत्पीड़ित कर रहे हो ? हे लव ! यह चन्द्रकेतु तुम्हारे गर्व की कसौटी है (अर्थात् तुम इन बेचारे सैनिकों को छोड़कर मुझ से युद्ध करने योग्य हो) ॥ १० ॥

टिप्पणी—गुणातिशयात्—अति √ शी + अच् भावे अतिशयः, गुणानाम् अतिशयः, तस्मात् हेतौ पञ्चमी। प्रियः—प्रीणाति इति √ प्री + क

कर्तरि। परिजन —परिगतो जन परिजन प्रादिसमास । यहाँ चन्द्रकेतु म निकपत्व क आरोप का उपयोग दर्प परीक्षा से किया गया है, अत परिणाम अलङ्कार है। यह वसन्ततिलका छ द है ॥ १० ॥

लव —(*सहर्षसम्भ्रम परावृत्य*) अहो ! महानुभावस्य प्रसन्न कर्कशा वीरवचनप्रयुक्तिरिक्ष्वाकुकुमारस्य । तत् किमेभि ? एनमेव तावत्सम्भावयामि।

व्याख्या—सहर्षसम्भ्रम समप्रतिपक्षवीरलाभज यो हर्ष युद्धकर णाय सम्भ्रमस्त्वरा ताभ्या सहित यथा स्यात् तथा, परावृत्य चन्द्रकेतोरभि मुखीभूय, (आह) अहो इति विस्मये, महानुभावस्य महामहिमशालिन, इक्ष्वाकुकुमारस्य सूर्यवशीयबालस्य, प्रसन्नकर्कशा प्रसन्ना निर्मला कर्कशा परुषा, वीरवचनप्रयुक्ति वीरजनोचितवाक्यव्यवहार । तत् तस्मात्, एभि सैनिकै, किम् अलम्, एनमेव चन्द्रकेतुमेव, सम्भावयामि युद्धकरणेन सम्मान यामि, तावत् इति वाक्यालकारे।

अनुवाद—लव—(*आनन्द और व्यस्तता के साथ लौटकर*) अहा ! महाप्रभावशाली सूर्यवंशीय राजकुमार का वीरोचित वाक्य प्रयोग स्वच्छ एव कठोर है। इसलिए इन सैनिकों से क्या (लड़ूँ)? इन्हीं को (युद्ध द्वारा) सम्मानित करूँ।

(*पुनर्नेपथ्ये कलकल*)

(*नेपथ्य में पुन कोलाहल होता है।*)

लव —(*सक्रोधनिर्वेदम्*) आ ! कदर्थीकृतोऽहमेभिर्वीरसंवाद विघ्नकारिभि पापै । (*इति तदभिमुख परिक्रामति।*)

व्याख्या—सक्रोधनिर्वेद क्रोधेन कोपेन निर्वेदेन खेदेन च सहित यथा स्यात् तथा, (आह) आ इति कोपसूचकमव्ययम्, वीरसवादविघ्नकारिभि वीरेण शूरेण सह य सवाद सामरिकसंलाप तस्य विघ्न प्रतिबन्ध कुर्वन्ति य ते तथाक्तै, पापै पापिभि, एभि सैनिकै, अह लव, कदर्थीकृत तिरस्कृत । तदभिमुख सैन्यान् प्रति इत्यर्थ ।

अनुवाद—लव—(*क्रोध और ग्लानि के साथ*) आह ! वीर के साथ *संलाप करने में विघ्न डालने वाले इन पापी सैनिकों ने मेरी अवज्ञा की है।*

(*यह कहकर सेना की ओर चल पड़ता है।*)

चन्द्रकेतुः—आर्य ! दृश्यतां, द्रष्टव्यमेतत् ।

चन्द्रकेतु—आर्य ! देखिये, यह देखने योग्य है ।

दर्पेण कौतुकवता मयि बद्धलक्ष्यः
पश्चाद्बलैरनुसृतोऽयमुदीर्णधन्वा ।
द्वेधा समुद्धतमरुत्तरलस्य धत्ते
मेघस्य माघवतचापधरस्य लक्ष्मीम् ॥ ११ ॥

अन्वय—कौतुकवता दर्पेण मयि बद्धलक्ष्यः पश्चात् बलैः अनुसृत उदीर्णधन्वा अयं द्वेधा समुद्धतमरुत्तरलस्य माघवतचापधरस्य मेघस्य लक्ष्मीं धत्ते ॥११॥

व्याख्या—कौतुकवता औत्सुक्ययुक्तेन, दर्पेण गर्वेण, मयि ममोपरि, बद्धलक्ष्यः कृतदृष्टिपातः, पश्चात् पृष्ठभागे, बलैः सैन्यैः, अनुसृत अनुगतः, उदीर्णधन्वा उदीर्णम् उद्धृतं धनुः कार्मुकं येन तथाविधः, अयं लवः, द्वेधा द्विप्रकारेण, समुद्धतमरुत्तरलस्य समुद्धतेन प्रचण्डं प्रवहता मरुता वायुना तरलस्य चपलस्य, माघवतचापधरस्य माघवतस्य ऐन्द्रस्य चापस्य धनुषः धरस्य धारकस्य, मेघस्य अभ्रस्य, लक्ष्मीं शोभां, धत्ते धारयति ॥ ११ ॥

अनुवाद—दर्प और कौतुक से मेरे ऊपर दृष्टिपात करता हुआ तथा पृष्ठभाग से सेनाओं द्वारा पीछा किया हुआ यह धनुर्धारी वीर (लव) दोनों ओर (सामने और पीछे) से बहने वाली प्रचण्ड वायु द्वारा चचल तथा इन्द्रधनुष धारण किये हुए बादल की शोभा को प्राप्त कर रहा है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—उदीर्णधन्वा = धनुष उठाये हुए। उदीर्णं धनुः येन सः, 'धनुषश्च' इति सूत्रेण समासान्तोऽनङ् । द्वेधा—द्विप्रकारेण इति द्वि+एधाच् । समुद्धत—सम्—उद् √हन् (गतौ)+क्त कर्तरि । माघवत—मघोन इदम् इति मघवन्+अण् । इस पद्य में निदर्शना तथा छेकानुप्रास अलङ्कार हैं । यह वसन्ततिलका छन्द है ॥ ११ ॥

सुमन्त्रः—कुमार एवैनं द्रष्टुमपि जानाति । वयं तु केवलं परवन्तो विस्मयेन ।

सुमन्त्र—कुमार ही इसको देखना भी जानते हैं । मैं तो केवल आश्चर्य के वश में हो गया हूँ ।

टिप्पणी—परवन्तः = पराधीन । 'परतन्त्रः पराधीनः परवान् नाथवानपि' इत्यमरः ।

चन्द्रकेतुः—भो भो राजानः !

चन्द्रकेतु—हे राजाओ !

सङ्ख्यातीतैर्द्विरदतुरगस्यन्दनस्थैः पदाता-
वत्रैकस्मिन् कवचनिचितैर्नद्धचर्मोत्तरीये ।
कालज्येष्ठैरपरवयसि ख्यातिकामैर्भवद्भि-
र्योऽयं बद्धो युधि समभरस्तेन धिग्वो धिगस्मान् ॥१२॥

अन्वय—सङ्ख्यातीतैः द्विरदतुरगस्यन्दनस्थैः कवचनिचितैः कालज्येष्ठैः अपरवयसि ख्यातिकामैः भवद्भिः एकस्मिन् पदातौ नद्धचर्मोत्तरीये अत्र युधि यः अयं समभरः बद्धः तेन वो धिक् अस्मान् धिक् ॥ १२ ॥

व्याख्या—सङ्ख्यातीतैः असङ्ख्यैः, द्विरदतुरगस्यन्दनस्थैः द्विरदेषु गजेषु तुरगेषु अश्वेषु स्यन्दनेषु रथेषु च तिष्ठन्ति ये तैः, कवचनिचितैः कवचैः वर्मभिः निचिताः व्याप्ताः तैः, कालज्येष्ठैः वयोवृद्धैः, अपरवयसि वार्धके, ख्यातिकामैः प्रसिद्धेः इच्छुकैः, भवद्भिः, एकस्मिन् द्वितीयसहायरहित, पदातौ पादचारिणि, नद्धचर्मोत्तरीये नद्धं बद्धं चर्मणः मृगाजिनस्य उत्तरीयं प्रावारो येन तस्मिन् ('नद्ध०' इत्यस्य स्थाने 'मेध्य०' इति पाठभेदस्य 'पवित्र०' इत्यर्थो विधेयः । 'अपरवयसि ख्यातिकामैः' इत्यस्य स्थाने 'अभिनववयःकाम्यकाये' इति पाठभेदस्य 'अभिनवेन नव्येन वयसा अवस्थया काम्यः रमणीयः कायो देहः यस्य तस्मिन्' इति व्याख्या कार्या), अत्र अस्मिन् दृश्यमाने लवे, युधि युद्धे, यः अयम् एषः, समभरः समेषां सर्वेषाम् भरः भारः ('परिकरः' इति पाठभेदे तु 'आरम्भः' इति व्याख्येयम्), बद्धः गृहीतः, तेन हेतुना, वः युष्मान्, धिक् निन्दामि, अस्मान् (अपि) मामपि, धिक् निन्दामि (अर्थात् एकाकिना बालेन सह बहुसङ्ख्यकाना वयोवृद्धाना भवताम् अनुचितं युद्धकार्यं विलोक्य अहमतीव लज्जितो दुःखितश्च समभूवम् ॥ १२ ॥

अनुवाद—हाथी, घोड़े और रथ पर आरूढ़, कवच से आवृत, अवस्था में बड़े, बुढ़ापे में ख्याति के इच्छुक और असंख्य आप लोगों ने अकेले, पैदल और उत्तरीय के रूप में मृगचर्म बाँधे हुए इस (लव) पर जो यह

सामूहिक आक्रमण किया है, इससे आप लोगों को धिक्कार है और मुझे भी धिक्कार है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—संख्यातीतैः—सख्यामतीताः इति सख्यातीताः 'द्वितीया श्रित'—इत्यादिना द्वितीयातत्पुरुषः, तैः । द्विरदतुरगस्यन्दनस्थैः—द्विरदाश्च तुरगाश्च स्यन्दनाश्च इति विग्रहे 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इति सेनाङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः, तस्मिन् तिष्ठन्तीति √स्था+क, तैः । कालज्येष्ठैः—अतिशयेन वृद्धा इति वृद्ध+इष्ठन्, ज्यादेश ज्येष्ठाः, कालेन ज्येष्ठा कालज्येष्ठाः, तैः । पदातौ—पादाभ्यां गच्छतीति पदातिः तस्मिन्, 'पादे च' इतिसूत्रेण इण्प्रत्ययः, 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इति पदादेशः । इस पद्य में विषमालंकार है । यह मन्दाक्रान्ता छन्द है ॥ १२ ॥

लव —(*सोन्माथम्*[1]) आः ! कथमनुकम्पते नाम ? (*ससम्भ्रम विचिन्त्य*) भवतु । कालहरणप्रतिषेधाय जृम्भकास्त्रेण तावत्सैन्यानि सस्तम्भयामि । (*इति ध्यानं नाटयति ।*)

व्याख्या—सोन्माथम् उन्माथेन व्यथया सहित यथा स्यात् तथा, आः इति कोपविषादसूचकमव्ययम्, कथ किमर्थम्, अनुकम्पते दयते, नाम इति कोपे, ससम्भ्रम सत्वरं, विचिन्त्य विविच्य, भवतु अस्तु, कालहरणप्रतिषेधाय कालस्य समयस्य यत् हरणं क्षेपणं तस्य प्रतिषेधाय निराकरणाय, जृम्भकास्त्रेण जृम्भकाख्यास्त्रप्रयोगेणेत्यर्थ , सैन्यानि अनीकानि, सस्तम्भयामि सम्मोहयामि । ध्यानं जृम्भकास्त्रप्रयोगचिन्तन, नाटयति अभिनयति ।

अनुवाद—लव (*व्यथा के साथ*) आह ! क्यों दया कर रहे हैं ? (*शीघ्रता से विचार कर*) अस्तु, कालक्षेप से बचने के लिए जृम्भकास्त्र से सैनिकों का स्तम्भन कर देता हूँ । (*यह कहकर ध्यान करने का अभिनय करता है ।*)

टिप्पणी—नाम—यहाँ कुत्सा के अर्थ में इस अव्यय का प्रयोग हुआ है । 'नाम प्राकाश्यकुत्सयोः' इत्यादि हैम. । संस्तम्भयामि—जड बना देता हूँ । सम् √ स्तम्भ्+णिच्+लट्—मि ।

सुमन्त्रः—तत् किमकस्माद्धल्लोलाः सैन्यघोषाः प्रशाम्यन्ति ?

[1] 'सक्षोभम्' इति पाठभेदः ।

सुमन्त्र—तब क्यों एकाएक सैनिकों का अति चञ्चल कोलाहल शान्त हो रहा है ?

लव—पश्याम्येनमधुना प्रगल्भम्।

लव—अब मैं इस ढीठ को देखता हूं।

सुमन्त्र—(ससम्भ्रमम्) वत्स ! मन्ये कुमारकेणानेन जृम्भकास्त्रमामन्त्रितम्।

सुमन्त्र—(हड़बड़ी के साथ) वत्स ! मैं समझता हूं, इस कुमार ने जम्भकास्त्र का प्रयोग किया है।

चन्द्रकेतु—अत्र क सन्देहः ?

चन्द्रकेतु—इसमें क्या सन्देह ?

व्यतिकर इह भीमस्तामसो वैद्युतश्च
प्रणिहितमपि चक्षुर्ग्रस्तमुक्तं हिनस्ति।
अथ लिखितमिवैतत्सैन्यमस्पन्दमास्ते
नियतमजितवीर्यं जृम्भते जृम्भकास्त्रम् ॥ १३ ॥

अन्वय—तामसो वैद्युतश्च भीमो व्यतिकरः इह प्रणिहितमपि ग्रस्तमुक्तं चक्षुः हिनस्ति। अथ एतत् सैन्यं लिखितम् इव अस्पन्दम् आस्ते। नियतम् अजितवीर्यं जृम्भकास्त्रं जृम्भते ॥ १३ ॥

व्याख्या—तामसः तमःसम्बन्धी, वैद्युतश्च विद्युत्सम्बन्धी च, भीमः भयानकः, व्यतिकरः सम्पर्कः तमस्तेजसोर्गाढसंयोग इत्यर्थः, इह सैन्यमध्ये, प्रणिहितमपि सावधानतया निहितमपि, ग्रस्तमुक्तं तमःसम्बन्धेन प्राग्ग्रस्तं विद्युत्सम्बन्धेन च पश्चात् मुक्तं, चक्षुः नेत्रं, हिनस्ति निपीडयति। अथ अनन्तरम्, एतत् दृश्यमानं, सैन्यं बलं, लिखितमिव चित्रितमिव, अस्पन्दं स्पन्दरहितम्, आस्ते वर्तते। नियतं निश्चितम्, अजितवीर्यम् अपराजितविक्रमम् ('अमितवीर्यम्' इति पाठभेदे तु 'अपरिमितसामर्थ्यम्' इति व्याख्येयम्), जृम्भकास्त्रम् एतन्नामकमायुधं, जृम्भते स्फुरति ॥ १३ ॥

अनुवाद—यहाँ (सेना के बीच) सावधानी से दृष्टिपात करने पर भी अन्धकार और बिजली का भयंकर सम्मिश्रण (अर्थात् तिमिर और तेज का गाढ़ संयोग) नेत्रों को ग्रस्त मुक्त भाव से उत्पीड़ित कर रहा है। (अर्थात् पहले अन्धकार दृष्टि को कवलित कर लेता है पश्चात् प्रकाश उसे मुक्त कर

देता है)। अब यह सेना चित्र लिखित की भाँति गतिहीन हो गई है। निश्चय ही यह अजेय पराक्रमशाली जृम्भकास्त्र उदित हुआ है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—व्यतिकरः—वि—अति,/ कृ+अप् भावे। ग्रस्त-मुक्तम्—पूर्वं ग्रस्तं पश्चात् मुक्तम् इति 'पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन' इत्यनेन समास। इस पद्य में उपमा और अनुमान अलकारों में अगागिभाव सम्बन्ध होने से सकर अलकार हो जाता है। यह मालिनि छन्द है ॥ १३ ॥

आश्चर्यमाश्चर्यम्!

आश्चर्य है, आश्चर्य है!

पातालोदरकुञ्जपुञ्जिततमः श्यामैर्नभो जृम्भकै-
रुत्तप्तस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः।
कल्पाक्षेपकठोरभैरवमरुद्व्यस्तैरभिस्तीर्यते
लीनाम्भोदतडित्कडारकुहरैर्विन्ध्याद्रिकूटैरिव ॥ १४ ॥

अन्वय—पातालोदरकुञ्जपुञ्जिततम श्यामैः, उत्तप्तस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः जृम्भकैः कल्पाक्षेपकठोरभैरवमरुद्व्यस्तैः लीनाम्भोदतडित्कडारकुहरैः विन्ध्याद्रिकूटैः इव नभ अभिस्तीर्यते ॥ १४ ॥

व्याख्या—पातालोदरकुञ्जपुञ्जिततमःश्यामैः पातालस्य अधोभुवनस्य उदरे अभ्यन्तरे ये कुञ्जाः लतान्छादितस्थानानि तत्र पुञ्जितानि पुञ्जीभूय सस्थितानि यानि तमासि अन्धकाराः तानि इव श्यामानि कृष्णवर्णानि तैः, उत्तप्तस्फुरदारकूटकपिलज्योतिर्ज्वलद्दीप्तिभिः उत्तप्तम् उष्णीभूतम् अतएव स्फुरत् दीप्यमानं यत् आरकूट पित्तल तस्य कपिल पिङ्गलवर्णं ज्योतिः तेज, तद्वत् ज्वलन्ती प्रकाशमाना दीप्तिः प्रभा येषां तैः तथाभूतैः, जृम्भकैः जृम्भकास्त्रैः, कल्पाक्षेपकठोरभैरवमरुद्व्यस्तैः कल्पस्य ब्रह्मणः दिवसस्य आक्षेपः क्षयः यस्मिन् तथाभूते काले कठोराः दृढाः भैरवाः भयानका ये मरुतः वायवः तैः व्यस्तैः विक्षिप्तैः, लीनाम्भोदतडित्कडारकुहरैः लीनाः श्लिष्टाः अम्भोदाः वारिदाः येषु तानि ('लीनाम्भोद०' इत्यस्य स्थाने 'मीलन्मेघ०' इति पाठभेदे 'मीलन्तः सयुज्यमानाः मेघाः अम्भोदाः' इति व्याख्येयम्) तथा तडिद्भिः विद्युद्भिः कडाराणि पिङ्गलानि, कुहराणि गुहाः येषां तानि तैः, विन्ध्याद्रिकूटैः विन्ध्याद्रेः

विन्ध्यपर्वतस्य कूटैः शिखरैः, इव तद्वत्, नभः गगनम्, अभिस्तीर्यते आच्छाद्यते ॥ १४ ॥

अनुवाद—जैसे प्रलयकाल में कठोर तथा भयंकर वायु के द्वारा विक्षिप्त (उखाड़कर फेंके हुए) और सटे हुए बादलों एवं बिजलियों के कारण पिंगल वर्ण (ललाई लिये भूरे रंग) की गुफाओं वाले विन्ध्यपर्वत के शिखर आकाश को परिव्याप्त कर देते हैं, उसी तरह पाताल के भीतर स्थित कुञ्जों की अन्धकारराशि के समान श्यामवर्ण वाला और तपाने के कारण चमकते हुए पीतल के पिंगलवर्ण की ज्योति के समान जाज्वल्यमान आभा वाला जृम्भकास्त्र आकाश को आच्छादित कर रहा है ॥ १४ ॥

टिप्पणी—पुञ्जित—पुञ्ज सञ्जातमस्य इति पुञ्ज+इतच्। आरकूट= पीतल। 'रीति स्त्रियामारकूटम्' इत्यमरः। कडार=ललाई लिये भूरा रंग। 'कडार कपिल पिङ्गपिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः। इस पद्य में द्व्योत्प्रेक्षा (किसी के मत से उपमा), छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १४ ॥

सुमन्त्र—कुतः पुनरस्य जृम्भकाणामागमः स्यात्?

सुमन्त्र—इस (बालक) को जृम्भकास्त्र मिले होंगे? किससे?

चन्द्रकेतु—भगवतः प्राचेतसादिति मन्यामहे।

चन्द्रकेतु—भगवान् वाल्मीकि से मिले होंगे, ऐसा मैं मानता हूँ।

सुमन्त्रः—वत्स! नैतदेवमस्त्रेषु विशेषतो जृम्भकेषु। यतः—

सुमन्त्र—वत्स! अस्त्रों के सम्बन्ध में इस प्रकार की प्राप्ति (अर्थात् वाल्मीकि मुनि से अस्त्र प्राप्ति) सत्य नहीं प्रतीत होती, विशेषकर जृम्भकास्त्र के बारे में। क्योंकि—

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'नैतदेवमस्त्रेषु' की जगह 'नाऽस्य व्यवहारोऽस्त्रेषु' पाठ है। तदनुसार अर्थ होगा—'वाल्मीकि मुनि अस्त्रों का व्यवहार नहीं करते। (अर्थात् सर्वज्ञ होने के कारण मुनि धनुर्वेद आदि सब कुछ जानते तो हैं, किन्तु उन्होंने कभी अस्त्रों का प्रयोग किया हो या किसी को उपदेश दिया हो—ऐसी बात सुनने में नहीं आई। फलतः लव को उनसे अस्त्र मिलने की बात असंगत है।)

कृशाश्वतनया ह्येते कृशाश्वात् कौशिकं गताः।
अथ तत्सम्प्रदायेन रामभद्रे स्थिता इति ॥ १५ ॥

अन्वय—एते हि कृशाश्वतनयाः, कृशाश्वात् कौशिकं गताः। अथ तत्सम्प्रदायेन रामभद्रे स्थिता इति ॥ १५ ॥

व्याख्या—एते जृम्भकाख्यपदार्थाः, हि इति सम्भ्रमार्थकमव्ययम्, कृशाश्वतनयाः कृशाश्वोत्पन्नाः, कृशाश्वात् तस्मादेव महापुरुषात्, कौशिकं विश्वामित्रं, गताः प्राप्ताः। अथ अनन्तरं, तत्सम्प्रदायेन तदुपदेशेन ('तत्सम्प्रदानेन' इति पाठभेदे तु 'तस्य विश्वामित्रस्य सम्प्रदानेन वितरणेन हेतुना' इति व्याख्येयम्), रामभद्रे श्रीरामचन्द्रे, स्थिताः सङ्क्रान्ताः ('व्यवस्थिताः' इति पाठभेदे तु 'निश्चिताः' इति व्याख्येयम्) ॥ १५ ॥

अनुवाद—ये जृम्भकास्त्र प्रजापति कृशाश्व से उत्पन्न हुए थे। कृशाश्व से विश्वामित्र को प्राप्त हुए और विश्वामित्र के उपदेश से रामभद्र में व्यवस्थित हुए हैं ॥ १५ ॥

टिप्पणी—यहाँ जृम्भकास्त्रों के अनेकगत होने के कारण पर्याय नामक अलंकार है ॥ १५ ॥

चन्द्रकेतुः—अपरेऽपि प्रचीयमानसत्त्वप्रकाशाः स्वयं सर्वं मन्त्रदृशः पश्यन्ति।

व्याख्या—अपरेऽपि अन्येऽपि, प्रचीयमानसत्त्वप्रकाशाः प्रचीयमानः परिवर्द्धमानः सत्त्वस्य सत्त्वगुणस्य प्रकाशः आविर्भावः येषु ते, मन्त्रदृशः मन्त्रद्रष्टारः स्वयम् आत्मनैव, अन्योपदेशं विनैवेत्यर्थः, सर्वं निखिलं, पश्यन्ति जानन्ति।

अनुवाद—दूसरे भी मन्त्रद्रष्टा लोग, जिनमें सत्त्व गुण का प्रकाश अत्यन्त बढ़ जाता है, स्वयं सब कुछ जान लेते हैं (अर्थात् बिना किसी के उपदेश से ही अस्त्र-प्राप्ति कर सकते हैं)।

टिप्पणी—प्रचीयमान—प्र√चि+शानच् कर्मकर्तरि। यथा—'चीयते बालिशस्यापि'—मुद्राराक्षस।

सुमन्त्रः—वत्स! सावधानो भव। परागतस्ते प्रतिवीरः।

सुमन्त्र—वत्स! सावधान हो जाओ। तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी वीर आ पहुँचा।

कुमारौ—(*अन्योन्य प्रति*) अहो ! प्रियदर्शनः कुमारः। (*सस्नेहानुरागं निर्वर्ण्य*)

दोनों कुमार—(*एक दूसरे के प्रति*) अहा ! कुमार देखने में प्रिय हैं। (*स्नेह और अनुराग के साथ देखकर*)

यदृच्छासंवादः किमु गुणगणानामतिशयः
पुराणो वा जन्मान्तरनिबिडबद्धः परिचयः।
निजो वा सम्बन्धः किमु विधिवशात् कोऽप्यविदितो
ममैतस्मिन् दृष्टे हृदयमवधानं रचयति ॥ १६ ॥

अन्वय—एतस्मिन् दृष्टे यदृच्छासंवादः किमु, गुणगणानाम् अतिशयः, जन्मान्तरनिबिडबद्धः पुराणः परिचयो वा, विधिवशात् अविदितः कोऽपि निजः सम्बन्धो वा किमु, मम हृदयम् अवधानं रचयति ॥ १६ ॥

व्याख्या—एतस्मिन् लवे चन्द्रकेतौ च, दृष्टे विलोकिते सति, यदृच्छासंवादः यदृच्छया हेतुं विनापि संवादः सम्मेलनं, किमु किम् ? गुणगणानां गुणसमूहानाम् अतिशयः आधिक्यं (किम्), जन्मान्तरनिबिडबद्धः जन्मान्तरे अन्यस्मिन् जन्मनि निबिडबद्धः दृढसंश्लिष्टः पुराणः पुरातनः, परिचयो वा 'असौ स' इति विशेषज्ञानं वा, विधिवशात् भाग्यवशात्, अविदितः अविज्ञातः, कोऽपि अनिर्वचनीयः, निजः स्वकीयः, सम्बन्धो वा भ्रातृत्वादिरूपः सम्पर्को वा, किमु किम् ? मम लवस्य, हृदयं मनः, अवधानम् ऐकाग्र्यं, रचयति प्रापयति ॥ १६ ॥

अनुवाद—इस (लव या चन्द्रकेतु) के देखने पर क्या ईश्वरेच्छा से हुआ (हमारा) सम्मेलन या गुणों का उत्कर्ष या दृढ़ता से आबद्ध जन्मान्तरीय पुरातन परिचय या दैववश अज्ञात कोई आत्मीय सम्बन्ध मेरे हृदय को एकाग्र कर रहा है ? ॥ १६ ॥

टिप्पणी—यदृच्छासंवादः—आकस्मिक मिलन। या स्वेच्छा यदृच्छा तया संवादः। इस श्लोक के तीन पदों में शुद्ध सन्देह अलङ्कार और चतुर्थ पाद में काव्यलिंग अलङ्कार है। इनमें अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से संकर अलङ्कार हो जाता है। यह शिखरिणी छन्द है ॥ १६ ॥

सुमन्त्रः—भूयसां जीविनामेष धर्म एषः, यत्र रसमयी कस्यचित्

क्वचित् प्रीतिः यत्र लौकिकानामुपचारस्तारामैत्रक चक्षूराग इति। तदप्रतिसङ्ख्येयनिबन्धनं[1] प्रमाणमामनन्ति।

व्याख्या—भूयसा बहुलाना, जीविनामेव प्राणिनामेव, एषः वक्ष्यमाण., धर्म. स्वभाव , यत्र यस्मिन्, कस्यचित् जनस्य, क्वचित् कुत्रचित्, रसमयी अनुरागात्मिका, प्रीति. स्नेह. (जायते) यत्र यस्या प्रीतौ, लौकिकाना लोकाचाराभिज्ञाना जनानाम्, उपचार व्यवहार., तारामैत्रक ताराणाम् अक्षिकनीनिकाना मैत्रक मित्रता, चक्षूरागः नयनानुराग' । तत्, प्रेम, अप्रतिसख्येयनिबन्धनम् अप्रतिसख्येयम इयत्तया सख्यातुमशक्य निबन्धन मूल यस्य तत्, प्रमाणं यथार्थानुभवविषयम्, आमनन्ति कथयन्ति ।

अनुवाद—सुमन्त्र—बहुत से प्राणियों का यह स्वभाव है, जिसमे किसी से किसी का अनुरागात्मक स्नेह होता है और जिसके सम्बन्ध मे लोकाचार-विशेषज्ञों का कथन है कि आँखों की पुतलियों की मित्रता या नेत्रों का प्रेम हो जाता है। उस प्रेम को सीमारहित किन्तु प्रामाणिक मानते है।

अहेतु पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सीव्यति ॥ १७ ॥

अन्वय—अहेतु. य. पक्षपात. तस्य प्रतिक्रिया न अस्ति। हि सः स्नेहात्मकः तन्तु' भूतानि अन्त' सीव्यति ॥ १७ ॥

व्याख्या—अहेतु' निर्निमित्त', य., पक्षपातः परस्पर प्रणय', तस्य पक्षपातस्य, प्रतिक्रिया प्रतीकार', न अस्ति न विद्यते, हि यत', सः पक्षपातः, स्नेहात्मकः, स्नेहमय', तन्तु' सूत्र, भूतानि प्राणिनः, अन्तः अभ्यन्तरे ('अन्तर्मर्माणि' इति पाठभेदे तु 'हृदयादिमर्मस्थलानि' इति व्याख्येयम्), सीव्यति ग्रथ्नाति ॥ १७ ॥

अनुवाद—बिना कारण के जो परस्पर प्रेम उत्पन्न होता है, उसका प्रतीकार (अर्थात् नाश) नहीं होता, कारण वह स्नेहमय सूत्र प्राणियों के अन्तःकरणों को सी देता है (सुतराम् ऐसे प्रणय का भग होना असभव ही है।) ॥ १७ ॥

---

१. 'प्रेमाणम्' इति पाठान्तरम्।

टिप्पणी—इस श्लोक में अर्थान्तरन्यास तथा रूपक अलकारों में अगागिभाव सम्बन्ध होने से सकर अलकार हो जाता है ॥ १७ ॥

कुमारौ—(*अन्योन्यमुद्दिश्य*)

दोनों कुमार—(*परस्पर लक्ष्य करके*)

एतस्मिन् मसृणितराजपट्टकान्ते
मोक्तव्याः कथमिव सायकाः शरीरे ।
यत्प्राप्तौ मम परिरम्भणाभिलाषा-
दुन्मीलत्पुलककदम्बमङ्गमास्ते ॥ १८ ॥

अन्वय—मसृणितराजपट्टकान्ते एतस्मिन् शरीरे सायकाः कथमिव मोक्तव्याः ? यत्प्राप्तौ परिरम्भणाभिलाषात् मम अङ्गम् उन्मीलत्पुलककदम्बम् आस्ते ॥ १८ ॥

व्याख्या—मसृणितराजपट्टकान्ते मसृणितः चिक्कणीकृतः यो राजपट्टः, मणिविशेषः स इव कान्त मनोहर तस्मिन् दृश्यमाने, शरीरे देहे, सायकाः बाणाः, कथमिव केन प्रकारेण, मोक्तव्याः त्यक्तव्याः निक्षेप्तव्या इति यावत्, यत्प्राप्तौ यस्य शरीरस्य प्राप्तौ लाभे सति, परिरम्भणाभिलाषात् परिरम्भणस्य आलिङ्गनस्य अभिलाषात् इच्छावशात्, मम मदीयम्, अङ्गम् अवयवः, उन्मीलत्पुलककदम्बम् उन्मीलत् उत्तिष्ठत् पुलकाना रोमाञ्चाना कदम्ब समूहो यस्मिन् तत्, आस्ते वर्तते ॥ १८ ॥

अनुवाद—इस शरीर पर बाणों को कैसे छोड़ूँ, जो खरादे हुए राजपट्ट मणि के समान मनोहर है और जिसके मिलने पर आलिंगन करने की इच्छा से मेरे अंगों में अत्यन्त रोमाञ्च हो रहा है ॥ १८ ॥

टिप्पणी—मसृणित—मसृणः कृतः इति मसृण + णिच् (नामधातु) + क्त कर्मणि । राजपट्ट=कान्त पत्थर या सूक्ष्म राजकीय वस्त्र । इस पद्य में वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग और लुप्तोपमा अलकार हैं । दोनों में अगागिभाव सम्बन्ध होने से सकर अलकार हो जाता है । यह प्रहर्षिणी छन्द है ॥ १८ ॥

किन्त्वाक्रान्तकठोरतेजसि गतिः का नाम शस्त्रं विना ?
शस्त्रेणापि हि तेन किं न विषयो जायेत यस्येदृशः ॥

किं वदयत्ययमेव युद्धविमुखं मामुद्यतेऽप्यायुधे
वीराणां समयो हि दारुणरसः स्नेहक्रमं बाधते ॥ १६ ॥

अन्वय—किन्तु आक्रान्तकठोरतेजसि शस्त्रं विना का नाम गतिः ? तेन शस्त्रेणापि हि किं, यस्य ईदृशो विषयो न जायेत। आयुधे उद्यते अपि युद्धविमुखं माम् अयमेव किं वदयति ? हि दारुणरसः वीराणां समयः स्नेहक्रमं बाधते ॥ १६ ॥

व्याख्या—किन्तु परन्तु, आक्रान्तकठोरतेजसि आक्रान्तं बलेन आबद्धं कठोरं प्रचण्डं तेजो मदीयं प्रभावो येन तस्मिन् (लवे चन्द्रकेतौ च), शस्त्रं विना आयुधप्रयोगात् ऋते, का नाम गतिः को नामोपायः ? तेन तादृशेन, शस्त्रेणापि हि आयुधेनापि हि, किं किं प्रयोजनम्, यस्य शस्त्रस्य, ईदृश· एतादृशः (महाबलशाली वीर·), विषय· प्रयोगगोचरः, न जायेत न भवेत्। आयुधे शस्त्रे, उद्यतेऽपि मां प्रति निक्षेपाय उत्तोलितेऽपि, युद्धविमुखं युद्धात् पराङ्मुखं, मां लवं चन्द्रकेतुं वा, अयमेव लवः चन्द्रकेतुरेव वा, किं वदयति किं कथयिष्यति ? हि यस्मात्, दारुणरस· दारुणः भयंकर· रस· क्रोधात्मिका मनोवृत्तिः यस्मिन् स·, वीराणां शूराणां, समय· आचार·, स्नेहक्रमं प्रीति-परम्परां, बाधते रुणद्धि ॥ १६ ॥

अनुवाद—किन्तु हमारे प्रचण्ड प्रभाव पर आक्रमण करने वाले इस व्यक्ति के प्रति शस्त्र-प्रयोग के बिना क्या उपाय है ? और उस शस्त्र से भी क्या प्रयोजन, जिसके प्रयोग के लिए ऐसा पात्र (वीर पुरुष) न मिले ? हथियार उठा लेने पर यदि मैं युद्ध करने से विरत हो जाता हूँ तो यही क्या कहेगा ? फलतः वीरों का भयंकर रस-युक्त आचार स्नेह के क्रम को तोड़ देता है ॥ १६ ॥

टिप्पणी—जायेत—अत्र 'हेतुहेतुमतोर्लिङ्' इत्यनेन लिङ्। आयुधे—आ√युध्+क करणे घञर्थे आयुधम्, तस्मिन्। समय=आचार, नियम। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। इस पद्य में सामान्य से विशेष का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है। यह शार्दूल-विक्रीडित छन्द है ॥ १६ ॥

सुमन्त्र·—(लवं निर्वर्ण्य सास्रमात्मगतम्) हृदय ! किमन्यथा परिकल्पसे ?

सुमन्त्र—(लव को देखकर आँसू के साथ मन में) चित्त ! तुम क्यों दूसरे प्रकार से कल्पना कर रहे हो (अर्थात् लव को रामभद्र का पुत्र होने की सम्भावना कैसे कर रहे हो) ?

टिप्पणी—'परिकल्पसे' की जगह 'परिप्लवसे' पाठ मानने पर अर्थ होगा—'चचल हो रहे हो'।

मनोरथस्य यद्बीजं तद्दैवेन हितो हतम्।
लतायां पूर्वलूनायां प्रसवस्यागमः कुतः ॥ २० ॥

अन्वय—मनोरथस्य यत् बीजं, तत् दैवेन आदितः हतम्। लतायां पूर्वलूनायां प्रसवस्य उद्भवः कुतः ? ॥ २० ॥

व्याख्या—मनोरथस्य (शिशुरयं रामभद्रपुत्रो भवेत् इत्येवम्) अभिलाषस्य, यत्, बीजं मूलं कारणं सीतारूपमिति यावत्, तत् कारणं, दैवेन अदृष्टेन, आदितः प्रथमत एव, हतम् अपहृतम् (अर्थात् सीतायाः पूर्वमेव विनाशात् तस्याः पुत्रोऽयमिति कथं सम्भवेत् ?) । (एतदेव दृष्टान्तेन द्रढयति—) लतायां वल्ल्यां पूर्वलूनायां प्रथमत एव छिन्नायां, प्रसवस्य पुष्पस्य, उद्भवः उत्पत्तिः, कुतः कस्मात् हेतोः भवेत् नैव कथमपि भवेदित्यर्थः ।) ॥२०॥

अनुवाद—मनोरथ का जो बीज था, उसे भाग्य ने पहले ही नष्ट कर डाला। पहले ही लता के काट देने पर उससे पुष्प की उत्पत्ति कैसे होगी ? (अर्थात् जैसे फूल लगने से पहले काटी गई लता से फूल की उत्पत्ति असम्भव है, उसी तरह प्रसव से पूर्व हिंस्र जन्तुओं से परिव्याप्त वन में विसर्जित अतएव नष्ट सीता से लव रूप सन्तान की उत्पत्ति असम्भव है) ॥ २० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में दृष्टान्त अलंकार है ॥ २० ॥

चन्द्रकेतु —अवतराम्यार्य सुमन्त्र ! स्यन्दनात्।

चन्द्रकेतु—आर्य सुमन्त्र ! मैं रथ से उतर जाता हूँ।

सुमन्त्र —कस्य हेतोः ?

सुमन्त्र—किसलिए ?

चन्द्रकेतु – एकस्तावदयं वीरपुरुषः पूजितो भवति। अपि च गतत्वार्य ! क्षात्रधर्मः परिपालितो भवति। 'न रथिनः पादचारमभियुञ्जन्तीति शास्त्रविदः परिभाषन्ते'।

चन्द्रकेतु—आर्य ! एक तो इस वीर पुरुष का सम्मान होता है और दूसरा क्षत्रियों के धर्म का परिपालन हो जाता है । क्योंकि शास्त्रकारों का कहना है—'रथारूढ़ होकर पदल व्यक्ति से नहीं लड़ना चाहिए' ।

टिप्पणी—पादचारम्—पादेन चारः गतिः अस्य तम् । शास्त्रविदः = शास्त्रवेत्ता मनु आदि । मनु ने कहा है—'न च हन्यात् स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।' चतुर्वर्गचिन्तामणि में स्पष्ट वचन है—'रथी च रथिना सार्धं पदातिश्च पदातिना । कुञ्जरस्थो गजस्थेन योद्धव्यो भृगुनन्दन ॥'

सुमन्त्रः—(*स्वगतम्*) आः ! कष्टां दशामनुप्रसन्नोऽस्मि ।

सुमन्त्र—(*अपने आप*) आह ! कष्टकर अवस्था को प्राप्त हो गया हूँ ।

> कथं हीदमनुष्ठानं मादृशः प्रतिषेधतु ।
> कथं वाऽभ्यनुजानातु साहसैकरसां क्रियाम् ॥ २१ ॥

अन्वय—हि मादृशः इदम् अनुष्ठानं कथं प्रतिषेधतु, साहसैकरसां क्रियां कथं वा अभ्यनुजानातु ॥ २१ ॥

व्याख्या—हि यस्मात्, मादृशः मत्सदृशः युद्धधर्मज्ञः रघुकुलरीतिज्ञश्च वृद्ध इत्यर्थः, इदं रथादवतरणरूपं ('न्याय्यम्' इति पाठभेदे तु 'उचितम्' इति व्याख्येयम्), अनुष्ठानम् आचरणं, कथं केन प्रकारेण, प्रतिषेधतु ? निवारयतु ? साहसैकरसां साहसं हठकारित्वमेव एकः केवलः रसः रागः यस्याः तां, क्रियां कर्म, कथं वा केन प्रकारेण वा, अभ्यनुजानातु अनुमन्यताम् ? ॥ २१ ॥

अनुवाद—क्योंकि मेरे जैसा व्यक्ति इस (रथावतरणरूप उचित) आचरण का निषेध कैसे करे ? और एकमात्र साहस के काम की अनुमति भी कैसे दे ?

टिप्पणी—यहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार है ॥ २१ ॥

चन्द्रकेतु—यदा तातमिश्रा अपि पितुः प्रियसखं त्वामर्थसंशयेषु पृच्छन्ति, तत् किमार्यो विमृशति ?

व्याख्या—यदा यतः, तातमिश्राः अपि पूज्यपादाः पितरो रामादयोऽपि, अर्थसंशयेषु कर्तव्याकर्तव्यसन्देहेषु, पितुः जनकस्य दशरथस्येत्यर्थः, प्रियसखं

प्रियमित्र, त्वा भवन्त, पृच्छन्ति जिज्ञासन्ते, तत् तस्मात्, किं कथम्, आर्य. पूज्य. मवानित्यर्थ', विमृशति विचारयति ?

अनुवाद—चन्द्रकेतु—जब कर्तव्य कार्यों में संशय उपस्थित होने पर पूज्य पितृगण (राम आदि भी) पिता (दशरथ) के प्रिय मित्र आपसे पूछते हैं, तब क्यों आर्य सोच रहे हैं ?

सुमन्त्र.—आयुष्मन् ! एवं यथाधर्ममभिमन्यसे।

सुमन्त्र—चिरञ्जीव ! इस प्रकार (अर्थात् रथ से उतरने की बात) तुम धर्म के अनुकूल जानते हो (अर्थात् तुम्हारा कहना धर्म सगत है)।

एष सांग्रामिको न्याय एष धर्म. सनातनः ।
इयं हि रघुसिंहानां वीरचारित्रपद्धतिः ॥ २२ ॥

अन्वय—एष सांग्रामिक न्यायः, एष सनातनः धर्म', हि इयं रघुसिंहानां वीरचारित्रपद्धतिः ॥ २२ ॥

व्याख्या—एष वीरसत्काररूप आचार., सांग्रामिकः युद्धसम्बन्धी, न्यायः नियमः, एषः, सनातन. सदातनः, धर्मः आचारः, हि यस्मात्, इयं त्वदाचरिता कृतिः, रघुसिंहानां रघुकुलश्रेष्ठानां, वीरचारित्रपद्धतिः वीरचारित्रस्य वीरोचिताचारस्य पद्धतिः पन्थाः ॥ २२ ॥

अनुवाद—यह (वीर-सम्मान रूप आचार) युद्ध का नियम है, यह सनातन धर्म है और यह रघुकुल के श्रेष्ठ पुरुषों के वीरोचित व्यवहार की पद्धति है ॥ २२ ॥

टिप्पणी—सांग्रामिकः—संग्रामः प्रयोजनमस्य इति संग्राम+ठञ् इक। न्यायः—नितराम् अयते अनेन इति नि/अय्+घञ् करणे। सनातनः—सना भव इति सना+ट्युल्। चारित्र—चर्+इत्रण्, चरित्र+अण् स्वार्थे प्रज्ञादित्वात्। पद्धतिः—पादाभ्यां हन्यते इति पाद/हन्+क्तिन् कर्मणि 'हिमकाषिहतिषु च' इति सूत्रेण पादस्य पद् आदेश.।

चन्द्रकेतु.—अप्रतिरूप वचनमार्यस्य।

चन्द्रकेतु—आर्य का वचन अनुपम है।

इतिहासं पुराणं च धर्मप्रवचनानि च ।
भवन्त एव जानन्ति रघूणां च कुलस्थितिम् ॥ २३ ॥

अन्वय—भवन्त एव इतिहास, पुराण, धर्मप्रवचनानि रघूणां कुलस्थितिं च जानन्ति ॥ २३ ॥

व्याख्या—भवन्त एव भवादृशा विज्ञा एव, इतिहासं पुरावृत्तं, पुराणं पञ्चलक्षणसंयुक्तं सुप्रसिद्धं शास्त्रं, धर्मप्रवचनानि मन्वादिधर्मशास्त्राणि, रघूणां रघुवंशीयानां, कुलस्थितिं च वंशमर्यादां च, जानन्ति अवगच्छन्ति ॥ २३ ॥

अनुवाद—आप (जैसे विज्ञ) ही इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र एवं रघुवंशियों की लौकिक रीति भी जानते हैं ॥ २३ ॥

टिप्पणी—इतिहासम्—इतिह आस्ते अस्मिन् इति इतिह√आस्+घञ् अधिकरणे। इसका लक्षण इस प्रकार है—'धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्। पुरावृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते।' पुराणम्—पुरा भवम् इति पुरा+ट्युल्, अनादेश.। इसका लक्षण यह है—'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥' धर्मप्रवचनानि=मन्वादि धर्मशास्त्र। धर्माः नित्यनैमित्तिकादय. प्रोच्यन्ते प्रकाश्यन्ते एभिः तानि। 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट् प्रत्ययः। इस पद्य में एक ही ज्ञान रूप क्रिया से इतिहास आदि पदार्थों का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलंकार है ॥ २३ ॥

सुमन्त्र—(*सस्नेहास्रं परिष्वज्य*)

सुमन्त्र—(*स्नेह और अश्रुपात के साथ आलिंगन करके*)

> जातस्य ते पितुरपीन्द्रजितो निहन्तु-[1]
> र्वत्सस्य वत्स ! कति नाम दिनान्यमूनि।
> तस्याप्यपत्यमनुतिष्ठति वीरधर्मं
> दिष्ट्यागतं[2] दशरथस्य कुलं प्रतिष्ठाम् ॥ २४ ॥

अन्वय—वत्स ! इन्द्रजितः निहन्तुः वत्सस्य ते पितुः अपि जातस्य अमूनि कति नाम दिनानि ? तस्य अपत्यमपि वीरधर्मम् अनुतिष्ठति, दिष्ट्या दशरथस्य कुलं प्रतिष्ठाम् आगतम् ॥२४॥

व्याख्या—वत्स ! आयुष्मन् !, इन्द्रजितः मेघनादस्य, निहन्तुः विनाशयितुः

१ 'विजेतु' इति पाठान्तरम्। २. दिष्ट्या गतम्' इति पाठभेद.।

वत्सस्य स्नेहभाज , ते तव, पितु अपि तातस्य लक्ष्मणस्यापि, जातस्य उत्पन्नस्य सत , अमून एतानि, कति नाम कियन्ति नाम, दिनानि दिवसा (सवृत्तानि)? तस्यापि लक्ष्मणस्यापि, अपत्य सन्तति , वीरधर्मे शूराचारम् ('वीरवृत्तम्' इति पाठभेदेऽप्ययमेवार्थ) अनुतिष्ठति करोति ('अनुगच्छति' इति पाठभेदस्य 'अनुसरति' इत्यर्थ कार्य), दिष्ट्या भाग्येन, दशरथस्य, कुल वश , प्रतिष्ठा स्थितिम्, आगत प्राप्तम ॥ २४ ॥

अनुवाद—वत्स ! मेघनाद के निहन्ता स्नेहास्पद तुम्हारे पिता को भी उत्पन्न हुए ये कितने दिन बीते हैं ? (अर्थात् वे भी मेरे सामने अल्प वयस्क हैं, फिर) उनका भी पुत्र वीरोचित धर्म का अनुष्ठान कर रहा है। (अत) भाग्यवश दशरथ का वश प्रतिष्ठा को प्राप्त (अर्थात् स्थायी) हो गया है ॥ २४ ॥

टिप्पणी—प्रतिष्ठाम् = प्रतितिष्ठति अनया इति प्रति/स्था + अङ् भाव। इस पद्य में चौथे चरण के अर्थ के प्रति पूर्व चरणों का अर्थ हेतु है, अत वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार है। यह वसन्ततिलका छन्द है ॥ २४ ॥

चन्द्रकेतु —(सकष्टम्)

चन्द्रकेतु—(खेद के साथ)

> अप्रतिष्ठे कुलज्येष्ठे[1] का प्रतिष्ठा कुलस्य न ।
> इति दुःखेन तप्यन्ते त्रयो न पितरोऽपरे ॥२५॥

अन्वय—कुलज्येष्ठे अप्रतिष्ठे न कुलस्य का प्रतिष्ठा ? इति दुःखेन न अपरे त्रय पितर तप्यन्ते ॥ २५ ॥

व्याख्या—कुलज्येष्ठे कुलश्रेष्ठे रामचन्द्रे इत्यर्थ , अप्रतिष्ठे सन्तानामावेन स्थितिरहिते, न अस्माक, कुलस्य वशस्य, का प्रतिष्ठा कीदृशी स्थिति , इति अनेन, दुःखेन शोकेन, अपरे अन्ये, त्रय पितर त्रिसंख्यका पितृपादा , तप्यन्ते सन्तापमनुभवन्ति ॥ २५ ॥

अनुवाद—कुल में सर्वश्रेष्ठ (रामचन्द्रजी) के प्रतिष्ठाहीन (अर्थात् सन्तानशून्य) होने पर हमारे कुल की क्या स्थिति है (अर्थात्

---

१ 'रघुज्येष्ठे' इति विभिन्न पाठ ।

कुछ नहीं ।) इसी दुःख से हमारे अन्य पितृचरण सन्तप्त हो रहे हैं ॥ २५ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में करुण रस रामविषयक रतिभाव का अंग है, अतः रसवत् अलंकार है ॥ २५ ॥

सुमन्त्र—हृदयमर्मदारणान्येव चन्द्रकेतोर्वचनानि ।

सुमन्त्र—चन्द्रकेतु के (ये) वचन हृदय के मर्मस्थान को विदीर्ण करने वाले हैं ।

लव—हन्त ! मिश्रीकृतक्रमो रसो वर्तते ।

लव—अहा ! वात्सल्य रस वीररस से मिश्रित हो रहा है ।

टिप्पणी—मिश्रीकृतक्रम.=जिसका क्रम मिलाया हुआ अर्थात् वीररस से संयुक्त किया गया हो । अमिश्र. मिश्र कृत. इति मिश्रीकृत.=संयोजित. क्रम.=परिपाटी यस्य सः । रसः=अर्थात् वात्सल्य ।

अथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन् दृष्टिर्मम, कलहकामः पुनरयम् ।
रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु-
र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालव्रणमुखः ॥ २६ ॥

अन्वय—इन्दौ समुपोढे कुमुदिनी यथा आनन्दं व्रजति तथैव अस्मिन् मम दृष्टिः, पुनः कलहकामः अयं बाहुः रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनुर्धृतप्रेमा विकचविकरालव्रणमुखः (सञ्जातः) ॥ २६ ॥

व्याख्या—इन्दौ चन्द्रे, समुपोढे समुदिते सति, कुमुदिनी कुमुद्वती यथ यद्वत्, आनन्दं हर्षं, व्रजति प्राप्नोति, तथैव तेनैव प्रकारेण, अस्मिन् चन्द्रकेतौ, मम लवस्य, दृष्टिः नेत्रम् (आनन्दं व्रजति), पुनः किन्तु, कलहकामः युद्धाकाङ्क्षी, अयम् एषः, बाहुः भुजः, रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनुर्धृतप्रेमा रणत्कारेण रणत् इति शब्देन क्रूरम् अतिकर्कशं यथा स्यात् तथा क्वणितः शब्दितः यः गुणः मौर्वी तेन गुञ्जत् शब्दं कुर्वत् यत् गुरु विशालं धनुः चापः तस्मिन् धृतं निहितं प्रेम प्रणयः येन स तथोक्तः, विकचविकरालव्रणमुखः विकचः सुव्यक्तः विकरालः अतिभीषणः व्रणः, क्षतचिह्नं मुखे अग्रे यस्य स तथोक्तश्च ('व्रणमुखः' इत्यस्य स्थाने 'उल्बणरसः' इति पाठभेदे तु 'उल्बणः अत्युद्धतः रसः वीररसः यस्य सः' इति व्याख्येयम्), (सञ्जातः) ॥ २६ ॥

अनुवाद—चन्द्रमा के उदित होने पर जैसे कुमुदिनी प्रफुल्ल होती है उसी तरह चन्द्रकेतु के देखने पर मेरा नेत्र आनन्दित हो रहा है, किन्तु लड़ाई चाहने वाली यह मेरी भुजा, जिसके अग्रभाग पर सुस्पष्ट एवं निकट घाव के चिह्न विद्यमान हैं, ऐसे विशाल धनुष के प्रति प्रेम प्रकट कर रही है, जो क्रूरतापूर्वक रणरणाती हुई मौर्वी से गूँज रहा है ॥ २६ ॥

टिप्पणी—समुपोढे सम् उप √वह् + क्त कर्माणि । कलहकामः—कलहं कामयते इति कलह √कामि + ण कर्तरि । यहाँ परस्पर विरुद्ध स्नेह और वैर का एकत्र संघटन होने से विषमालंकार और कुमुदिनी के साथ अवैधर्म्य समता का निरूपण करने से श्रौती उपमा अलंकार है। इन दोनों में अंगागिभाव संबंध होने से सङ्कर अलंकार हो जाता है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में रत्याख्य स्थायिभाव, प्रसाद गुण तथा कैशिकी रीति है और उत्तरार्द्ध में वीर रस, ओज गुण एवम् आरभटी रीति है । इस प्रकार यहाँ मिश्रित रस समझना चाहिए । यह शिखरिणी छंद है ॥ २६ ॥

चन्द्रकेतु —(*अवतरणं निरूपयन्*) आर्य ! अयमसावैक्ष्वाकश्चन्द्रकेतुरभिवादयते।

चन्द्रकेतु—(*उतरने का अभिनय करता हुआ*) आर्य ! यह इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न चन्द्रकेतु आपको प्रणाम करता है।

सुमन्त्र —

अजितं पुण्यमूर्जस्वि ककुत्स्थस्येव ते महः ।
श्रेयसे शाश्वतो देवो वराहः परिकल्पताम् ॥ २७ ॥

अन्वय—शाश्वत वराहः देव ककुत्स्थस्य इव ते अजितं पुण्यम् ऊर्जस्वि महः श्रेयसे परिकल्पताम् ॥ २७ ॥

व्याख्या—शाश्वतः सनातनः, वराहः धृतवराहमूर्तिः, देवः विष्णुः, ककुत्स्थस्य पुरञ्जयस्य, इव तद्वत्, ते तव, अजितं परैरनभिभूतं, पुण्यं पवित्रम्, ऊर्जस्वि प्रबलं, महः तेजः, श्रेयसे शुभाय, परिकल्पतां सम्पादयतु ॥ २७ ॥

अनुवाद—सुमन्त्र—वराहशरीरधारी सनातन विष्णु विजय-मंगल के लिए तुम्हें पुरञ्जय की भाँति अजेय, पवित्र एवं बलवान् तेज प्रदान करें ॥ २७ ॥

टिप्पणी—ककुत्स्थस्य—ककुदि तिष्ठति इति ककुद्√स्था+क कर्तरि=ककुत्स्थः, तस्य। पूर्वकाल में पुरञ्जय नामक इक्ष्वाकुवंशीय राजा ने वृषभरूपधारी इन्द्र के ककुद् (कंधे) पर आरूढ होकर असुरों से युद्ध किया था। अतः पुरञ्जय का नाम ककुत्स्थ पड़ा। ककुत्स्थ के शरीर में भगवान् विष्णु ने अपना तेज भर दिया था। अतएव वे असुरविजयी हुए थे।

किसी पुस्तक में इस श्लोक के बदले 'अहितस्यैव पुन. पराभवाय महानादिवराहः कल्पताम्।' ऐसा पाठ मिलता है। तदनुसार अर्थ होगा—'शत्रु के पराजय के लिए महान् आदिवराह पुनः प्रकट हों।' ॥ २७ ॥

अपि च,

और भी,

देवस्त्वां सविता धिनोतु समरे गोत्रस्य यस्ते पति-
स्त्वां मैत्रावरुणोऽभिनन्दतु गुरुर्यस्ते गुरूणामपि।
ऐन्द्रावैष्णवमाग्निमारुतमथो सौपर्णमोजोऽस्तु ते
देयादेव च रामलक्ष्मणधनुर्ज्याघोषमन्त्रो जयम् ॥ २८ ॥

अन्वय—सविता देवः समरे त्वा धिनोतु य. ते गोत्रस्य पतिः, मैत्रावरुणः त्वाम् अभिनन्दतु य. ते गुरूणाम् अपि गुरु., अथो ऐन्द्रावैष्णवम् आग्निमारुत सौपर्णम् ओजः ते अस्तु, रामलक्ष्मणधनुर्ज्याघोषमन्त्र जय देयात् एव ॥ २८ ॥

व्याख्या—सविता सूर्यः, देवः देवता, समरे युद्धे, त्वा चन्द्रकेतुं, धिनोतु प्रीणयतु, यः सविता, ते तव, गोत्रस्य वंशस्य, पतिः स्वामी, मैत्रावरुणः वसिष्ठः, त्वा चन्द्रकेतुम्, अभिनन्दतु प्रशंसतु, य. वसिष्ठः, ते तव, गुरूणामपि पित्रादीनामपि, गुरु. पूज्यः, अथो अनन्तरम्, ऐन्द्रावैष्णवम् इन्द्रविष्णुसम्बन्धि, आग्निमारुतम् अग्निमरुत्सम्बन्धि, सौपर्णं गरुडसम्बन्धि, ओजः तेज, ते तव, अस्तु भवतु, रामलक्ष्मणधनुर्ज्याघोषमन्त्र. रामलक्ष्मणयोः या धनुर्ज्या मौर्वी तस्या यो घोषः शब्दः तेन युक्तो मन्त्र, जय विजय, देयात् एव ददातु एव ॥ २८ ॥

अनुवाद—समर में सूर्यदेव तुम्हें प्रसन्न रखें, जो तुम्हारे वंश के अधिपति

हैं। वशिष्ठ जी तुम्हारा अभिनन्दन करें, जो तुम्हारे गुरुओं के भी गुरु हैं। इसके बाद तुम्हें इन्द्र, विष्णु, अग्नि, मरुत् तथा गरुड का तेज प्राप्त हो और राम-लक्ष्मण के धनुष की मौर्वी के शब्द से युक्त मन्त्र (अर्थात् ब्रह्मास्त्र प्रयोग का मन्त्र) तुम्हें विजय प्रदान करे ॥ २८ ॥

टिप्पणी—धिनोतु—√ धिन्वि + लोट्—तु। 'धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम्' इति किरात०। मैत्रावरुण = वशिष्ठ। मित्रश्च वरुणश्च इति द्वन्द्वसमासे मित्रावरुणौ 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यनेन आनङ् आदेशः, तयोः अपत्यम इत्यर्थे अण्प्रत्यय। ऐन्द्रावैष्णवम्—इन्द्रश्च विष्णुश्च इन्द्राविष्णू 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्, तयो इदम् ऐन्द्रावैष्णवम् 'तस्येदम्' इत्यनेन अण् प्रत्यय', 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यनेन उभयपदवृद्धि। *आग्निमारुतम्*—अग्निश्च मरुच्च अग्नामरुतौ 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्, तयोरिदम् आग्निमारुतम् अणप्रत्ययः, उभयपदवृद्धि, 'इद्वृद्धौ' इत्यनेन इत्वम्। देयात्—दाधातोः आशीर्लिङि रूपम्। 'एतेर्लिङि' इति सूत्रेण एत्वम्। इस पद्य में असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूप निदर्शना अलंकार तथा रूपक अलंकार है। फिर दोनों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥२८॥

लवः—अतीव नाम शोभते रथस्थ एव। कृत कृतमत्यादरेण।

लव—आप रथ पर ही अत्यंत शोभित हो रहे हैं। अतिशय आदर प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है।

चन्द्रकेतुः - तर्हि महाभागोऽप्यन्य रथमलङ्करोतु।

चन्द्रकेतु—तब आप भी दूसरे रथ को अलङ्कृत कीजिये।

लव —आर्य ! प्रत्यारोपय रथोपरि राजपुत्रम्।

लव—आर्य ! राजकुमार को रथ पर चढ़ाएँ।

सुमन्त्रः—त्वमप्यनुरुध्यस्व वत्सस्य चन्द्रकेतोर्वचनम्।

सुमन्त्र—तुम भी वत्स चन्द्रकेतु की बात रख लो।

लवः—को विचारः स्वेषूपकरणेषु ? किन्त्वरण्यसदो वयमनभ्यस्तरथचर्याः।

लव—अपनी व्यवहार की वस्तुओं में क्या हिचकिचाहट ! किन्तु हम वनवासी लोगों को रथ से चलने का अभ्यास नहीं है (अर्थात् अभिल-

हृदय चन्द्रकेतु की वस्तु मेरी अपनी ही है। अत. रथ स्वीकार करने में मुझे आपत्ति नहीं है। किन्तु रथ के व्यवहार में अनभ्यस्त होने के कारण मैं रथ पर चढ़ कर युद्ध करना नहीं चाहता हूँ।)।

टिप्पणी—उपकरणेषु = सामग्रीषु। उपक्रियते एभिः इति उप√कृ + ल्युट् करणे—उपकरणानि, तेषु विषयाधिकरणे सप्तमी। रथचर्या—√चर् + यत् भावे क्रिया = चर्या, रथस्य चर्या रथचर्या।

सुमन्त्र —जानासि वत्स! दर्पसौजन्ययोर्यदाचरितम्। यदि पुनस्त्वामीदृशमैक्ष्वाको राजा रामभद्र. पश्येत्तदाऽस्य स्नेहेन हृदयमभिष्यन्देत।

व्याख्या—वत्स! आयुष्मन्! दर्पसौजन्ययोः अहङ्कारविनययोः, यत्, आचरितम् आचार. (तत् आचरितम्) जानासि वेत्सि, यदि पुन. चेत् हि, ईदृश शौर्यसौजन्यादिगुणभूषित, त्वा भवन्तम्, ऐक्ष्वाक. इक्ष्वाकुवंशीय, राजा रामभद्र, पश्येत् अवलोकयेत्, तदा तर्हि, अस्य राज्ञ, हृदय चित्त, स्नेहेन प्रेम्णा, अभिष्यन्देत द्रवीभूत भवेत्।

अनुवाद—सुमन्त्र—वत्स! तुम अभिमान और विनय का आचरण करना जानते हो। यदि ऐसे (शौर्यसौजन्यादिगुणभूषित) तुमको इक्ष्वाकुवंशीय राजा रामभद्र देखते तो स्नेह से उनका हृदय पिघल जाता।

लव.—आर्य! सुजन स राजर्षि. श्रूयते। (*सलज्जमिव*)

लव—आर्य! सुनते हैं, वे राजर्षि सज्जन पुरुष हैं। (*लज्जित की तरह*)

वयमपि न खल्वेवम्प्रायाः क्रतुप्रविघातिनः[1]
क इह च[2] गुणैस्तं राजानं न वा बहु मन्यते।
तदपि खलु मे स व्याहारस्तुरङ्गमरक्षिणा
विकृतिमखिलक्षत्राक्षेपप्रचण्डतयाऽकरोत्॥ २६॥

अन्वय—वयमपि एवम्प्राया. क्रतुप्रविघातिन न खलु, इह च क गुणे तं राजानं न वा बहु मन्यते? तदपि तुरङ्गमरक्षिणा स व्याहार. खलु अखिलक्षत्राक्षेपप्रचण्डतया मे विकारम् प्रकरोत्॥ २६॥

व्याख्या—वयमपि अस्मद्विधा जना अपि अहमपीत्यर्थः, एवम्प्राया

---

१ 'क्रतुप्रतिघातिन.' इति पाठभेदः। २. 'क इव च' इति पाठान्तरम्।

एवंविधाः, क्रतुप्रविघातिनः यज्ञहन्तारः, न खलु नैव, इह च अस्मिन् जगति, कः को जनः, गुणैः दयादाक्षिण्यादिभिः, तं पूर्वोक्तं, राजानं रामं, न बहु मन्यते वा न अधिकम् आद्रियते वा ? तदपि तथापि, तुरङ्गमरक्षिणा अश्वरक्षकाणां, स. पूर्वोक्तः, व्याहारः उक्तिः, खलु नूनम्, अखिलक्षत्राक्षेपप्रचण्डतया अखिलानां समग्राणां क्षत्राणां क्षत्रियाणाम् आक्षेपेण तिरस्कारेण प्रचण्डतया अत्युग्रतया, मे मम, विकृतिं मनोविकारम्, अकरोत् उदपादयत् ॥ २६ ॥

अनुवाद—मैं भी कोई इस प्रकार का यज्ञविध्वंसक नहीं हूँ (जो यज्ञीय अश्व का अपहरण करूँ) और इस संसार में कौन व्यक्ति ऐसे गुणशाली राजा (रामचन्द्र) के प्रति सम्मान नहीं प्रकट करेगा ? किन्तु अश्व रक्षकों की ('योऽयमश्वः पताका वा' इत्यादि) उक्ति ने निखिल क्षत्रियों की अवमानना करके अत्यंत उग्र रूप से मुझमें विकार उत्पन्न कर दिया है ॥ २६ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है । यह हरिणी छंद है ॥ २६ ॥

चन्द्रकेतुः—किं भवतस्तातप्रतापोत्कर्षेऽप्यमर्षः ?

चन्द्रकेतु—तो क्या पितृचरण के प्रभावोत्कर्ष के प्रति भी आप असहिष्णु हैं ?

लवः—अस्त्वहामर्षो मा भूद्वा । अन्यदेतत्पृच्छामि । दान्तं हि राजानं राघवं शृणुमः । स किल नात्मना दृप्यति, नास्य प्रजा वा दृप्ता जायन्ते । तत् किं मनुष्यास्तस्य राक्षसीं वाचमुदीरयन्ति ?

व्याख्या—इह रामचन्द्रप्रतापोत्कर्षे, अमर्षः असहिष्णुता, अस्तु भवतु, वा अथवा, मा भूत् न भवतु । अन्यत् अपरम्, एतत् इदं, पृच्छामि जिज्ञासे । राघवं रामचन्द्रं, दान्तं दयादिसम्पन्नं, शृणुमः आकर्णयामः । सः रामचन्द्रः, आत्मना स्वयं, न दृप्यति न दर्पं करोति, वा, अस्य रामस्य, प्रजाः प्रकृतयः अपि, दृप्ताः गर्विताः, न जायन्ते न भवन्ति । तत् तर्हि, किं कथं, तस्य रामस्य, मनुष्याः अधिकृताः पुरुषाः, राक्षसीं राक्षससम्बन्धिनीं, वाचं वाणीम्, उदीरयन्ति उच्चारयन्ति ।

अनुवाद—लव—इस सम्बन्ध में (मेरी) असहिष्णुता हो या न हो । मैं यह दूसरी बात पूछता हूँ कि राजा राम को हमने जितेन्द्रिय सुना है । न

तो वे स्वयं गर्व करते हैं और न उनकी प्रजायें ही गर्वित होती हैं। तब क्यों उनके अधिकृत पुरुष राक्षसी वाणी का उच्चारण करते हैं ?

टिप्पणी—दान्तम्—√दम्+णिच्+क्त कर्मणि, तम्। राक्षसीम्—रक्षस इयम् इति रक्षस्+अण् स्त्रियाम्—राक्षसी, ताम्। उदीरयन्ति—उद् √ईर्+णिच् (चुरादि)+लट्—अन्ति।

ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निर्ऋतिः ॥ ३० ॥

अन्वय—ऋषयः उन्मत्तदृप्तयोः वाचं राक्षसीम् आहुः, सा सर्ववैराणां योनिः सा हि लोकस्य निर्ऋतिः ॥ ३० ॥

व्याख्या—ऋषयः मुनयः, उन्मत्तदृप्तयोः उन्मत्तस्य विक्षिप्तस्य दृप्तस्य गर्वितस्य च, वाचं वाणीं, राक्षसीं राक्षसोचितां निष्ठुराम्, आहुः ब्रुवन्ति। सा राक्षसी वाक्, सर्ववैराणां सर्वेषां वैराणां विरोधानां, योनिः कारणम्, सा हि तादृशी वागेवेत्यर्थः, लोकस्य जनस्य, निर्ऋतिः अनादरहेतुः ('निर्ऋति' इति पाठभेदे तु 'अलक्ष्मीः' इति व्याख्येयम्) ॥ ३० ॥

अनुवाद—मुनिगण उन्मत्त एवम् अभिमानी व्यक्ति की वाणी को राक्षसी कहते हैं। क्योंकि वह वाणी सब प्रकार के विरोधों तथा लोकतिरस्कार की जननी है ॥ ३० ॥

इति ह स्म तां निन्दन्ति। इतरामभिष्टुवन्ति।

व्याख्या—इति ह इति पारम्पर्योपदेशसूचकमव्ययम्, स्म इति प्रसिद्धिद्योतकमव्ययम्, तां पूर्वोक्तां राक्षसीं वाचं, निन्दन्ति तिरस्कुर्वन्ति, इतरां तद्भिन्नां विनयशान्तामित्यर्थः, अभिष्टुवन्ति प्रशंसन्ति।

अनुवाद—इसलिए वे उस (राक्षसी वाणी) की निन्दा और दूसरी (विनयादगुणभूषित वाणी) की प्रशंसा करते हैं।

कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्तिं सूते दुर्हृदो निष्प्रलाति।
शुद्धां शान्तां मातरं मङ्गलानां धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः ॥ ३१ ॥

अन्वय—कामं दुग्धे अलक्ष्मीं विप्रकर्षति कीर्तिं सूते दुर्हृदो निष्प्रलाति। धीराः सूनृतां वाचं शुद्धां शान्तां मङ्गलानां मातरं धेनुम् आहुः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—(सूनृता वाक्) कामं मनोरथं, दुग्धे प्रपूरयति, अलक्ष्मीम् अशुभाधिष्ठात्रीं देवीं, विप्रकर्षति निरस्यति, कीर्तिं यशः, सूते उत्पादयति,

दुर्हृदः दुर्हृदयान शत्रूनित्यर्थः, निष्प्रलाति अत्यन्त नाशयति ('दुष्कृत या हिनस्ति' इति पाठे तु 'या सूनृता वाग् दुष्कृत सञ्चितपाप हिनस्ति विनाशयति' इति व्याख्येयम्), (अत) धीराः पण्डिता, सूनृता सत्या प्रियाश्च, वाच वाणीं, शुद्धा दोषरहिता, शान्ता कोमला, मङ्गलाना शुभाना, मातर जननीं, धेनु कामधेनुतुल्याम्, आहु ब्रुवन्ति ॥ ३१ ॥

अनुवाद—सत्य और प्रिय वाणी मनोरथ को पूर्ण करती है, दरिद्रता को हटाती है, कीर्ति को उत्पन्न करती है और शत्रुओं को विनष्ट करती है। अतः सुधीगण सत्य और प्रिय वाणी को शुद्ध, शान्त, कल्याणदात्री एव कामधेनुतुल्य कहते हैं ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—दुर्हृद =शत्रुओं को। दुष्ट हृदय येषा तान्, 'सुहृद् दुर्हृदौ मित्रामित्रयो.' इति सूत्रेण हृदयस्य हृद्भावः। सूनृताम्=सत्य और प्रिय। 'सूनृत प्रिये' इत्यमर.। 'सूनृत मङ्गलेऽपि स्यात् प्रियसत्ये वचस्यपि' इत्यजयः। इस पद्य में 'दुग्धे' इत्यादि अनेक क्रियाओं का एक ही कर्ता कारक होने से दीपक अलकार है। 'धेनु' शब्द के धेनुसादृश्य अर्थ में पर्यव सान होने से असम्भवद्वस्तुसम्बन्धना निदर्शना अलकार है। फिर इन दोनों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से ससृष्टि अलकार हो जाता है। यह शालिनी छद है ॥ ३१ ॥

सुमन्त्र—परिभूतोऽयं वत कुमार प्राचेतसान्तेवासी। वदत्ययमभ्युपपन्नामर्षेण संस्कारेण।

व्याख्या—वत इति खेदे, प्राचेतसान्तेवासी वाल्मीकिशिष्य., अय दृश्यमानः, कुमारः बाल., परिभूत तिरस्कृतः ('परिपूतस्वभावः' इति पाठभेदे तु 'पवित्रचरित्र' इति व्याख्येयम्) अयम्, अभ्युपपन्नामर्षेण अभ्युपपन्नः उत्पन्न अमर्षः क्रोध. यस्य तेन, (एतादृशेन) सस्कारेण वासनया ('अभिसम्पन्नमार्षेण सस्कारेण' इति पाठभेदे तु आर्षेण ऋषितुल्येन सस्कारेण अनुभवेन अभिसम्पन्न सयुक्त (वचनम्) इति व्याख्येयम्, वदति भाषते।

अनुवाद—खेद है कि वाल्मीकि मुनि का शिष्य यह कुमार अनादृत हुआ है। (अतएव) यह क्रोधाविष्ट सस्कार (अनुभूति) से बोल रहा है।

लव—यत् पुनश्चन्द्रकेतो ! वदसि 'किन्तु भवतस्तातप्रतापो-

त्कर्षेऽप्यमर्ष' इति, तत् पृच्छामि 'किं व्यवस्थितविषयः क्षत्रधर्मः'? इति ।

लव—चन्द्रकेतु जी ! आपने जो यह कहा कि पितृचरण के प्रभावोत्कर्ष के प्रति भी आप असहिष्णु हैं क्या ? सो मैं पूछता हूँ—'क्या क्षात्र धर्म नियताश्रय (अर्थात् एक ही आश्रय या व्यक्ति में रहने वाला) है' ?

सुमन्त्र—नैव खलु जानासि देवमैक्ष्वाकम्, तद्विरमातिप्रसङ्गात् ।

सुमन्त्र—इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न महाराज (राम) को तुम नहीं जानते हो । अतः अनिष्ट प्रसंग (अर्थात् अनर्थक बातों) से विरत हो जाओ ।

सैनिकानां प्रमाथेन सत्यमोजायितं त्वया ।
जामदग्न्यस्य दमने न हि निर्बन्धमर्हसि ॥ ३२ ॥

अन्वय—सैनिकानां प्रमाथेन त्वया सत्यम् ओजायितम् । हि जामदग्न्यस्य दमने निर्बन्धं न अर्हसि ॥ ३२ ॥

व्याख्या—सैनिकानां सैन्यानां, प्रमाथेन दलनेन, त्वया भवता, सत्यं यथार्थमेव, ओजायितम् ओजस्विवदाचरितम् । हि किन्तु, जामदग्न्यस्य परशुरामस्य, दमने दर्पहारिणि (रामभद्रे), निर्बन्धं परुषवचनं, (कथयितुं) न अर्हसि न योग्यो भवसि ('न हि निर्बन्धम्' इत्यस्य स्थाने 'नैव निर्वक्तुम्' इति पाठभेदे तु 'एवम् इत्थं निर्वक्तुं निश्चयेन भाषितुम्' इति व्याख्येयम्) ॥३२॥

अनुवाद—सैनिकों का दलन कर तुमने सचमुच ओजस्विता का परिचय दिया है, पर परशुराम का दमन करने वाले रामभद्र के प्रति तुम कठोर वचन बोलने योग्य नहीं हो ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—ओजायितम्=तेजस्वी के समान आचरण किया । ओजस् शब्दात् 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' इति सूत्रेण क्यङ् प्रत्ययः सलोपश्च, ततः 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इत्यनेन दीर्घः । दमने=दमनकर्ता । दमयतीति दमनः, दम् धातोः नन्द्यादित्वात् ल्युप्रत्ययः वा बहुलग्रहणात् कर्तरि ल्युट् । इस पद्य में क्यङ्प्रत्ययप्रतिपादित उपमा अलंकार है ॥ ३२ ॥

लव—(सहासम्) आर्य ! जामदग्न्यस्य दमनः स राजेति कोऽयमुच्चैर्वादः ?

लवः—(*हँसी के साथ*) आर्य ! वे राजा परशुराम का दमन करने वाले हैं, यह कौन सी उच्च स्वर से बोलने की बात है ? (अर्थात् यह कोई महावीरत्व-द्योतक बात नहीं है ।)

सिद्धं ह्येतद्वाचि वीर्यं द्विजानां
बाह्वोर्वीर्यं यत्तु तत् क्षत्रियाणाम् ।
शस्त्रग्राही ब्राह्मणो जामदग्न्य-
स्तस्मिन्दान्ते का स्तुतिस्तस्य राज्ञः ? ॥ ३३ ॥

अन्वय—एतत् सिद्धं हि द्विजानां वाचि वीर्यम्, यत् बाह्वोः वीर्यं तत् क्षत्रियाणाम् । जामदग्न्यः शस्त्रग्राही ब्राह्मणः, तस्मिन् दान्ते तस्य राज्ञः का स्तुतिः ? ॥ ३३ ॥

व्याख्या—एतत् इदं, सिद्धं प्रसिद्धं, हि निश्चयेन, (यत्) द्विजानां ब्राह्मणानां, वाचि वाक्ये, वीर्यं पराक्रमः, यत्, बाह्वोः भुजयोः, वीर्यं, तत्तु, क्षत्रियाणां राजन्यानाम् । जामदग्न्यः, परशुरामः शस्त्रग्राही शस्त्रधारी, ब्राह्मणः विप्रः, तस्मिन् परशुरामे, दान्ते विजिते (सति), तस्य राज्ञः विजयिनः रामस्य, का स्तुतिः का प्रशंसा ? ॥ ३३ ॥

अनुवाद—यह प्रसिद्ध ही है कि ब्राह्मणों की वाणी में शक्ति होती है और क्षत्रियों की भुजाओं में । परशुराम जी ब्राह्मण होकर शस्त्र धारण किये हुए हैं । अतः उनके दमन करने पर राजा राम की क्या प्रशंसा होगी ? ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—द्विजानाम्—द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायन्ते इति द्विजाः, द्वि√जन्+ड कर्तरि, तेषाम् । जामदग्न्यः—जमदग्नेर्गोत्रापत्यं पुमान् इति जमदग्नि+यञ् । इस पद्य में 'भुजाओं का जो बल है, वह क्षत्रियों का है' । इससे 'भुजाबल ब्राह्मणों का नहीं है' इस अर्थ की सिद्धि होने से आर्थी परिसंख्या अलङ्कार है । यह शालिनी छन्द है ॥ ३३ ॥

चन्द्रकेतुः—(*सोन्माथमिव*) आर्य सुमन्त्र ! कृतमुत्तरोत्तरेण ।

चन्द्रकेतु—(*मार्मिक वेदना के साथ*) आर्य सुमन्त्र ! उत्तर-प्रत्युत्तर करना निष्प्रयोजन है (अर्थात् अब इसकी बातों का उत्तर मत दीजिये । इस धृष्ट के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर करने से हमारा ही हलकापन सिद्ध होगा ।)

काऽप्येष सम्प्रति नवः पुरुषावतारो
वीरो न यस्य भगवान् भृगुनन्दनोऽपि ।
पर्याप्तसप्तभुवनाभयदक्षिणानि
पुण्यानि तातचरितान्यपि यो न वेद ॥ ३४ ॥

अन्वय—सम्प्रति एष कोऽपि नवः पुरुषावतारः यस्य भगवान् भृगुनन्दनोऽपि न वीरः । यः पर्याप्तसप्तभुवनाभयदक्षिणानि पुण्यानि तातचरितानि अपि न वेद ॥ ३४ ॥

व्याख्या—सम्प्रति इदानीम्, एषः अयं, कोऽपि अनिर्वचनीयः, नवः नव्यः, पुरुषावतारः नरः सन् अवतीर्णः, यस्य पुरुषावतारस्य, (समीपे) भगवान् ऐश्वर्यादिषड्गुणसम्पन्नः, भृगुनन्दनोऽपि परशुरामोऽपि, न नहि, वीरः शूरः (अस्ति) । यः अवतीर्णपुरुषः, पर्याप्तसप्तभुवनाभयदक्षिणानि पर्याप्ता यथेप्सिता सप्तभुवनस्य भूरादिसप्तलोकस्य अभयदक्षिणा अभयदानं येषु तानि, पुण्यानि पवित्राणि, तातचरितानि अपि पितृचरणचरित्राणि अपि, न वेद न जानाति ॥ ३४ ॥

अनुवाद—वर्तमान समय में यह कोई नया पुरुष अवतीर्ण हुआ है, जो भगवान् परशुराम को भी वीर नहीं मानता है और सातों भुवनों को अभयदान देने वाले पितृचरण (रामचन्द्र) के पवित्र चरित्रों को भी नहीं जानता है ॥ ३४ ॥

टिप्पणी—पुरुषावतारः—अवतरत्यनेन इति अव √तॄ + घञ् करणे = अवतारः, पुरुषस्य अवतारः । यस्य—अत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठी । दक्षिणा = दान । 'दक्षिणा दिशि दाने च' इति त्रिकाण्डशेषः । इस पद्य में रूपक और छेकानुप्रास अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार हो जाता है । यह वसन्ततिलका छन्द है ॥ ३४ ॥

लव—को हि रघुपतेश्चरितं महिमानं च न जानाति ? यदि नाम किञ्चिदस्ति वक्तव्यम् । अथवा शान्तम् ।

लव—रघुपति के चरित्र और महिमा को कौन नहीं जानता है ? यदि कुछ कहने योग्य है……अथवा नहीं कहना चाहिए ।

वृद्धास्ते न विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु किं वर्ण्यते[1] ?
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥३५॥

अन्वय—ते वृद्धाः, विचारणीयचरिताः न तिष्ठन्तु, किं वर्ण्यते ! सुन्दस्त्रीमथने अपि अकुण्ठयशसः ते लोके महान्तः हि, खरायोधने यानि त्रीणि कुतोमुखानि पदानि अपि आसन् वा इन्द्रसूनुनिधने यत् कौशलं तत्र अपि जनः अभिज्ञः ॥ ३५ ॥

व्याख्या—ते प्रसिद्धाः रामाः, वृद्धाः स्थविराः, (अतएव) विचारणीयचरिताः विचारणीयं समालोच्यं चरितं चरित्रं येषां ते तथोक्ताः, न नहि, तिष्ठन्तु वर्तन्ताम्, (अथवा) किं वर्ण्यते किं वर्णनीयमस्ति ! सुन्दस्त्रीमथनेऽपि सुन्दस्य जम्भपुत्रस्य असुरविशेषस्य स्त्रियः पत्न्याः ताडकाया इत्यर्थः मथनेऽपि वधेऽपि, अकुण्ठयशसः अकुण्ठम् अक्षुण्णम् ('अखण्डम्' इति पाठे तु 'परिपूर्णम्' इति व्याख्येयम्) यशः कीर्तिः येषां ते, ते रामाः, लोके भुवने, महान्तः हि महानुभावा एव, खरायोधने खरस्य एतदाख्यराक्षसविशेषस्य आयोधने युद्धे, यानि, त्रीणि त्रिसंख्यकानि, कुतोमुखानि पराङ्मुखानि ('अपराङ्मुखानि' इति पाठभेदे तु 'अविमुखानि' इति व्याख्येयम्), पदानि अपि पादक्षेपा अपि, आसन् अभवन्, वा अथवा इन्द्रसूनुनिधने इन्द्रपुत्रस्य वालिनः वधे, यत्, कौशलं दाक्ष्यं, तत्र अपि तस्मिन् कौशले अपि, जनः लोकः, अभिज्ञः ज्ञानवान् (अस्ति) ॥ ३५ ॥

अनुवाद—वे राम वृद्ध हैं। अतएव उनके चरित्र की आलोचना नहीं करनी चाहिए। अथवा क्या कहें ! सुन्द राक्षस की स्त्री (ताड़का) के वध करने पर भी अक्षुण्ण यश वाले राम महान् ही हैं। खर राक्षस के साथ युद्ध में वे जो तीन पग पीछे हटे थे अथवा वाली के मारने में उन्होंने जो कौशल दिखाया था, उससे भी लोग परिचित हैं ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—सुन्दस्त्रीमथने = ताड़का के वध में धर्मशास्त्र के अनुसार स्त्रीहत्या सर्वथा वर्जित है—'अवध्याञ्च स्त्रियं प्राहुस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि।'

१. 'हुं वर्तते' इति पाठान्तरम्।

अतएव लव ने यह आक्षेप किया है। खरायोधने=खर के साथ युद्ध करने में। आयोधन=युद्ध। 'जन्यमायोधनं युद्धं प्रधनं प्रविदारणम्' इत्यमरः। कहते हैं कि युद्ध में खर रामचन्द्रजी के बिलकुल समीप आ गया था, जिससे उन्होंने तीन पग पीछे हट कर उसे मारा था। किन्तु 'न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्' इस वचन के अनुसार उनका पीछे हटना उचित नहीं कहा जा सकता। यही बात ध्यान में रखकर लव ने यह आक्षेप किया है। इन्द्रसूनुनिधने=बाली के मारने में। सुग्रीव के साथ युद्ध करते हुए बाली को राम ने पेड़ की ओट से मारा था। इस प्रकार की हत्या को मनु ने निषिद्ध बताया है—'नायुधमान पश्यन्त न परेण समागतम्।' लव के आक्षेप का यही तात्पर्य है। इस पद्य में वक्ष्यमाण आक्षेप अलंकार है। यह शार्दूलविक्रीडित छंद है ॥ ३५ ॥

चन्द्रकेतुः—आः, तातापवादिन्! भिन्नमर्याद! अति हि नाम प्रगल्भसे।

चन्द्रकेतु—आह! पिता जी के निन्दक! मर्यादा का उल्लंघन करने वाले! बड़ी ढिठाई कर रहे हो।

लव—अये! मय्येव भ्रुकुटीमुखः संवृत्तः।

लव—अरे! यह तो मेरे ही ऊपर त्योरी चढ़ा रहा है।

सुमन्त्र—स्फुरितमनयोः क्रोधेन। तथाहि—

सुमन्त्र—इन दोनों का क्रोध भभक उठा है। क्योंकि—

क्रोधेनोद्धतधूतकुन्तलभरः सर्वाङ्गजो वेपथुः
किंचित्कोकनदच्छदस्य सदृशे नेत्रे स्वयं रज्यतः।
धत्ते कान्तिमिदं च वक्त्रमनयोर्भङ्गेन भीमं भ्रुवो-
श्चन्द्रस्योद्भटलाञ्छनस्य कमलस्योद्भ्रान्तभृङ्गस्य च ॥३६॥

अन्वय—क्रोधेन उद्धतधूतकुन्तलभरः सर्वाङ्गजो वेपथुः, नेत्रे कोकनदच्छदस्य किंचित् सदृशे स्वयं रज्यतः। भ्रुवोः भङ्गेन भीमम् अनयोः इदं वक्त्रं च उद्भटलाञ्छनस्य चन्द्रस्य उद्भ्रान्तभृङ्गस्य कमलस्य च कान्तिं धत्ते ॥ ३६ ॥

व्याख्या—क्रोधेन कोपेन, उद्धतधूनकुन्तलभरः उद्धतम् अत्यधिकं यथा स्यात् तथा धूताः कम्पिताः कुन्तलभराः कचभाराः यस्मिन् सः, सर्वाङ्गजः सम्पूर्ण-गात्रोत्पन्नः, वपथुः कम्पः ('चूडामण्डलबन्धनं तरलयत्याकूतजो वेपथुः' इति पाठभेदे तु 'आकूतजः आकूतं प्रतिद्वन्द्विपराभवविषयकोऽभिप्रायः तस्मात् जायते यः तथोक्तः', वेपथुः कम्पः, चूडामण्डलबन्धनं चूडामण्डलस्य केशपाश-समूहस्य बन्धनं संयमनं, तरलयति चञ्चलीकरोति' इति व्याख्येयम्), स्वयम् आत्मना, कोकनदच्छदस्य रक्तकमलदलस्य, किञ्चित् ईषत्, सदृशे तुल्ये, नेत्रे चक्षुषी, रज्यतः रक्तवर्णे भवतः, भ्रुवोः भ्रूयुगलस्य, भङ्गेन कौटिल्येन, भीमं भयानकम्, अनयोः बालकयोः, इदम् एतत् वक्त्रं च वदनं च, उद्भटलाञ्छनस्य सुस्पष्टकलङ्कस्य, चन्द्रस्य इन्दोः, उद्भ्रान्तभृङ्गस्य उद्भ्रान्ता उपरि भ्रमन्तः भृङ्गाः भ्रमराः यस्य तथोक्तस्य, कमलस्य पद्मस्य च, कान्तिं शोभां ('कान्तिमकाण्डताण्डवितयोर्भङ्गेन वक्त्रम्' इति पाठभेदे तु अकाण्डताण्ड-वितयोः अकाण्डे अनवसरे ताण्डवितयोः नृत्यन्त्योः (भ्रुवोः), शेषं प्राग्वद् व्याख्येयम्), धत्ते धारयति ॥ ३६ ॥

अनुवाद—क्रोध से (दोनों के) केशपाश अत्यन्त हिल रहे हैं, सकल अंगों में कम्पन हो रहा है और स्वभाव से ही रक्त कमल के पत्र के किंचित् सदृश दोनों नेत्र लाल हो रहे हैं। दोनों भौंहों की भंगिमा से भयानक इन (दोनों) के मुख स्पष्ट कलङ्क वाले चन्द्रमा और मँडराते हुए भ्रमरों से युक्त कमल की शोभा धारण कर रहे हैं ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूप निदर्शना अलंकार है और कम्पन तथा आँखों की लालिमा आदि हेतुओं से क्रोध रूप साध्य का ज्ञान होने के कारण अनुमान अलंकार भी है। फिर इन दोनों में अंगागि-भाव सम्बन्ध होने से संकर अलंकार उत्पन्न होता है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ ३६ ॥

लवः—कुमार ! कुमार ! एह्येहि । विमर्दक्षमां भूमिमवतरावः ।

लव—कुमार ! कुमार ! आओ, आओ ! युद्ध के उपयुक्त भूमि में अर्थात् लड़ाई के मैदान में) हम दोनों उतर पड़ें।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

(अनन्तर सब चले गये ।)

इति श्रीमहाकविभवभूतिविरचिते उत्तररामचरिते कुमार-विक्रमो नाम पञ्चमोऽङ्कः ॥ ५ ॥

महाकवि भवभूति-रचित उत्तररामचरित नाटक में 'कुमार विक्रम' नामक पाँचवाँ अंक समाप्त ॥ ५ ॥

इति श्रीतारिणीशशर्मकृतोत्तररामचरितेन्दुकलाख्यव्याख्यायां पञ्चमाङ्क-विवरणं समाप्तम् ॥ ५ ॥

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशति विमानोज्ज्वलं विद्याधरमिथुनम् ।)

(तदनन्तर देदीप्यमान विद्याधर दम्पती विमान से आते हैं ।)

टिप्पणी—विद्याधरमिथुनम्=विद्याधर और विद्याधरी । विद्याधर एक देवयोनि है, जो इच्छानुसार रूप धारण कर आकाश में विचरण करता है। विद्याधरी च विद्याधरश्च इति विद्याधरौ 'पुमान् स्त्रिया' इति सूत्रेण पुंल्लिङ्गैकशेषः ।

'दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः' इस नाटकीय नियम के अनुसार रंगमंच पर युद्ध का दृश्य दिखाना वर्जित है। अतः इस अंक में विद्याधर-दम्पती के संलाप द्वारा चन्द्रकेतु और लव के युद्ध की तथा रामचन्द्र जी के आने की सूचना दी जाती है। फलतः यह अंक मिश्र विष्कम्भक से आरम्भ होता है।

विद्याधरः—अहो खल्वनयोर्विकर्तनकुलकुमारयोरकाण्डकलहप्रचण्डयोरुद्द्योतितचलत्लक्ष्मीकयोरत्यद्भुतोद्भ्रान्तदेवासुराणि विक्रान्तविलसितानि। तथा हि प्रिये ! पश्य—

व्याख्या—अहो इति विस्मयसूचकमव्ययम्, खलु इति वाक्यभूषायाम्, अकाण्डकलहप्रचण्डयोः अकाण्डे अनवसरे यः कलहः समरः तेन प्रचण्डयोः उग्रयोः, उद्द्योतितचलत्लक्ष्मीकयोः उद्द्योतिता प्रकाशिता चलत्लक्ष्मीः चञ्चलश्रीः ययोः तयोः, अनयोः दृश्यमानयोः, विकर्तनकुलकुमारयोः सूर्यवंशीयबालकयोः, अत्यद्भुतोद्भ्रान्तदेवासुराणि अत्यद्भुतेन अत्याश्चर्येण उद्भ्रान्ताः किंकर्तव्यविमूढाः देवासुराः देवदानवाः यैः तानि, विक्रान्तविलसितानि विक्रमसूचककर्माणि । तथा हि तमेव विस्मयकरप्रकारम् अवगच्छेत्यर्थः, पश्य-पश्य इत्याश्चर्ये द्विर्वचनम्।

अनुवाद—विद्याधर—ओह ! असमय के युद्ध से अत्यन्त उग्र एवं

क्षत्रियोचित श्री से सम्पन्न इन दोनों सूर्यवंशीय बालकों के वीर-चरित्र देव-दानवों को किंकर्तव्यविमूढ बना रहे हैं। प्रिये ! देखो, देखो—

झणज्झणितकङ्कणक्वणितकिङ्किणीकं धनु-
र्ध्वनद्गुरुगुणाटनीकृतकरालकोलाहलम्।
वितत्य किरतोः शरानविरतं पुनः शूरयो-
र्विचित्रमभिवर्तते भुवनभीममायोधनम्॥ १॥

अन्वय—झणज्झणितकङ्कणक्वणितकिङ्किणीकं ध्वनद्गुरुगुणाटनीकृतकरालकोलाहलं धनुः वितत्य शरान् अविरतं किरतोः शूरयोः पुनः विचित्रं भुवनभीमम् आयोधनम् अभिवर्तते॥ १॥

व्याख्या—झणज्झणितकङ्कणक्वणितकिङ्किणीकं झणज्झणितानि झणज्झण इत्यव्यक्तशब्दकारीणि यानि कङ्कणानि करभूषणानि तद्वत् क्वणिताः शब्दायमानाः किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिकाः यस्मिन् तत्, ध्वनद्गुरुगुणाटनीकृतकरालकोलाहलं गुरुणा महता गुणेन मौर्व्या अटनीभ्यां कोटिभ्यां च कृतः सम्पादितः करालः भीषणः कोलाहलः कलकलः यस्मिन् तत्, अतएव ध्वनत् शब्दायमानं धनुः कार्मुकं, वितत्य विस्फार्य, शरान् बाणान्, अविरतं निरन्तरं, किरतोः विक्षिपतोः, शूरयोः वीरयोः ('अविरतस्फुरच्चूडयोः' इति पाठभेदे तु 'अविरतं निरन्तरं स्फुरन्त्यः चलन्त्यः चूडा शिखा ययोः तयोः' इति व्याख्येयम्), पुनः भूयः, विचित्रं विस्मयावहं, भुवनभीमं जगतां भयङ्करम्, आयोधनं युद्धम्, अभिवर्तते सम्मुखं विद्यते॥ १॥

अनुवाद—झनझनाते हुए कंगनों की भाँति शब्दायमान किंकिणियों वाले तथा मौर्वी एवं दोनों नोकों से भीषण कोलाहल करने वाले धनुष को फैलाकर लगातार बाण छोड़ते हुए दोनों वीरों का पुनः आश्चर्यजनक तथा संसार के लिए भयोत्पादक युद्ध सामने हो रहा है॥ १॥

टिप्पणी—झणज्झणित—झणत्झणः सञ्जातः अस्य इति झणज्झण + इतच्। क्वणित—√क्वण् + क्त। इस पद्य में उपमा और वृत्त्यनुप्रास अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार उत्पन्न होता है। यह पृथ्वी छन्द है॥ १॥

जृम्भितं च विचित्राय सङ्गराय द्वयोरपि।
स्तनयित्नोरिवामन्द्रदुन्दुभेर्दुन्दुभायितम्॥ २॥

अन्वय—द्वयो अपि विचित्राय मङ्गलाय स्तनयित्नो इव अमन्ददुन्दुभे दुन्दुमायित जृम्भितम् ॥ २ ॥

व्याख्या—द्वयो अपि लवचन्द्रकेत्वोः अपि, विचित्राय अद्भुताय, मङ्गलाय शुभाय, स्तनयित्नो इव ध्वनतो वारिदस्य इव, अमन्ददुन्दुभेः महा मेर्या, दुन्दुमायित 'दुम दुम' इत्येव शब्दः, जृम्भित प्रादुर्भूतम् ('विजृम्भितञ्च दिव्यास्त्रम्' इति पाठभेदे तु 'दिव्यास्त्रम् उत्कृष्टमायुध, विजृम्भित व्याप्तम्' इति व्याख्येयम्)॥ २ ॥

अनुवाद—दोनों (लव और चन्द्रकेतु) के अद्भुत मगल के लिए, बादल के समान (गभीर नाद करने वाले) विशाल नगाड़े का 'दुम् दुम्' शब्द उत्पन्न हो रहा है ॥ २ ॥

टिप्पणी—स्तनयित्नो —√स्तन+णिच्+इत्नुच् कर्तरि (उणादि), तस्य । दुन्दुमायितम्—दुम् (अव्यक्तानुकरण) दुम् इति शब्दकरणम् इत्यर्थ, दुम्+डाच्, द्वित्व+क्यष्+क्त भावे । यहाँ उपमा अलङ्कार है ॥ २ ॥

तत् प्रवर्त्यतामनयो प्रवीरयोरनवरतमविरलमिलितविकच-कनककमलकमनीयसहतिरमरतरुतरुणमणिमुकुलनिकरमकरन्दसुन्दर पुष्प-निपातः ।

व्याख्या—तत् तस्मात्, प्रवीरयोः प्रकृष्टशूरयो, अनयो लवचन्द्रकेत्वो, (उपरि) अविरलमिलितविकचकनककमलकमनीयसहतिः अविरलै निरन्तरै मिलितै. सम्मिलितै (ललित॰ इति पाठभेद ललितै मनोरमै इति व्याख्येयम्) विकचै. विकसितै कनककमलै स्वर्णारविन्दै कमनीया मनोहारिणी सहति. समूह (सन्तति. इति पाठे सन्तति धारा इति व्याख्येयम्) यस्मिन् स तथोक्त, अमरतरुतरुणमणिमुकुलनिकरमकरन्दसुन्दर. अमरतरूणा देव वृक्षाणा य. तरुणमणिमुकुलनिकरः नवोद्गतमणिमयकुड्मलसमूहः तस्य मकरन्दैः परागै. सुन्दरः मनोहर, पुष्पनिपातः पुष्पवृष्टिः, अनवरत निरन्तर, प्रवर्त्यता समारभ्यताम् ।

अनुवाद—इसलिए इन दोनों महाशूरों के ऊपर घने, मिले तथा खिले हुए स्वर्णकमलों की मनोरम पंक्ति से शोभित और देववृक्षों (पारिजात

आदि) के नवीन मणिमय कलिकासमूह के पराग से सुन्दर पुष्प-वृष्टि आरम्भ करो।

विद्याधरी—ता किं ति पुरो आआसं दुद्दंसतरलतडिच्छडाकडार-अवरं विअ भत्ति संवुत्तम् ? [तत् किमिति पुर आकाशं दुर्दर्शतरलतडिच्छटाकडारमपरमिव झटिति संवृत्तम् ?]

व्याख्या—तत् किमिति कथं, पुरः अग्रे दुर्दर्शतरलतडिच्छटाकडारम् दुर्दर्शा दुःखेन द्रष्टुं योग्या तरला चपला च या तडिच्छटा विद्युत्प्रभा तया कडारं पिशङ्गम्, आकाशम् अम्बरं, झटिति सहसा, अपरमिव अन्यदिव, संवृत्तं सञ्जातम्।

अनुवाद—तो क्या सामने आकाश, जो कठिनाई से देखने योग्य एवं चंचल विद्युत्प्रभा के कारण पिंगल वर्ण (ललाई लिये भूरे रंग) का है, सहसा दूसरा वस्तु की तरह दिखाई पड़ने लगा है ?

विद्याधरः—तत् किन्नु खल्वद्य ?

विद्याधर—तो क्या आज ?

त्वष्टृयन्त्र[1]भ्रमिभ्रान्तमार्तण्डज्योतिरुज्ज्वलः।
पुटभेदो ललाटस्थनीललोहितचक्षुषः॥ ३॥

अन्वय—ललाटस्थनीललोहितचक्षुषः ललाटस्थ भालगत, नीललोहितस्य महादेवस्य यत् चक्षुः नेत्रं तस्य, त्वष्टृयन्त्रभ्रमिभ्रान्तमार्तण्डज्योतिरुज्ज्वलः त्वष्टुः विश्वकर्मणः यन्त्रस्य शाणयन्त्रस्य भ्रमिभिः आवर्तनैः भ्रान्तस्य घूर्णितस्य मार्तण्डस्य सूर्यस्य यत् ज्योतिः तेजः तदिव, उज्ज्वलः देदीप्यमानः, पुटभेदः पुटयोः आच्छादनयोः भेदः अपसारणं (जातः किम् ?) ॥ ३॥

अनुवाद—क्या शंकर के भाल स्थित नेत्र का विश्वकर्मा के शाण-यन्त्र के चक्कों से घूमे हुए (अर्थात् शाणयन्त्र पर चढ़ाकर खरादे हुए) सूर्य की ज्योति के समान जाज्वल्यमान आवरण-मोचन हुआ है (अर्थात् तेज निकला है ?) ॥ ३॥

टिप्पणी—नीललोहित = शिव। नीलः कण्ठे लोहितः जटासु यः स नीललोहितः, जिनका कंठ नीला और जटा लाल हो। त्वष्टृयन्त्र० = एक

१ 'त्वाष्ट्रयन्त्र०' इति पाठान्तरम्।

बार सूर्य के प्रखर तेज का सहन न कर सकने के कारण उनकी पत्नी सञा ने अपने पिता विश्वकर्मा से सूर्य का तेज क्षीण कर देने के लिए प्रार्थना की थी। तदनन्तर सूर्य की आज्ञा से विश्वकर्मा ने उन्हें अपने शाणयन्त्र पर चढ़ाकर घुमाते घुमाते तेज घटा दिया था। इस पद्य में लुप्तोपमा और शुद्ध सन्देह अलंकार हैं ॥ ३ ॥

(*विचिन्त्य*) आ ज्ञातम्। जातक्षोभेण चन्द्रकेतुना प्रयुक्तमप्रतिरूपमाग्नेयास्त्रम्, यस्यायमग्निवच्छरसम्पातः। सम्प्रति हि—

व्याख्या—विचिन्त्य विचार्य, आम् इति निश्चयव्यञ्जकमव्ययम्, ज्ञात बुद्ध, जातक्षोभेण जात उत्पन्नः क्षोभः रोषः यस्य तेन, चन्द्रकेतुना, अप्रतिरूपम् असदृशम्, आग्नेयास्त्रम् आग्नदेवताकमायुध, प्रयुक्त प्रेरितम्, यस्य आग्नेयास्त्रस्य, अयम्, अग्निवत् अग्नितेजस्तुल्यः, शरसम्पातः बाणधारा ('अग्निच्छटासम्पातः' इति पाठे तु वह्निप्रभाप्रसारः इत्यर्थः कार्यः)। हि यतः, सम्प्रति इदानीम्—

अनुवाद—(*सोचकर*) अच्छा, समझ गया। क्षुब्ध होकर चन्द्रकेतु ने अनुपम आग्नेय अस्त्र छोड़ा है, जिससे यह अग्नितुल्य बाणों की धारा (निकली) है। क्योंकि इस समय—

अवदग्धकर्बुरितकेतुचामरैरपयातमेव हि विमानमण्डलैः।
दहति ध्वजांशुकपटावलीमिमां नवकिंशुकद्युतिसविभ्रमः शिखी ॥ ४ ॥

अन्वय—अवदग्धकर्बुरितकेतुचामरैः विमानमण्डलैः अपयातम् एव हि। नवकिंशुकद्युतिसविभ्रमः शिखी इमां ध्वजांशुकपटावलीं दहति ॥ ४ ॥

व्याख्या—अवदग्धकर्बुरितकेतुचामरैः अवदग्धानि प्रायेण प्लुष्टानि अतएव कर्बुरितानि चित्रवर्णानि केतुचामराणि ध्वजदण्डबालव्यजनानि येषां तैः, विमानमण्डलैः व्योमयाननिकरैः, अपयातमेव पलायितमेव, हि निश्चयेन। नवकिंशुकद्युतिसविभ्रमः नवकिंशुकस्य नवीनपलाशस्य द्युतिः कान्तिः तस्याः सविभ्रमः विलासधरः, शिखी वह्निः, इमां पुरोवर्तिनीं, ध्वजांशुकपटावलीं ध्वजानां पताकानाम् अंशुकानि सूक्ष्मवस्त्राणि एव पटाः मनोहरवस्त्राणि तेषाम् आवलीं पङ्क्तिम्, दहति भस्मसात्करोति ('दधति ध्वजाङ्कुरपटाञ्चले-ष्विमाः क्वणत्कुङ्कुमच्छुरणविभ्रम शिखाः' इति पाठभेदे तु 'इमाः पुरोदृश्यमानाः, शिखाः अग्निज्वालाः, ध्वजाङ्कुरपटाञ्चलेषु ध्वजानां केतुदण्डानां ये अङ्कुराः

ध्वजदण्डाग्रे स्थिता. मणयः तेषां पटाञ्चलेषु वसनप्रान्तेषु, क्षणकुङ्कुमच्छुरणाविभ्रम क्षण मुहूर्त व्याप्य यत् कुङ्कुमच्छुरणं कुङ्कुमरागरञ्जन तस्य विभ्रम शोभा, दधति धारयन्ति ॥ ४ ॥

अनुवाद—कुछ जल जाने के कारण रंग-बिरंगी पताकाओं तथा चामरों वाले विमान निश्चित रूप से भाग गये हैं और अभिनव पलाश की कान्ति के विलास सदृश अग्नि ध्वजों के सूक्ष्म एवं मनोहर वस्त्रों की इस कतार को भस्मसात् कर रही है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—अवदग्ध = किञ्चिन्मात्र जले हुए। यहाँ 'व्रीहीन् अवहन्ति' में की तरह 'अव' उपसर्ग किंचिदर्थक है।—कर्बुरितानि = चितकबरे किये हुए। 'चित्र किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' इत्यमरः। कर्बुर+णिच्+क्त। अंशुक = सूक्ष्म वस्त्र। 'उत्तरीये वस्त्रमात्रे सूक्ष्मवस्त्रेऽपि चांशुकम्' इति रत्नमाला। इस पद्य में उपमा अलंकार है। पाठभेद के अनुसार निदर्शना अलंकार समझना चाहिए ॥ ४ ॥

आश्चर्यम् ! प्रवृत्त एवायमुच्चण्डवज्रखण्डावस्फोटपटुरटत्स्फुलिङ्गगुरुरुत्तालतुमुललेलिहानोज्ज्वलज्वालासम्भारभैरवो भगवानुपर्बुधः। प्रचण्डश्चास्य सर्वतः सम्पातः। तत् प्रियामंशुकेनाच्छाद्य सुदूरमपसरामि। (*तथा करोति।*)

व्याख्या—आश्चर्यम् अतीव विस्मयकरमेतदित्यर्थः, उच्चण्डवज्रखण्डावस्फोटपटुरटत्स्फुलिङ्गगुरुः उच्चण्डानाम् अतिभीषणानां वज्रखण्डानाम् अशनिशकलानाम् अवस्फोटः विदारणं तस्मिन् पटवः समर्थाः ये रटन्तः शब्दं कुर्वन्तः स्फुलिङ्गाः अग्निकणाः तैः गुरुः महान्, उत्तालतुमुललेलिहानोज्ज्वलज्वालासम्भारभैरवः उत्ताला विकरालाः तुमुलं सङ्कुलं यथा स्यात् तथा लेलिहानाः भृशं ग्रसमानाः याः उज्ज्वलज्वालाः प्रदीप्तार्चिषः तासां सम्भारः समूहः तेन भैरवः भीषणः, अयं दृश्यमानः, भगवान् सामर्थ्यसम्पन्नः उपर्बुधः अग्निः, प्रवृत्त एव उत्पन्न एव। अस्य अग्नेः, सम्पातः सम्पतनं ('सन्तापः' इति पाठे 'सन्दाहः' इत्यर्थः कार्यः), सर्वतः सर्वास्वेव दिक्षु, प्रचण्डः अत्युग्रः। तत् तस्मात्, प्रियां विद्याधरीम्, अंशुकेन वस्त्रेण ('अङ्गेन' इति पाठे 'निजदेहेन' इति व्याख्येयम्), आच्छाद्य आवृत्य, सुदूरं विप्रकृष्टस्थानम्, अपसरामि गच्छामि।

अनुवाद—आश्चर्य है! अतिभीषण वज्र खंडों के विदारण में पटु तथा शब्दकारी स्फुलिंगों (चिनगारियों) के कारण महान् और विकराल, घनी एवं बारम्बार प्राप्त करने वाली प्रदीप्त ज्वालाओं के समूह से भयावह ये भगवान् अग्निदेव प्रकट हुए हैं। इनका महापात (तीव्रतापूर्वक प्रसरण) सब दिशाओं में प्रचण्ड रूप धारण कर रहा है। इसलिए प्रियतमा को वस्त्र से आच्छादित करके बहुत दूर चला जाता हूँ। (*वैसा ही करता है।*)

टिप्पणी—लेलिहाना.—पुनः पुन. लिहन्ति इति √लिह्+यङ्+शानच्। उषर्बुध. = अग्नि। 'शौचिष्केश उषर्बुध' इत्यमर। उषसि सन्ध्यायाम् बुध्यते प्रकाशते, यतः आहिताग्नयः अग्निम् उषसि प्रादुष्कुर्वन्ति। '*उषः प्रभाते सन्ध्यायाम्' इति विश्वः। उषस्√बुध्+क.*, '*अहरादीना पत्यादिषु* वा रेफ" इति रेफादेशः।

विद्याधरी—दिट्ठिआ एदेण विमलमुत्तासेलसीअलसिणिद्धमसिणमसलेण णाहदेहप्फंसेण आणन्दमंदलिदघुण्णमाणवेअणाए अद्धोदिदोएव्व अन्दरिदो मे संदावो। [दिष्ट्या एतेन विमलमुक्ताशैलशीतलस्निग्धमसृणमांसलेन नाथदेहस्पर्शेनानन्दसन्दलितघूर्णमानवेदनाया अर्धोदित एवान्तरितो मे सन्तापः।]

व्याख्या—दिष्ट्या भाग्येन, *विमलमुक्ताशैलशीतलस्निग्धमसृण*मांसलेन विमल: विशुद्धः यः मुक्ताशैलः मौक्तिकगिरिः स इव शीतल. शीतः स्निग्धः रूक्षतारहित. मसृणः श्लक्ष्णः, मांसल: पुष्टश्च तेन, नाथदेहस्पर्शेन नाथस्य पत्युः देहस्य शरीरस्य स्पर्शेन, आमर्शनेन, आनन्दसन्दलितघूर्णमानवेदनायाः आनन्देन स्पर्शमुपजन्याह्लादेन सन्दलिता अपगता घूर्णमाना प्रसरन्ती वेदना पीडा यस्याः, तस्याः मे विद्याधर्याः अर्धोदित एव अर्धोत्पन्न एव, सन्तापः मानसज्वरः, अन्तरितः दूरीकृतः।

अनुवाद—विद्याधरी—भाग्यवश, पतिदेव के विमल मुक्ता-गिरि के समान शीतल, स्निग्ध कोमल तथा मांसल शरीर के स्पर्श ने मेरी फैलती हुई वेदना को आनन्द द्वारा दूर करके अर्धोत्पन्न दाह का भी शमन कर दिया।

विद्याधरः—अयि! किमत्र मया कृतम्? अथवा।

विद्याधर—अरी! इसमें मैंने क्या किया? अथवा!

न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति ।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः ॥ ५ ॥

(द्वितीय अंक का १९वाँ श्लोक और यह एक ही है। अतः वहीं इसका अन्वय आदि देखना चाहिए।

विद्याधरी—कह अविरलविलोलघुम्मणमाणविज्जुल्लदाविलासमंसलेहिं मत्तमऊरकण्ठसामलेहिं ओत्थरीअदि णभोङ्गणं जलहरेहिं ? [कथमविरलविलोलघूर्णमानविद्युल्लताविलासमांसलैर्मत्तमयूरकण्ठश्यामलैरवस्तीर्यते नभोऽङ्गणं जलधरैः ?]

व्याख्या—अविरलविलोलघूर्णमानविद्युल्लताविलासमांसलैः अविरल सन्तत विलोलाः चञ्चलाः घूर्णमानाः अस्थिराः याः विद्युल्लताः तडिद्दामानि तासां विलासेन विभ्रमेण मांसलैः पुष्टैः ('मण्डितैः' इति पाठे 'शोभितैः' इति व्याख्येयम्), मत्तमयूरकण्ठश्यामलैः मत्ताः मदयुक्ताः ये मयूराः शिखिनः तेषां कण्ठाः इव गलदेशाः इव श्यामलाः श्यामवर्णाः तैः, जलधरैः मेघैः, नभोऽङ्गणम् आकाशाजिरं, कथम् कस्मात्, अवस्तीर्यते आच्छाद्यते ?

अनुवाद—विद्याधरी—सतत चञ्चल एवं घूमती हुई बिजलियों के प्रकाश से पुष्ट या शोभित तथा मस्त मयूरों के कंठ के समान श्यामवर्ण मेघ क्यों आकाश प्रांगण को व्याप्त कर रहे हैं ?

विद्याधरः—कुमारलवप्रयुक्तवारुणास्त्रप्रभावः खल्वेषः । कथमविरलप्रवृत्तवारिधारासम्पातैः प्रशान्तं पावकास्त्रम् ।

व्याख्या—कुमारलवप्रयुक्तवारुणास्त्रप्रभावः कुमारेण लवेन प्रयुक्तं निक्षिप्तं यत् वारुणास्त्रं वरुणदेवताकमायुधं तस्य प्रभावः सामर्थ्यं, खलु एष निश्चितं जलधरप्रादुर्भावः । कथम्, अविरलप्रवृत्तवारिधारासम्पातैः अविरलं निरन्तरं प्रवृत्ताः प्रादुर्भूताः याः वारिधाराः जलधाराः तासां सम्पातैः पतनैः, पावकास्त्रम् आग्नेयास्त्रं, प्रशान्तं निर्वापितम् ।

अनुवाद—विद्याधर—निश्चय ही यह कुमार लव के छोड़े हुए वारुणास्त्र का प्रभाव है। कैसे निरन्तर उत्पन्न होने वाली जल-धाराओं के गिरने से आग्नेयास्त्र बिलकुल शान्त हो गया है।

विद्याधरी—पिअं मे, पिअं मे । [प्रियं मे, प्रियं मे ।]

विद्याधरी—(दारुण आग्नेय अस्त्र का प्रशमन) मुझे अभीष्ट है, मुझे अभीष्ट है।

विद्याधर —हन्त भो ! सर्वमतिमात्रं दोषाय। यत् प्रलयवातोत्क्षोभगम्भीरगुलुगुलायमानमेघमेदुरितान्धकारनीरन्ध्रनद्धमिव एकवारविश्वग्रसनविकचविकरालकालमुखकन्दरविवर्तमानमिव युगान्तयोगनिद्रानिरुद्धसर्वद्वारनारायणोदरनिविष्टमिव भूतं विपद्यते। साधु चन्द्रकेतो ! साधु। स्थाने वायव्यमस्त्रमीरितम्। यतः —

व्याख्या—हन्त इति खेदे, सर्वं सकलं वस्तु, अतिमात्रम् अत्यर्थं, (सत्) दोषाय अनिष्टाय, (कल्पते)। यतः यस्मात् कारणात् प्रलयवातोत्क्षोभगम्भीरगुलुगुलायमानमेघमेदुरितान्धकारनीरन्ध्रनद्धम् इव प्रलयः युगान्ते (प्रबल० इति पाठे प्रबलः महाबली इति ज्ञेयम्) यो वातः पवनः तेन उत्क्षोभाः अतिक्षोभवन्तः *गम्भीराः गाम्भीर्ययुक्ताः गुलुगुलायमानाः* गुलुगुलु इत्यव्यक्तशब्दं कुर्वाणाः ये मेघाः जलदाः तैः मेदुरितानि निविडितानि यानि अन्धकाराणि तमांसि तैः नीरन्ध्रम् अविरलं नद्धम् इव बद्धम् इव (नीरन्ध्रनिबद्धम् इति पाठे तु नीरन्ध्रं निरन्तरालं यथा स्यात् तथा निबद्धम् आत्रातम् इति व्याख्येयम्), एकवारविश्वग्रसनविकचविकरालकालमुखकन्दरविवर्तमानम् इव एकवारेण एकेनैव कालेन विश्वस्य जगतः ग्रसनाय ग्रासाय विकचः व्यादानेन विस्फारितः विकरालः भयानकः यत् कालमुखं मृत्युवदनं (कालकण्ठ० इति पाठे तु कालकण्ठस्य संहारमूर्तेः रुद्रस्य यः कण्ठः गलः स एव इति व्याख्येयम्) तदेव यत् कन्दरं महागह्वरं तस्मिन् विवर्तमानमिव अवतिष्ठमानमिव, युगान्तयोगनिद्रानिरुद्धसर्वद्वारनारायणोदरनिविष्टमिव युगान्ते प्रलयकाले या योगः चित्तवृत्तिनिरोधः स निद्रा इव तया निरुद्धानि समावृतानि सर्वाणि सकलानि द्वाराणि मुखनासिकादिप्रवेशनिर्गममार्गाः येन तस्य नारायणस्य *महाविष्णोः उदरे कुक्षौ निविष्टमिव प्रविष्टमिव, भूतं प्राणिसमूहः* विपद्यते विपत्तिम् आप्नोति (प्रक्षिप्यते इति पाठे प्रकम्पते इति ज्ञेयम्)। साधु भद्र, स्थाने युक्तं, वायव्यास्त्रं वायुदेवतम् आयुधम्, ईरितं प्रेरितम्।

अनुवाद—विद्याधर—हाय हा! सभी वस्तुएँ अतिमात्रा में अनिष्टकर होती हैं। जिसलिए प्रलयकालीन पवन द्वारा विक्षुब्ध, गम्भीर एवं गुलगुल शब्द करने वाले बादलों के कारण घने अन्धकार से बँधे हुए की,

तरह, एक ही बार में जगत् को लील जाने के लिए फैलाये हुए, भयानक तथा गुफा के सदृश काल के मुख में अवस्थित होते हुए की तरह और प्रलय-काल में योगनिद्रा द्वारा मुख, नासिका आदि निर्गम *मार्गों* को आवृत किये हुए महाविष्णु के उदर में चित्रमान की तरह प्राणियों का समूह विपत्ति-ग्रस्त हो रहा है। वाह ! चन्द्रकेतो ! वाह ! वायव्य अस्त्र छोड़कर आपने अच्छा किया। क्योंकि—

टिप्पणी—अतिमात्रम्—मात्रा का अतिक्रमण करने वाला। अतिक्रान्तं मात्राम इति अतिमात्रम 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इत्यनेन समासः। *सूनम्* = प्राणि-समूह। 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' इत्यनेन जातौ एकवचनम्। वायव्यम् = वायुदेवतासम्बन्धी। वायु+यत् 'वाय्वृतुपित्रुषसो यत्' इत्यनेन। *स्थाने* = युक्त, संगत। 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' इत्यमरः।

विद्याकल्पेन मरुता मेघानां भूयसामपि।
ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि प्रविलयः कृतः ॥ ६ ॥

अन्वय—विद्याकल्पेन मरुता भूयसाम् अपि मेघानां विवर्तानां ब्रह्मणि इव क्वापि प्रविलयः कृतः ॥ ६ ॥

व्याख्या—विद्याकल्पेन तत्त्वज्ञानतुल्येन, मरुता वायुना, भूयसाम् अपि प्रचुराणाम् अपि, मेघानां वारिदानां, विवर्तानां परमार्थतः सत्तारहितानां नामरूपात्मकदृश्यपदार्थानां, ब्रह्मणि अद्वितीये परमात्मनि इव, क्वापि कुत्रचित् स्थाने, प्रविलयः निवृत्तिः, कृतः विहितः ॥ ६ ॥

अनुवाद—जैसे तत्त्वज्ञान जगत्प्रपञ्चों (घट, पट आदि पदार्थों) को ब्रह्म में लीन कर देता है उसी तरह वायु (अर्थात् वायव्यास्त्र) ने प्रचुर मेघों को किसी स्थान में विलीन कर दिया है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में दो उपमा अलङ्कारों में परस्पर सापेक्ष भाव होने से सङ्कर अलङ्कार है ॥ ६ ॥

विद्याधरी—णाह ! को दाणिं एसो ससम्भमोक्खित्तकरम्भमदुत्तरी-अञ्चलो दूरदो एव्व सहरिसिणिद्धअणपडिसिद्धजुद्धव्वावारो एदाणं अन्दरे विमाणवरं ओदरावेदि ? [नाथ ! क इदानीमेष ससम्भ्रमोत्क्षिप्त-

करभ्रमदुत्तरीयाञ्चलो दूरत एव मधुरस्निग्धवचनप्रतिषिद्धयुद्धव्यापार एतयोरन्तरे विमानवरमवतारयति ?]

व्याख्या—इदानीम् अधुना, एष दृश्यमान. अय, कः किमभिधानः, ससम्भ्रमोत्क्षिप्तकरभ्रमदुत्तरीयाञ्चल. ससम्भ्रम सत्वरम् उत्क्षिप्तेन उत्तोलितेन करेण हस्तेन भ्रमन् घूर्णन् उत्तरीयाञ्चलः प्रावारप्रान्त. यस्य स तथोक्तः ('पट्टाञ्चल' इति पाठे 'पट्टस्य वस्त्रस्य अञ्चल प्रान्तदेश ' इति व्याख्येयम्), दूरत एव विप्रकृष्टस्थानादेव, मधुरस्निग्धवचनप्रतिषिद्धयुद्धव्यापारः मधुरेण वात्सल्य पूर्णेन स्निग्धेन स्नेहयुक्तेन च वचनेन वाक्येन प्रतिषिद्ध निषिद्धः युद्धव्यापार' समामकार्ये येन स तथोक्त , एतयो दृश्यमानयो लवचन्द्रकेत्वो , अन्तरे मध्ये, विमानवर विमानश्रेष्ठ पुष्पकमित्यर्थ , अवतारयति अवरोहयति ।

अनुवाद—विद्याधरी—स्वामिन् ! इस समय यह कौन शीघ्रतापूर्वक उठाये हुए हाथ से दुपट्टे के छोर को हिला कर दूर से ही मधुर एव स्नेहपूर्ण वचन द्वारा युद्ध कार्य का निषेध करके इन दोनों (लव और चन्द्रकेतु) के मध्य में पुष्पक विमान को उतार रहा है ?

विद्याधरः—(*दृष्ट्वा*) एष शम्बूकवधान्निवृत्तो रघुपतिः ।

विद्याधर—(*देखकर*) *य तो शम्बूक का वध करके लौटे हुए* रामचन्द्र जी हैं ।

टिप्पणी—शम्बूकवधात्—शम्बूकवध विधाय इति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी ।

शान्तं महापुरुषसगदित निशम्य
तद्गौरवात्समुपसंहृतसम्प्रहारः ।
शान्तो लवः प्रणत एव च चन्द्रकेतुः
कल्याणमस्तु सुतसङ्गमनेन राज्ञः ॥ ७ ॥

अन्वय—शान्त महापुरुषसगदितं निशम्य तद्गौरवात् समुपसंहृतसम्प्रहारः लवः शान्तः, चन्द्रकेतुश्च प्रणत एव, सुतसङ्गमनेन राज्ञः कल्याणम् अस्तु ॥ ७ ॥

व्याख्या—शान्त शान्तिपूर्णं, महापुरुषसगदितं महापुरुषेण अतिशयगुणशालिना रामेण, सगदित समुच्चारित, (वचनं) निशम्य श्रुत्वा,

तद्गौरवात् तस्य रामस्य गौरवात् गुरुत्वप्रभावात्, समुपसहृतसम्प्रहार. समुपसहृतः सम्यक् परित्यक्तः सम्प्रहार युद्ध येन स तथोक्त., लव, शान्त. युद्धपरित्यागेन प्रकृतिमापन्नः, चन्द्रकेतुश्च, प्रणत एव रामचरणतल पतित एव, सुतसङ्गमनेन सुताभ्या कुशलवाभ्या सङ्गमन समागम. तेन, राज. रामस्य, कल्याण मङ्गलम्, अस्तु भवतु ॥ ७ ॥

अनुवाद—महापुरुष का शान्तिपूर्ण वाक्य सुनकर उनके गौरव के कारण युद्ध का परित्याग करके लव शान्त हो गये हैं और चन्द्रकेतु रामचन्द्र जी को प्रणाम कर रहे हैं। पुत्रों के समागम से राजा (राम) का मगल हो ॥ ७ ॥

तदितस्तावदेहि। (*इति निष्क्रान्तौ।*)

इसलिए इधर से आओ। (*यह कहकर दोनों चले जाते हैं*)

विष्कम्भक.।

विष्कम्भक समाप्त।

(ततः प्रविशति रामो लवः प्रणतश्चन्द्रकेतुश्च।)

(*तदनन्तर राम, लव और प्रणाम करते हुए चन्द्रकेतु प्रवेश करते हैं।*)

राम —(*पुष्पकादवतरन्*)

राम—(*पुष्पकविमान से उतरते हुए*)

दिनकरकुलचन्द्र चन्द्रकेतो !

सरभसमेहि दृढ परिष्वजस्व।

तुहिनशकलशीतलैस्तवाङ्गैः

शममुपयातु ममापि चित्तदाहः ॥ ८ ॥

अन्वय—दिनकरकुलचन्द्र चन्द्रकेतो ! सरभसम् एहि, दृढ परिष्वजस्व। तुहिनशकलशीतलैः तव अङ्गैः मम चित्तदाहः अपि शमम् उपयातु ॥ ८ ॥

व्याख्या—दिनकरकुलचन्द्र दिनकरस्य सूर्यस्य कुल वश. तस्य चन्द्र चन्द्रवदाह्लादक ! चन्द्रकेतो ! सरभस सवेगम्, एहि समीपमागच्छ, दृढ गाढ, परिष्वजस्व आलिङ्ग। तुहिनशकलशीतलैः, तुहिनस्य हिमस्य शकलानि

खण्डानि तद्वत् शीतलानि शीतानि, तै तव ते, अङ्गै गात्रै, मम मे, चित्त दाह अपि मनस्ताप अपि, शम शान्तिम्, उपयातु प्राप्नोतु ॥ ८ ॥

अनुवाद—सूर्यवंश के चन्द्रतुल्य आह्लादकारक ! चन्द्रकेतो ! शीघ्र आओ और गाढ़ आलिंगन करो। (ताकि) हिम खण्ड की भाँति शीतल तुम्हारे अंगों से मेरे मन का ताप भी शान्त हो ॥ ८ ॥

टिप्पणी—सरभसम्—वेग के साथ । 'रभसो हर्षवेगयो' इति मेदिनी। इस पद्य में उपमा अर्थापत्ति और लाटानुप्रास अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार हो जाता है ॥ ८ ॥

(*उत्थाप्य सस्नेहास्रं परिष्वज्य*) अप्यनामयं नूतनदिव्यास्त्रायोधनस्य तव ?

(*उठाकर स्नेह और अश्रुपात के साथ आलिंगन करके*) नवीन दिव्य अस्त्र से युद्ध करने वाले तुम स्वस्थ तो हो न ?

चन्द्रकेतु —अभिवादये । कुशलमत्यद्भुतप्रियवयस्यलाभाभ्युदयेन । तद्विज्ञापयामि मामिव विशेषेण स्निग्धेन चक्षुषा पश्यत्वमुं वीरमनरालसाहसं तात ।

व्याख्या—अभिवादये प्रणमामि (भवन्तम्) अत्यद्भुतप्रियवयस्यलाभाभ्युदयेन अत्यद्भुतस्य अतिविस्मयकारकस्य प्रियवयस्यस्य प्रियमित्रस्य लाभ प्राप्तिरेव अभ्युदय समृद्धि तेन, कुशलं मङ्गलं (वर्तते)। तत् तस्मात्, विज्ञापयामि निवेदयामि, (यत्) तात पितृचरणो भवान्, अनरालसाहसम् अनरालम् अकुटिलं साहसं दुष्करं कर्म यस्य तम्, अमुं पुरोवर्तिनं, वीरं शूरं लवमित्यर्थ, मामिव, विशेषेण आधिक्ययुक्तेन, स्निग्धेन स्नेहयुक्तेन, चक्षुषा नेत्रेण, पश्यतु अवलोकयतु ।

अनुवाद—चन्द्रकेतु—मैं प्रणाम करता हूँ । अत्यन्त विस्मयजनक कार्य करने वाले प्रिय मित्र की प्राप्ति रूप अभ्युदय से (मेरी) कुशल है। इसलिए निवेदन करता हूं कि पितृचरण जैसे मुझे देखते हैं उसी तरह विशेष स्नेहपूर्ण दृष्टि से कुटिलतारहित दुष्कर कर्म करने वाले इस वीर को देखें।

राम —(*लवं निरूप्य*) दिष्ट्या अतिगम्भीरमधुरकल्याणाकृतिरयं वयसो वत्सस्य ।

व्याख्या—निरूप्य विशेषेण दृष्ट्वा, दिष्ट्या हर्षेण अतिगम्भीरमधुरकल्याणाकृतिः अतिगम्भीरा अतीवधीरत्वशालिनी मधुरा हृद्या कल्याणी मङ्गलमयी आकृतिः मूर्तिः यस्य सः, अयम् एषः, वत्सस्य तव, वयस्यः मित्रम् (अस्ति) ।

अनुवाद—राम—(*लव को विशेष रूप से देखकर*) हर्ष की बात है कि तुम्हारे इस मित्र की आकृति अत्यन्त गम्भीर, सुन्दर और मंगलसूचक है।

त्रातुं लोकानिव परिणतः कायवानस्त्रवेदः
क्षात्रो धर्मः श्रित इव तनुं ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै ।
सामर्थ्यानामिव समुदयः सञ्चयो वा गुणाना-
माविर्भूय स्थित इव जगत्पुण्यनिर्माणराशिः ॥ ९ ॥

अन्वय—लोकान् त्रातुं कायवान् परिणतः अस्त्रवेदः इव, ब्रह्मकोशस्य गुप्त्यै तनुं श्रितः क्षात्रो धर्मः इव, सामर्थ्यानां समुदयः इव, गुणानां सञ्चयो वा जगत्पुण्यनिर्माणराशिः इव आविर्भूय स्थितः ॥ ९ ॥

व्याख्या—लोकान् भुवनानि, त्रातुं रक्षितुं, कायवान् शरीरी, परिणतः परिणामं गतः, अस्त्रवेदः इव धनुर्वेदः इव, ब्रह्मकोशस्य ब्रह्म वेदः तदेव कोशः रत्नराशिः तस्य, गुप्त्यै रक्षणाय, तनुं शरीरं, श्रितः आश्रितः, क्षात्रो धर्मः इव, क्षत्रियजातेः पराक्रमः इव, सामर्थ्यानां शक्तीनां, समुदयः इव समवायः इव, गुणानां शौर्यवीर्यादीनां, सञ्चयः वा पुञ्जः इव, जगत्पुण्यनिर्माणराशिः जगतां भुवनानां यानि पुण्यनिर्माणानि धर्मानुष्ठानानि तेषां राशिः समूहः, इव तद्वत्, आविर्भूय शरीरं परिगृह्य, स्थितः विद्यमानः ॥ ९ ॥

अनुवाद—यह लोकों का परित्राण करने के लिए शरीरधारी के रूप में परिणत धनुर्वेद के समान, वेद रूप रत्न राशि की रक्षा के लिए मूर्तिमान् क्षात्र धर्म के समान, शक्तियों के समुदाय के समान, (शौर्य, धैर्य आदि) गुणों के पुञ्ज के समान और लोकों के पवित्र कार्यों के समूह के समान प्रकट होकर अवस्थित है ॥ ९ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में पाँचों गुणोत्प्रेक्षा अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से *संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह मन्दाक्रान्ता छन्द है ॥९॥*

लवः—(*स्वगतम्*) अहो ! पुण्यानुभावदर्शनोऽयं महापुरुषः ।

लव—(*मन में*) अहा ! इन महापुरुष का दर्शन पवित्र है।

आश्वासस्नेहभक्तीनामेकमायतनं महत्[1] ।
प्रकृष्टस्येव धर्मस्य प्रसादो मूर्तिसञ्चर ॥ १० ॥

अन्वय—आश्वासस्नेहभक्तीनाम् एक महत् आयतन प्रकृष्टस्य धर्मस्य मूर्तिसञ्चर प्रसाद इव ॥ १० ॥

व्याख्या—आश्वासस्नेहभक्तीनाम् आश्वास परिसान्त्वन स्नेह प्रणय भक्ति पूज्येषु अनुराग तासाम्, एक मुख्य, महत् विशालम्, आयतनम् आधार, प्रकृष्टस्य, उत्कृष्टस्य, धर्मस्य पुण्यस्य, मूर्तिसञ्चर देहधारी प्रसाद इव प्रसन्नता इव ॥ १० ॥

अनुवाद—ये सान्त्वना, स्नेह और भक्ति क मुख्य एव महान् आधार हैं तथा उत्कृष्ट धर्म की देहधारी प्रसन्नता क समान हैं ॥ १० ॥

टिप्पणी—इस पद्य में उत्प्रेक्षा अलकार है ॥ १० ॥

आश्चर्यम् !

आश्चय है !

✓ निरोधा विश्रान्त प्रसरति रसो निर्वृतिघन
स्तदौद्धत्य क्वापि व्रजति विनय प्रह्वयति माम् ।
1905 झटित्यस्मिन् दृष्टे किमिति परवानस्मि, यदि वा
महार्घस्तीर्थानामिव हि महतां कोऽप्यतिशय ॥ ११ ॥

अन्वय—अस्मिन् दृष्टे विरोधो विश्रान्त निर्वृतिघनो रस प्रसरति, तत् औद्धत्य क्वापि व्रजति, विनयो मा प्रह्वयति, किमिति झटिति परवान् अस्मि, यदि वा हि तीर्थानाम् इव महता कोऽपि महार्घ अतिशय ॥ ११ ॥

व्याख्या—अस्मिन् महापुरुषे, दृष्टे अवलोकिते (सति) विरोध वैर, विश्रान्त निवृत्त, निर्वृतिघन निर्वृत्या हर्षेण घन निबिड, रस राग, प्रसरति विसर्पति, तत् युद्धकालीनम्, औद्धत्य दर्पजनितचाञ्चल्य, क्वापि कुत्रापि व्रजति ग च्छति, विनय नम्रता, मा लव प्रह्वयति अवनमयति, किमिति कस्मा द्धतो, झटिति आशु, परवान् परतन्त्र, अस्मि भवामि, यदि वा अथवा, हि यस्मात्, तीर्थाना प्रयागादिपुण्यक्षेत्राणाम्, इव तद्वत्, महता महापुरुषाणा,

---

१ 'एकमालम्बन महत्' इति पाठान्तरम् ।

कोऽपि अनिर्वचनीयः, महार्घः महान् अर्घः मूल्यं यस्य सः अमूल्यः अतिशयः प्रभावातिरेकः (भवति) ॥ ११ ॥

अनुवाद—इन (महापुरुष) के दर्शन होने पर विशेष शान्त हो गया, आनन्दपूर्ण अनुराग फल रहा है, वह तुरकालीन उच्छृङ्खलता कहीं विला गयी, विनय मुझे नम्र बना रहा है और मैं न जाने क्या परतन्त्र हो गया हूँ ? अथवा निश्चय ही तार्थों की तरह महापुरुषों का कोई अमूल्य प्रभाव होता है ॥ ११ ॥

टिप्पणी—रस = अनुराग । 'गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । प्रह्व = नम्र । 'प्रह्वो नम्रः' इत्युणादिकोशः । परवान् = पराधीन । 'परतन्त्रः पराधीनः परवान् नाथवानपि' इत्यमरः । अर्घ = मूल्य । 'मूल्ये पूजाविधौ अर्घः' इत्यमरः । इस पद्य में उपमा, समुच्चय और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है । यह शिखरिणी, छन्द है ॥ ११ ॥

राम.—तत् किमयमेकपद एव मे दुःखविश्रामं ददात्युपस्नेहयति च कुतोऽपि निमित्तादन्तरात्मानम् ? अथवा 'स्नेहश्च निमित्तसव्यपेक्ष' इति विप्रतिषिद्धमेतत् ।

व्याख्या—तत् किमिति प्रश्नसूचकमव्ययम्, अयम् एष बालकः, एकपद एव युगपदेव, मे मम, दुःखविश्रामं दुःखस्य निवृत्तिं, ददाति करोति, कुतोऽपि कस्मादपि, निमित्तात् कारणात्, अन्तरात्मानम् अन्तःकरणम्, उपस्नेहयति स्नेहार्द्रं करोति । अथवा आहोस्वित्, स्नेहश्च स्नेहोऽपि, निमित्तसव्यपेक्षः व्यपेक्षया सह वर्तते इति सव्यपेक्षः निमित्तेन कारणेन सव्यपेक्षः व्यपेक्षायुक्त इत्येतत् इतीदं, विप्रतिषिद्धं विरुद्धम् (अस्ति) ।

अनुवाद—राम—क्यों यह बालक एक ही काल में दुःख को मिटा रहा है और किसी कारण से अन्तरात्मा को स्नेहसिक्त कर रहा है ? अथवा 'स्नेह भी हेतुसापेक्ष है' यह कहना असगत है (अर्थात् स्नेह किसी हेतु की अपेक्षा नहीं रखता है, वह स्वाभाविक होता है) ।

टिप्पणी—दुःखविश्रामम् = दुःखनिवृत्ति । विश्राम शब्द की व्युत्पत्ति—श्रम एव श्रामः स्वार्थे अण् प्रत्यय, विशिष्टः श्रामः विश्रामः गतिसमासः । वि√ श्रम्+घञ् करने पर 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' सूत्र से वृद्धि का निषेध हो जायगा ।

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु
न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥ १२ ॥

अन्वय—आन्तरः कोऽपि हेतुः पदार्थान् व्यतिषजति, प्रीतयः बहिरुपाधीन् खलु न संश्रयन्ते । हि पतङ्गस्य उदये पुण्डरीकं विकसति, च हिमरश्मौ उद्गते चन्द्रकान्तो द्रवति ॥१२॥

व्याख्या—आन्तरः अन्तर्भवः, कोऽपि अनिर्वचनीयः, हेतुः निमित्त, पदार्थान् वस्तूनि, व्यतिषजति परस्पर सम्मेलयति, प्रीतयः प्रेमाणः, बहिरुपाधीन् बाह्यसम्पर्कान्, खलु निश्चयेन, न संश्रयन्ते न अपेक्षन्ते । हि यस्मात्, पतङ्गस्य दिनकरस्य, उदये प्रकाशे, (सति) पुण्डरीकं पद्मं, विकसति स्फुटति, च पुनः, हिमरश्मौ चन्द्रमसि, उद्गते उदिते (सति) चन्द्रकान्तः स्वनामप्रसिद्धो मणिविशेषः, द्रवति निष्यन्दते ॥ १२ ॥

अनुवाद—कोई अन्तर्वर्ती कारण पदार्थों को परस्पर मिलाता है, किन्तु प्रीति निश्चित रूप से बाहरी सम्पर्कों की अपेक्षा नहीं करती है । क्योंकि सूर्य के उदित होने पर कमल खिलता है और चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्त मणि पिघलता है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में दो विशेषों से सामान्य का समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार है । यह मालिनी छन्द है ॥ १२ ॥

लवः—चन्द्रकेतो ! क एते ?

लव—चन्द्रकेतु जी ! ये कौन हैं ?

चन्द्रकेतुः—प्रियवयस्य ! ननु तातपादाः ।

चन्द्रकेतु—प्रिय मित्र ! ये (पूज्य) पिता जी हैं ।

लवः—ममापि तर्हि धर्मतस्तथैव, यतः प्रियवयस्येति भवतोक्तम् । किन्तु चत्वारः किल भवन्त्येवंव्यपदेशभागिनस्तत्रभवन्तो रामायणकथा-पुरुषाः । तद्विशेषं ब्रूहि ।

व्याख्या—तर्हि तदा, ममापि लवस्यापि, धर्मतः धर्मेण, तथैव तातपादा एव, यतः यस्मात् कारणात्, भवता त्वया, प्रियवयस्य इति प्रियसुहृद् इति, उक्तं निगदितम् । किन्तु परन्तु, एवंव्यपदेशभागिनः तातपादपदवाच्याः,

तत्रभवन्तः पूज्याः, रामायणकथापुरुषा रामायणकथानायकाः, चत्वार किल चतुःसङ्ख्यकाः खलु। तत् तस्मात्, विशेष तेषु चतुर्षु कतमोऽयम् इति इतर-व्यावर्तकं यथा स्यात् तथा, ब्रूहि कथय।

अनुवाद—लव—नय (लोकाचार रूप) धर्म से ये मेरे भी पिता ही हैं, जिसलिए कि आपने मुझे 'प्रिय मित्र' कहकर सम्बोधित किया है। किन्तु रामायण-कथा के चार पूजनीय पुरुष आपके 'पिता' शब्द से व्यवहार करने योग्य हैं। इसलिए विशेषरूप से बताइये (अर्थात् उनमें से ये कौन हैं, यह निर्देश कीजिये)।

चन्द्रकेतु:—ज्येष्ठतात इत्यवेहि।

चन्द्रकेतु—इन्हें बड़े पिता जी समझिये।

लवः—(*सोल्लासम्*) कथं रघुनाथ एव? दिष्ट्या सुप्रभातमद्य, यदयं देवो दृष्टः। (*सविनय निर्वर्ण्य*) तात! प्राचेतसान्तेवासी लवोऽभिवादयते।

लव—(*आनन्द के साथ*) क्या रघुनाथ जी ही हैं? भाग्य से आज (मेरे लिए) सुप्रभात है, जिस लिए कि इन महाराज के दर्शन हुए। (*विनय के साथ अवलोकन करके*) तात! वाल्मीकि मुनि का शिष्य लव आपको प्रणाम करता है।

रामः—आयुष्मन्! एह्येहि। (*इति सस्नेहमालिङ्गय*) अयि वत्स! कृतमत्यन्तविनयेन। अनेकवारमपरिश्लथं परिरम्भस्व।

राम—चिरञ्जीव! आओ, आओ। (*स्नेहपूर्वक आलिंगन करके*) हे वत्स! अत्यन्त विनय की आवश्यकता नहीं है। अनेक बार दृढ़तापूर्वक आलिंगन करो।

परिणतकठोरपुष्करगर्भच्छदपीनमसृणसुकुमारः।
नन्दयति चन्द्रचन्दननिष्यन्दजडस्तव स्पर्शः॥ १३॥

अन्वय—परिणतकठोरपुष्करगर्भच्छदपीनमसृणसुकुमारः चन्द्रचन्दननिष्यन्दजडः तव स्पर्शः नन्दयति॥ १३॥

व्याख्या—परिणतकठोरपुष्करगर्भच्छदपीनमसृणसुकुमारः परिणत परिपक्वम् अतएव कठोरं पूर्णावयवं यत् पुष्करं कमलं तस्य गर्भच्छद इव अभ्यन्तरवर्ति-दलमिव पीनः स्थूलः मसृणः स्निग्धः सुकुमारः मृदुलश्च, चन्द्रचन्दननिष्यन्द-

जड चन्द्र हिमांशु च दनस्य श्रीखण्डस्य निष्यन्द द्रव तौ इव जड शीतल, तत त, स्पर्श गात्रसयोग, न दयति हृषयति ॥ १३ ॥

अनुवाद—पूर्णविकसित कमल के भीतरी पत्र के समान पुष्ट, चिकना तथा वामल और चद्रमा एव चदन के द्रव की भांति शीतल तुम्हारा गात्र स्पर्श मुझे आप्यायित कर रहा है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—इस पद्य म दो उपमा अलकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होन से ससृष्टि अलकार है। यह आर्या छद है ॥ १३ ॥

लव – (स्वगतम्) ईदृशो मा प्रत्यमीषामकारणस्नेह । मया पुनरेभ्य एवाभिद्रोग्धुमज्ञेनायुधपरिग्रह कृत । (प्रकाशम्) मृष्यन्ता मिदानी लवस्य बालिशता तातपादा ।

व्याख्या—अमीषा रघुनाथादीना, मा प्रति मद्विषये, ईदृश एवविध, अकारणस्नेह अहेतक वात्सल्यम। पुन किन्तु, अज्ञेन विवेकरहितेन, मया लवेन, एभ्य एव रामचन्द्रादिभ्य एव, अभिद्रोग्धुम अपकर्तुम, आयुधपरिग्रह शस्त्रधारण, कृत विहीत। ('यदायुधपरिग्रह यावदध्यारूढो दुर्योग' इति पाठे तु यत यस्मात्, आयुधपरिग्रह यावत् अस्त्रग्रहणमारभ्य, दुर्योग कलह, अध्यारूढ आधिक्य गत इति व्याख्येयम्)। इदानीम् अधुना, तातपादा पितृचरणा, लवस्य मम बालिशता मूर्खता, मृष्यन्ता क्षाम्यन्तु।

अनुवाद—लव—(*मन में*) मेरे प्रति इन लोगों का ऐसा अकारण स्नेह है। किन्तु मूर्ख (होकर) मैने इन्हीं से द्रोह करने के लिए हथियार उठा लिया। (*प्रकट*) अब पितृचरण लव की मूर्खता को क्षमा करें।

टिप्पणी—एभ्य—यहाँ 'तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या' से चतुर्थी हुई। बालिशताम् = मूर्खता को। 'मूर्खवैधेयबालिशा' इत्यमर। मृष्यन्ताम्—दैवादिक मृष् तितिक्षायाम् धातु के लोट् लकार का यह रूप है।

राम —किमपराद्धं वत्सेन ?

राम—वत्स ने क्या अपराध किया ?

चन्द्रकेतु —अश्वानुयात्रिकेभ्यस्तातप्रतापाविष्करणमुपश्रुत्य वीरायितमनेन !

व्याख्या—अश्वानुयात्रिकेभ्य अश्वानुगामिभ्य रक्षकेभ्यः, तातप्रतापाविष्करणं तातस्य भवत. प्रतापस्य पराक्रमस्य आविष्करणं प्रकाशम् उपश्रुत्य निशम्य, अनेन लवेन, वीरायितं वीरवत् आचरितम् ।

अनुवाद—चन्द्रकेतु—यज्ञिय अश्व के अनुगामी दल से पिता जी के पराक्रम का प्रकाशन (अर्थात् घोषणा) सुनकर इन्होंने वीर की तरह आचरण किया ।

रामः—ननु अयमलङ्कारः क्षत्रियस्य ।

राम—यह तो क्षत्रिय का आभूषण ही है

न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते
स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः ।
मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति ॥ १४ ॥

अन्वय—तेजस्वी अपरेषां प्रसृतं तेजः न विषहते, तस्य सः प्रकृतिनियतत्वात् अकृतकः स्वो भावः । यदि देवो दिनकरः मयूखैः अश्रान्तं तपति आग्नेयो ग्रावा निकृत इव किं तेजांसि वमति ? ॥ १४ ॥

व्याख्या—तेजस्वी प्रतापवान्, अपरेषाम् अन्येषां, प्रसृतं विस्तीर्णं तेजः प्रतापं, न विषहते न क्षमते । तस्य तेजस्विनः, सः, प्रकृतिनियतत्वात् प्रकृत्या स्वभावेन नियन्त्रितत्वात्, अकृतकः अकृत्रिमः, स्वः आत्मीयः, भावः धर्मः । यदि चेत् देवः प्रकाशनशीलः, दिनकरः सूर्यः, मयूखैः किरणैः, अश्रान्तं विश्रामरहितं, तपति सन्तप्तं करोति, (तदा) आग्नेयः अग्न्युत्पादकः, ग्रावा शिला, निकृत इव तिरस्कृत इव (सन्) किं कथं, तेजांसि अग्नीन्, वमति उद्गिरति ? ॥ १४ ॥

अनुवाद——तेजस्वी पुरुष दूसरों के फैले हुए तेज का सहन नहीं करता है । (क्योंकि) वह (असहनशीलता) उसका अपना स्वभाव-सिद्ध धर्म है । यदि सूर्यदेव (अपनी) किरणों से (जगत् को) निरन्तर सन्तप्त करते हैं तो सूर्यकान्त मणि क्यों अपमानित (हुए) की भाँति आग उगलता है ? (अर्थात् जैसे सूर्य-किरणों से सन्तप्त होने पर सूर्यकान्त मणि अग्नि उत्पन्न करता है उसी तरह इस वीर ने हमारे प्रताप से सन्तप्त होकर अपना सामर्थ्य प्रकट किया है ।) ॥ १४ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में विशेष द्वारा सामान्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है और 'निकृत इव' में क्रियोत्प्रेक्षा अलङ्कार है। यह शिखरिणी छंद है ॥ १४ ॥

चन्द्रकेतु—अमर्षोऽप्यस्यैव शोभते महावीरस्य । पश्यन्तु हि तातपादाः । प्रियवयस्यनियुक्तेन जृम्भकास्त्रेण विक्रम्य स्तम्भितानि सर्वसैन्यानि ।

व्याख्या—अमर्षोऽपि क्रोधोऽपि, अस्यैव, महावीरस्य, शोभते युज्यते। प्रियवयस्यनियुक्तेन प्रियवयस्येन लवेन नियुक्तेन प्रेरितेन, जृम्भकास्त्रेण, विक्रम्य पराक्रम कृत्वा, सर्वसैन्यानि निखिलबलानि, स्तम्भितानि जडीकृतानि।

अनुवाद—चन्द्रकेतु—क्रोध या असहिष्णुता भी इसी महावीर को फब रही है। पिता जी देखें। प्रिय मित्र का छोड़े हुए जृम्भकास्त्र ने पराक्रम करके सम्पूर्ण सेना को जड़ बना दिया है।

राम.—(*सविस्मयखेदं निर्वर्ण्य स्वगतम्*) अहो, वत्सस्य ईदृशः प्रभावः ! (*प्रकाशम्*) वत्स ! संह्रियतामस्त्रम् । त्वमपि चन्द्रकेतो ! निर्व्यापारतया विलक्षाणि सान्त्वय बलानि ।

राम—(*आश्चर्य और खेद के साथ निहारकर मन में*) अहा ! वत्स का ऐसा प्रभाव ! (*प्रकट*) वत्स ! अस्त्र को लौटा लो। चन्द्रकेतो ! तुम भी निष्क्रियता के कारण विस्मयापन्न सैनिकों को आश्वस्त करो।

(*लवः प्रणिधानं नाटयति ।*)

(*लव समाधि या ध्यान का अभिनय करता है*)

चन्द्रकेतुः—यथानिर्दिष्टम् । (*इति निष्क्रान्तः ।*)

चन्द्रकेतु—जैसी आज्ञा । (*यह कह कर चला गया ।*)

लव.—तात ! प्रशान्तमस्त्रम् ।

लव—तात ! अस्त्र शान्त हो गया ।

रामः—सरहस्यप्रयोगसंहारजृम्भकास्त्राणि दिष्ट्या वत्सस्यापि सम्पद्यन्ते ।

व्याख्या—दिष्ट्या हर्षेण, सरहस्यप्रयोगसंहारजृम्भकास्त्राणि प्रयोगश्च संहारश्च इति प्रयोगसंहारौ निक्षेपपरावर्तने सरहस्यौ रहस्येन गोपनीयमन्त्रेण सहितौ प्रयोगसंहारौ येषां तानि जृम्भकास्त्राणि, वत्सस्यापि तवापि, सम्पद्यन्ते

सम्पन्नानि भवन्ति ('सरहस्यप्रयोगसहरणानि अस्त्राणि आम्नायवन्ति' इति पाठभेदे तु 'अस्त्राणि जृम्भकास्त्राणि, आम्नायवन्ति सम्प्रदायसिद्धानि गुरूपदेशसापेक्षाणि' इति व्याख्येयम्)।

अनुवाद—हर्ष की बात है कि वत्स भी गोपनीय मन्त्र समेत जृम्भक अस्त्र को चलाना तथा लौटाना जानता है।

ब्रह्मादयो ब्रह्महिताय तप्त्वा परःसहस्र शरदस्तपांसि।
एतान्यपश्यन्गुरवः पुराणाः स्वान्येव तेजांसि तपोमयानि॥ १५॥

(इस श्लोक का अन्वय आदि प्रथम अंक के १५वें श्लोक के नीचे देखना चाहिए। दोनों श्लोक एक ही हैं।)

अथैतामस्त्रमन्त्रोपनिषदं भगवान् कृशाश्वः परःसहस्राधिकसंवत्सरपरिचर्यानिरतायान्तेवासिने कौशिकाय प्रोवाच। स भगवान् मह्यमिति गुरुपूर्वानुक्रमः। कुमारस्य कुतः सम्प्रदायः? इति पृच्छामि।

व्याख्या—अथ इति आरम्भार्थकमव्ययम्, एताम्, अस्त्रमन्त्रोपनिषदम् अस्त्रमन्त्रमयीं गुह्यविद्या ('एतन्मन्त्रपारायणोपनिषदम्' इति पाठभेदे तु 'एतेषां जृम्भकास्त्राणां मन्त्राणां पारस्य शेषपर्यन्तस्य अयनं गमनं तत् मन्त्रपारायणमेव उपनिषत् रहस्यमयं शास्त्रं ताम्' इति व्याख्येयम्), भगवान्, कृशाश्वः, परःसहस्राधिकसंवत्सरपरिचर्यानिरताय सहस्रात् परे इति परःसहस्राः तेभ्यः अधिकाः अतिरिक्ताः ये संवत्सराः वर्षाणि तत्कालमभिव्याप्य या परिचर्या शुश्रूषा तस्यां निरताय लीनाय, अन्तेवासिने शिष्याय, कौशिकाय विश्वामित्राय, प्रोवाच उपदिदेश। स भगवान् विश्वामित्रः, मह्यं रामाय (प्रोवाच), इति इत्थं, गुरुपूर्वानुक्रमः गुरूणाम् उपदेष्टॄणां पूर्वः पूर्वकालवर्ती क्रमः परम्परा (अस्ति)। कुमारस्य तव, कुतः कस्मात्, सम्प्रदायः देशपरम्परा (आगतः)?

अनुवाद—इस जृम्भकास्त्र की मन्त्रमयी गुह्यविद्या को भगवान् कृशाश्व एक सहस्र वर्षों से अधिक काल तक परिचर्या में निरत रहने वाले शिष्य विश्वामित्र जी को बताया था। भगवान् विश्वामित्र ने मुझे इसका उपदेश किया। इस प्रकार (इसके बारे में) गुरुओं की प्राचीन उपदेशपरम्परा (अर्थात् सम्प्रदाय) है। तुम्हें उपदेशपरम्परा कहाँ से प्राप्त है? यह मैं पूछता हूँ।

लव —स्वत प्रकाशान्यावयोरस्त्राणि।

लव—ये अस्त्र अपने आप हम दोनों को प्रकाशित हुए हैं (अर्थात् हम दोनों के हृदय में आविर्भूत हुए हैं)।

राम —(*विचिन्त्य*) किं न सम्भाव्यते? प्रकृष्टपुण्योपादानक कोऽपि महिमा स्यात्। द्विवचन तु कथम्?

व्याख्या—विचिन्त्य विमृश्य, किं न सम्भाव्यते सर्वमपि सभाव्यते जगति इति भाव। प्रकृष्टपुण्योपादानक प्रकृष्टम् अत्यन्त पुण्य धर्म, उपादान कारण यस्य स, कोऽपि अनिर्वचनीयः, महिमा महत्त्व, स्यात् भवेत्। तु किन्तु, द्विवचनम् आवयोरिति षष्ठीद्विवचनप्रयोग, कथ कस्मात्?

अनुवाद—राम—(*सोच कर*) क्या नहीं सम्भव है? अत्यत पुण्य से उत्पन्न होने वाली कोई महिमा होगी? किन्तु (हम दोनों, यह कह कर) द्विवचन (*का प्रयोग*) क्यों?

लव—भ्रातरावावां यमौ।

लव—हम दोनों जुड़वे भाई हैं।

राम —स तर्हि द्वितीयः क?

राम—तो वह दूसरा भाई कहाँ है?

(नेपथ्ये)

(*नेपथ्य में*)

दण्डायन[1]।

> आयुष्मत किल लवस्य नरेन्द्रसैन्यै-
> रायोधनं ननु किमात्थ सखे तथेति।
> अद्यास्तमेतु भुवनेषु स राजशब्दः
> क्षत्रस्य शस्त्रशिखिनः शममद्य यान्तु॥ १६॥

अन्वय—ननु आयुष्मत लवस्य नरेन्द्रसैन्यैः आयोधन किल, सखे? किम् आत्थ, —तथा इति? अद्य भुवनेषु राजशब्दः अस्तम् एतु, क्षत्रस्य शस्त्रशिखिनः अद्य शम यान्तु॥ १४॥

---

१. भाण्डायन, भाण्डायन! इति पाठभेदः।

व्याख्या—ननु भोः, आयुष्मतः दीर्घायुःशालिनः, लवस्य, नरेन्द्रसैन्यैः राजसैनिकैः (सह), आयोधनं युद्धं, किल इति वार्तायाम्, सखे ! बन्धो ! किम् आरब्ध कि कथयसि, तथा इति ? सत्यम् इति ? अद्य अस्मिन् दिने, भुवनेषु जगत्सु, राजशब्दः 'राजा' इत्याकारक शब्दः, अस्तं लोपम्, एतु गच्छतु, क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः, शस्त्रशिखिनः शस्त्राणि एव शिखिनः अग्नयः, शमं शान्ति, यान्तु प्राप्नुवन्तु ॥ १६ ॥

अनुवाद—दण्डायन ! क्या राज-सैनिकों के साथ आयुष्मान् लव का युद्ध छिड़ गया है ? मित्र ! तुम क्या कहते हो ? क्या यह सत्य है ? आज तीनों लोक से 'राजा' शब्द लुप्त हो जाय और क्षत्रिय जाति का शस्त्र रूप अग्नि शान्त हो जाय ॥ १६ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में रूपक अलकार है । यह वसन्ततिलका छन्द है ॥ १६ ॥

राम—

अथ कोऽयमिन्द्रमणिमेचकच्छविर्ध्वनिनैव दत्तपुलकं करोति माम् ।
नवनीलनीरधरधीरगर्जितक्षणबद्धकुड्मलकदम्बडम्बरम् ॥ १७ ॥

अन्वय—अथ इन्द्रमणिमेचकच्छविः अयं कः ध्वनिना एव दत्तपुलकं मां नवनीलनीरधरधीरगर्जितक्षणबद्धकुड्मलकदम्बडम्बरं करोति ॥ १७ ॥

व्याख्या—अथ इति प्रश्नबोधकं पदम्, इन्द्रमणिमेचकच्छविः इन्द्रमणिः इन्द्रनीलमणिः, तद्वत् मेचका श्यामा छविः कान्तिः यस्य सः, अयं दृश्यमानः, कः अविज्ञात इत्यर्थः, ध्वनिना एव कण्ठस्वरेणैव, दत्तपुलकं दत्ताः समर्पिताः पुलकाः रोमाञ्चाः यस्य तं तथाभूतं, मां रामं, नवनीलनीरधरधीरगर्जितक्षणबद्धकुड्मलकदम्बडम्बरं नवाः नूतनाः नीलाः श्यामलाः ये नीरधराः मेघाः तेषां धीरगर्जितानि गम्भीरस्तनितानि तेषां क्षणे काले बद्धानि धृतानि कुड्मलानि मुकुलानि येन तत्तं कदम्बस्य नीपवृक्षस्य डम्बरं सदृशं, करोति विदधाति ॥ १७ ॥

अनुवाद—राम—नीलकान्त मणि के समान श्यामल कान्ति वाला यह कौन शब्दमात्र से मुझको नवीन और नील बादल के गंभीर गर्जन के समय कली धारण करने वाले कदम्बवृक्ष की तरह रोमाञ्चित कर रहा है ? ॥ १७ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में दो उपमा अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार है। यह मञ्जुभाषिणी छन्द है ॥ १७॥

लवः—अयमसौ मम ज्यायानार्यः कुशो नाम भरताश्रमात् प्रतिनिवृत्तः।

लव—ये मेरे ज्येष्ठ भ्राता आर्य कुश भरत मुनि के आश्रम से लौटे हैं।

रामः—(*सकौतुकम्*) तर्हि वत्स ! इत एवैतमाह्वयायुष्मन्तम्।

राम—(*कौतूहल के साथ*) वत्स ! तब इस आयुष्मान् को यहीं बुलाओ।

लवः—यदाज्ञापयति। (*इति निष्क्रान्तः*।

लव—जो आज्ञा। (*यह कह कर चल पड़ा*।)

(*ततः प्रविशति कुशः*)

(*तब कुश प्रवेश करता है*)

कुशः—(*सक्रोधं कृतधैर्यं धनुरास्फाल्य*)

कुश—(*क्रोध के साथ धैर्यपूर्वक धनुष को हिला कर*)

दत्तेन्द्राभयदक्षिणैर्भगवतो वैवस्वतादामनो-
दृप्तानां दमनाय दीपितनिजक्षत्रप्रतापाग्निभिः।
आदित्यैर्यदि विग्रहो नृपतिभिर्धन्यं ममैतत्ततो
दीप्तास्त्रस्फुरदुग्रदीधितिशिखानीराजितज्यं धनुः ॥ १८॥

अन्वय—भगवतो वैवस्वतात् मनो. आ दत्तेन्द्राभयदक्षिणैः दृप्तानां दमनाय दीपितनिजक्षत्रप्रतापाग्निभिः आदित्यैः नृपतिभिः यदि विग्रहः ततः दीप्तास्त्रस्फुरदुग्रदीधितिशिखानीराजितज्यं मम एतत् धनुः धन्यम् ॥ १८॥

व्याख्या—भगवतः ऐश्वर्यशालिनः, वैवस्वतात् सूर्यसन्ततेः, मनोः आ मनुमारभ्य, दत्तेन्द्राभयदक्षिणैः दत्ता वितीर्णा इन्द्राय देवराजाय, अभयदक्षिणा अभयदानं यैः तथोक्तैः, दृप्तानां गर्वितानां, दमनाय निग्रहाय ('दहनाय' इति पाठे 'गर्वविध्वंसाय' इति व्याख्येम्), दीपितनिजक्षत्रप्रतापाग्निभिः दीपितः प्रज्वलितः निजः स्वकीयः क्षत्रप्रतापः क्षत्रियसामर्थ्यं स एव अग्निः वह्निः यैः तैः, आदित्यैः सूर्यवंशीयैः, नृपतिभिः भूपतिभिः (सह), यदि चेत्, विग्रहः विरोधः, तत. तदा, दीप्तास्त्रस्फुरदुग्रदीधितिशिखानीराजि-

तत्र दीप्तानाम् उज्ज्वलानाम् अस्त्राणाम् आयुधानां स्फुरन्तीभिः विलसन्तीभिः उग्राभिः तीक्ष्णाभिः दीधितिशिखाभिः रश्मिज्वालाभिः नीराजिता कृतनीराजना ज्या मौर्वी यस्य तत्, मम मे, एतत् हस्तवर्ति, धनुः चापं, धन्य श्लाघ्य (भवेत्) ॥ १८ ॥

अनुवाद—भगवान् वैवस्वत मनु से लेकर इन्द्र तक को अभयदान देने वाले और घमण्डियों का दमन करने के लिए अपने क्षत्रिय-प्रताप रूप अग्नि को प्रज्वलित करने वाले सूर्यवंशीय राजाओं से यदि स्पर्धा हो जाय तो उज्ज्वल अस्त्रों की चमकती हुई तीक्ष्ण किरण-ज्वालाओं द्वारा आरती की हुई मौर्वी से मेरा धनुष कृतकृत्य हो जायगा ॥ १८ ॥

टिप्पणी—मनोः—इसमें 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' से पञ्चमी हुई। नीराजित = नीराजन किया हुआ। नीराजन = आरती। वाहनायुधादेः निःशेषेण राजनं यत्र तत् नीराजनम्। विजयादशमी आदि अवसरों पर युद्ध के उपकरणों का नीराजन किया जाता है। इस पद्य में दो रूपक अलङ्कारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलङ्कार हो जाता है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ १८ ॥

(*विकटं परिक्रामति* ।)

(*भयानक रूप से चक्कर लगाता है* ।)

राम—कोऽप्यस्मिन् क्षत्रियपोतके पौरुषातिरेकः।

राम—इस क्षत्रिय बालक में सामर्थ्य की पराकाष्ठा है।

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमित्युत दर्प एव ॥ १९ ॥

अन्वय—दृष्टिः तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा, धीरोद्धता गतिः धरित्रीं नमयति इव, कौमारकेऽपि गिरिवत् गुरुतां दधानः अयं किं वीरः रसः ? उत दर्पः एव इति ॥ १९ ॥

व्याख्या—दृष्टिः विलोकनं, तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा तृणीकृतः तुच्छीकृतः जगत्त्रयस्य त्रिभुवनस्य सत्त्वानां प्राणिनां सारो बलं यया सा, धीरो-

दता धीरा धैर्ययुक्ता उद्धता सदर्पा, गतिः पादविक्षेपः, धरित्रीं पृथिवीं, नमयति अधोगमयति इव, कौमारकेऽपि शैशवेऽपि, गिरिवत् पर्वत इव, गुरुता गौरवं, दधानः वहन्, अयं बालकः, किं किमु, वीरो रसः वीराख्यो रसः ? उत अथवा, दर्प एव अहङ्कार एव, एति आगच्छति ॥ १६ ॥

अनुवाद—इसकी दृष्टि तीनों लोकों के प्राणियों की सामर्थ्य को तृण के समान तुच्छ बना रही है, (धीर तथा दर्प-युक्त गति पृथ्वी को अवनत-सी कर रही है,) बाल्यावस्था में भी पर्वत के समान गुरुत्व वहन करता हुआ यह क्या साक्षात् वीर रस है ? अथवा दर्प ही (मूर्तिमान् होकर) आ रहा है ! ॥ १६ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में उत्प्रेक्षा और उपमा अलङ्कारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलङ्कार है । यह वसन्ततिलका छंद है ॥ १६ ॥

लव —(*उपसृत्य*) जयत्वार्यः ।

लव—(*निकट जाकर*) आर्य की जय हो ।

कुश —ननन्वायुष्मन् ! किमियं वार्ता युद्धं युद्धमिति ?

कुश—अहा चिरञ्जीव ! 'युद्ध युद्ध' यह क्या समाचार है ?

लव —यत्किञ्चिदेतत् । आर्यस्तु दृप्तं भावमुत्सृज्य विनयेन वर्तताम् ।

लव—यह जो कुछ (अर्थात् साधारण सी बात) है । आप गर्व पूर्ण भाव का परित्याग कर नम्रता से व्यवहार करें ।

कुश —किमर्थम् ?

कुश—किसलिए ?

लव —यदत्र देवो रघुनन्दनः स्थितः । स रामायणकथानायको ब्रह्मकोशस्य गोप्ता ।

लव—जिसलिए कि यहाँ महाराज रामचन्द्र जी अवस्थित हैं । वे रामायण कथा के नायक तथा वेदरूप निधि के रक्षक हैं ।

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'स च विनताति आवयोरुत्पत्तेश्च युष्मत्सन्निकर्षस्य' ऐसा पाठ है । तदनुसार अर्थ होगा—'वे हम दोनों के

प्रति स्नेह प्रकट करते हैं और आपके सामीप्य के लिए उत्कण्ठित हैं'। 'सन्निकर्षस्य' में 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' सूत्र से कर्म में षष्ठी हुई।

कुश.—आशंसनीयपुण्यदर्शनः स महात्मा। किन्तु स कथमस्माभिरुपगन्तव्य ? इति[1] सम्प्रधारयामि।

व्याख्या—स. पूर्वकथित, महात्मा महापुरुष., आशंसनीयपुण्यदर्शनः आशंसनीयं वाञ्छनीयं पुण्यं पावनं दर्शनं साक्षात्कारः यस्य सः (अस्ति)। किन्तु परन्तु स. महात्मा, अस्माभिः मया, कथं केन प्रकारेण उपगन्तव्यः उपसर्पणीय साक्षात्कर्तव्य इत्यर्थ। इति इदं, सम्प्रधारयामि निश्चिनोमि।

अनुवाद—वे महापुरुष स्पृहणीय पवित्र दर्शन वाले हैं (अर्थात् उनका पावन दर्शन वाञ्छनीय है)। किन्तु किस प्रकार मैं उपस्थित होऊँ, इसका निश्चय करता हूँ।

लव.—यथैव गुरुस्तथोपसद्नेन।

लव—जिस प्रकार गुरु के निकट जाना चाहिए उसी प्रकार उपस्थित होइये।

कुश.—कथं हि नामैतत् ?

कुश—क्यों इस प्रकार जाना चाहिए ?

लव.—अत्युदात्तः सुजनश्चन्द्रकेतुरौर्मिलेय प्रियवयस्येति सख्येन मामुपतिष्ठते। तेन सम्बन्धेन धर्मतस्तात एवार्थ राजर्षि।

व्याख्या—अत्युदात्त. अति उदारचेता, सुजनः सौजन्यपूर्ण., औमिलेय. ऊर्मिलापुत्र, चन्द्रकेतु, प्रियवयस्य' प्रियबन्धु', इति कथयित्वेति यावत्, सख्येन मैत्र्या, मा लवम्, उपतिष्ठते उपैति। तेन सम्बन्धेन सम्पर्केण, अयं, राजर्षिः ऋषितुल्यो राजा रामः, धर्मत. धर्मानुसारेण, तात एव पिता एव।

अनुवाद—लव—सज्जन तथा अत्यन्त उदार चरित्र वाले ऊर्मिलापुत्र चन्द्रकेतु मुझे प्रिय सखा कह कर मित्र-भाव से व्यवहार कर रहे हैं। इस सम्बन्ध से ये राजर्षि धर्मतः हमारे पिता ही हुए।

टिप्पणी—औमिलेय. = चन्द्रकेतु। ऊर्मिलाया. पुत्र औमिलेय.,

---

१ कहीं 'न' यह अधिक पाठ मिलता है।

ऊर्मिला+ढक्—एय। सख्येन=मित्रता से। सख्युर्भाव सख्यम्, सखि+यत्। उपतिष्ठते=उपस्थित होते हैं। उपपूर्वक स्था धातु से मैत्रीकरण अर्थ में 'उपाद्देवपूजासङ्गतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इस वार्तिक से आत्मनेपद हुआ।

कुश —सम्प्रत्यवचनीयो राजन्येऽपि प्रश्रय।

व्याख्या—सम्प्रति अधुना धर्मतातत्वविनिश्चये सतीत्यर्थ, राजन्येऽपि क्षत्रियेऽपि, प्रश्रय विनय, अवचनीय अनिन्दनीय (अ यथा क्षत्रियस्य अक्षत्रिय प्रति विनयाचरणेन तेजोलाघवप्रतीतिसम्भवात् विनयप्रदर्शनम युक्तमेव स्यादिति भाव)।

अनुवाद—कुश अब (धर्म पिता का सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर) क्षत्रिय के प्रति भी विनय प्रकट करना अनुचित नहीं है।

(*उभौ परिक्रामत* ।)

(*दोनों चल पडते हैं* ।)

लव —पश्यत्वेनमार्यो महापुरुषमाकारानुभावगाम्भीर्यसम्भाव्यमान विविधलोकोत्तरसुचरितातिशयम्।

व्याख्या—आकारानुभावगाम्भीर्यसम्भाव्यमानविविधलोकोत्तरसुचरितातिशयम् आकारेण आकृत्या अनुभावेन प्रभावेण गाम्भीर्येण गम्भीरतया सम्भाव्यमान सम्भावना नीयमान विविधाना नानाप्रकाराणा लोकोत्तराणाम् अलौकिकाना सुचरिताना शोभनाचरणानाम् अतिशय आधिक्य यस्य तम्, एन समीपवर्तिन, महापुरुष महात्मान श्रीरामम्, आर्य भवान्, पश्यतु अवलोकयतु।

अनुवाद—लव—आकृति, प्रभाव तथा गम्भीरता द्वारा अनुमान किये जाने योग्य अनेक प्रकार के लोकोत्तर सुचरित्रों के आधिक्य से सम्पन्न इन महापुरुष का आप दर्शन करें।

कुश —(*निर्वर्ण्य*)

कुश—(*गौर से देखकर*)

अहो प्रासादिक रूपमनुभावश्च पावन।
स्थाने रामायणकविर्देवीं वाचमवीवृधत्॥ २०॥

अन्वय—अहो प्रासादिक रूप, पावन. अनुभावश्च, रामायणकवि. स्थाने वाच देवीम् अर्वावृधत् ॥ २० ॥

व्याख्या—अहो आश्चर्यं, प्रासादिक प्रसन्नतासम्पन्न, रूपम् आकृति., पावन. पवित्र, अनुभावश्च प्रभावश्च, रामायणकवि. रामायणस्य कवयिता वाल्मीकि, स्थाने युक्तमेव, वाच देवी वाग्देवताम्, अर्वावृधत् अवर्धयत् ('व्यवीवृतत्' इति पाठभेदे तु व्यवर्तयत् रामायणकाव्यरूपेण परिणमितवान् इत्यर्थः इति व्याख्येयम्) ॥ २० ॥

अनुवाद—अहा! इनकी आकृति प्रसादगुण-सम्पन्न है और प्रभाव पवित्र है। रामायण के रचयिता ने उचित ही वाग्देवी का परिवर्धन किया है (अर्थात् ऐसे धीरोदात्त नायक के चरित्र का अवलम्बन करके रचा गया रामायण-महाकाव्य सर्वथा सार्थक हुआ है।) ॥ २० ॥

टिप्पणी—इस पद्य में वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है ॥ २० ॥

(*उपसृत्य*) तात! प्राचेतसान्तेवासी कुशोऽभिवादयते।

(*समीप जाकर*) तात! वाल्मीकि मुनि का शिष्य कुश (आपको) प्रणाम करता है।

राम —एह्येह्यायुष्मन्!

राम—चिरञ्जीव! आओ, आओ।

> अमृताध्मातजीमूतस्निग्धसंहननस्य ते।
> परिष्वङ्गाय वात्सल्यादयमुत्कण्ठते जन ॥ २१ ॥

अन्वय—अयं जन वात्सल्यात् अमृताध्मातजीमूतस्निग्धसंहननस्य ते परिष्वङ्गाय उत्कण्ठते ॥ २१ ॥

व्याख्या—अयं त्वत्पुरोवर्ती, जनः प्राणी अहमित्यर्थ, वात्सल्यात् स्नेहात्, अमृताध्मातजीमूतस्निग्धसंहननस्य अमृतेन तोयेन आध्मात. परिपूर्ण यो जीमूत मेघ तद्वत् स्निग्ध चिक्कण संहनन गात्र यस्य तस्य, ते तव कुशस्येत्यर्थ, परिष्वङ्गाय आलिङ्गनाय उत्कण्ठते उत्सुकता प्राप्नोति ॥ २१ ॥

अनुवाद—वह व्यक्ति वात्सल्य प्रेम के कारण, जल से परिपूर्ण मेघ के समान तुम्हारे चिकने शरीर का आलिंगन करने के लिए उत्कण्ठित हो रहा है ॥ २१ ॥

टिप्पणी—अमृत = जल। 'पय कीलालममृतम्' इत्यमर.। जीमूत =

बादल । 'घनजीमूतमुदिरजलमुग्धूमयोनयः' इत्यमरः । सहनन = शरीर । 'गात्र वपुः सहनन शरीर वर्म विग्रहः' इत्यमरः । परिष्वङ्गाय—इसमें 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' सूत्र से चतुर्थी हुई । इस पद्य में समासगत उपमा अलङ्कार है ॥ २१ ॥

(*परिष्वज्य, स्वगतम्*) तत् किमपत्यमय दारकः ?

(*आलिंगन करके मन में*) तब क्या यह बालक मेरी सन्तान है ?

अङ्गादङ्गात्सृत[1] इव निज. स्नेहजो देहसारः[2]
प्रादुर्भूय स्थित इव बहिश्चेतनाधातुरेकः ।।
सान्द्रानन्दक्षुभितहृदयप्रस्रवेणावसिक्तो
गाढाश्लेषः स हि मम हिमच्योतमाशंसतीव ॥ २२ ॥

अन्वय—अङ्गात् अङ्गात् सृतः स्नेहजो निजो देहसार इव, एकः चेतनाधातुः बहिः प्रादुर्भूय स्थित इव, सान्द्रानन्दक्षुभितहृदयप्रस्रवेण अवसिक्तः हि सः गाढाश्लेषः मम हिमच्योतम् आशंसति इव ।। २२ ॥

व्याख्या—अङ्गात् अङ्गात् सर्वेभ्यः अवयवेभ्यः, सृतः स्नुतः, स्नेहजः स्नेहोत्पन्नः, निजः स्वीयः, देहसार इव देहस्य शरीरस्य सारः उत्कृष्टांशः इव, एकः मुख्यः, चेतनाधातुः चैतन्यात्मक वस्तु, बहिः देहात् बहिर्देशे, प्रादुर्भूय आविर्भूय, स्थित इव अवस्थित इव, सान्द्रानन्दक्षुभितहृदयप्रस्रवेण सान्द्रेण निबिडेन आनन्देन हर्षेण क्षुभितम् आलोडित यत् हृदय चित्त तस्य प्रस्रवेण द्रवेण, अवसिक्तः आर्द्रीकृतः ('सृष्ट इव' इति पाठभेदे तु 'निर्मित इव' इति व्याख्येयम्), हि निश्चयेन, स' बालकः, गाढाश्लेषः गाढः दृढः आश्लेषः आलिङ्गन यस्य सः तथोक्तः (सन्), मम मे, हिमच्योत तुषारक्षरणम्, आशंसति इव सूचयति इव ('गात्र श्लेषे यदमृतरसस्रोतसा सिञ्चतीव' इति चतुर्थचरणीयपाठभेदे तु 'यत् यस्मात्, श्लेषे परिष्वङ्गे कृते सति, गात्र शरीरम् अमृतरसस्रोतसा अमृतरसस्य सुधारसस्य स्रोतसा प्रवाहेण, सिञ्चति इव स्नपयति इव' इति व्याख्येयम्) ॥ २२ ॥

अनुवाद—(मेरे) प्रत्येक अंग से च्युत, स्नेह से उत्पन्न तथा अपने

---

१. 'स्नुतः'; 'च्युतः'; 'सुतः' इति पाठान्तराणि । २. 'देहज. स्नेहसारः' इति पाठभेदः ।

शरीर के उत्कृष्ट अंश के सदृश और (देह से) बाहर प्रादुर्भूत होकर अवस्थित चैतन्य पदार्थ के समान, प्रगाढ़ आनन्द द्वारा उद्वेलित हृदय के रस से सिक्त किया हुआ यह बालक गाढ़ आलिंगन करने पर मानो तुषार से मुझे सींचने की सूचना दे रहा है (अर्थात् मेरे सन्तप्त हृदय को तुषार से सींचकर शीतल कर रहा है)॥ २२॥

टिप्पणी—इस पद्य के पहले, दूसरे और चौथे चरणों में तीन उत्प्रेक्षा अलकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार हो जाता है। यह मन्दाक्रान्ता छंद है॥ २२॥

लव —ललाटन्तपस्तपति घर्मांशुः। तदत्र सालच्छाये मुहूर्तमासन-परिग्रहं करोतु तातः।

व्याख्या—घर्मांशुः सूर्यः, ललाटन्तपः भालदेशसन्तापजनकः ऊर्ध्वमारूढ इत्यर्थः, (सन्) तपति तापमुत्पादयति। तत् तस्मात्, अत्र अस्मिन्, सालच्छाये सालवृक्षस्य छायायां, तातः, मुहूर्तं क्षणकाल घटिकाद्वयं वा, आसनपरिग्रहम् उपवेशनस्वीकारं, करोतु।

अनुवाद—सूर्य ललाट को तपाते हुए तप रहे हैं (अर्थात् दोपहर का समय हो गया है)। इसलिए पिताजी इस साल वृक्ष की छाया में दो घड़ी आसन ग्रहण करें (अर्थात् कुछ देर विश्राम करें)।

टिप्पणी—ललाटन्तपः—ललाटं तपतीति ललाटन्तपः ललाट ✓तप्+खश् 'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' इत्यनेन, ततः 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इत्यनेन मुमागमः। सालच्छाये—सालानां छाया इति सालच्छायं तस्मिन्। 'छाया बाहुल्ये' इति सूत्रेण नपुंसकत्वम्। मुहूर्तम्—अत्र 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इत्यनेन द्वितीया।

रामः—यदभिरुचितं वत्सस्य।

राम—वत्स की जैसी रुचि।

(सर्वे परिक्रम्य यथोचितमुपविशन्ति।)

(सभी चलकर यथोचित प्रकार से बैठ जाते हैं।)

रामः—(स्वगतम्)

राम—(अपने आप)

अहो प्रश्रययोगेऽपि गतिस्थित्यासनादयः ।
साम्राज्यशंसिनो भावाः कुशस्य च लवस्य च ॥ २३ ॥

अन्वय—अहो! प्रश्रययोगेऽपि कुशस्य लवस्य च गतिस्थित्यासनादयो भावाः साम्राज्यशंसिनः (सन्ति) ॥ २३ ॥

व्याख्या—अहो इति आश्चर्ये, प्रश्रययोगेऽपि प्रश्रयस्य विनयस्य योगेऽपि सम्बन्धेऽपि, कुशस्य लवस्य च एतदाख्ययोर्बालकयोः, गतिस्थित्यासनादयः गतिः पादविक्षेपः स्थितिः अवस्थानम् आसनम् उपवेशनं तान्येव आदिर्येषां ते, भावाः शरीरचेष्टाः, साम्राज्यशंसिनः साम्राज्यं सार्वभौमोचितावस्थां शंसन्ति सूचयन्ति ये तादृशाः (सन्ति) ॥ २३ ॥

अनुवाद—आश्चर्य है कि विनय का सम्बन्ध होने पर भी (अर्थात् नम्र होते हुए भी) कुश और लव का चलना, ठहरना और बैठना आदि क्रियायें सम्राट् होने की सूचना देती हैं ॥ २३ ॥

वपुरविहितसिद्धा एव लक्ष्मीविलासाः
प्रतिकलकमनीयां कान्तिमुद्भेदयन्ति[1]
अमलिनमिव चन्द्रं रश्मयः स्वे यथा वा[1]
विकसितमरविन्दं बिन्दवो माकरन्दाः ॥ २४ ॥

अन्वय—यथा वा स्वे रश्मयः अमलिनं चन्द्रम् इव माकरन्दाः बिन्दवो विकसितम् अरविन्दम् इव अविहितसिद्धाः एव लक्ष्मीविलासाः वपुः प्रतिकलकमनीयां कान्तिं च उद्भेदयन्ति ॥ २४ ॥

व्याख्या—यथा येन प्रकारेण, वा इति पादपूरणार्थम्, स्वे स्वाः, रश्मयः अंशवः, अमलिनं निर्मलं, चन्द्रं चन्द्रमसं (रत्नम् इति पाठे मणिम् इति व्याख्येयम्), इव तद्वत्, माकरन्दाः पुष्परससम्बन्धिनः, बिन्दवः कणाः, विकसितं प्रस्फुटितम्, अरविन्दमिव पद्ममिव, अविहितसिद्धाः एव स्वभावनिष्पन्ना एव, लक्ष्मीविलासाः सौन्दर्यस्फुरणानि, वपुः शरीरं, प्रतिकलकमनीयां प्रतिक्षणम् अनुक्षणं कमनीयां मनोरमां, कान्तिं च द्युतिं च, उद्भेदयन्ति उद्भासयन्ति उत्पादयन्ति वा (द्वितीयचरणस्य स्थाने 'प्रतिजनकमनीयं

1. 'स्वे यथा वा' इत्यस्य स्थाने 'ते मनोज्ञाः' इति पाठभेदः ।

कान्तिमत् केतयन्ति' इति पाठे तु प्रतिजनकमनीयं सर्वजनमनोहर, कान्तिमत् सौन्दर्यपूर्णं, वपुः, केतयन्ति आश्रयन्ति वा सुशोभयन्ति ॥ २ ॥

अनुवाद—जैसे अपनी किरणें निर्मल चन्द्र को और पुष्परस के कण खिले हुए कमल को प्रकाशित करते हैं उसी तरह नैसर्गिक सौन्दर्यविलास शरीर एवं प्रतिक्षण कमनीय कान्ति को भी (क्रमश) उद्भासित एवम् उत्पन्न करते हैं ॥ २४ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में दो उपमा अलकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से ससृष्टि अलकार है। यह मालिनी छद है ॥ २४ ॥

भूयिष्ठ च रघुकुलकौमारमनयो. पश्यामि।

व्याख्या—अनयो' कुशलवयोः, भूयिष्ठ बहुल, रघुकुलकौमार रघुवशीयबालकत्व, पश्यामि।

अनुवाद—इन दोनों (बालकों) में रघुवशीय कुमार का धर्म (या लक्षण) बहुत है।

कठोरपारावतकण्ठमेचक वपुर्वृषस्कन्धसुबन्धुरांसयो ।
प्रसन्नसिंहस्तिमित च वीक्षित ध्वनिश्च माङ्गल्यमृदङ्गमांसलः ॥२५॥

अन्वय—वृषस्कन्धसुबन्धुरासयो' वपु' कठोरपारावतकण्ठमेचक, वीक्षित प्रसन्नसिंहस्तिमित, ध्वनिश्च माङ्गल्यमृदङ्गमांसलः ॥ २५ ॥

व्याख्या—वृषस्कन्धसुबन्धुरासयो' वृषस्कन्धौ वृषभस्य असौ तौ इव सुबन्धुरौ अतीवमनोहरौ असौ स्कन्धौ ययो तयो' ('वृषस्कन्धसमन्धुरासकम्' इति पाठभेदे तु वृषस्य स्कन्ध इव स्कन्धौ यस्मिन् तत् उन्नतस्कन्धमित्यर्थ' तथा सबन्धुरौ अनुन्नतावनतौ असौ बाहुमूलद्वय यस्मिन् तत इति व्याख्येयम्। पदद्वयमेतत् वपुषो विशेषणम्), वपु. शरीर, कठोरपारावतकण्ठमेचक कठोरस्य परिपुष्टाङ्गस्य पारावतस्य कपोतस्य कण्ठो गल इव मेचक श्यामवर्णं, वीक्षितम् अवलोकन, प्रसन्नसिंहस्तिमित प्रसन्न निर्मल तथा सिंहवत् स्तिमितञ्च निश्चलञ्च अथवा प्रसन्नः प्रशान्त. यः सिंह. सिंहस्य दृष्टिरित्यर्थ तद्वत् स्तिमित, ध्वनिश्च कण्ठस्वरश्च, माङ्गल्यमृदङ्गमासल' माङ्गल्य' मङ्गलोत्सवयोग्यः य. मृदङ्ग' मुरज. तद्ध्वनिरिति यावत् तद्वत् मासलः स्थूलः गम्भीर इति यावत् (अस्ति) ॥ २५ ॥

अनुवाद—बैल के कंधों के समान अत्यन्त सुंदर कंधों वाले कुश और

लव का शरीर तरुण कबूतर के गले के समान श्यामवर्ण है, दृष्टिपात निर्मल तथा सिंह के समान (अथवा प्रशान्त सिंह के समान) निश्चल है और शब्द मांगलिक मृदंग की ध्वनि के समान गम्भीर है ॥ २५ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में चार उपमा अलङ्कारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलङ्कार हो जाता है। यह वंशस्थविल छंद है ॥ २५ ॥

(*निपुणं निरूप्य*) अये ! न केवलमस्मद्वंशसंवादिन्याकृतिः ।

व्याख्या—निपुणं सम्यक्प्रकारेण यथा स्यात् तथा, निरूप्य विचार्य वा पर्यवेक्ष्य, अये, आकृतिः आकारः कुशलवयोरित्यर्थः, न नहि, केवलं मात्रम्, अस्मद्वंशसंवादिनी अस्मद्वंशं मदीयकुलं संवदति अनुकरोति या तथाविधा (अस्ति, अपितु—)

अनुवाद—(*भली भाँति अवलोकन करके*) अरे ! (इन दोनों की) आकृति न केवल हमारे वंश के अनुरूप है, (प्रत्युत)

> अपि जनकसुतायास्तच्च तच्चानुरूपं
> स्फुटमिह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयमस्ति ।
> ननु पुनरिव तन्मे गोचरीभूतमक्ष्णो-
> रभिनवशतपत्रश्रीमदास्यं प्रियायाः ॥ २६ ॥

अन्वय—इह शिशुयुग्मे नैपुणोन्नेयम् तच्च तच्च जनकसुतायाः अपि अनुरूपं स्फुटम् अस्ति । ननु अभिनवशतपत्रश्रीमत् तत् प्रियायाः आस्यं पुनः मे अक्ष्णोः गोचरीभूतम् इव ॥ २६ ॥

व्याख्या—इह अस्मिन्, शिशुयुग्मे बालकद्वये, नैपुणोन्नेयं नैपुणेन निपुणतया, उन्नेयं निश्चेयं तच्च तच्च अवयवादिकं गुणजातञ्च, जनकसुतायाः अपि जानक्या अपि, अनुरूपं सदृशं, स्फुटं स्पष्टम्, अस्ति विद्यते। ननु इत्यवधारणे, अभिनवशतपत्रश्रीमत् अभिनवम् अनतिविकसितं शतपत्रं पङ्कजं तद्वत् श्रीमत् शोभासम्पन्नं, तत् पूर्वपरिचितं, प्रियायाः सीतायाः, आस्यं वदनं, पुनः भूयः, मे मम, अक्ष्णोः दृशोः, गोचरीभूतमिव विषयीभूतमिव (वर्तते) ॥ २६ ॥

अनुवाद—इन दोनों शिशुओं में निपुणता से जानने योग्य अंग आदि तथा गुण समूह स्पष्ट रूप से जानकी के समान है। निश्चित है कि नवविकसित

कमल के सदृश शोभा-सम्पन्न वह प्रियतमा का मुख फिर मेरी आँखों के सामने आ गया है ॥ २६ ॥

टिप्पणी—शतपत्र = कमल । 'सहस्रपत्र कमल शतपत्र कुशेशयम्' इत्यमर । आस्य = मुख । पुत्र का मातृमुख होना शुभ माना गया है—'धन्या पितृमुखी कन्या धन्यो मातृमुख सुत.' । इस पद्य मे उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलकारों मे अगागिभाव सबध होने से सकर अलकार हो जाता है और स्मरणालकार व्यग्य है । यह मालिनी छद है ॥ २६ ॥

शुक्लाच्छदन्तच्छविसुन्दरीयं सैवोष्ठमुद्रा स च कर्णपाश ।
नेत्रे पुनर्यद्यपि रक्तनीले तथापि सौभाग्यगुण स एव ॥ २७ ॥

अन्वय—शुक्लाच्छदन्तच्छविसुन्दरी इयम् ओष्ठमुद्रा सा एव, स च कर्णपाशः, पुन. नेत्रे यद्यपि रक्तनीले तथापि सौभाग्यगुण स एव ॥ २७ ॥

व्याख्या—शुक्लाच्छदन्तच्छविसुन्दरी शुक्ला. शुभ्रा अच्छाः निर्मला ये दन्ता ('शुक्ला' इत्यस्य स्थाने 'मुक्ता.' इति पाठे तु 'मुक्ताः मौक्तिकानि तद्वत् अच्छाः ये दन्ताः' इति व्याख्येयम्) तेषा छविभिः कान्तिभि सुन्दरी मनोहरा, इयम् एषा, ओष्ठमुद्रा दन्तच्छदयोर्मुद्रण, सा एव सीतासदृशी एव, स च सीतासम्बन्धी, कर्णपाशः प्रशस्त कर्णद्वय, पुन भूय , नेत्रे नयने, यद्यपि, रक्तनीले नीललोहिते, तथापि, सौभाग्यगुण सौन्दर्यलक्ष्मीविलास., स एव सीतासम्बन्धी एव ॥ २७ ॥

अनुवाद—शुक्ल एव निर्मल दाँतों की कान्ति से मनोहर यह ओठों की मुद्रा वही (सीता के सदृश ही) है । वही (सीता के समान ही) दोनों कान प्रशस्त हैं । यद्यपि नेत्र लाल और काले हैं तो भी सौन्दर्य का प्रकर्ष वही (सीता के सदृश ही) है ॥ २७ ॥

टिप्पणी—कर्णपाश = उत्तम कान । 'पाश केशादिपूर्व' स्यात्तत्सङ्घे कर्णपूर्वक । सुकर्णे च स्वसामर्थ्यात् मृगपक्ष्याद्बिन्धने' ॥ इति मेदिनी । इस पद्य मे असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शना अलकार प्रथमचरणस्थ उपमा अलकार से सकीर्ण है और प्रथम चरण में छेकानुप्रास अलकार भी है । फिर समूह मे ससृष्टि अलकार हो जाता है । यह उपजाति छद है ॥ २७ ॥

(*विचिन्त्य*) तदेतत्प्राचेतसाध्युषितमरण्य, यत्र किल देवी परित्यक्ता । इयं चानयोराकृतिर्वयोऽनुभावश्च । यत् स्वतः प्रकाशा-

न्यस्त्राणीति च, तत्रापि स्मरामि खलु तदपि चित्रदर्शनप्रासङ्गिकमस्त्रा न्यनुज्ञानं प्रबुद्धं स्यात् । न ह्यसाम्प्रदायिकान्यस्त्राणि पूर्वेषामपि शुश्रुम । अथ विस्मयसम्प्लवमानमुखदुःखातिशयो हृदयस्य मे विप्रलम्भः । यमाविति च भूयिष्ठमात्मसंवादः । जीवद्वयापत्यचिह्नो हि देव्या गर्भिणीभाव आसीत् । (सास्रम्)

व्याख्या—विचिन्त्य विमृश्य, एतत् पुरोदृश्यमानं, तत्, प्राचेतसाध्युषितं प्राचेतसेन वाल्मीकिना अध्युषितम् अधिष्ठितम्, अरण्यं वनं, यत्र किल यस्मिन्नेव वने, देवी जानकी, परित्यक्ता निर्वासिता । इयं च सति सदृशी च, अनयोः कुशलवयोः आकृतिः आकारः, वयः द्वादशवर्षपरिमितमित्यर्थः, अनुभावश्च प्रभावश्च, यत् यदपि, अस्त्राणि जृम्भकास्त्राणि, स्वतः प्रकाशानि गुरूपदेशं विना ज्ञातानि, इति कुमारेण कथितमिति शेषः, तत्रापि तस्मिन्नपि विषये, स्मरामि चिन्तयामि, खलु निश्चयेन, तदपि, चित्रदर्शनप्रासङ्गिकं (प्रथमाङ्के) चित्रदर्शनप्रसङ्गेनोत्थितम्, अस्त्राभ्यनुज्ञानं 'सर्वथा इदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति' इति मद्वाक्येन जृम्भकास्त्राणां सीतासन्ततिसंक्रमानुज्ञा ('आकृति' इत्यस्य अग्रे 'चित्रदर्शन०' इत्यतः प्राक् 'वपुश्च । यदपि स्वतः　•　णीति, तत्र विमृशामि—अपि खलु तत्' इति पाठभेदे वपुः शरीरं, विमृशामि विवेचयामि इति व्याख्येयम्), प्रबुद्धं प्रकटम् (उद्भूतम् इति पाठभेदः), स्यात् भवेत् । हि यस्मात्, असाम्प्रदायिकानि गुरूपदेशपरम्परामन्तरेणापि लब्धानि, अस्त्राणि जृम्भकास्त्राणि इति पूर्वेषामपि प्राचीनानामपि, न शुश्रुम न श्रुतवन्तः । अथ, विस्मयसम्प्लवमानसुखदुःखातिशयः, विस्मये आश्चर्ये सम्प्लवमानः मज्जन् सुखदुःखातिशयः हर्षशोकाधिक्यं येन सः, मे मम, हृदयस्य चित्तस्य विप्रलम्भः विप्रलम्भशृङ्गारः । यमौ यमलौ, (इमौ) इति च इत्यपि, आत्मसंवादः आत्मनः बुद्धेः संवादः संगतिः, भूयिष्ठं बहुलं यथा स्यात् तथा (अस्ति) । हि यतः, देव्या जानक्या, गर्भिणीभावः गर्भिणीत्वं, जीवद्वयापत्यचिह्नः जीवद्वयं जीवयुगलं यत् अपत्यं सन्ततिः तस्य चिह्नं लक्षणं यस्मिन् सः तथाभूतः, आसीत् अभवत् ('पूर्वेषामपि' इत्यनन्तरम् 'आसीत्' इत्यतः पूर्वम् 'अनुशुश्रुम । अथ च सम्प्लवमानमात्मानं सुखाति　•　यस्य मे विस्मापयते । भूयिष्ठञ्च मया द्विधा प्रतिपन्नो देव्या गर्भभार' इति पाठभेदे तु 'न अनुशुश्रुम न आकर्णितवन्तः । अथ च, सुखातिशयं आनन्दातिरेकं,

सम्प्लवमान निमज्जन्तम्, आत्मान, विस्मयते प्रत्याययति । भूयिष्ठञ्च बहुशश्च, द्विधा प्रतिपन्नः द्वितयत्वेनाभिज्ञात', देव्याः सीतायाः, गर्भभारः इति व्याख्येयम) ।

अनुवाद—(*सोचकर*) वाल्मीकि मुनि का निवास किया हुआ यह वही वन है, जहाँ सीता छोड दी गई थी। इन दोनों की आकृति, अवस्था और प्रभाव भी वही है (अर्थात् आकृति सीता की जैसी है, अवस्था बारह वर्ष का है जितने वर्ष कि सीता-परित्याग के बाद से अभी तक बीते हैं और प्रभाव भी सीता के सदृश है)। यह जो कहा है कि इन्हें जृम्भकास्त्र स्वत. प्रकाशित हुए हैं, इस सम्बन्ध मे भी मुझे स्मरण हो रहा है कि चित्र देखने के समय मेरी दी हुई अस्त्र-प्राप्ति की अनुमति (इनमें) प्रकट हो गई है (अर्थात् चित्रदर्शन के समय मैंने सीता से जो कहा था कि ये जृम्भकास्त्र तुम्हारे पुत्र को प्राप्त होंगे, उसी के अनुसार इनको जृम्भकास्त्र की प्राप्ति हुई है—ऐसी सम्भावना है।) क्योंकि ऐसा हम लोगों ने सुना है कि बिना गुरु परम्परा के ये अस्त्र पुराने लोगों को भी प्राप्त नहीं हुए थे (फिर इन बालकों को कैसे प्राप्त होंगे ?) । यह मेरे हृदय का विप्रलम्भ शृङ्गार हो गया है, जिसमें सुख-दुःख की अतिशयता आश्चर्य में डूब रही है। ये दोनों जुड़वें हैं—इसमें भी काफी बुद्धि का सामञ्जस्य है (अर्थात् यम होने के कारण कुश और लव सीता के पुत्र हैं—यह मानना बुद्धिसगत है) । क्योंकि सीता का गर्भ दो सन्तानों के चिह्न से युक्त था। (*अश्रुपात सहित*)

परां कोटिं स्नेहे परिचयविकासादधिगते
रहो विस्रब्धाया अपि सहजलज्जाजडदृशः ।
मयैवादौ ज्ञातः करतलपरामर्शकलया
द्विधा गर्भग्रन्थिस्तदनु दिवसैः कैरपि तया ॥ २८ ॥

अन्वय—स्नेहे परिचयविकासात् परां कोटिम् अधिगते रहो विस्रब्धाया अपि सहजलज्जाजडदृशः आदौ करतलपरामर्शकलया मया एव द्विधा गर्भग्रन्थि. ज्ञात', तदनु कै' दिवसै तया अपि ॥ २८ ॥

व्याख्या—स्नेहे प्रणये, परिचयविकासात् परिचयस्य सस्तवस्य विकासात् प्रतिभासात्, परा कोटिं चरमसीमाम्, अधिगते प्राप्ते (सति) ('पुरारूढे स्नेहे ·····सादुपचिते' इति पाठभेदे तु 'पुरा पूर्वम्, आरूढे

समुत्पन्ने, उपचिते विवर्धिते' इति व्याख्येयम्), रहः एकान्ते, विस्रब्धाया अपि विश्वस्ताया अपि, सहजलज्जाजडदृशः सहजया स्वाभाविक्या लज्जया त्रपया जडे निश्चेष्टे दर्शनाक्षमे इत्यर्थः, दृशौ चक्षुषी यस्याः तस्याः, (प्रियायाः) आदौ प्रथम, करतलपरामर्शकलया करतलेन पाणितलेन यः परामर्शः संवाहन तस्य या कला कौशल तया, मया एव रामेण एव, द्विधा द्विप्रकार' भागद्वयेन विभक्त इत्यर्थः, गर्भग्रन्थिः भ्रूणबन्ध, ज्ञात. अवगतः, तदनु तत्पश्चात्, कैः कतिपयैः, दिवसै' अहोभिः, तया अपि सीतया अपि (ज्ञातः) ॥ २८ ॥

अनुवाद—प्रेम में परिचय की पराकाष्ठा हो जाने से एकान्त में विश्वस्ततापूर्वक रहने पर भी स्वाभाविक लज्जावश मूँदे हुए नेत्रों वाली प्रिया के गर्भ-कोश-बन्धन को पहले मैंने ही हथेली से स्पर्श करने की कला द्वारा दो भागों में विभक्त समझा था। पश्चात् कुछ दिनों के बाद उन्होंने भी जान लिया था ॥ २८ ॥

टिप्पणी—दिवसै'—इसमे 'अपवर्गे तृतीया' से तृतीया हुई। इस पद्य में 'ज्ञातः' इस एक ही क्रिया के साथ सीता और राम का कर्तृत्वेन सम्बन्ध होने के कारण तुल्ययोगिता अलङ्कार है। यह शिखरिणी छंद है ॥ २८ ॥

(*रुदित्वा*) तत् किमेतौ पृच्छामि केनचिदुपायेन ?

(रो कर) तो क्या किसी उपाय से इन दोनों को पूछूँ ?

लवः—तात ! किमेतत् ?

लव—तात ! यह क्या ?

> बाष्पवर्षेण नीतं वो जगन्मङ्गलमाननम्।
> अवश्यायावसिक्तस्य पुण्डरीकस्य चारुताम् ॥ २९ ॥

अन्वय—जगन्मङ्गलं वः आनन बाष्पवर्षेण अवश्यायावसिक्तस्य पुण्डरीकस्य चारुता नीतम् ॥ २९ ॥

व्याख्या—जगन्मङ्गल भुवनकल्याणसाधन, वः युष्माकम् आनन मुख, बाष्पवर्षेण अश्रुवर्षणेन, अवश्यायावसिक्तस्य अवश्यायैः नीहारैः अवसिक्तस्य आर्द्रीकृतस्य, पुण्डरीकस्य चारुता श्वेतपद्मस्य रमणीयता, नीतं प्रापितम् ॥ २९ ॥

अनुवाद—विश्व का कल्याण करने वाले आपके मुख को आँसुओं की वृष्टि ने पालों से सींचे हुए श्वेत कमल की रमणीयता को प्राप्त करा दिया है ॥ २९ ॥

टिप्पणी—अवश्याय = तुषार, पाला। 'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्' इत्यमरः। इस पद्य में असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूप निदर्शना अलंकार है ॥ २९ ॥

कुश.—अयि वत्स !

कुश—अहो चिरञ्जीव !

विना सीतादेव्या किमिव हि न दुःखं रघुपतेः !
प्रियानाशे कृत्स्नं किल जगदरण्यं हि भवति ।
स च स्नेहस्तावानयमपि वियोगो निरवधि.
किमेवं त्वं पृच्छस्यनधिगतरामायण इव ॥ ३० ॥

अन्वय—सीतादेव्या विना रघुपतेः किमिव हि दुःखं न ? हि प्रियानाशे कृत्स्नं जगत् अरण्यं भवति किल। स च स्नेहः तावान्, अयमपि वियोगो निरवधिः, त्वम् अनधिगतरामायण इव किम् एवं पृच्छसि ? ॥ ३० ॥

व्याख्या—सीतादेव्या देवीस्वरूपया मैथिल्या विना ऋते, रघुपतेः रामचन्द्रस्य, किमिव किं वस्तु, हि निश्चयेन, दुःखं न दुःखजनकं न ? हि यतः प्रियानाशे प्रियायाः पत्न्याः नाशे अभावे, (सति) कृत्स्नं निखिलं, जगत् भुवनं, अरण्यं काननप्रायं, भवति जायते, किल इति लोकवार्तायाम्। स च प्रागनुभूतः, स्नेहः प्रणयः, तावान् तावत्परिमितः प्रचुर इत्यर्थः, अयमपि वर्तमानः, वियोगः विरहः, निरवधिः असीमः, त्वं लवः, अनधिगतरामायण इव अनधिगतम् अपठितं रामायणं येन तादृश इव, किं कथम्, एवं 'तात किमेतत्' इत्यादि, पृच्छसि जिज्ञाससे ? ॥ ३० ॥

अनुवाद—सीता देवी के बिना रघुनाथ के लिए कौन वस्तु दुःख-जनक नहीं है ? क्योंकि भार्या का नाश होने पर सम्पूर्ण जगत् अरण्य प्रतीत होता है। वह (सीता देवी के प्रति रामचन्द्र जी का) स्नेह इतने परिमाण में था और वह (वर्तमान) वियोग अवधिरहित है। फिर तुम रामायण न पढ़े हुए की तरह क्यों इस प्रकार पूछ रहे हो ? ॥ ३० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में द्वितीय चरण के सामान्य अर्थ से प्रथम

चरण के विशेष अर्थ का समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'जगदरण्य भवति' इसमें परिणाम अलंकार है। फिर इन दोनों में अंगागिभाव सम्बन्ध होने से संकर अलंकार उत्पन्न होता है। यह शिखरिणी छंद है॥ ३०॥

रामः—(*स्वगतम्*) अये, तटस्थ आलापः। कृतं प्रश्नेन। मुग्धहृदय! कोऽयमाकस्मिकस्ते सम्प्लवाधिकारः? एवं निर्भिन्नहृदयावेग-शिशुजनेनाप्यनुकम्पितोऽस्मि। भवतु तावदन्तरयामि। (*प्रकाशम्*) वत्सौ! 'रामायणं रामायणमिति श्रूयते भगवतो वाल्मीकेः सरस्वती-निष्यन्दः प्रशस्तिरादित्यवंशस्य'। तत्कौतूहलेन यत्किञ्चिच्छ्रोतुमिच्छामि।

व्याख्या—आलापः कुशलवयोर्मिथो भाषणं, तटस्थः उदासीनः सीता प्रति मातृ सम्बन्धोल्लेखरहितः। प्रश्नेन 'किं युवयोः सीता माता' इत्येवमनुयोगेनेति यावत्, कृतम् अलम्। मुग्धहृदय! मूढचेतः!, ते तव, अयम् एव, आकस्मिकः अकस्मादुत्पन्नः, सम्प्लवाधिकारः दूरगमनाधिकृतिः ('स्नेहपरिप्लवो विकारः' इति पाठभेदे तु 'स्नेहेन वात्सल्येन परिप्लवः चञ्चलः, विकारः विकृतिः' इति व्याख्येयम्), कः?, एवम् इत्थं, निर्भिन्नहृदयावेगः निर्भिन्नः प्रकाशितः हृदयस्य चेतसः आवेगः शोकक्षोभो यस्य स तथोक्तः, शिशुजनेनापि बालकजनेनापि, अनुकम्पितोऽस्मि अनुगृहीतोऽस्मि। भवतु अस्तु, तावत्, अन्तरयामि गोपयामि (हृदयावेगम्)। वत्सौ! कल्याणभाजनद्वय!, रामायणम् एतन्नामकं महाकाव्यं, भगवतः, वाल्मीकेः, सरस्वती-निष्यन्दः सरस्वत्या वाचः निष्यन्दः परिस्रवः क्षरणमित्यर्थः, आदित्यवंशस्य सूर्यवंशस्य, प्रशस्तिः प्रशंसा कीर्तिविस्तारहेतुरित्यर्थः, श्रूयते। तत् तस्मात्, कौतूहलेन कौतुकेन, यत्किञ्चित् अंशविशेषं, श्रोतुम् आकर्णयितुम्, इच्छामि अभिलषामि।

अनुवाद—राम—(*मन में*) अरे! (इन दोनों का पारस्परिक) वार्तालाप उदासीन है (अर्थात् सीता इनकी माता है—इस बात की सूचना इनके सम्भाषण से नहीं मिलती है, अन्यथा कुश 'सीता देवी' की जगह 'जननी' शब्द का उच्चारण करते)। (अतः तुम 'दोनों सीता के पुत्र हो क्या' यह) प्रश्न करना व्यर्थ है। मूढ हृदय! यह सहसा दूर चले जाने का तेरा क्या अधिकार है? (अर्थात् दुर्लभ मनोरथ के लिए आयास करना

तेरा अनधिकारचेष्टा है)। इस प्रकार मन का शोकजनित क्षोभ प्रकट हो जाने से (अर्थात् रोदन करने से) मैं बालक से भी अनुगृहीत हो गया हूँ। अस्तु, हृदय के आवेग पर आवरण डाल देता हूँ। (प्रकट) वत्सयुगल ! 'रामायण रामायण, यह भगवान वाल्मीकि की वाणी का प्रवाह और सूर्यवंश की प्रशस्ति (प्रशंसासूचक ग्रन्थविशेष) है' ऐसा सुना जाता है। इसलिए मैं कुतूहलवश उसका कुछ अंश सुनाना चाहता हूँ।

कुशः—कृत्स्न एव सन्दर्भोऽस्माभिरावृत्तः, स्मृतिप्रत्युपस्थितौ तावदिमौ बालचरितस्यासाते द्वौ श्लोकौ।

व्याख्या—अस्माभि., कृत्स्न एव समग्र एव, सन्दर्भ ग्रन्थ आवृत्तः अभ्यस्तः, बालचरितस्य शैशववृत्तस्य, इमौ वक्ष्यमाणौ, द्वौ श्लोकौ द्वे पद्ये, तावत् इति अवधारणे, स्मृतिप्रत्युपस्थितौ स्मृतिपथमारूढौ, आसाते स्तः।

अनुवाद—कुश—हम लोगों ने समस्त ग्रन्थ का अभ्यास किया है, किन्तु बालचरित के ये दो श्लोक स्मृति-पथ पर उपस्थित हैं।

रामः—उदीरयतं वत्सौ !

राम—वत्सद्वय ! बोलो।

कुशः—

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति।
गुणै रूपगुणैश्चापि प्रीतिर्भूयोऽप्यवर्धत ॥ ३१ ॥

अन्वय—पितृकृता. दाराः इति सीता रामस्य प्रिया तु गुणै. रूपगुणैश्चापि प्रीतिः भूयोऽपि अवर्धत ॥ ३१ ॥

व्याख्या—पितृकृता. पित्रा जनकेन कृता. मन्त्रोच्चारणपूर्वक दत्ता, दारा. भार्या, इति अनेन हेतुना, सीता जानकी, रामस्य रामचन्द्रस्य, प्रिया दयिता. तु पुनः, गुणैः दयादाक्षिण्यादिभि, रूपगुणैश्चापि सौन्दर्यरूपगुणैश्चापि, प्रीतिः प्रेम, भूयोऽपि पुनरपि, अवर्धत वृद्धिमगच्छत्। कुत्रचित् पुस्तकेषु अस्य श्लोकस्य इत्थं पाठः—

प्रकृत्यैव प्रिया सीता रामस्यासीन्महात्मनः।
प्रियभावः स तु तया स्वगुणैरेव वर्द्धितः ॥ ३१ ॥

अन्वय—सीता प्रकृत्या एव महात्मनः रामस्य प्रिया आसीत्। स तु प्रियभावः तया स्वगुणैः एव वर्द्धितः ॥ ३१ ॥

व्याख्या—सीता जानकी, प्रकृत्या एव स्वभावेन एव, महात्मनः महोदारस्वभावस्य, रामस्य रघुनाथस्य, प्रिया वल्लभा, आसीत् अभवत्। स तु स्वभावतो जातः, प्रियभावः प्रियत्वं, तया सीतया, स्वगुणैः एव स्वस्याः आत्मनः गुणाः सरलताविनयादयः तैः एव, वर्द्धितः वृद्धिं नीतः ॥ ३१ ॥

अनुवाद—[पहले श्लोक का अर्थ] कुश—पिता (महाराज जनक) द्वारा पत्नी के रूप में दी हुई सीता राम को प्रिय थीं। फिर सरलता, विनय आदि प्राकृतिक गुणों से तथा छवि, छटा, आदि आकृतिक गुणों से सीता के प्रति राम का प्रेम और भी बढ़ा हुआ था। [दूसरे श्लोक का अर्थ] सीता देवी स्वभाव से ही महात्मा राम की प्रिय थीं, किन्तु उस प्रियभाव (प्रियत्व) को सीता देवी ने अपने गुणों से ही बढ़ाया था ॥ ३१ ॥

तथैव रामः सीतायाः प्राणेभ्योऽपि प्रियोऽभवत्।
हृदयं त्वेव जानाति प्रीतियोगं परस्परम् ॥ ३२ ॥

अन्वय—तथैव रामः सीतायाः प्राणेभ्योऽपि प्रियः अभवत्। तु हृदयम् एव परस्परं प्रीतियोगं जानाति ॥ ३२ ॥

व्याख्या—तथैव तेनैव प्रकारेण, रामः रामचन्द्रः, सीतायाः जानक्याः, प्राणेभ्योऽपि असुभ्योऽपि, प्रियः प्रेयान्, अभवत् आसीत्। तु किन्तु, हृदयम् एव मन एव, परस्परम् अन्योन्यं, प्रीतियोगं प्रेमसम्बन्धं, जानाति वेत्ति ॥ ३२ ॥

अनुवाद—उसी प्रकार राम सीता के प्राणों से प्यारे थे। किन्तु (उन दोनों का) हृदय ही पारस्परिक प्रेम-सम्बन्ध को जानता है ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में आर्थी परिसंख्या अलंकार है। आधुनिक वाल्मीकि रामायण में इस श्लोक के बदले भी ऐसा पाठ मिलता है—'तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते। अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ॥'

रामः—कष्टमतिदारुणो हृदयमर्मोद्घातः। हा देवि! एवं किलैतदासीत्। अहो निरन्वयविपर्यासविप्रलम्भस्मृतिपर्यन्तमायिनस्तावकाः संसारवृत्तान्ताः।

व्याख्या—कष्टम् अतीव क्लेशकरणार्थः, हृदयमर्मोद्घातः हृदयमर्मणि वक्षसोऽन्तर्वर्तिनि सन्धिबन्धे उद्घातः प्रहारः, अतिदारुणः अति-

भयङ्करः । हा देवि देवीस्वरूपे ! एतत् इदं वर्णनम्, किल इत्थमेव, आसीत् अवर्तत । अहो इति खेदातिशये, तावकाः त्वदीयाः, संसारवृत्तान्ताः जगदुदन्ताः, निरन्वयविपर्यासविप्रलम्भस्मृतिपर्यवसायिन नि. नास्ति अन्वय सम्बन्ध. हेतुर्वा यस्मिन् तथाभूत यः विपर्यास विपरिणाम अवस्थापरिवर्तनमित्यर्थः. तेन ये विप्रलम्भस्मृती वियोगस्मरणे तत्पर्यवसायिनः तयो परिणता इत्यर्थः ।

अनुवाद—राम—ओह ! हृदय के मर्मस्थल पर अत्यंत दारुण प्रहार हुआ है । हा देवि ! वह इसी प्रकार का था (अर्थात् यह वर्णन हमारी प्राचीन स्थिति के अनुरूप ही हुआ है ।) हाय ! तुम्हारी सांसारिक घटनायें अकारण अवस्था-परिवर्तन से उत्पन्न वियोग और स्मरण में परिणत हो गई हैं ।

क तावानानन्दो निरतिशयविस्रम्भबहुलः ?
क वाऽन्योन्यप्रेम ? क च नु गहना· कौतुकरसा. !
सुखे वा दुःखे वा क नु खलु तदैक्यं हृदययो-
स्तथाप्येष प्राण स्फुरति, न तु पापो विरमति ॥ ३३ ॥

अन्वय—निरतिशयविस्रम्भबहुल. तावान् आनन्दः क ? वा अन्योन्यप्रेम क ? गहना· कौतुकरसाश्च क नु ? सुखे वा दुःखे वा हृदययो तत् ऐक्य क नु खलु ? तथापि एष· पाप प्राण· स्फुरति, न तु विरमति ॥ ३३ ॥

व्याख्या—निरतिशय अत्यधिक य· विस्रम्भ· विश्वास· तेन बहुल परिपुष्टः, तावान् तत्परिमित., आनन्द प्रमोद, क कुत्र (गत) ? वा अथवा अन्योन्यप्रेम पारस्परिक स्नेह., क कुत्र (गत.) ? ('क तेऽन्योन्य यत्ना' इति पाठभेदे तु 'अन्योन्य परस्परम् (आश्रिता.), ते पूर्वानुभूता.. यत्ना. सन्तोषहितसाधका· चेष्टा·, क इति व्याख्येयम्), गहना. निबिडा·, कौतुकरसाश्च कौतुकेषु कुतूहलोत्पादकेषु विषयेषु रसा रागाः, क नु कुत्र (गता) नु ?. सुखे वा आनन्दे वा, दु.खे वा क्लेशे वा, हृदययो· चित्तयो आवयोरिति शेष., तत् पूर्वानुभूतम्, ऐक्यम् एकता, क नु खलु कुत्र प्रस्थितमिति शेष. ? तथापि एतेषु सर्वेषु नष्टेष्वपीत्यर्थः, एष मदीय., पाप. अपकृष्ट, प्राण हृन्मारुत· प्राणवायुरिति यावत्, स्फुरति स्पन्दते, तु किन्तु, न विरमति न निवर्तते न नश्यतीत्यर्थ· ॥ ३३ ॥

अनुवाद—अत्यधिक विश्वास के कारण प्रगाढ़ एवम् अपरिमेय आनन्द कहाँ (गया) ? अथवा पारस्परिक प्रेम कहाँ (गया) ? कुतूहल-जनक वस्तुओं के प्रति निविड़ अनुराग कहाँ (गया) ? सुख में या दुःख में (हम दोनों के) हृदयों की वह अभिन्नता कहाँ (गई) ? तो भी (इन सबके गत हो जाने पर भी) यह (मेरी) पापी प्राणवायु चल रही है, किन्तु विरत नहीं होती है ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—प्राणः=हृदयस्थ वायुविशेष । 'प्राणो हृन्मारुते बोले काव्यजीवेऽनिले बले' इति मेदिनी । प्राण शब्द का बहुवचन में प्रयोग तब किया जाता है जब उससे पाँचों प्राण विवक्षित होते हैं । यहाँ तो एक ही हृदय-वायु विवक्षित है । अतः एकवचनान्त प्रयोग हुआ है । विरमति—इसमें 'व्याङ्परिभ्यो रमः' से परस्मैपद होता है । इस पद्य में विशेषोक्ति अलंकार है । यह शिखरिणी छंद है ॥ ३३ ॥

भो ! कष्टम् ।

हाय ! कष्ट है ।

प्रियागुणसहस्राणां क्रमोन्मीलनतत्परः ।
य एव दुःसहः कालस्तमेव स्मारिता वयम् ॥३४॥

अन्वय—प्रियागुणसहस्राणां क्रमोन्मीलनतत्परो य एव कालः दुःसहः तम् एव वयं स्मारिताः ॥ ३४ ॥

व्याख्या—प्रियागुणसहस्राणां प्रियायाः सीतायाः गुणसहस्राणां लावण्यपातिव्रत्यादीनां, क्रमोन्मीलनतत्परः क्रमेण क्रमशः उन्मीलनतत्परः प्रकाशननिरतः ('एकोन्मीलनपेशलः' इति पाठभेदे तु 'एकेन असाधारणेन उन्मीलनेन प्रकाशनेन पेशलः रमणीयः' इति व्याख्येयम्), य एव यो हि, कालः समयः, दुःसहः दुःखेन सोढुं शक्यः ('दुःस्मरः' इति पाठभेदे तु 'दुःखेन स्मर्तुं शक्यः' इति व्याख्येयम्), तम् एव तादृशं कालम् एव, वयं, स्मारिताः स्मरणं प्रापिताः बालकेनेति शेषः ॥३४॥

अनुवाद—प्रियतमा के सहस्रों गुणों को क्रमपूर्वक प्रकाशित करने में तत्पर रहने वाला जो ही समय दुःसह है उसी (समय) का स्मरण मुझे करा दिया ॥ ३४ ॥

तदा किञ्चित् किञ्चित् कृतपदमहोभिः कतिपयै-
स्तदीषद्विस्तारि स्तनमुकुलमासीन्मृगदृशः ।
वयःस्नेहाकूतव्यतिकरघनो यत्र मदनः
प्रगल्भव्यापारः स्फुरति हृदि मुग्धश्च वपुषि ॥ ३५ ॥

अन्वय—तदा किञ्चित् किञ्चित् कृतपदं मृगदृशः तत् स्तनमुकुलं कतिपयैः अहोभिः ईषद्विस्तारि (अभवत्), यत्र वयःस्नेहाकूतव्यतिकरघनः मदनः हृदि प्रगल्भव्यापारः वपुषि च मुग्धः स्फुरति ॥ ३५ ॥

व्याख्या—तदा तस्मिन् काले, किञ्चित् किञ्चित् ईषत् ईषत्, कृतपदं लब्धस्थानं, मृगदृशः हरिणाक्ष्याः, तत् पूर्वानुभूतं स्तनमुकुलं कुचकुड्मलं, कतिपयैः कैश्चित्, अहोभिः वासरैः, ईषद्विस्तारि स्तोकविकासि (अभवत्), यत्र यस्यामवस्थायां, वयःस्नेहाकूतव्यतिकरघनः वयसः यौवनस्य स्नेहस्य प्रणयस्य आकूतस्य अभिप्रायस्य व्यतिकरेण सम्पर्केण घनः निबिडः दुर्दम इत्यर्थः मदनः मन्मथः, हृदि मनसि, प्रगल्भव्यापारः प्रगल्भः प्रौढः व्यापारः क्रिया यस्य तथाभूतः (सन्), वपुषि च शरीरे च, मुग्धः रमणीयदर्शनः अथवा (लज्जया) नातिप्रौढः (सन्) स्फुरति प्रकाशते ॥ ३५ ॥

अनुवाद—जिस समय अवस्था, प्रेम और विशेष अभिप्राय के मेल से प्रगाढ़ या दुर्दान्त कामदेव (लोगों के) हृदय में प्रौढ़ क्रियाशील और शरीर में कोमल क्रियाशील होकर अवस्थान करता है, उस समय थोड़ा स्थान लेने (अर्थात् थाला बाँधने या उठने) वाले मृगनयनी सीता के कली के सदृश-कुच कुछ दिनों में किञ्चित् विस्तृत हो गये थे ॥ ३५ ॥

टिप्पणी—आकूत = अभिप्राय । 'आकूतं स्यादभिप्रायः' इति हेमचन्द्रः । इस पद्य में एक कामदेव के हृदय और शरीर रूप स्थानद्वय में रहने के कारण पर्याय अलङ्कार है और प्रगल्भत्व तथा मुग्धत्व रूप विरुद्ध धर्मों का एक शरीर में अविरुद्धभाव से समावेश होने के कारण विरोधाभास अलङ्कार भी है ॥ ३५ ॥

लव —अयं तु चित्रकूटवर्त्मनि मन्दाकिनीविहारे सीतादेवी-मुद्दिश्य रघुपतेः श्लोकः :—

लव—चित्रकूट के मार्ग में मन्दाकिनी गंगा में विहार करते समय सीता देवी को लक्ष्य करके रघुनाथ ने यह श्लोक कहा था—

त्वदर्थमिव विन्यस्त शिलापट्टोऽयमायत ।
यस्यायमभित पुष्पै प्रवृष्ट इव केसर ॥ ३६ ॥

अन्वय—अयम् आयत शिलापट्ट त्वदर्थ विन्यस्त इव, यस्य अभित अय केसर पुष्पै प्रवृष्ट इव ॥ ३६ ॥

व्याख्या—अय पुरो दृश्यमान, आयत दीर्घ, शिलापट्ट प्रस्तर खण्ड, त्वदर्थं त्वन्निमित्त, विन्यस्त इव स्थापित इव, यस्य शिलापट्टस्य, अभित समन्तत, अय पुरोवर्ती, केसर बकुलवृक्ष, पुष्पै कुसुमै, प्रवृष्ट इव वर्षण कर्मनिरत इव ॥ ३६ ॥

अनुवाद—यह लम्बा शिलाखण्ड मानो तुम्हारे लिए स्थापित किया गया है, जिसकी चारों ओर यह मौलसिरी का वृक्ष मानो पुष्पों की वर्षा कर रहा है ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—यस्य—यहाँ 'अभित' के योग में द्वितीया होनी चाहिए थी, किन्तु आर्षत्वात् सम्बन्धविवक्षा में षष्ठी हुई। प्रवृष्ट—यहाँ 'आदि कर्मणि क्त कर्तरि च' इससे कर्ता में क्त प्रत्यय हुआ। यह श्लोक रामायण में नहीं मिलता है। इसमें दो उत्प्रेक्षा अलङ्कार हैं ॥ ३६ ॥

राम—(*सलज्जास्मितस्नेहकरुणम्*) अति हि नाम मुग्ध शिशुजन विशेषतस्तु अरण्यचर। हा देवि ! स्मरसि वा तस्य तत्समय निस्रम्भातिप्रसङ्गस्य।

व्याख्या—सलज्जास्मितस्नेहकरुणम् लज्जा व्रीडा (लक्ष्मणेन सम्भोग शृङ्गारस्य प्रकाशनात्) स्मितम् ईषत् हास्य (लक्ष्मणस्य मुग्धतादर्शनात्) स्नेह वात्सल्य (पुत्रस्नेहात्) करुण शोक (सीताया स्मरणात्) तै सहित यथा स्यात् तथा, शिशुजन बालकजन, अति हि नाम अत्यर्थं हि, मुग्ध मूढ, तु पुन, विशेषत विशेषात्, अरण्यचर वनवासी। तत्समयनिस्रम्भातिप्रसङ्गस्य तत्समय वनविहारकाल यो निस्रम्भ विश्वास तेन य अतिप्रसङ्ग समुपभोग तस्य।

अनुवाद—राम—(*लज्जा, मन्द मुस्कान, स्नेह और करुणा के साथ*) लड़के लोग बहुत ही मूढ या सरल स्वभाव के होते हैं, विशेष कर जंगल के रहने वाले। हाय देवी ! उस प्रदेश की या उस समय विश्वास के

साथ (अर्थात् किसी प्रकार की विघ्न-बाधाओं की आशंका से रहित होकर) किये गये विहार की याद आती है तुम्हें ?

टिप्पणी—तस्य····· प्रसङ्गस्य—यहाँ 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इस सूत्र से कर्म में षष्ठी हुई है।

श्रमाम्बुशिशिरीभवत् प्रसृतमन्दमन्दाकिनी-
मरुत्तरलितालकाकुलललाटचन्द्रद्युति।
अकुङ्कुमकलङ्कितोज्ज्वलकपोलमुत्प्रेक्ष्यते
निराभरणसुन्दरश्रवणपाशमुग्धं मुखम् ॥ ३७ ॥

अन्वय—श्रमाम्बुशिशिरीभवत् प्रसृतमन्दमन्दाकिनीमरुत्तरलितालकाकुल-ललाटचन्द्रद्युति अकुङ्कुमकलङ्कितोज्ज्वलकपोलं निराभरणसुन्दरश्रवणपाशमुग्धं मुखम् उत्प्रेक्ष्यते ॥ ३७ ॥

व्याख्या—श्रमाम्बुशिशिरीभवत् श्रमाम्बुभिः श्रमजनितैः जलैः शिशिरीभवत् शीतलतां लभमानं, प्रसृतमन्दमन्दाकिनीमरुत्तरलितालकाकुलललाट-चन्द्रद्युति प्रसृताः उच्चलिताः मन्दाः मन्थराः ये मन्दाकिन्याः मरुतः मन्दाकिनीनद्याः वायवः तैः तरलिताः चाञ्चल्यं प्रापिताः अलकाः चूर्णकुन्तलाः तैः आकुला व्याप्ता ललाटचन्द्रद्युतिः ललाटचन्द्रस्य भालरूपेन्दोः द्युतिः कान्तिः यस्मिन् तत्, अकुङ्कुमकलङ्कितोज्ज्वलकपोलं अकुङ्कुमकलङ्कितौ कुङ्कुम-रागरहितौ (अपि) उज्ज्वलौ दीप्यमानौ कपोलौ गण्डदेशौ यस्मिन् तत्, निराभरणसुन्दरश्रवणपाशमुग्धं निः न विद्यन्ते आभरणानि अलङ्काराः ययोः तौ निराभरणौ (अपि) सुन्दरौ यौ श्रवणपाशौ प्रशस्तकर्णयुगलं ताभ्यां मुग्धं सुन्दरम् (एतादृशं त्वदीयं) मुखं वदनम्, उत्प्रेक्ष्यते समीपगतमिव दृश्यते ॥ ३७ ॥

अनुवाद—श्रमजनित जल (पसीने) से ठंडा होने वाला, धीरे-धीरे बहने वाले मन्दाकिनी के (जल से स्पृष्ट) पवन द्वारा कम्पित केश-कलापों से व्याप्त ललाटरूप चन्द्रमा की कान्ति वाला, कुङ्कुम का लेप न लगने पर भी रक्ताभ कपोलों वाला और बिना आभूषण के भी मनोहर कर्णयुगल द्वारा सुन्दर दीखने वाला तुम्हारा मुख मानो सामने देख रहा हूँ ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—कलङ्कित = चिह्नित। 'कलङ्कोऽङ्कापवादयोः' इत्यमरः। मुग्ध = सुन्दर। 'मुग्ध सुन्दरमूढयो' इति विश्व। इस श्लोक में प्रतीयमान क्रियोत्प्रेक्षा, रूपक तथा विभावना अलङ्कार हैं। इनमें अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से सङ्कर अलङ्कार सिद्ध होता है। यह पृथ्वी छन्द है॥ ३७॥

(*स्तम्भित इव स्थित्वा सकरुणम्*) अहो नु खलु भो!

(*स्तब्ध (जड) की भाँति स्थित होकर खेद के साथ) हाय हाय!*

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासे चाश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रे ह्युपरते
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव॥ ३८॥

अन्वय—प्रवासे च चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निर्माय पुरतः निहित इव प्रियजनः आश्वासं न करोति (इति) न खलु। कलत्रे उपरते जगत् जीर्णारण्यं भवति हि, तदनु कुकूलानां राशौ हृदयं पच्यत इव॥ ३८॥

व्याख्या—प्रवासे च दूरदेशावस्थाने च, चिरं दीर्घकालं, ध्यात्वा ध्यात्वा वारं वारं चिन्तयित्वा, निर्माय कल्पनया विरचय्य, पुरतः अग्रतः, निहित इव स्थापित इव, प्रियजनः प्रणयीजनः, आश्वासं परिसान्त्वनं, न करोति न विदधाति, इति न एतत् न (अपि तु परिसान्त्वनं करोत्येव) खलु निश्चयेन। कलत्रे भार्यायाम्, उपरते मृते ('विकल्पव्युपरमे' इति पाठभेदे तु 'विकल्पस्य विशेषेण सङ्कल्पस्य व्युपरमे अवसाने' इति व्याख्येयम्) जगत् संसारः, जीर्णारण्यं वृक्षादिरहितपुरातनवनसदृशं, भवति हि जायते ननु, तदनु तत्पश्चात्, कुकूलानां राशौ तुषानलानां निवहे, हृदयं चेतः, पच्यत इव दह्यत इव॥ ३८॥

अनुवाद—दूर देश में अवस्थित होने पर लम्बे समय तक बार बार चिन्तन करके कल्पना से रचकर सामने स्थापित किये गये की तरह प्रेमी व्यक्ति क्या सान्त्वना नहीं देता है? (अपितु अवश्य देता है। अर्थात् जैसे मनुष्य अपने प्रवासी प्रियजन को कल्पना द्वारा सामने उपस्थित करके उससे सान्त्वना प्राप्त करता है उसी तरह मैं भी सीता के अभाव में कल्पना से उसका रूप निर्माण करके आश्वस्त हुआ हूँ।) किन्तु पत्नी का देहान्त हो जाने पर

संसार जीर्ण शीर्ण अरण्य की भाँति हो जाता है और उसके बाद हृदय मानो तुषाग्नि के ढेर में जलने लगता है ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—कुकूल = भूसी की आग । 'कुकूलं शङ्कुभिः कीर्णे श्वभ्रे ना तु तुषानले' इत्यमरः । पच्यते—स्वयं दग्ध हो जाता है । यहाँ कर्मकर्ता में लकार हुआ है । इस श्लोक में दो उत्प्रेक्षा अलंकार हैं और 'जगज्जीर्णारण्यम्' इसमें व्यस्तरूपक भी है । फिर तीनों अलंकारों की स्थिति परस्पर निरपेक्ष होने से संसृष्टि अलंकार उत्पन्न होता है । यह शिखरिणी छन्द है ॥ ३८ ॥

(नेपथ्ये)

(नेपथ्य में)

वसिष्ठो वाल्मीकिर्दशरथमहिष्योऽथ जनकः
सहैवारुन्धत्या शिशुकलहमाकर्ण्य सभयाः ।
जराग्रस्तैर्गात्रैरथ खलु सुदूराश्रमतया
चिरेणागच्छन्ति त्वरितमनसो विश्लथजटाः ॥ ३९ ॥

अन्वय—शिशुकलहम् आकर्ण्य वसिष्ठः वाल्मीकिः दशरथमहिष्यः अथ जनकः अरुन्धत्या सह एव सभयाः (सन्तः) त्वरितमनसः विश्लथजटाः (सन्तः) अथ सुदूराश्रमतया जराग्रस्तैः गात्रैः चिरेण आगच्छन्ति खलु ॥ ३९ ॥

व्याख्या—शिशुकलहं शिश्वोः लवचन्द्रकेत्वोः कलहं संग्रामम्, आकर्ण्य श्रुत्वा, वसिष्ठः एतदाख्यः रघुकुलगुरुः, वाल्मीकिः आदिकविः, दशरथमहिष्यः दशरथस्य पत्न्यः, अथ अनन्तरं, जनकः विदेहराजः, अरुन्धत्या वसिष्ठपत्न्या, सह एव साकम् एव, सभयाः भीतियुक्ताः (सन्तः), त्वरितमनसः त्वरितानि शीघ्रतायुक्तानि मनांसि चेतांसि येषां ते तथोक्ताः, विश्लथजटाः विश्लथाः शिथिलाः जटाः सटाः येषां ते तादृशाः ('श्रमजडाः' इति पाठभेदे तु 'श्रमेण दूरमार्गगमनखेदेन जडाः गमनासमर्थप्रायाः' इति व्याख्येयम्) (सन्तः), अथ अनन्तरं, सुदूराश्रमतया सुदूरः अतिदूरवर्ती आश्रमः तपःस्थानं येषां तेषां भावः तत्ता तया तेषामाश्रमस्य अतिदूरवर्तित्वादिति भावः, जराग्रस्तैः जरया वार्धक्येन ग्रस्तैः आक्रान्तैः जराजीर्णैरित्यर्थः, गात्रैः शरीरैः, चिरेण दीर्घकालेन विलम्बेनेत्यर्थः, आगच्छन्ति खलु आयान्ति खलु ॥ ३९ ॥

अनुवाद—बालकों का झगड़ा सुनकर अरुन्धती के साथ ही वसिष्ठ, वाल्मीकि, दशरथ की रानियाँ और जनक भय, मानसिक शीघ्रता तथा शिथिल जटाओं से युक्त होकर आश्रम दूर होने के कारण जराजीर्ण शरीरों से विलम्ब करके आ रहे हैं ॥ ३६ ॥

टिप्पणी—गात्रैः = शरीरों से । 'गात्र वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । इसमें 'इत्थं भूतलक्षणे' से तृतीया हुई । इस श्लोक में विलम्ब से आने के प्रति जराग्रस्त गात्र हेतु है । अतः पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार है । यह शिखरिणी छन्द है ॥ ३६ ॥

राम—कथं भगवन्तावरुन्धतीवसिष्ठौ, अम्बा जनकश्चात्रैव । कथं खलु ते द्रष्टव्याः ? (*सकरुणं विलोक्य*) तातजनकोऽप्यत्रैवायात इतिवज्रेणेव ताडितोऽस्मि मन्दभाग्यः ।

राम—कैसे भगवती अरुन्धती, भगवान् वसिष्ठ, मातायें और विदेहराज भी यहीं उपस्थित हैं ! कैसे मैं इनसे मिलूँ ! (*करुण भाव से देखकर*) तात जनक जी भी यहीं आये हुए हैं—इससे मानो मुझ अभागे के ऊपर वज्र-प्रहार हो गया है ।

सम्बन्धस्पृहणीयताप्रमुदितैर्जुष्टे वसिष्ठादिभि-
र्दृष्ट्वापत्यविवाहमङ्गलविधौ तत्तातयोः सङ्गमम् ।
पश्यन्नीदृशमीदृशः पितृसखं वृत्ते महावैशसे
दीर्ये किं न सहस्रधाऽहमथवा रामेण किं दुष्करम् ॥ ४० ॥

अन्वय—सम्बन्धस्पृहणीयताप्रमुदितैः वसिष्ठादिभिः जुष्टे अपत्यविवाहमङ्गलविधौ तत्तातयोः सङ्गमं दृष्ट्वा महावैशसे वृत्ते ईदृशं पितृसखं पश्यन् ईदृशः अहं किं सहस्रधा न दीर्ये ? अथवा रामेण किं दुष्करम् ? ॥ ४० ॥

व्याख्या—सम्बन्धस्पृहणीयताप्रमुदितैः सम्बन्धस्य वैवाहिकसम्पर्कस्य स्पृहणीयतया वाञ्छनीयतया प्रमुदितैः प्रहर्षयुक्तैः, वसिष्ठादिभिः वसिष्ठप्रभृतिभिः मुनिभिः, जुष्टे सेविते, अपत्यविवाहमङ्गलविधौ अपत्यानां पुत्रकन्यानां विवाहमङ्गलविधौ परिणयकल्याणकर्मणि ('विधौ' इत्यस्य स्थाने 'महे' इति पाठभेदस्य 'उत्सवे' इति व्याख्या कार्या), तत्तातयोः तेषाम् अपत्यानां तातयोः पित्रोः, सङ्गमं सम्मेलनं, दृष्ट्वा अवलोक्य, महावैशसे निर्वासनेन सीतायाः

हत्यारूपे नृशंसकर्मणि, वृत्ते जाते, ईदृश महाशोकाभिभूत, पितृसखं पितुः मित्रं जनकमित्यर्थः, पश्यन् अवलोकयन्, ईदृशं महाविशसनिमित्तभूतं, अहं रामः, किं कथं, सहस्रधा सहस्रखण्डप्रकारेण, न दीर्ये ? न विपाटितो भवामि ? अथवा आहोस्वित्, रामेण मया, किं दुष्करं किं दुःसाध्यम् (अस्ति) ?

अनुवाद—विवाह-सम्बन्ध की स्पृहा से प्रमुदित होते हुए वसिष्ठ आदि मुनियों द्वारा निर्देशित सम्मानों के विवाह की मांगलिक विधि में तातों (जनक और दशरथ) का वह (महानन्द) मिलन देखकर (अब सीता की हत्या रूप) महानृशंस कार्य हो जाने पर पिता के सखा (जनक) को ऐसी (महाशोकाकुल) अवस्था में देखता हुआ मैं क्यों नहीं सहस्रधा विदीर्ण हो जाता हूँ ? अथवा राम के लिए क्या दुष्कर है ? (अर्थात् सीताविवासनपटु राम सब कुछ सहन कर सकता है) ॥ ४० ॥

टिप्पणी—*दीर्ये*—यह कर्मकर्ता का प्रयोग है। इस पद्य में सकल कार्य करने की योग्यता रूप हेतु से दारुण शोक सहन रूप कार्य का समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास अलंकार है, जो अर्थापत्ति अलंकार से संकीर्ण है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ ४० ॥

(*नेपथ्ये*)

(*नेपथ्य में*)

भो भोः ! कष्टम् ।

हाय हाय ! कष्ट है !

अनुभावमात्रसमवस्थितश्रियं सहसैव वीक्ष्य रघुनाथमीदृशम् ।

प्रथमप्रबुद्धजनकप्रबोधिता विधुराः प्रमोहमुपयान्ति मातरः ॥ ४१ ॥

अन्वय—अनुभावमात्रसमवस्थितश्रियम् ईदृशं रघुनाथं सहसा एव वीक्ष्य प्रथमप्रबुद्धजनकप्रबोधिताः मातरः विधुराः प्रमोहम् उपयान्ति ॥ ४१ ॥

व्याख्या—अनुभावमात्रसमवस्थितश्रियम् अनुभावमात्रेण केवलेन प्रभावेण समवस्थिता समुपस्थिता श्रीः शोभा यस्य तम्, ईदृशम् एतादृशं, रघुनाथं रामचन्द्रं, सहसा एव अकस्मात् एव, वीक्ष्य दृष्ट्वा, प्रथमप्रबुद्धजनकप्रबोधिताः प्रथमं पूर्वं प्रबुद्धः प्राप्तबोधः यो जनकः विदेहराजः तेन प्रबोधिताः चेतनीकृताः ('प्रथमप्रमूढजनकप्रबोधनात्' इति पाठभेदे तु 'प्रथमं पूर्वं प्रमूढस्य विलुप्तचैतन्यस्य जनकस्य विदेहराजस्य प्रबोधनात् चैतन्यलाभात् अनन्तरमिति शेषः'

इति व्याख्येयम्), मातरः जनन्यः, विधुराः कातर्यमापन्नाः (सत्यः) प्रमोह मूर्च्छाम्, उपयान्ति गच्छन्ति ॥ ४१ ॥

अनुवाद—जो केवल तेजोमात्र से शोभासम्पन्न हैं (अर्थात् जिनके शरीर में सौन्दर्य द्योतक केवल नैसर्गिक तेज बच गया है) ऐसे रामचन्द्र को अकस्मात् देखकर पहले चेतना प्राप्त किये हुए जनक द्वारा होश में लायी गई मातायें शोक विह्वल होकर (बार-बार) मूर्छित हो रही हैं (भाव यह है कि सीता के वियोग से अत्यन्त क्षीणकाय राम को केवल शारीरिक तेज के कारण ही जनक आदि ने पहचाना। पहचानने के बाद सभी मूर्च्छित हो गये, जिनमें पहले होश में आये हुए जनक ने राम की माताओं को होश कराया। किन्तु शोक के आवेग से मातायें पुनः मूर्च्छित हो गई) ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में पर्यायोक्त अलंकार है। यह मंजुभाषिणी छन्द है ॥ ४१ ॥

रामः—

> जनकानां रघूणाञ्च यत्कृत्स्नं गोत्रमङ्गलम्।
> तत्राप्यकरुणे पापे वृथा वः करुणा मयि ॥ ४२ ॥

अन्वय—जनकाना रघूणाञ्च यत् कृत्स्न गोत्रमङ्गल, तत्र अपि अकरुणे पापे मयि वः करुणा वृथा ॥ ४२ ॥

व्याख्या—जनकाना जनकवंशीयाना, रघूणाञ्च रघुवंशीयानाञ्च, यत् जानकीरूपं वस्तु, कृत्स्न समग्र, गोत्रमङ्गल गोत्रयोः वंशयोः मङ्गल शुभ, तत्र अपि गोत्रमंगले जानकीरूपे वस्तुनि अपि, अकरुणे करुणारहिते, पापे पापकारिणि, मयि रामे, व. युष्माकं, करुणा कृपा, वृथा निष्फला ॥ ४२ ॥

अनुवाद—राम—जो सीता जनकवंशी तथा रघुवंशी राजाओं के मंगल-स्वरूप थीं, उनके प्रति भी निर्दय तथा पापाचारी मुझ पर आप लोगों की कृपा व्यर्थ है ॥ ४२ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में करुणा की व्यर्थता के प्रति निर्दयत्व तथा पापाचारित्व के हेतु होने से पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है ॥ ४२ ॥

यावत्सम्भावयामि। (*इत्युत्तिष्ठति*)

व्याख्या—यावत् इति वाक्यालंकारे, सम्भावयामि अभ्यर्थयामि प्रणिपातादिना सत्कारं करिष्यामीति भावः। इति उक्त्वेति शेषः, उत्तिष्ठति उत्थानम् अभिनयति।

अनुवाद—अस्तु, मैं इन लोगों की अगवानी करता हूँ। (*यह कहकर उठ जाते हैं।*)

टिप्पणी—सम्भावयामि—यहाँ 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' सूत्र से भविष्यत् के अर्थ में लट् लकार हुआ है।

कुशलवौ—इत इतस्तात ।

कुश और लव—पिता जी इधर से चलें, इधर से।

(*सकरुणं परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे।*)

(*करुणा के साथ चक्कर लगाकर सभी चले गये।*)

इति महाकविभवभूतिविरचितोत्तररामचरिते कुमारप्रत्यभिज्ञानं *नाम षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥*

महाकवि भवभूति-विरचित उत्तररामचरित नाटक में कुमारप्रत्यभिज्ञान नामक छठा अंक समाप्त ॥ ६ ॥

इति श्रीतारिणीशशर्मकृतोत्तररामचरितेन्दुकलाख्यव्याख्यायां षष्ठाङ्कविवरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

सप्तमोऽङ्कः

(*ततः प्रविशति लक्ष्मणः* ।)

(*तब लक्ष्मण आते हैं* ।)

लक्ष्मणः—भो भो ! अद्य खलु भगवता वाल्मीकिना सब्रह्मक्षत्रपौर-जानपदाः प्रजाः सहास्माभिराहूय कृत्स्न एव सदेवासुरतिर्यङ्निकाय सचराचरो भूतग्रामः स्वप्रभावेण सन्निधापितः । आदिष्टश्चाहमार्येण—'वत्स लक्ष्मण ! भगवता वाल्मीकिना स्वकृतिमप्सरोभिः प्रयुज्यमानां द्रष्टुमुपनिमन्त्रिताः स्मः । गङ्गातीरमातोद्यस्थानमुपगम्य क्रियतां समाजसन्निवेशः.' इति । कृतश्च मर्त्यामर्त्यस्य भूतग्रामस्य समुचितस्थान-सन्निवेशो मया । अयन्तु—

व्याख्या—भो भो इति सहचराणां सम्बोधनम्, अद्य अस्मिन् दिने ('भो भोः ! अद्य' इत्यस्य स्थाने 'भोः किन्तु' इति पाठे तु 'भोः इति हृदयस्य सम्बोधनम्, किन्तु अथ नु' इति व्याख्येयम्), खलु इति वाक्यालङ्कारे, भगवता षडैश्वर्यशालिना, वाल्मीकिना प्राचेतसेन, सब्रह्मक्षत्रपौरजानपदाः ब्रह्मभिः ब्राह्मणैः क्षत्रैः क्षत्रियैः पौरैः नगरवासिभिः जानपदैः देशवासिभिः सह वर्तमानाः याः ताः, प्रजाः जनान्, अस्माभिः मादृशैः राजपरिजनैरित्यर्थः, सह साकम्, आहूय आमन्त्र्य, कृत्स्न एव समग्र एव, सदेवासुरतिर्यङ्निकायः देवाः अमराः असुराः दानवाः, तिर्यञ्चः पशुपक्षिणः एतेषां निकायेन समूहेन सह वर्तमानः इति स तथोक्तः, सचराचरः चरैः जङ्गमैः अचरैः स्थावरैः सहितः, भूतग्रामः भूतानां जन्तूनां ग्रामः समूहः, स्वप्रभावेण स्वकीयतपःसामर्थ्येन, सन्निधापितः स्वसमीपे उपस्थापितः । च अपि च, आर्येण पूज्येन रामेणेत्यर्थः,' अहं लक्ष्मणः, आदिष्टः आज्ञप्तः—'वत्स कल्याणभाजन, लक्ष्मण ! सौमित्रे !, भगवता, वाल्मीकिना, अप्सरोभिः उर्वशीप्रभृतिभिः स्वर्वेश्याभिः, प्रयुज्यमानाम् अभिनीयमानां, स्वकृतिम् आत्मना विरचितं किमपि दृश्यकाव्यविशेषं, द्रष्टुम् अवलोकयितुम्, उपनिमन्त्रिताः आहूताः, स्मः भवामः वयमिति शेषः ।

गङ्गातीरं जाह्नवीतटम्, आतोद्यस्थानम् आतोद्यस्य चतुर्विधवाद्यविशेषस्य स्थानं रङ्गभूमिमित्यर्थः, उपगम्य प्राप्य, समाजसन्निवेशः समाजस्य सभायाः सन्निवेशः स्थापनं, क्रियतां विधीयताम् ।' मया लक्ष्मणेन, मर्त्यामर्त्यस्य मर्त्यस्य मरणधर्मवतः मनुष्यादेः तथा अमर्त्यस्य अमरस्य, भूतग्रामस्य प्राणिसमूहस्य, समुचितस्थानसन्निवेशः समुचितस्थानस्य यथायोग्यासनादिकस्य सन्निवेशः प्रतिष्ठापनं, कृतः विहितः ।

अनुवाद—अहो ! आज भगवान् वाल्मीकि ने अपने तप के प्रभाव से ब्राह्मणों, क्षत्रियों, नगरवासियों तथा ग्रामवासियों समेत प्रजाओं को हम लोगों के साथ बुलाकर देवों, असुरों तथा पशु पक्षियों के समूह के साथ स्थावर-जगम रूप प्राणियों के समुदाय को अपने निकट उपस्थित कर लिया है । आर्य (राम) ने मुझे आदेश दिया है—'वत्स लक्ष्मण ! भगवान् वाल्मीकि ने अप्सराओं द्वारा अभिनीत की जाने वाली अपनी कृति (नाटक) देखने के लिए हम लोगों को बुलाया है । (अतएव) गगाजी के तट पर चार प्रकार के वाद्यों के स्थान (रगभूमि) में जाकर सभा की स्थापना करो' । मैंने भी मरने वाले (मनुष्य आदि) और न मरने वाले (देवरूप) प्राणियों के यथा-योग्य आसन आदि की व्यवस्था कर ली है ।' ये तो—

टिप्पणी—आतोद्यस्थानम्=रगशाला । आ समन्तात् तुद्यते ताड्यते इति आतोद्य, तस्य स्थानम् । रगशाला में प्रायः चार प्रकार के बाजे बजाये जाते हैं—वीणा आदि, जो तन्तुवाद्य हैं, बाँसुरी आदि, जो मुखवाद्य हैं; मृदग आदि, जो ठोककर बजाये जाते हैं और मजीरा आदि, जो टुनटुना कर बजाये जाते हैं ।

राज्याश्रमनिवासोऽपि[1] प्राप्तकष्टमुनिव्रत: ।
वाल्मीकिगौरवादार्य इत एवाभिवर्तते ॥ १ ॥

अन्वय—राज्याश्रमनिवासः अपि प्राप्तकष्टमुनिव्रतः आर्यः वाल्मीकि-गौरवात् इतः एव अभिवर्तते ॥ १ ॥

---

१ 'निवासे' इति पाठभेदः ।

व्याख्या—राज्याश्रमनिवास अपि राज्य प्रजापालनात्मक राजधर्म स एव आश्रम गार्हस्थ्याश्रम तस्मिन् निवास अवस्थान यस्य स तादृश अपि, प्राप्तकष्टमुनिव्रत प्राप्त स्वीकृत कष्ट दु साध्य मुनिव्रत ब्रह्मचर्यादिको मुनिनियमो येन स, आर्य राम, वाल्मीकिगौरवात् वाल्मीकौ प्राचेतसे यत् गौरव सातिशयसमादर तस्मात्, इत एव अस्मिन्नेव स्थले, अभिवर्तते आगच्छति ॥ १ ॥

अनुवाद—शासनरूप गृहस्थाश्रम में निवास करते हुए भी दु साध्य मुनि-व्रत (ब्रह्मचर्य आदि) का पालन करने वाले आर्य वाल्मीकि मुनि की महत्ता के कारण इधर ही आ रहे हैं ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक म विरोधाभास अलकार है ॥ १ ॥

(*ततः प्रविशति राम* ।)

(*अनन्तर राम आते हैं* ।)

राम —वत्स लक्ष्मण ! अपि स्थिता रङ्गप्राश्निका ?

राम—वात्सल्यभाजन लक्ष्मण ! नाट्यालय में विद्वान् सामाजिक वृन्द उपस्थित हो गये हैं न ?

टिप्पणी—रङ्गप्राश्निका = रगशाला के विद्वान् दर्शक। प्रश्न शात व्यार्थजिज्ञासामर्हन्ति इति प्राश्निका, प्रश्न + ठञ् – इक, रङ्गस्य प्राश्निका रङ्गप्राश्निका ।

लक्ष्मण —अथ किम् ।

लक्ष्मण—जी हाँ ।

राम —इमौ पुनर्वत्सौ कुशलवौ कुमारचन्द्रकेतुसमा स्थानप्रतिपत्ति लम्भयितव्यौ ।

व्याख्या—इमौ एतौ, वत्सौ स्नेहास्पदौ, कुशलवौ, कुमारचन्द्रकेतुसमा चन्द्रकेतुनाम्ना कुमारेण सदृशीं स्थानप्रतिपत्तिं स्थानस्य उपवेशनयोग्यस्य आसनस्य प्रतिपत्तिं सम्मान, लम्भयितव्यौ प्रापयितव्यौ ।

अनुवाद—राम—ये दोनों स्नेहास्पद कुश और लव कुमार चन्द्रकेतु के समान सम्मानित आसन पर बैठाये जायँ ।

लक्ष्मण —प्रभुस्नेहप्रत्ययात्तथैव कृतम् । इदञ्चास्तीर्णं राजासनम् । तदुपविशत्वार्यः ।

व्याख्या—प्रभुस्नेहप्रत्ययात् प्रभोः जगत्पतेः स्नेहः अनयोः वात्सल्य तस्य प्रत्ययात् विश्वासात्, तथैव भवत्कथनानुरूपमेव कृतं विहितम्। च पुनः, इदम् एतत्, राजासनं सिंहासनम्, आस्तीर्णं विस्तीर्णम् (अस्ति)। तत् तस्मात् आर्यः भवान्, उपविशतु आसनासीनो भवतु।

अनुवाद—लक्ष्मण—(इन दोनों के प्रति) प्रभु की वत्सलता के बोध (या विश्वास) के कारण वैसा ही किया है। सिंहासन बिछा हुआ है। अतः आर्य (इस पर) विराजें।

राम—(उपविश्य) प्रस्तूयतां भोः!

राम—(बैठकर) अभिनताओ! आरम्भ कीजिये।

सूत्रधार—(प्रविश्य) भगवान् भूतार्थवादी प्राचेतसः सजङ्गमस्थावरं जगदाज्ञापयति—'यदिदमस्माभिरार्षेण चक्षुषा समुद्वीक्ष्य पावनं वचनामृतं करुणाद्भुतरसञ्च किञ्चिदुपनिबद्धम्। तत्र कार्यगौरवादवधातव्यम्' इति।

व्याख्या—सूत्रधारः नाटकीयव्यापारप्रवर्तकः, प्रविश्य रङ्गभूमिमिति शेषः, भगवान् ऐश्वर्यान्वितः, भूतार्थवादी यथार्थवादी, प्राचेतसः वाल्मीकिः, सजङ्गमस्थावरं सचराचरं, जगत् विश्वम्, आज्ञापयति आदिशति—अस्माभिः मया, आर्षेण ऋषिसम्बन्धिना, चक्षुषा नेत्रेण, समुद्वीक्ष्य सम्यगवलोक्य, पावनं पवित्रं, करुणाद्भुतरसं करुणः शोकोद्दीपकः अद्भुतः विस्मयकरश्च रसो यत्र तत् एतादृशं, किञ्चित्, वचनामृतं वचनं वचः अमृतं सुधा इव, उपनिबद्धं विरचितम्। तत्र तस्मिन्, काव्यगौरवात् काव्यस्य रूपकस्वरूपस्य कविकर्मणः बहुमानात्, अवधातव्यं मनः सयोगः कर्त्तव्यः भवद्भिरिति शेषः।

अनुवाद—सूत्रधार—(प्रवेश करके) यथार्थभाषी भगवान् वाल्मीकि सचराचर विश्व को आदेश देते हैं कि—'मैंने दिव्य दृष्टि द्वारा अवलोकन करके जो यह पवित्र एवं करुण तथा अद्भुत रस से युक्त वचनामृत उपनिबद्ध किया है (अर्थात् दृश्य काव्य का प्रणयन किया है), उसमें काव्य के गौरव से आप सब लोग मन को एकाग्र करें।

टिप्पणी—भूतार्थवादी = सत्यवक्ता। भूतं सत्यम् अर्थं वस्तु वदितुं भाषितुं शीलमस्य इति भूतार्थवादी। 'युक्ते क्ष्मादावृते भूतं प्राण्यतीते समे त्रिषु' इत्यमरः।

राम —एतदुक्त भवति । साक्षात्कृतधर्माणो महर्षय । तेषा मृतम्भराणि भगवता परोरजासि प्रज्ञानानि न क्वचिद् व्याहन्यन्त इति न हि शङ्कनीयानि ।

व्याख्या—एतत् इदम्, उक्त भवति कथित भवति, महर्षय महा मुनय साक्षात्कृतधर्माण साक्षात्कृत प्रत्यक्षीकृत धर्म अभ्युदयनि श्रेयस साधनरूप यै ते तथाविधा (भवन्ति)। तेषा तादृशाना, भगवता माहात्म्य वताम्, ऋतम्भराणि सत्यधारकाणि ('अमृतसाराणि' इति पाठभेदे तु 'अमृतस्येव पीयूषस्येव सार उत्कर्ष यथा तानि इति व्याख्येयम्) परोरजासि परम् अतीत रज रजोगुण येभ्य तानि, प्रज्ञानानि प्रकृष्टतत्त्वज्ञानानि, न क्वचित् नहि कुत्रचित् त्रिकाले इत्यर्थ, व्याहन्यन्ते प्रतिहतानि भवन्ति, इति अस्मात् हेतो, न हि शङ्कनीयानि सशयितव्यानि (भवन्ति)।

अनुवाद—राम—यह कहा जाता है कि महर्षि लोग धर्म का साक्षात्कार किये होते हैं। उन महात्माओं के, सत्य का धारण करने वाले एव रजोगुण से परे रहने वाले तत्त्वज्ञान किसी भी काल म अवरुद्ध नहीं होते हैं। अत उनमे सदेह नहीं करना चाहिए।

टिप्पणी—ऋतम्भराणि—ऋत सत्य बिभर्ति धारयति यत् तत् ऋतम्भर तानि, ऋत √भृ+खच्, मुम्। परोरजासि—रजस पराणि इति 'राजदन्तादिषु परम्' इत्यनेन रज शब्दस्य परनिपात, पारस्करादित्वात् सुट्।

(नेपथ्ये)

(नेपथ्ये मं)

हा अज्जउत्त ! हा कुमार लक्खण ! एआइणि असरण आसण्ण प्पसववेअण अरण्णे हदास सावदा अहिलसन्दि। हा ! दाणि मन्द भाइणी भाईरईए अत्ताण णिक्खिविस्सम्। [हा आर्यपुत्र ! कुमार लक्ष्मण ! एकाकिनीमशरणामासन्नप्रसववेदनामरण्ये हताशा श्वापदा अभिलषन्ति। हा ! इदानीं मन्दभाग्या भागीरथ्यामात्मान निक्षिपामि।]

व्याख्या—एकाकिनीं सहायरहिताम्, अशरणा रक्षकहीनाम्, आसन्न प्रसववेदनाम् आसन्ना सम्प्राप्ता प्रसववेदना प्रसूतियातना यस्या ताम्, अरण्ये वने, हताशा हता नष्टा आशा जीवनाकाङ्क्षा यस्या ता, श्वापदा हिंस्रजन्तव, अभिलषन्ति खादितुमिच्छन्ति । इदानीम् अधुना मन्दभाग्या

अल्पभागिनी, (अहम्) भागीरथ्यां गङ्गायाम्, आत्मानं शरीरं, निक्षिपामि विसृजामि ।

अनुवाद—हा आर्यपुत्र ! कुमार लक्ष्मण ! वन में अकेली, रक्षकरहित, प्रसव-वेदना को प्राप्त और आशा शून्य मुझको हिंसक जन्तु खाना चाहते हैं। हाय ! अब मन्दभागिनी मैं गंगा जी में (अपना) शरीर त्याग देती हूँ।

टिप्पणी—एकाकिनी = असहाय । एक+आकिनिच् 'एकादाकिनिच्चासहाये' इत्यनेन, ततः नान्तत्वात् ङीप् । 'एकाकी त्वेक एककः' इत्यमरः । आत्मा = शरीर । 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्म वर्ष्म च' इत्यमरः ।

लक्ष्मणः—कष्टं बतान्यदेव किमपि ।

लक्ष्मण—कष्ट है। यह कुछ और ही है।

सूत्रधारः—

विश्वम्भरात्मजा देवी राज्ञा त्यक्ता महावने ।
प्राप्तप्रसवमात्मानं गङ्गादेव्यां विमुञ्चति ॥ २ ॥

अन्वय—राज्ञा महावने त्यक्ता विश्वम्भरात्मजा देवी प्राप्तप्रसवम् आत्मानं गङ्गादेव्यां विमुञ्चति ॥ २ ॥

व्याख्या—राज्ञा रामेण, महावने महारण्ये, त्यक्ता विसृष्टा, विश्वम्भरात्मजा पृथिवीकन्या, देवी सीता, प्राप्तप्रसवम् आसन्नप्रसवकालम्, आत्मानं शरीरं, गङ्गादेव्यां भागीरथीप्रवाहे, विमुञ्चति त्यजति ॥ २ ॥

अनुवाद—महाराज राम द्वारा महावन में निर्वासित पृथ्वीकन्या सीता प्रसव-वेदना के उपस्थित होने पर (अपने) शरीर को गंगा जी (की धारा) में छोड़ देती है ॥ २ ॥

(*इति निष्क्रान्तः* ।)

(*यह कहकर चल देता है* ।)

रामः—(*सावेगम्*) देवि ! देवि ! लक्ष्मणमवेक्षस्व ।

राम—(*आवेग के साथ*) देवि ! देवि ! लक्ष्मण को देखो (अर्थात् मेरे अपराधी होने पर भी लक्ष्मण को देखकर गंगा में प्रवाहित होने से बचो ।)

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'लक्ष्मणमवेक्षस्व' के स्थान में 'क्षणमवेक्षस्व' पाठ है। तदनुसार अर्थ होगा—'कुछ देर प्रतीक्षा करो। (मैं भी तुम्हारा अनुसरण करूँगा या तुम्हें बचाऊँगा)।

लक्ष्मण—आर्य ! नाटकमिदम्।

लक्ष्मण—आर्य ! यह नाटक है।

राम—हा देवि ! दण्डकारण्यवासप्रियसखि ! एष ते रामाद्विपाकः।

राम—हा देवि ! दण्डकारण्य के निवास काल की प्रिय सखी ! राम से तुम्हारा यह परिणाम हुआ (अर्थात् राम के द्वारा तुम्हारी यह दुर्दशा हुई)!

लक्ष्मण—आर्य ! आश्वस्य दृश्यताम् प्रबन्धस्त्वार्षः।

लक्ष्मण—आर्य ! आश्वस्त होकर ऋषि प्रणीत दृश्य काव्य देखिये।

राम—एष सज्जोऽस्मि वज्रमयः।

राम—यह मैं वज्रमय होकर (सीता विनाशरूप नाटक देखने के लिए) प्रस्तुत हूँ।

(*ततः प्रविशति उत्सङ्गितैकैकदारकाभ्यां पृथिवीगङ्गाभ्यामालम्बिता प्रमुग्धा सीता।*)

व्याख्या—ततः तदनन्तरम्, उत्सङ्गितैकैकदारकाभ्याम् उत्सङ्गितः क्रोडीकृतः एकैकः एकः एकः दारकः बालकः याभ्यां ताभ्याम्, पृथिवीगङ्गाभ्यां धरागङ्गाभ्याम्, आलम्बिता धृता, प्रमुग्धा अतिमूर्च्छिता, सीता, प्रविशति रङ्गस्थलमायाति इति भावः।

अनुवाद—(*तदनन्तर एक एक बालक को गोद में लिये हुई पृथ्वी और भागीरथी द्वारा अवलम्बप्राप्त तथा अतिशय मूर्च्छायुक्त सीता आती हैं।*)

राम—वत्स ! अपरिज्ञातपदनिरन्धने तमसीवाहमद्य प्रविशामि, धारय माम्।

व्याख्या—अपरिज्ञातपदनिबन्धने अपरिज्ञातम् अज्ञातपूर्वं पदनिबन्धनं स्थानसम्बन्धः पादन्यासो वा यस्मिंस्तादृशे, तमसि अन्धकारे, अह

रामः, अद्य अधुना, प्रविशामि इव निमज्जामि इव, धारय अवलम्बस्व, मा रामम् ।

अनुवाद—राम—वत्स ! आज मैं अन्धकार में, जहाँ पैर रखना भी नहीं मालूम हो रहा है, निमग्न-सा हो रहा हूँ । मुझे सहारा दो ।

देव्यौ—

समाश्वसिहि कल्याणि दिष्ट्या वैदेहि वर्धसे ।
अन्तर्जले प्रसूतासि रघुवंशधरौ सुतौ ।। ३ ।।

अन्वय—कल्याणि वैदेहि समाश्वसिहि, दिष्ट्या वर्धसे, अन्तर्जले रघुवंशधरौ सुतौ प्रसूता असि ।। ३ ।।

व्याख्या—कल्याणि ! मङ्गलभूते !, वैदेहि जानकि !, समाश्वसिहि आश्वस्ता भव, दिष्ट्या भाग्येन, वर्धसे वृद्धिं गताऽसि । (यत) अन्तर्जले जलमध्ये, रघुवंशधरौ रघुकुलधारकौ, सुतौ पुत्रद्वय, प्रसूतवती, असि भवसि ।। ३ ।।

अनुवाद—दोनों देवियाँ—हे मङ्गलमयि जानकि ! आश्वस्त होओ । भाग्य से बढ़ रही हो । (जिसलिए कि) रघुवंश का धारण करने वाले दो पुत्रों को तुमने जल के भीतर जन्म दिया है ।। ३ ।।

टिप्पणी—अन्तर्जले—जलस्य अन्त' इति अन्तर्जलम् तस्मिन्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । प्रसूता—आदिकर्मविवक्षया कर्तरि क्तः । इस पद्य में आश्वासन के प्रति पुत्र-प्रसव हेतु है , अत' वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलकार है ।। ३ ।।

सीता—(*आश्वस्य*) दिट्ठिआ दारए पसूदह्मि । हा अज्जउत्त ! [दिष्ट्या दारकौ प्रसूतास्मि । हा आर्यपुत्र !]

सीता—(आश्वस्त होकर) भाग्य से दो बालकों को उत्पन्न किया है । हा आर्यपुत्र !

लक्ष्मण—(*पादयोर्निपत्य*) आर्य ! दिष्ट्या वर्धामहे, कल्याणप्ररोहो रघुवंशः । (*विलोक्य*) हा ! कथ क्षुभितबाष्पोत्पीडनिर्भर. प्रमुग्ध एवार्यः । (*इति वीजयति* ।)

व्याख्या—दिष्ट्या भाग्येन, वर्धामहे वृद्धि गच्छाम. वर्धामिति शेष , रघुवंशः, कल्याणप्ररोह कल्याणः मङ्गलजनकः प्ररोह अङ्कुर यस्य स तथोक्तः

(सञ्जातः) । विलोक्य दृष्ट्वा, हा, कथम्, आर्य, क्षुभितबाष्पोत्पीडनिर्भरः क्षुभितेन उद्वेलितेन बाष्पानाम् अश्रूणाम् उत्पीडेन समूहेन निर्भरः परिपूर्णः, प्रमुग्ध एव मूर्छित एव। इति, वीजयति तालवृन्तादिना वायुं करोति।

अनुवाद—लक्ष्मण—(*चरणों पर गिर कर*) आर्य ! भाग्य से हम लोग बढ़ रहे हैं। रघुकुल में कल्याणकारी अङ्कुर उत्पन्न हुआ है। (देखकर) हाय ! क्या आर्य बहते हुए आँसुओं के समूह से व्याप्त होकर मूर्छित हो गये हैं। (*यह कह कर पखा झलने लगते हैं।*)

देव्यौ—वत्से ! समाश्वसिहि।

दोनों देवियाँ—वत्से ! आश्वस्त होओ।

सीता—(*समाश्वस्य*) भअवदीओ ! का तुह्मे ? मुञ्चह [भगवत्यौ ! के युवाम् ? मुञ्चतम्।]

सीता—(*आश्वस्त होकर*) भगवतियो ! आप दोनों कौन हैं ? मुझे छोड़ दें।

पृथिवी—इयं ते श्वशुरकुलदेवता भागीरथी।

पृथिवी—यह तुम्हारे श्वसुर-कुल की देवता गंगाजी हैं।

सीता—णमो दे भअवदि ! [नमस्ते भगवति !]

सीता—भगवति ! आपको नमस्कार है।

भागीरथी—चारित्रोचितां कल्याणसम्पदमधिगच्छ।

व्याख्या—चारित्रोचिता चारित्रस्य पातिव्रत्यलक्षणस्य साध्वाचरणस्य उचिता योग्या ('उपचिताम्' इति पाठभेदे तु 'चारित्रेण उपचिता वृद्धिं प्रापिताम्' इति व्याख्येयम्), कल्याणसम्पदं सर्वविधमङ्गलसम्पत्तिम्, अधिगच्छ लभस्व।

अनुवाद—भागीरथी—(पातिव्रत्य रूप) चरित्र के अनुकूल मंगल-सम्पत्ति लाभ करो।

लक्ष्मण—अनुगृहीताः स्मः।

लक्ष्मण—हम लोग अनुगृहीत हैं।

भागीरथी—इयं ते जननी विश्वम्भरा।

भागीरथी—ये तुम्हारी माता पृथ्वी हैं।

सीता—हा अम्ब ! ईरिसी अहं तुए दिट्ठा ? [हा अम्ब ! ईदृश्यहं त्वया दृष्टा ?]

सीता—हाय माता ! तुमने इस अवस्था में मुझे देखा ?

पृथ्वी—एहि पुत्रि वत्से सीते !

पृथिवी—प्यारी बेटी सीता ! आओ ।

(उभौ आलिङ्ग्य मूर्च्छतः ।)

(दोनो आलिंगन करके मूर्च्छित हो जाती हैं ।)

लक्ष्मण.—*(सहर्षम्)* कथमार्या गङ्गापृथिवीभ्यामभ्युपपन्ना ।

लक्ष्मण—*(हर्ष के साथ)* कैसे आर्या गंगा और पृथिवी के द्वारा अनुगृहीत हुई ?

राम—दिष्ट्या खल्वेतत् । करुणान्तरं तु वर्तते ।

राम—भाग्य से यह हुआ । परन्तु यह दूसरी शोकोद्दीपक घटना है ।

भागीरथी—अत्रभवती विश्वम्भरा[1] व्यथत इति जितमपत्यस्नेहेन । यद्वा सर्वसाधारणो ह्येष मनसो मूढग्रन्थिरान्तरश्चेतनावतामुपप्लवः संसारतन्तुः । सखि भूतधात्रि ! वत्से वैदेहि ! समाश्वसिहि ।

व्याख्या—अत्रभवती पूज्या, विश्वम्भरा पृथिवी, व्यथते (आत्मजायाः सीतायाः दुःखेन) दुःखमनुभवति, इति अस्माद्धेतोः, अपत्यस्नेहेन सन्ततिप्रेम्णा जितं सर्वोत्कर्षेण वृत्तम् । यद्वा अथवा, एष सन्तानस्नेहः, सर्वसाधारणः सर्वेषु निखिलेषु, साधारणः समानः, मनसः हृदयस्य, मूढग्रन्थिः मोहात्मकं बन्धनं, चेतनावतां प्राणिनाम्, आन्तरः आभ्यन्तरः, उपप्लवः चञ्चलतानिदानमिति भावः, संसारतन्तुः संसारस्य सृष्टिप्रवाहरूपस्य तन्तुः सूत्रं योजकसूत्रमित्यर्थः (अस्ति) । भूतधात्रि पृथ्वि !, वैदेहि सीते, समाश्वसिहि आश्वस्ता भव ।

अनुवाद—पूज्य पृथ्वी भी (पुत्री के दुःख से) व्यथित हो रही हैं इसलिए सन्तान के स्नेह ने (सब को) जीत लिया । अथवा यह (स्नेह)

---

१ पृथिवी—'एहि पुत्रि !' इत्यारभ्य 'अत्रभवती विश्वम्भरा' इत्येतत्पर्यन्तस्य स्थाने 'पृथिवी—एहि वत्से ! एहि पुत्रि ! (इति सीतामालिङ्ग्य मूर्च्छति ।) लक्ष्मणः—(सहर्षम्) दिष्ट्या पृथिवीगङ्गाभ्यामभ्युपपन्ना आर्या । रामः—(अवलोक्य) करुणतरं खल्वेतद्वर्तते । भागीरथी—'विश्वम्भरापि नाम' इति पाठभेदः पुस्तकान्तरेषु ।

सबमें समान भाव से रहने वाला, मन को मोह में बाँधने वाला, प्राणियों की आभ्यन्तरिक चञ्चलता का कारण और संसार का सूत्ररूप है। इति वसुन्धरे! वात्सल्य-भाजन सीते! आश्वस्त होओ।

पृथ्वी (*आश्वस्य*) देवि! सीतां प्रसूय कथमाश्वसिमि?

पृथ्वी—(*आश्वस्त होकर*) देवि! सीता को जन्म देकर कैसे आश्वस्त होऊँ?

सोढश्चिरं राक्षसमध्यवासस्त्यागो द्वितीयस्तु सुदुःसहोऽस्याः।

व्याख्या—अस्याः चिरं राक्षसमध्यवासः सोढः, द्वितीयः त्यागस्तु सुदुःसहः।

व्याख्या—अस्याः सीतायाः, चिरं सुदीर्घकालं, राक्षसमध्यवासः राक्षसानाम् असुराणां मध्ये अन्तरे वासः अवस्थानं, सोढः क्षान्तः, द्वितीयः अपरः, त्यागस्तु विवासनं तु, सुदुःसहः सर्वथा सोढुमशक्यः। ('सोढः, त्यागः, सुदुःसहः' इत्येतेषां स्थाने क्रमशः 'एकः, साङ्गः, सुदुःश्रवः' इति पाठभेदे तु 'एकः प्रथमः, साङ्गः अङ्गैः अलीकरामलक्ष्मणनिधनवार्ताश्रवादिजनितसन्तापैः सह वर्तमानः, सुदुःश्रवः न कथमपि श्रोतुं शक्यः' इति व्याख्येयम्)।

अनुवाद—इसका चिरकाल तक राक्षसों के बीच में रहना तो सहन कर लिया, किन्तु दूसरा परित्याग (अर्थात् पति द्वारा किया गया निर्वासन) अत्यन्त असह्य हो रहा है।

गंगा—

को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे? ॥४॥

अन्वय—को नाम जन्तुः पाकाभिमुखस्य दैवस्य द्वाराणि पिधातुम् ईष्टे? ॥४॥

व्याख्या—कः अनिर्वचनीयः, नाम इति सम्भावनायां, जन्तुः प्राणी, पाकाभिमुखस्य परिणामोन्मुखस्य, दैवस्य अदृष्टस्य, द्वाराणि प्रसरणमार्गान्, पिधातुं रोद्धुम्, ईष्टे प्रभवति? ॥४॥

अनुवाद—फल देने के लिए तैयार अदृष्ट के द्वारों को बन्द करने में कौन प्राणी समर्थ होता है? ॥४॥

टिप्पणी—पिधातुम्=बन्द करने या रोकने के लिए। अपि√धा+तुमुन्। भागुरि आचार्य के मत से अपि में अकार का लोप हो जाता है।

इस श्लोक में अर्थापत्ति और अर्थान्तरन्यास अलंकार है। यह इन्द्रवज्रा छंद है॥ ४॥

पृथिवी—भगवति भागीरथि! युक्तमेतत्सर्वं वो रामभद्रस्य?

पृथ्वी—भगवति गङ्गे! क्या आपके रामभद्र का यह सब आचरण ठीक है?

न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः।
नाहं न जनको नाग्निर्न तु वृत्तिर्न सन्ततिः॥ ५॥

अन्वय—बाल्ये बालेन पीडितः पाणिः न प्रमाणीकृतः, अहं न, जनकः न, अग्निः न, तु वृत्तिः न सन्ततिः न॥ ५॥

व्याख्या—बाल्ये कौमारे, बालेन बालकेन अनेनेत्यर्थः, पीडितः गृहीतः, पाणिः हस्तः, न प्रमाणीकृतः युक्तायुक्तविचारे निर्णयहेतुर्न कृतः (अर्थात् यथाशास्त्र परिणीतायाः सच्चरित्रायाः भार्यायाः त्यागः उचितः अनुचितो वेति विचारो न कृतः), अहं पृथिवी, न न प्रमाणीकृता (अर्थात् मद्दुहिता कथं सतीधर्मात् विच्युता भविष्यति इत्यपि तेन न गणितं, तथा च एतेन मां प्रति अविश्वासः प्रकटितः), जनकः राजर्षिः, न न प्रमाणीकृतः (अर्थात् विशुद्धचरित्रस्य पितुः कन्या कथं दुश्चरित्रा स्यात् इति अनालोच्य निर्वासनात् जनकोऽपि अपमानितः), अग्निः वह्निः, न प्रमाणीकृतः (अर्थात् अग्निपरीक्षाकाले अग्निदेवेन सीतायाः निर्दोषता अभिहिता, किन्तु सोऽपि विश्वस्तत्वेन न गणितः), तु पुनः, वृत्तिः पातिव्रत्यपूर्णमाचरणं, न न प्रमाणीकृता ('नानुवृत्तिः' इति पाठभेदे तु अनुवृत्तिः विवाहसमयात् प्रभृति आनुगत्यमपि, न न प्रमाणीकृता), सन्ततिः अपत्यं, न न प्रमाणीकृता (अर्थात् सीतायाः निर्वासनेन तदपत्यनाशात् मद्वंशविलोपः स्यात् इत्यपि विचारो न कृतः)॥ ५॥

अनुवाद—न तो बाल्यावस्था में बालक (रामभद्र) द्वारा किया गया पाणिग्रहण प्रामाणिक माना गया और न मैं, न जनक, न अग्नि, न (सीता का पातिव्रत्यपूर्ण) आचरण और न सन्तान ही प्रामाणिक मानी गई॥ ५॥

टिप्पणी—इस श्लोक में प्रमाणीकरणरूप एक क्रिया के साथ पाणि आदि का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता अलंकार है॥ ५॥

सीता—हा अज्जउत्त ! सुमरेसि ? [हा आर्यपुत्र ! स्मरसि ?]

सीता—हाय आर्यपुत्र ! स्मरण करते हैं ?

पृथिवी—आः, कस्तवार्यपुत्र ?

पृथिवी—आह ! कौन तुम्हारा आर्यपुत्र है ?

सीता—(सलज्जास्रम्) जह अम्बा भणादि । [यथाम्बा भणति ।]

सीता—(लज्जा और आँसू के साथ) अम्माँ जैसा कहें ।

राम —अम्ब पृथिवि ! ईदृशोऽस्मि ।

राम—माता पृथिवी ! मैं ऐसा ही हूँ (अर्थात् सीता से आर्यपुत्र कहलाने योग्य नहीं हूँ)।

गंगा—भगवति वसुन्धरे ! शरीरमसि संसारस्य । तत् किमसंविदानेव जामात्रे कुप्यसि ?

गङ्गा—भगवती पृथिवी ! आप संसार की देह हैं। फिर क्यों अनजान की तरह जामाता पर क्रोध कर रही हैं ?

टिप्पणी—असंविदाना = न जानती हुई । 'सम्' उपसर्गपूर्वक विद् धातु से 'विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' इस वार्तिक से आत्मनेपद होने पर शानच् होता है। जामात्रे—इसमें 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' सूत्र से चतुर्थी होती है।

घोरं लोके विततमयशो या च वह्नौ विशुद्धि-
लङ्काद्वीपे कथमिव जनस्तामिह श्रद्दधातु ।
इक्ष्वाकूणां कुलधनमिदं यत् समाराधनीयः
कृत्स्नो लोकस्तदिह विषमे किं स वत्सः करोतु ॥ ६ ॥

अन्वय—लोके घोरम् अयशः विततम् लङ्काद्वीपे वह्नौ या च विशुद्धिः, ताम् इह जनः कथम् इव श्रद्दधातु ? इदम् इक्ष्वाकूणां कुलधनम्, यत् कृत्स्नो लोकः समाराधनीयः, तत् इह विषमे सः वत्सः किं करोतु ? ॥ ६ ॥

व्याख्या—लोके जगति, घोरं दारुणम्, अयशः निन्दा, विततं विस्तीर्णम्, लङ्काद्वीपे सर्वतः सागरपरिवेष्टिते लङ्कानाम्नि द्वीपे, वह्नौ अनले, या च विशुद्धिः निर्दोषत्वपरीक्षा, तां विशुद्धिम्, इह अयोध्यायाम्, जनः लोकः, कथम् इव केन प्रकारेण, श्रद्दधातु ? विश्वसितु ? इदम् एतत्, इक्ष्वाकूणाम्

इक्ष्वाकुगोत्रोत्पन्नाना, कुलधन कुलक्रमागत धन, यत्, कृत्स्नः निखिल', लोकः जनः, समाराधनीय. अनुकूलव्यवहारादिना सम्यक् तोषणीय., तत् तस्मात्, इह अस्मिन्, विषमे धर्मसङ्कटे ('तदतिगहनम्' इति पाठभेदे तु 'तत् लोकाराधनम् अतिगहनम अत्यन्तदुष्करम्' इति व्याख्येयम्), सः तादृशः, वत्स रामभद्र', किं करोतु ? किमाचरतु ? ॥ ६ ॥

अनुवाद—लोक में दारुण अपयश फैल गया। लंकाद्वीप में जो अग्निशुद्धि या अग्निपरीक्षा हुई थी, उस पर (अत्यन्त दूर होने के कारण वहाँ की प्रजा कैसे विश्वास करे ? यह इक्ष्वाकुवंशियों का कुलव्रत है कि सकल प्रजाओं को सन्तुष्ट रखना चाहिए। इसलिए इस धर्म-संकट में वह वत्स (रामभद्र) क्या करे ? ॥ ६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में सीता-निर्वासन रूप कार्य का लोकनिन्दा रूप एक कारण होने पर भी लोकाराधनरूप कारणान्तर का निरूपण हो जाने से समुच्चय अलंकार है। यह मन्दाक्रान्ता छंद है ॥ ६ ॥

लक्ष्मणः—अव्याहतान्तःप्रकाशा हि देवता सत्त्वेषु।

व्याख्या—हि निश्चयेन, देवता देवा', सत्त्वेषु भूतेषु, अव्याहतान्तः-प्रकाशा. अव्याहत. केनचिदपि अनिवारितः अन्त.प्रकाश. अन्तःकरणवृत्ते. प्रसारः याभा ता' तथोक्ता. (भवन्ति)।

अनुवाद—लक्ष्मण—निश्चय ही प्राणियों के विषय में देवताओं की अन्तर्यामिता (मनोज्ञान) अव्याहत होती है।

गंगा—तथाप्येष तेऽञ्जलिः।

गङ्गा—तो भी (अर्थात् दोष न रहने पर भी रामभद्र के ऊपर अनुग्रह करने के लिए) आपको हाथ जोड़ती हूँ।

टिप्पणी—अञ्जलि.= हाथ जोड़कर प्रणाम करना। श्रद्धापूर्वक हाथ जोड़कर प्रणाम करने से देवता शीघ्र प्रसन्न होते है। कहा भी है—'अञ्जलिः परमा मुद्रा क्षिप्र देवप्रसादिनी'। किन्हीं पुस्तकों मे 'गगा—तथाप्येष ते-ऽञ्जलि.' के स्थान में लक्ष्मण की ही उक्ति के साथ 'विशेषेण गगा, तदयमञ्जलिस्ते' इस प्रकार पाठ मिलता है। अर्थ स्पष्ट ही है।

राम.—अम्ब ! अनुवृत्तस्त्वया भगीरथकुले प्रसादः।

व्याख्या—अम्ब ! मातः ! त्वया भवत्या, भगीरथकुले भगीरथवंश प्रति, प्रसाद. अनुग्रहः, अनुवृत्तः अविच्छेदेन प्रवर्तितः।

अनुवाद—माँ ! भगीरथ-वंश के प्रति आपने (अपना) अनुग्रह अविच्छिन्न रखा।

पृथ्वी—नित्य प्रसन्नास्मि वः। किन्त्वसावापातदुःसहः स्नेहसंवेग.। न पुनर्न जानामि सीतास्नेहं रामभद्रस्य।

व्याख्या—व: युष्मान् प्रति, नित्य सतत, प्रसन्नास्मि सन्तुष्टास्मि। किन्तु परन्तु, असौ अय, स्नेहसंवेगः वात्सल्यावेग ('शोकावेगोऽपत्यस्य' इति पाठभेदे तु 'अपत्यस्य सन्तानस्य, शोकावेगः शोकप्रसर.' इति व्याख्येयम्), आपातदु.सहः आपाते श्रवणक्षणे एव दुःसह. सोढुमशक्य.। पुनः किन्तु, रामभद्रस्य, सीतास्नेह सीता प्रति अनुराग, न जानामि न अवगच्छामि न (अपि तु जानाम्येव)।

अनुवाद—मैं सर्वदा आप लोगों से प्रसन्न रहती हूँ। किन्तु यह स्नेहजन्य क्षोभ आपाततः दुःसह होता है। मैं सीता के प्रति रामभद्र का प्रेम नहीं जानती हूँ, ऐसी बात नहीं है।

टिप्पणी—आपातदुःसहः = सुनते ही सहन-शक्ति से बाहर हो जाने वाला। 'दर्शनक्षण आपातस्तथैवारम्भणक्षणे' इति कोशः। 'तदात्वे पात आपात.' इति वैजयन्ती। न जानामि न = न जानती हूँ, यह बात नहीं अर्थात् जानती ही हूँ। 'द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयतः' इति नयः।

दह्यमानेन मनसा दैवाद्वत्सां विहाय सः।
लोकोत्तरेण सत्त्वेन प्रजापुण्यैश्च जीवति ॥ ७ ॥

अन्वय—दैवात् वत्सां विहाय सः दह्यमानेन मनसा लोकोत्तरेण सत्त्वेन प्रजापुण्यैश्च जीवति ॥ ७ ॥

व्याख्या—दैवात् भाग्यवशात्, वत्सां सीतां, विहाय परित्यज्य, सः रामभद्रः, दह्यमानेन सन्तप्यमानेन, मनसा हृदयेन, लोकोत्तरेण अलौकिकेन, सत्त्वेन धैर्येण, प्रजापुण्यैश्च प्रजानां प्रकृतीनां पुण्यैश्च धर्मैश्च, जीवति प्राणान् धारयति ॥ ७ ॥

अनुवाद—भाग्यवश सीता का परित्याग करके रामभद्र जलते हुए चित्त, अलौकिक धैर्य और प्रजाओं के धर्म से जीवन धारण कर रहे हैं ॥ ७ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में कारणभूत पुण्य प्रजा में रहने वाला है और उसका कार्यभूत जीवन राम में विद्यमान है, इस प्रकार कार्य और कारण के भिन्न-देश-वृत्ति होने से असंगति अलंकार है ॥ ७ ॥

रामः—सकरुणा हि गुरवो गर्भरूपेषु ।

व्याख्या—गुरवः गुरुजना., गर्भरूपेषु सन्ततिषु, सकरुणा. हि दयया सह वर्तमानाः एव ।

अनुवाद—गुरुजन सन्तानों के प्रति (अर्थात् हम लोगों पर) दयालु ही हैं ।

सीता—(*रुदती कृताञ्जलिः*) णेदु मं अत्तणो अंगेसु विलअं अम्बा । [नयतु मामात्मनोऽङ्गेषु विलयमम्बा ।]

सीता—(*रोती हुई अञ्जलि बाँधकर*) माँ मुझे अपने अंगों में समा लो ।

गंगा—किं ब्रवीषि ? अविलीना वत्से ! संवत्सरसहस्राणि भूया ।

व्याख्या—किं ब्रवीषि ? किं कथयसि ?, वत्से !, संवत्सरसहस्राणि सहस्रवर्षपर्यन्तम्, अविलीना अविलुप्ता जीवितेति यावत्, भूया. स्थेया. ।

अनुवाद—बेटी ! क्या कह रही हो ? तुम हजार वर्ष तक जीओ ।

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में यहाँ सीता की उक्ति के बाद राम की उक्ति है—'किमन्यद् ब्रवीतु ?' । फिर गङ्गा की उक्ति है—'शान्तम् । अविलीना वत्स…… ' अर्थ स्पष्ट है ।

पृथिवी—वत्से ! अवेक्षणीयौ ते पुत्रौ ।

पृथिवी—बेटी ! तुम्हें दोनों पुत्रों का परिपालन करना चाहिये ।

टिप्पणी—ते—यहाँ 'अवेक्षणीयौ' इस पद के योग में 'कृत्यानां कर्तरि वा' सूत्र से षष्ठी हुई ।

सीता—किं एदेहिं अणाहेहिं ? [किमेताभ्यामनाथाभ्याम् ?]

सीता—ये दोनों अनाथ बालक कैसे रहेंगे ?

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'अणाथम्हि । (अनाथास्मि)' यह पाठ है । अर्थ स्पष्ट है ।

राम.—हृदय ! वज्रमसि ।

राम—हृदय ! तू वज्र है।

टिप्पणी—कहीं 'वज्रमयमसि' यह पाठ है।

गङ्गा—कथं वत्सौ सनाथावप्यनाथौ ?

गंगा—बच्चे सनाथ होते हुए भी अनाथ क्यों हैं।

टिप्पणी—कहीं 'कथं त्वं सनाथाप्यनाथा ?' यह पाठ है।

सीता—कीरिस मे अभग्गाए सणाहत्तम् ? [कीदृशं मे अभाग्याया सनाथत्वम् ?

सीता—मुझ अभागिनी की सनाथता (रक्षकयुक्त होना) कैसी ?

टिप्पणी—कहीं 'कीदिसं मम अभव्वाए सणाधत्तणं ? (कीदृशं ममाभव्याया सनाथत्वम् ?)' यह पाठ है।

देव्यौ—

जगन्मङ्गलमात्मानं कथं त्वमवमन्यसे ?।
आवयोरपि यत्सङ्गात् पवित्रत्वं प्रकृष्यते ॥ ८ ॥

अन्वय—त्वं जगन्मंगलम् आत्मानं कथम् अवमन्यसे ? यत्सङ्गात् आवयोः अपि पवित्रत्वं प्रकृष्यते ॥ ८ ॥

व्याख्या—त्वं भवती, जगन्मंगलं त्रिभुवनकल्याणकरम्, आत्मानं स्वं, कथं केन हेतुना, अवमन्यसे अवजानासि ? यत्संगात् यस्य तव संगात् सम्पर्कात्, आवयोः अपि पृथिवीभागीरथ्योः अपि पवित्रत्वं, पावनत्वं, प्रकृष्यते उत्कर्षम् आप्नोति ॥ ८ ॥

अनुवाद—दोनों देवियाँ—तुम क्यों विश्व का कल्याण करने वाली (अपनी) आत्मा का अपमान कर रही हो ? जिसके संसर्ग से हम दोनों (गंगा और पृथ्वी) की भी पवित्रता उत्कृष्ट हो रही है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—प्रकृष्यते—यहाँ कर्मकर्ता में लट् लकार हुआ है। इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ८ ॥

लक्ष्मण—आर्य ! श्रूयताम्।

लक्ष्मण—आर्य ! सुनें।

राम—लोकः शृणोतु।

राम—लोक सुने।

(*नेपथ्ये कलकलः*)

(*नेपथ्य में शोरगुल होता है।*)

राम—अद्भुततर किमपि।

राम—कोई अत्यन्त आश्चर्यजनक पदार्थ है।

सीता—किंत्ति आवद्धकलकल पज्जलिअं अन्तरिक्खम् ? [किमित्यावद्धकलकलं प्रज्वलितमन्तरिक्षम् ?]

व्याख्या—किमिति कथम्, अन्तरिक्षं गगनम्, आवद्धकलकलम् आवद्धः सञ्जात: कलकल: कोलाहलः यस्मात् तत्, (तथा) प्रज्वलितं प्रदीप्तम् (अस्ति) ?

अनुवाद—सीता—क्यों आकाश कोलाहल से व्याप्त तथा प्रज्वलित हो रहा है ?

देव्यौ—ज्ञातम्।

दोनों देवियाँ—समझ गईं।

कृशाश्वः कौशिको राम इति येषां गुरुक्रमः।
प्रादुर्भवन्ति तान्येव शस्त्राणि सह जृम्भकैः ॥ ६ ॥

अन्वय—कृशाश्वः कौशिको राम इति येषां गुरुक्रमः, तानि एव शस्त्राणि जृम्भकैः सह प्रादुर्भवन्ति ॥ ६ ॥

व्याख्या—कृशाश्वः एतन्नामा मुनिः, कौशिकः विश्वामित्रः, रामः रामचन्द्रः, इति एव, येषाम् अस्त्राणां गुरुक्रमः आचार्यानुपूर्वी, तानि एव उक्तगुरुक्रमवन्ति एव, शस्त्राणि आयुधविशेषाः, जृम्भकैः सह एतन्नामकैः अस्त्रैः साकं, प्रादुर्भवन्ति आविर्भवन्ति ॥ ६ ॥

अनुवाद—जिनकी परम्परा कृशाश्व, विश्वामित्र और रामचन्द्र से है, वे ही शस्त्र जृम्भक नामक अस्त्रों के साथ प्रकट हो रहे हैं। (इसी से आकाश जाज्वल्यमान दिखाई दे रहा है) ॥ ६ ॥

(*नेपथ्ये*)

(*नेपथ्य में*)

देवि सीते ! नमस्तेऽस्तु गतिर्नः पुत्रकौ हि ते।
आलेख्यदर्शनादेव ययोर्दाता रघूद्वहः ॥ १० ॥

अन्वय—देवि सीते ! ते नमः अस्तु, ते पुत्रौ नः गतिः, हि ययोः आलेख्यदर्शनात् एव दाता रघूद्वहः ॥ १० ॥

व्याख्या—देवि सीते, ते तुभ्यं, नमः नमस्कारः, अस्तु आस्ताम्, ते तव, पुत्रौ नवजातौ सुतौ, नः अस्माकं, गतिः आश्रयः, हि यतः, ययोः तव पुत्रयोः, आलेख्यदर्शनात् एव चित्रदर्शनसमयात् एव, दाता दायकः, रघूद्वहः रामचन्द्रः ॥ १० ॥

अनुवाद—देवि सीते ! आपको प्रणाम है। आपके दोनों नवजात बालक हमारे आश्रय हैं। क्योंकि चित्र देखने के समय से ही रामचन्द्र जी ने हमें इनके जिम्मे कर दिया है ॥ १० ॥

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'आलेख्यदर्शने देवो यदाह रघुनन्दनः' ऐसा पाठ मिलता है। तदनुसार अर्थ होगा—'जिसलिए कि चित्र देखने के समय महाराज रामचन्द्र ने यह कहा था' ॥ १० ॥

सीता—दिट्ठिआ अत्थदेवदाओ एदाओ। अज्जउत्त ! अज्जावि दे पसादा पडिप्फुरन्दि। [दिष्ट्या अस्त्रदेवता एताः । आर्यपुत्र ! अद्यापि ते प्रसादाः परिस्फुरन्ति ।]

सीता—हर्ष की बात है कि ये अस्त्रदेवता हैं। आर्यपुत्र ! आज भी आपके अनुग्रह प्रकाशित हो रहे हैं।

लक्ष्मण—उक्तमासीदार्येण 'सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ती'ति ।

लक्ष्मण—आर्य ने कहा था—'ये (अस्त्र) अभी सब प्रकार से तुम्हारी सन्तान को मिलेंगे'।

देव्यौ—

दोनों देवियाँ—

नमो वः परमास्त्रेभ्यो धन्याः स्मो वः परिग्रहात् ।
काले ध्यातैरुपस्थेय[1] वत्सयोर्भद्रमस्तु वः ॥ ११ ॥

अन्वय—परमास्त्रेभ्यः वः नमः, वः परिग्रहात् धन्याः स्मः, काले ध्यातैः वत्सयोः उपस्थेयं, वो भद्रम् अस्तु ॥ ११ ॥

१. 'अनुध्यातैरुपेतव्यम्' इति पाठभेदः ।

व्याख्या—परमास्त्रेभ्यः उत्कृष्टास्त्रेभ्यः जृम्भकेभ्य इत्यर्थः, वः युष्मभ्य, नमः प्रणामः, वः युष्माकं, परिग्रहात् अङ्गीकारात्, (वयं) धन्याः कृतार्थाः, स्म भवाम, काले समये, ध्यातैः चिन्तितैः, वत्सयो सीतात्मजयोः, उपस्थेयम् उपेतव्य, वः युष्माकं, भद्रं मङ्गलम्, अस्तु भवतु ॥ ११ ॥

अनुवाद—उत्कृष्ट अस्त्र रूप आप लोगों (जृम्भकाधिष्ठातृदेवों) को नमस्कार है। आप लोगों के ग्रहण करने से हम लोग कृतकृत्य हो गये। समय पर ध्यान किये जाने पर आप लोग वत्सों (सीता के पुत्रों) के पास आ जाया करें। आप लोगों का कल्याण हो ॥ ११ ॥

रामः—

> क्षुभिताः काममपि दशां कुर्वन्ति मम सम्प्रति ।
> विस्मयानन्दसन्दर्भजर्जरा: करुणोर्मयः ॥ १२ ॥

अन्वय—सम्प्रति क्षुभिताः विस्मयानन्दसन्दर्भजर्जराः करुणोर्मयः मम काम् अपि दशां कुर्वन्ति ॥ १२ ॥

व्याख्या—सम्प्रति इदानीं, क्षुभिताः उद्वेलिताः, विस्मयानन्दसन्दर्भजर्जराः, विस्मयस्य आश्चर्यस्य आनन्दस्य हर्षस्य च सन्दर्भेण ग्रन्थनेन जर्जराः शीर्णाः, करुणोर्मय करुणस्य सीताविरहजन्यशोकातिशयस्य ऊर्मयः तरङ्गा, मम रामस्य, काम् अपि अनिर्वाच्यां, दशाम् अवस्थां, कुर्वन्ति जनयन्ति ॥ १२ ॥

अनुवाद—राम—इस समय विस्मय एवं हर्ष के सम्मिश्रण से जर्जर तथा क्षोभयुक्त शोक की लहरें मेरी अनिर्वचनीय अवस्था उत्पन्न कर रही हैं ॥ १२ ॥

टिप्पणी—विस्मयानन्द०—यहाँ राम को पृथ्वी और गंगा के अनुग्रह-लाभ रूप अलौकिक वृत्तान्त से आश्चर्य और पुत्र-रत्न की प्राप्ति से आनन्द हुआ ॥ १२ ॥

देव्यौ—मोदस्व वत्से! मोदस्व[१]। रामभद्रतुल्यौ ते पुत्रकाविदानीं संवृत्तौ।

---

१. 'स्मरस्व वत्से !', 'मन्यस्व वत्से !' इति पाठभेदौ।

दोनों देवियाँ—आनन्दित होओ बेटी ! आनन्दित होओ। तुम्हारे दोनों पुत्र अब रामभद्र के तुल्य (सामर्थ्यवान्) हो गये हैं।

सीता—भअवदीओ ! को एदाणं खत्तिओइदविहिं कारइस्सदि ?

[भगवत्यौ ! क एतयोः क्षत्रियोचितविधिं कारयिष्यति ?]

सीता—भगवतियो ! कौन इन दोनों का क्षत्रियोचित संस्कार करायेगा ?

राम—

एषा वसिष्ठशिष्याणां रघूणां वंशनन्दिनी।
कष्टं सीतापि सुतयोः संस्कर्तारं न विन्दति ॥ १३ ॥

अन्वय—वसिष्ठशिष्याणां, रघूणां वंशनन्दिनी एषा सीतापि सुतयोः संस्कर्तारं न विन्दति, कष्टम् ॥ १३ ॥

व्याख्या—वसिष्ठशिष्याणां, वसिष्ठस्य रघुकुलगुरोः शिष्याणाम् उपदेश्यानां ('वसिष्ठगुप्तानाम्' इति पाठभेदे तु 'वसिष्ठेन ब्रह्मपुत्रेण गुप्तानां रक्षितानां मन्त्रसंस्कारविनष्टापदामित्यर्थः' इति व्याख्येयम्), रघूणां रघुवंशीयानां, वंशनन्दिनी कुलानन्दकरी ('वंशवर्द्धिनी' इति पाठभेदे 'कुलवृद्धिकारिणी' इति व्याख्या कार्या), एषा इयं, सीता अपि जानकी अपि, संस्कर्तारं जातकर्मादिशास्त्रीयक्रियासम्पादयितारं, न विन्दति न प्राप्नोति, (एतत्) कष्टं क्लेशकरमित्यर्थः ॥ १३ ॥

अनुवाद—राम—(भगवान्) वसिष्ठ के शिष्य रघुवंशीय राजाओं के कुल को आनन्द देने वाली यह सीता भी पुत्रों के संस्कार करने वाले व्यक्ति को नहीं पा रही है, यह दुःख की बात है ॥ १३ ॥

गङ्गा—भद्रे ! किं तवानया चिन्तया ? एतौ हि वत्सौ स्तन्यत्यागात्परेण भगवतो वाल्मीकेरर्पयिष्यामि।

व्याख्या—तव ते, अनया एतया, चिन्तया भावनया किं किम्प्रयोजनम्, हि यतः, एतौ दृश्यमानौ, वत्सौ बालौ, स्तन्यत्यागात् स्तनदुग्धपानत्यागात् परेण अनन्तरमेव, भगवतः, वाल्मीकेः, अर्पयिष्यामि दास्यामि।

अनुवाद—भद्रे ! तुम्हें यह चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है ! क्योंकि दूध छोड़ने के बाद इन दोनों चिरञ्जीवों को मैं भगवान् वाल्मीकि को सौंप दूँगी।

टिप्पणी—वाल्मीके'—यहाँ 'कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षाया षष्ठ्येव' इस नियम के अनुसार चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी हुई। किन्हीं पुस्तकों में यह उक्ति गगा और पृथ्वी दोनों की मानी गई है। तदनुसार पाठ इस प्रकार है—देव्यौ—पुत्रि ! किं·········अर्पयिष्यावः।' अन्त में 'स एवैतयो क्षत्रकृत्यं करिष्यति।' यह अधिक पाठ है, किन्तु निम्नलिखित श्लोक नहीं है।

वसिष्ठ एव ह्याचार्यो रघुवशस्य सम्प्रति।
स एव चानयोर्ब्रह्मक्षत्रकृत्यं करिष्यति ॥ १४॥

अन्वय—सम्प्रति वसिष्ठ एव हि रघुवशस्य आचार्य., स एव च अनयो. ब्रह्मक्षत्रकृत्य करिष्यति ॥ १४॥

व्याख्या—सम्प्रति इदानीं, वसिष्ठ एव ब्रह्मपुत्र एव, रघुवशस्य रघुकुलस्य, आचार्यः गुरु., स एव च वसिठ एव च, अनयो. बालयोः, ब्रह्मक्षत्रकृत्यं ब्राह्मणक्षत्रियोचितसस्कार, करिष्यति सम्पादयिष्यति ॥ १४॥

अनुवाद—इस समय भगवान् वसिष्ठ ही रघुकुल के गुरु हैं। वे ही इन दोनों (शिशुओं) का ब्राह्मणोचित (वेदाध्यापन) और क्षत्रियोचित (धनुर्वेदाध्यापन) कर्म सम्पन्न करेंगे ॥ १४॥

टिप्पणी—इस श्लोक का प्रसग यहाँ उपयुक्त नही प्रतीत होता है, कारण ऊपर 'वाल्मीकेरर्पयिष्यामि' कहने के बाद वसिष्ठ जी द्वारा सस्कार कराने की बात 'वदतो व्याघातः' होगी ॥ १४॥

यथा वसिष्ठाङ्गिरसावृषिः प्राचेतसस्तथा।
रघूणा जनकाना च वशयोरुभयोर्गुरु ॥ १५॥

अन्वय—रघूणा जनकाना च यथा वसिष्ठाङ्गिरसौ तथा प्राचेतस ऋषि उभयोः वशयो गुरु. ॥ १५॥

व्याख्या—रघूणा रघुवशीयाना, जनकाना जनकवंशीयाना च, यथा येन प्रकारेण, वसिष्ठाङ्गिरसौ वसिष्ठ' तदाख्यः ब्रह्मपुत्र आङ्गिरसः शतानन्दश्च (गुरू), तथा तेन प्रकारेण, प्राचेतस. वाल्मीकि', ऋषि मुनि , उभयोः द्वयोः, वशयो. कुलयो , गुरुः आचार्यः अस्ति) ॥ १५॥

अनुवाद—रघुवशी तथा जनकवशी राजाओं के जैसे (क्रमशः) वसिष्ठ

जी तथा शतानन्द जी गुरु हैं उसी प्रकार वाल्मीकि मुनि भी दोनों वंशों के गुरु हैं ॥ १५ ॥

राम —सुविचिन्तितं भगवत्या ।

राम—भगवती ने सुन्दर सोचा ।

लक्ष्मण —आर्य ! सत्यं विज्ञापयामि । तैस्तैरुपायैरिमौ वत्सौ कुशलवावुत्प्रेक्षे ।

लक्ष्मण—आर्य ! मैं सत्य निवेदन करता हूँ कि उन-उन उपायों से ये दोनों कुश और लव वत्स (अर्थात् सीता पुत्र) हैं—ऐसी मैं सम्भावना करता हूँ ।

एतौ हि जन्मसिद्धास्त्रौ प्राप्तप्राचेतसावुभौ[1] ।
आर्यतुल्याकृती वीरौ[2] वयसा द्वादशाब्दकौ ॥ १६ ॥

अन्वय—हि एतौ उभौ जन्मसिद्धास्त्रौ प्राप्तप्राचेतसौ आर्यतुल्याकृती वीरौ वयसा द्वादशाब्दकौ ॥ १६ ॥

व्याख्या—हि यस्मात्, एतौ परिदृश्यमानौ, उभौ द्वौ (कुमारौ) जन्मसिद्धास्त्रौ जन्मतः आरभ्य सिद्धानि प्राप्तानि अस्त्राणि जृम्भकाख्यानि ययोः तौ तथोक्तौ, प्राप्तप्राचेतसौ प्राप्तः लब्धः प्राचेतसः वाल्मीकिः याभ्यां तौ, आर्यतुल्याकृती भवत्सदृशाकारौ, वीरौ शूरौ, वयसा अवस्थया, द्वादशाब्दकौ द्वादशवर्षीयौ (स्त.) ॥ १६ ॥

अनुवाद—क्योंकि इन दोनों (कुश और लव) को जृम्भकास्त्र जन्मसिद्ध हैं, इन्होंने वाल्मीकि मुनि को प्राप्त किया है (अर्थात् वाल्मीकि मुनि इनके संस्कर्ता तथा शिक्षक हैं), ये दोनों वीर हैं, आपके समान आकृति वाले हैं और दोनों की अवस्था बारह वर्ष की है ॥ १६ ॥

रामः—वत्सावित्येवाहं[3] परिप्लवमानहृदयः प्रमुग्धोऽस्मि ।

राम—ये दोनों वत्स (अर्थात् सीता-पुत्र) हैं—यही सोचकर मैं चञ्चलचित्त तथा अत्यन्त मुग्ध हो रहा हूँ ।

---

१. 'उभौ प्राचेतसान्मुनेः' इति पाठभेदः । २. 'वीरौ सम्प्राप्तसंस्कारौ' इति पाठान्तरम् ।

३ 'वत्स ! इत्येवाहम्' इति विभिन्नः पाठः ।

पृथिवी—एहि वत्से ! पवित्रीकुरु रसातलम्।

पृथिवी—आओ बेटी ! पाताल को पवित्र करो।

रामः—हा प्रिये ! लोकान्तर गतासि ?

राम—हाय प्यारी ! दूसरे लोक में चली गई हो ?

सीता—णेदु म अत्तणो अंगेसु विलअं अम्बा। ण सक्किस्सं ईरिस जीअलोअस्स परिभव अणुभविदुम्। [नयतु मामात्मनोऽङ्गे विलयमम्बा। न शक्तास्मि ईदृश जीवलोकस्य परिभवमनुभवितुम्।]

व्याख्या—सीता—अम्बा माता, आत्मन' स्वस्या', अङ्गे देहे, मा सीता, विलयम् अदर्शन, नयतु प्रापयतु। जीवलोकस्य प्राणिलोकस्य, ईदृशम् एवविध, परिभव तिरस्कारम् ('जीवलोकपरिवर्तम्' इति पाठभेदे तु 'जीवलोकस्य परिवर्त परिवर्तनम' इति व्याख्येयम्), अनुभवितुं सोढु, न शक्तास्मि न क्षमे।

अनुवाद—माँ मुझे अपने अगों मे विलीन कर लें। मैं जगत् का ऐसा तिरस्कार सहन करने में असमर्थ हूँ।

लक्ष्मण.—किमुत्तरं स्यात् ?

लक्ष्मण—क्या उत्तर होगा ? (अर्थात् पृथिवी सीता के कथन का क्या उत्तर देंगी, यह सुनने के लिए व्याकुल हूँ।)

पृथिवी—मन्नियोगतः स्तन्यत्याग यावत्पुत्रयोरवेक्षस्व। परेण तु यथा रोचिष्यते तथा करिष्यामि।

व्याख्या—मन्नियोगतः मम आदेशात', स्तन्यत्याग यावत् स्तन्यपानपरित्यागपर्यन्त, पुत्रयो सुतयो:, अवेक्षस्व पश्य। परेण तु स्तन्यत्यागात् परस्तात्, यथा यादृक, रोचिष्यते रुचिर्भविष्यति तथा तादृक् करिष्यामि विधास्यामि।

अनुवाद—पृथिवी—मेरे आदेश से तुम दूध छोड़ने के समय तक पुत्रों की देख भाल करो। बाद में तुम्हें जैसा रुचेगा वैसा मैं करूँगी।

गङ्गा—एवं तावत्।

गङ्गा—ऐसा ही करो।

(इति निष्क्रान्ते देव्यौ सीता च।)

(यह कहकर दोनो देवियाँ तथा सीता जी चली गईं।)

रामः—कथं प्रतिपन्न एव तावत्। हा चारित्रदेवते ! लोकान्तरे पर्यवसिताऽसि ? (*इति मूर्च्छति* ।)

राम—क्या (पाताल जाना) स्वीकार ही कर लिया ? हाय चरित्र की देवता ! तुम दूसरे लोक में चली गई हो ! (*यह कहकर मूर्च्छित हो जाते हैं* ।)

लक्ष्मण—भगवन् वाल्मीके ! परित्रायस्व, परित्रायस्व । एष ते काव्यार्थः ।

व्याख्या—भगवन् ! ऐश्वर्यशालिन् ! वाल्मीके प्राचेतस ! परित्रायस्व रक्ष (आर्यरामम्) । एष मोहजननेन रामस्य जीवनविनाशः, ते तव, काव्यार्थः काव्यस्य दृश्यकाव्यस्य अर्थः प्रयोजनम् (किम्) ?

अनुवाद—लक्ष्मण—भगवन् वाल्मीके ! बचाइये, बचाइये । क्या आपके काव्य का यही प्रयोजन है (अर्थात् अभिनय द्वारा राम का विनाश ही आपका उद्देश्य है) ?

(*नेपथ्ये*)

(*नेपथ्य में*)

अपनीयतामातोद्यम् । भो जङ्गमस्थावरा. प्राणभृतो मर्त्यामर्त्या. ! पश्यन्त्विदानीं वाल्मीकिनाऽभ्यनुज्ञातं पवित्रमाश्चर्यम् ।

व्याख्या—आतोद्यं वीणादिचतुर्विधवाद्यम्, अपनीयताम् अपसार्यताम्, जङ्गमस्थावराः चराचराः, मर्त्यामर्त्याः. मर्त्या विनश्वराः मनुष्यादय. अमर्त्याः अमरा देवा , प्राणभृत. प्राणिनः, इदानीम् अधुना, वाल्मीकिना प्राचेतसेन अभ्यनुज्ञातं समादिष्टं, पवित्रं पूतम्, आश्चर्यं विस्मयकरं, पश्यन्तु अवलोकयन्तु ।

अनुवाद—चारों प्रकार के वाद्यों को हटाइये । हे चराचर प्राणियो ! तथा मर्त्यगण (मनुष्य आदि) और अमर्त्यगण (देववृन्द) ! अब आप लोग वाल्मीकि मुनि द्वारा अनुमति-प्राप्त, पवित्र एवं विस्मयजनक वस्तु देखें ।

लक्ष्मण.—(*विलोक्य*)

लक्ष्मण—(देखकर)

मन्थादिव क्षुभ्यति गाङ्गमम्भो
व्याप्तं च देवर्षिभिरन्तरिक्षम् ।
आश्चर्यमार्या सह देवताभ्यां
गङ्गामहीभ्यां सलिलादुपैति ॥ १७ ॥

अन्वय—गाङ्गम् अम्भः मन्थात् इव क्षुभ्यति, अन्तरिक्षं च देवर्षिभिः व्याप्तम् । आश्चर्यम् ! आर्या गङ्गामहीभ्यां देवताभ्यां सह सलिलात् उपैति ॥ १७ ॥

व्याख्या—गाङ्गं गङ्गासम्बन्धि, अम्भः जलं, मन्थात् आलोडनात्, क्षुभ्यति उच्छलति, अन्तरिक्षं च गगनं च, देवर्षिभिः देवाः अमराः ऋषयः मुनयः तैः, व्याप्तम् आकीर्णम् । आश्चर्यम् अहो महदद्भुतम्, आर्या सीता, गङ्गामहीभ्यां भागीरथीपृथिवीभ्यां, देवताभ्यां देवीभ्यां, सह साकं, सलिलात् गङ्गायाः जलात्, उपैति उत्तिष्ठति ('उदेति' इति पाठभेदे तु 'उद्गच्छति' इति व्याख्येयम्) ॥ १७ ॥

अनुवाद—गंगा जी का जल मानों मन्थन के कारण उद्वेलित (चचल) हो रहा है, आकाश देवों और ऋषियों से व्याप्त हो गया है और आश्चर्य की बात है कि आर्या (सीता) गंगा तथा पृथिवी देवियों के साथ जल से उठ रही हैं ॥ १७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में भावाभिमानिनी वाच्या क्रियोत्प्रेक्षा अलंकार है। यह इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ १७ ॥

(नेपथ्ये)
(नेपथ्य में)

अरुन्धति ! जगद्वन्द्ये ! गंगापृथ्व्यौ जुषस्व नौ ।
अर्पितेयं तवावाभ्यां सीता पुण्यव्रता वधूः ॥ १८ ॥

अन्वय—जगद्वन्द्ये अरुन्धति ! नौ गंगापृथ्व्यौ जुषस्व । आवाभ्याम् इयं पुण्यव्रता वधूः सीता तव अर्पिता ॥ १८ ॥

व्याख्या—जगद्वन्द्ये ! जगतां पूजनीये !, अरुन्धति वसिष्ठभार्ये !, नौ आवां, गंगापृथ्व्यौ भागीरथीपृथिव्यौ, जुषस्व सेवस्व आवयोर्वचनमङ्गीकृत्य सन्तोषयेत्यर्थः । आवाभ्यां गंगापृथिवीभ्याम्, इयं समीपवर्तिनी, पुण्यव्रता पुण्य

पवित्र व्रतम् आधार यस्या सा, वधू स्नुषा, सीता जानकी, तव ते समीप इति शेष, अर्पिता न्यस्ता ('तवावाभ्याम्' इत्यस्य स्थाने 'तवाभ्यासे' इति पाठभेदे तु 'तव ते, अभ्यासे समीप' इति व्याख्येयम्) ॥ १८ ॥

अनुवाद—जगद्वन्दनीय अरुन्धती जी! हम दोनों गंगा और पृथिवी हैं, हमें आप्यायित कीजिये। हम दोनों इस पवित्र मन वाली वधू सीता को आपको सौंपती हैं ॥ १८ ॥

लक्ष्मण—अहो आश्चर्यमाश्चर्यम्! आर्य! पश्य, पश्य। कष्टमद्यापि नोच्छ्वसित्यार्य।

लक्ष्मण—अहा आश्चर्य है, आश्चर्य है। आर्य! देखिये, देखिये। कष्ट है! आप अब भी होश में नहीं आ रहे हैं।

(*तत प्रविशत्यरुन्धती सीता च।*)

(*इसके बाद अरुन्धती और सीता आती हैं।*)

अरुन्धती—

त्वरस्व वत्से! वैदेहि! मुञ्च शालीनशीलताम्।
एहि जीवय मे वत्स सौम्यस्पर्शेन पाणिना ॥ १९ ॥

अन्वय—वत्से वैदेहि! त्वरस्व, शालीनशीलतां मुञ्च, एहि, सौम्यस्पर्शेन पाणिना मे वत्स जीवय ॥ १९ ॥

व्याख्या—वत्से पुत्रि!, वैदेहि जानकि!, त्वरस्व शीघ्रता मत, शालीनशीलता लज्जाशीलत्व, मुञ्च त्यज, एहि आगच्छ, सौम्यस्पर्शेन मृदुलस्पर्शेन, पाणिना हस्तेन, मे मम, वत्स रामभद्र, जीवय जीवित कुरु ॥ १९ ॥

अनुवाद—अरुन्धती—बेटी जानकी! शीघ्रता करो। लज्जाशीलता त्यागो। आओ। कोमल स्पर्शवाले हाथ से मेरे वात्सल्य-भाजन (रामभद्र) को जिलाओ ॥ १९ ॥

सीता—(*ससम्भ्रम स्पृशति*) समस्ससदु समस्ससदु अज्जउत्तो। [समाश्वसितु समाश्वसित्वार्यपुत्र।]

सीता—(*हडबडी के साथ स्पर्श करती हैं*) आर्यपुत्र आश्वस्त हों, आश्वस्त हों।

राम—(*समाश्वस्य सानन्दम्*) भो! किमेतत्? (*दृष्ट्वा*

सहर्षादद्भुतम्) कथ देवी जानकी ? (सलज्जम्) अये ! कथमम्बाऽरुन्धती ? कथं सर्वे ऋष्यशृङ्गादयोऽस्मद्गुरव ?

राम—(आश्वस्त होकर आनन्द के साथ) अहो ! यह क्या है ? (देखकर हर्ष और आश्चर्य के साथ) देवी जानकी कैसे ? (लज्जा के साथ) अरे ! माता अरुन्धती कैसे ? और कैसे ऋष्यशृङ्ग आदि सभी हमारे गुरुजनवर्ग ?

अरुन्धती—वत्स ! एषा भागीरथी रघुकुलदेवता देवी गङ्गा सुप्रसन्ना[1]।

अरुन्धती—वत्स ! भगीरथ द्वारा लायी गई तथा रघुकुल की देवता ये गङ्गा देवी अत्यन्त प्रसन्न है।

(नेपथ्ये)

(नेपथ्य में)

जगत्पते रामभद्र ! स्मर्यतामालेख्यदर्शने मां प्रत्यात्मवचनम्। 'सा त्वमम्ब ! स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्याना भवे'ति। तदनृणास्मि।

व्याख्या—जगत्पते ! संसारस्वामिन् !, आलेख्यदर्शने चित्रदर्शनवेलाया, मॉ प्रति गंगामुद्दिश्य, आत्मवचनम् आत्मन. स्वस्य वचन कथन, स्मर्यताम् अनुध्यायताम्, 'अम्ब ! मात' !, सा त्व, तादृशी भवती, स्नुषाया वध्वा, सीताया जानक्याम्, अरुन्धतीव वसिष्ठपत्नीव शिवानुध्यानपरा शिवस्य शुभस्य यदनुध्यान परिचिन्तन तत्परा तदासक्ता भव'। तस्मिन् तव प्रार्थितविषये, अनृणा ऋणमुक्ता, अस्मि भवामि।

अनुवाद—विश्व के प्रभु रामभद्र ! चित्र देखने के समय मुझे उद्देश्य करके आपने जो वचन कहा था, उसका स्मरण कीजिये—'मात ! आप अरुन्धती की तरह वधू सीता के कल्याण-चिन्तन में तत्पर रहें'। सो मैं (इस सम्बन्ध में) ऋणमुक्त हो गई हूँ।

अरुन्धती—इयं ते श्वश्रूर्भगवती वसुन्धरा।

अरुन्धती—ये आपकी सास भगवती पृथ्वी है।

---

१ 'एषा भगवती भगीरथगृहदेवता सुप्रसन्ना गङ्गा' इति पाठभेद।

(नेपथ्ये)

(नेपथ्य में)

उक्तमासीदायुष्मता वत्साया परित्यागे 'भगवति वसुन्धरे ! सुश्लाघ्या दुहितरमवेक्षस्व जानकीम्' इति । तदधुना कृतवचनास्मि प्रभोर्वत्सस्येति ।

व्याख्या—वत्साया सीताया, परित्यागे निर्वासनकाले, आयुष्मता दीर्घायुष्केण, उक्तमासीत् कथितमभवत्,—'भगवति ! ऐश्वर्यशालिनि !, वसुन्धरे ! पृथिवि !, सुश्लाघ्या प्रशंसनीया, दुहितर कन्या, जानकीं मैथिलीम्, अवेक्षस्व पर्यवेक्षस्व' । तत् तस्माद्धेतो अधुना इदानीं, प्रभो पालकस्य, वत्सस्य स्नेहास्पदस्य जामातृ, कृतवचना कृत सम्पादित वचन वाक्य यया तथाभूता, अस्मि भवामि ।

अनुवाद—सीता का परित्याग करने के समय आयुष्मान् ने कहा था—'भगवति पृथिवि ! श्लाघनीय कन्या जानकी की देखभाल करना' । इसलिए इस समय प्रभु वत्स (आप) के वचन का पालन मैंने किया है ।

राम.—कृतापराधोऽपि भगवति ! त्वयानुकम्पयितव्यो रामः प्रणमति ।

राम—भगवति ! अपराध करने पर भी आपके द्वारा अनुगृहीत राम प्रणाम करता है ।

टिप्पणी—किन्हीं पुस्तकों में 'कथ कृतमहापराधो भगवतीभ्या-मनुकम्पित. ? प्रणमामि व.' ऐसा पाठ है । तदनुसार अर्थ होगा—'कैसे महान् अपराध करने पर भी आपलोगों ने मुझ पर अनुग्रह किया ! आपलोगों को प्रणाम है !'

अरुन्धती—भो भो. पौरजानपदा ! अधुना वसुन्धराजाह्नवीभ्यामेव प्रशस्यमाना ममारुन्धत्याः समर्पिता, पूर्वम् भगवता वैश्वानरेण निर्णीत पुण्यचारित्रा, सब्रह्मकैश्च देवै स्तुता सावित्रकुलवधूर्देवयजनसम्भवा जानकी परिगृह्यताम् । कथमिह भवन्तो मन्यन्ते ?

व्याख्या—पौरजानपदा ! नगरवासिन. देशवासिनश्च ! अधुना इदानीं, वसुन्धराजाह्नवीभ्या पृथ्वीभागीरथीभ्याम्, एवम् इत्थम् 'आवयोरपि

यत्सङ्गात्' इत्यादिवचोभि इति यावत्, प्रशस्यमाना संस्तूयमाना, मम, अरुन्धत्याः वसिष्ठपत्न्या', (समीपे) समर्पिता न्यस्ता, पूर्वं प्राक्, भगवता ऐश्वर्यशालिना, वैश्वानरेण अग्निना, निर्णीतपुण्यचारित्रा निर्णीतं स्थिरीकृतं पुण्य पवित्र चारित्रम् आचरण यस्याः सा, सब्रह्मकै: ब्रह्मणा प्रजापतिना सह वर्तमानै, देवैः इन्द्रादिभिः, स्तुता प्रशंसिता, सावित्रकुलवधू: सूर्यवंशीयस्नुषा, देवयजनसम्भवा यज्ञभूमिसमुत्पन्ना, जानकी सीता, परिगृह्यता राज्ञीत्वेन स्वीक्रियताम्, इह अत्र विषये, भवन्त: कथं मन्यन्ते भवता किमभिमत भवति ?

अनुवाद—अरुन्धती—हे नागरिको तथा ग्रामवासियो ! इस समय पृथ्वी और भागीरथी द्वारा इस प्रकार प्रशसा करके मुझे सौंपी हुई, पहले भगवान् अग्नि द्वारा निर्णीत पवित्र चरित्र वाली, ब्रह्मा आदि देवों से स्तुति को प्राप्त, सूर्यवंश की कुलवधू और यज्ञभूमि से उत्पन्न जानकी का ग्रहण करें—इस सम्बन्ध में आपलोगों की क्या राय है ?

लक्ष्मणः—आर्ये ! एवमम्बयाऽरुन्धत्या च निर्भर्त्सिताः पौरजानपदाः कृत्स्नश्च भूतग्राम आर्यां नमस्कुर्वन्ति। लोकपाला सप्तर्षयश्च पुष्पवृष्टिभिरुपतिष्ठन्ते।

व्याख्या—एवम् इत्थम्, अम्बया मात्रा, अरुन्धत्या, निर्भर्त्सिता तिरस्कृता, पौरजानपदाः पुरवासिन देशवासिनश्च, कृत्स्नश्च निखिलश्च, भूतग्रामः प्राणिसमूह, आर्यां जानकीं, नमस्कुर्वन्ति प्रणमन्ति। लोकपाला' इन्द्रादयो दिक्पाला', सप्तर्षयश्च मरीच्यादयश्च, पुष्पवृष्टिभि' कुसुमवर्षैः, उपतिष्ठन्ते पूजयन्ति।

लक्ष्मण—आर्ये ! इस प्रकार माता अरुन्धती से तिरस्कृत होकर पुरवासी तथा ग्रामवासी जन और सकल प्राणिसमूह आर्या को प्रणाम कर रहे हैं। लोक-पाल और सप्तर्षिगण पुष्पों की वर्षा से उनकी पूजा कर रहे हे।

टिप्पणी—आर्याम्—इसमें 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इस न्याय के बल से नम शब्द के योग में भी द्वितीया हुई। लोकपाला.—'इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, मरुत्, कुबेर और ईश' लोकपाल कहलाते हैं, ये क्रमश पूर्व आदि दिशाओं और विदिशाओं के अधिपति हैं। सप्तर्षयः—'मरीचि, अत्रि, पुलह, पुलस्त्य, क्रतु, अंगिरा और वसिष्ठ' सप्तर्षि

कहलाते हैं। उपतिष्ठन्ते—यह 'उप' उपसर्गपूर्वक स्था धातु से बनता है। इसमें 'उपाद्देवपूजासंगतिकरणमित्रकरणपथिष्विति वाच्यम्' इस वार्तिक से आत्मनेपद हुआ।

अरुन्धती—जगत्पते रामभद्र !

अरुन्धती—जगदीश्वर रामभद्र !

नियोजय यथाधर्मं प्रियां त्वं धर्मचारिणीम्।
हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिमध्वरे ॥ २० ॥

अन्वय—त्वं हिरण्मय्याः प्रतिकृतेः पुण्यां प्रकृतिं प्रियां धर्मचारिणीम् अध्वरे यथाधर्मं नियोजय ॥ २० ॥

व्याख्या—त्वं, हिरण्मय्याः स्वर्णमय्याः, प्रतिकृतेः प्रतिमायाः, पुण्यां पवित्रां, प्रकृतिं मूलरूपां, प्रियां वल्लभां, धर्मचारिणीं सहधर्मिणीम्, अध्वरे यज्ञे, यथाधर्मं धर्ममनतिक्रम्य, नियोजय स्थापय ॥ २० ॥

अनुवाद—स्वर्णमयी प्रतिमा की मूलभूत प्रिय सहधर्मिणी (सीता) को यज्ञ में धर्मानुसार नियुक्त करें ॥ २० ॥

टिप्पणी—हिरण्मय्याः—हिरण्य+मयट् 'तस्य विकारः' इत्यनेन, ततः टित्वान्ङीप्, 'दाण्डिनायने'—त्यादिसूत्रेण यलोपनिपातः ॥ २० ॥

सीता—(स्वगतम्) अवि जाणादि अज्जउत्तो सीदाए दुक्खं पडिमज्जिदुम् ? [अपि जानात्यार्यपुत्रः सीताया दुःखं परिमार्ष्टुम्।]

सीता—(*मन में*) आर्यपुत्र सीता का दुःख मिटाना भी जानते हैं।

रामः—यथा भगवत्यादिशति।

राम—भगवती की जैसी आज्ञा।

लक्ष्मणः—कृतार्थोऽस्मि।

लक्ष्मण—मैं कृतार्थ हुआ।

सीता—पच्चुज्जीविदह्मि। [प्रत्युज्जीवितास्मि।]

सीता—मेरा पुनर्जीवन हुआ है।

लक्ष्मणः—आर्ये ! अयं लक्ष्मणः प्रणमति।

लक्ष्मण—आर्ये ! यह लक्ष्मण (आपको) प्रणाम करता है।

सीता—वच्छ ! ईदिसो तुमं चिरं जीअ। [वत्स ! ईदृशस्त्वं चिरं जीव।]

सीता—वत्स ! तुम ऐसे (वियुक्त भाई-भावी के मिलन से आनन्दित होते हुए) चिरकाल तक जीते रहो।

अरुन्धती—भगवन् वाल्मीके ! उपनयेदानीं सीतागर्भसम्भवौ रामभद्रस्य कुशलवौ । (*इति निष्क्रान्ता* ।)

अरुन्धती—भगवन् वाल्मीकि ! अब सीता के गर्भ से उत्पन्न कुश और लव को रामभद्र के पास ले आएं । (*यह कहकर चली जाती हैं ।*)

टिप्पणी—यहाँ गर्भाङ्क (अन्तर्नाटक) समाप्त हो जाता है। गर्भाङ्क का लक्षण यह है—'अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गोद्वारामुखादिमान् । अङ्कोऽपर. स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि ।।' इस लक्षण के अन्तर्वर्ती बीज का लक्षण इस प्रकार है—अल्पमात्र समुद्दिष्ट बहुधा यत् विसर्पति । फलस्य प्रथमो हेतुर्बीज तदभिधीयते ।।' प्रकृत गर्भाङ्क म 'हा ! दाणि मन्दभाइणी .....' यह बीज है, 'प्रविश्य सूत्रधारः' यहाँ मे लेकर 'विश्वम्भरात्मजा देवी' इस श्लोक के अन्त तक प्रस्तावना है और सीता-राम का सम्मेलन रूप फल है।

रामलक्ष्मणौ—दिष्ट्या तथैवैतत् ।

राम और लक्ष्मण—भाग्य से यह वैसा ही हुआ।

सीता—(सबाष्पाकूतम्) कहिं ते पुत्तआ ? [क्व तौ पुत्रकौ ?]

सीता—(*आँसू और अभिप्राय के साथ*) कहाँ हैं वे दोनों पुत्र ?

(*ततः प्रविशति वाल्मीकि कुशलवौ च* ।)

(*तदनन्तर वाल्मीकि, कुश और लव आते हैं* ।)

वाल्मीकिः—वत्सौ ! एष वां रघुपति पिता । एष लक्ष्मणः कनिष्ठतात. । एषा सीता जननी । एष राजर्षिर्जनको मातामहः ।

वाल्मीकि—वत्सयुगल ! ये रघुनाथ जी तुम्हारे पिता हैं ये लक्ष्मण जी चाचा हैं, ये सीता जी माता हैं और ये राजर्षि जनक मातामह हैं।

टिप्पणी—वाम् = युवयोः । तुम दोनो के । यहाँ युष्मद् शब्द को 'युष्मदस्मदोः'—सूत्र से वाम् आदेश हुआ है। मातामह' = नाना । मातृ+ डामहच् 'मातृपितृभ्या पितरि डामहच्' इत्यनेन ।

सीता—(*सहर्षकरुणाद्भुतं विलोक्य*) कह तादो ? कह जादौ ? [कथ तात ? कथ जातौ ?]

सीता—(*हर्ष, करुणा और आश्चर्य के साथ देखकर*) कैसे पिता जी ? और कैसे दोनों पुत्र (उपस्थित हैं) ?

टिप्पणी—यहाँ पिता, पुत्र आदि के देखने से हर्ष, पूर्वानुभूत दुःख के स्मरण से करुणा और अकस्मात् पिता के साक्षात्कार होने से आश्चर्य हुआ है।

वत्सौ—हा तात ! हा अम्ब ! हा मातामह !

वत्सद्वय—हाय पिता जी ! हाय माता जी ! हाय नाना जी !

रामलक्ष्मणौ—(*सहर्षमालिङ्ग्य*) ननु वत्सौ ! पुण्यैः युवां प्राप्तौ स्थ.।

राम और लक्ष्मण—(*आनन्द के साथ आलिंगन करके*) वत्स युगल ! पुण्य से तुम दोनों मिले हो।

सीता—एहि जाद कुस ! एहि जाद लव ! चिरस्स मं परिस्सजह लोअन्तरादो आअद[1] जणणिम् [एहि जात कुश ! एहि जात लव ! चिरस्य परिष्वजेथा लोकान्तरादागता जननीम्।]

सीता—बेटा कुश ! आओ, बेटा लव ! आओ। दूसरे लोक से आयी हुई माता का बहुत देर तक आलिंगन करो।

टिप्पणी—चिरस्य=बहुत समय तक। 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः। परिष्वजेथाम्=आलिंगतम्=आलिंगन करो।

कुशलवौ—(*तथा कृत्वा*) धन्यौ स्वः।

कुश और लव—(*वैसा करके*) हम दोनों धन्य हुए।

सीता—भअव ! एसा हं पणमामि। [भगवन् ! एषाऽहं प्रणमामि।]

सीता—भगवन् ! यह मैं प्रणाम करती हूँ।

वाल्मीकिः—वत्से ! एवमेव चिरं भूयाः।

वाल्मीकि—वत्से ! इसी प्रकार (पतिपुत्रादि से युक्त होकर) चिरक.. तक रहो।

सीता—अम्महे ! तादो, कुलगुरू, अज्जाजणो, सभत्तुआ

---

१. 'जम्मन्तरगद (जन्मान्तरगताम्)' इति पाठभेदः।

अज्जा सन्तादेई, सलक्खणा सुप्पसण्णा अज्जउत्तचलणा, समं कुसलवावि दीसन्ति, ता, णिब्भरह्मि आणन्देण। [आश्चर्यम् ! तात., कुलगुरु, आर्याजन, सभर्तृका शान्तादेवी सलक्ष्मणा सुप्रसन्ना आर्यपुत्र-चरणाः, समं कुशलवावपि दृश्यन्ते, तन्निर्भरास्मि आनन्देन ।]

सीता—आश्चर्य है कि पिता जी, कुलगुरु, सभी सासें, पति समेत शान्ता देवी, लक्ष्मण सहित अत्यन्त प्रसन्न आर्यपुत्र और साथ में कुश तथा लव भी दिखाई पड़ रहे हैं। इसलिए मैं आनन्दविभोर हो रही हूँ।

(*नेपथ्ये कलकलः*)

(*नेपथ्य में कोलाहल होता है।*)

वाल्मीकिः—(*उत्थायावलोक्य च*) **लवणावलवणो मथुरेश्वर**[1] **प्राप्तः ।**

वाल्मीकि—(*उठकर और देखकर*) लवणासुर का उन्मूलन करके मथुरा के अधिपति (शत्रुघ्न) आ गये हैं।

लक्ष्मण.—सानुषङ्गाणि कल्याणानि ।

व्याख्या—कल्याणानि मङ्गलानि, सानुषङ्गाणि अनुषङ्गः अनुबन्धः तेन सह वर्तमानानि यानि तथाभूतानि (जातानि)।

अनुवाद—लक्ष्मण—मंगल दूसरे मंगल सहित उपस्थित हुए हैं।

रामः—सर्वमिदमनुभवन्नपि न प्रत्येमि । यद्वा प्रकृतिरियम-भ्युदयानाम् ।

व्याख्या—इदं सर्वं पुत्रकलत्रादिसमागमरूपं सुखमित्यर्थः, अनुभवन्नपि साक्षात्कुर्वन्नपि, न प्रत्येमि न विश्वसिमि। यद्वा आहोस्वित्, अभ्युदयानां मङ्गलानाम्, इयं प्रकृतिः अयं स्वभावः (अस्ति)।

अनुवाद—राम—इन सब बातों का अनुभव करते हुए भी मुझे विश्वास नहीं हो रहा है। अथवा मंगलों की यह प्रकृति है।

वाल्मीकिः—रामभद्र ! उच्यताम्, किन्ते भूयः प्रियमुपहरामि ?

वाल्मीकि—रामभद्र ! कहिये, और क्या मैं आपका अभीष्ट सम्पादन करूँ ?

---

१ 'उपहतलवणो मथुरेश्वरः' इति पाठान्तरम्।

राम —अतः परमपि प्रियमस्ति ? किन्त्विदं भरतवाक्यमस्तु ।

व्याख्या—अतः परमपि पुनः कलत्रादिप्राप्त्यधिकमपि, प्रियम् अभीष्टम् अस्ति विद्यते ? किन्तु परन्तु, इदं वक्ष्यमाणं, भरतवाक्यं भरतमुनिवाक्यम्, अस्तु भवतु ।

राम—क्या इससे भी बढ़कर कोई अभीष्ट है ? (अर्थात् मुझे पत्नी, पुत्र आदि की प्राप्ति से अधिक कुछ भी अभीष्ट नहीं है) । किन्तु यह भरतमुनि का वाक्य हो ।

टिप्पणी—भरतवाक्यम् = नाटक के अन्त में आशीर्वाद रूप में गाया जाने वाला पद्य ।

पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति[1] च श्रेयांसि सेयं कथा
मङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गङ्गेव च ।
तामेतां परिभावयन्त्वभिनयैर्विन्यस्तरूपां बुधाः
शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतप्राज्ञस्य वाणीमिमाम् ॥ २१ ॥

अन्वय—माता इव गङ्गा इव च जगतः मङ्गल्या च मनोहरा च सा इयं कथा पाप्मभ्यः पुनाति, श्रेयांसि वर्धयति च । अभिनयैः विन्यस्तरूपां शब्दब्रह्मविदः प्राज्ञस्य कवेः परिणताम् इमां ताम् एतां वाणीं बुधाः परिभावयन्तु ॥ २१ ॥

व्याख्या—माता इव जननी इव, गङ्गा इव जाह्नवी इव, जगतः संसारस्य, मङ्गल्या कल्याणकरी, मनोहरा मनोज्ञा, सा प्रसिद्धा, इयम् एषा, कथा रामायणात्मकवाक्यप्रबन्धरूपा, पाप्मभ्यः पापेभ्यः, पुनाति पवित्रीकरोति, श्रेयांसि कल्याणानि, वर्धयति बहुलीकरोति, अभिनयैः आङ्गिकादिभिश्चतुर्विधैः अवस्थानुकारैः, विन्यस्तरूपा विन्यस्तं विन्यासेन निष्पन्नं रूपम् आकृतिः यस्याः ताम्, शब्दब्रह्मविदः सम्पूर्णशब्दतत्त्वज्ञस्य, प्राज्ञस्य विदुषः, कवेः वर्णयितुः, परिणतां रूपान्तरं प्राप्ताम् ('परिणतप्रज्ञस्य' इति पाठभेदे तु 'परिणता परिपक्वा प्रज्ञा बुद्धिः यस्य कवेः' इति व्याख्येयम्), इमाम् एताम्, ताम् एतां सुप्रसिद्धां, वाणीं वाचं, बुधाः पण्डिताः, परिभावयन्तु परितश्चिन्तयन्तु ॥ २१ ॥

अनुवाद—माता और गंगा की तरह विश्व का कल्याण करने वाली

---

1. 'पुनातु वर्धयतु' इति पाठान्तरम् ।

यह मनोहर तथा प्रसिद्ध (रामायण की) कथा पापों से पवित्र करती है एवं मङ्गलों को बढ़ाती है। इस सुप्रसिद्ध (कथा रूप) वाणी का, जो विद्वान् कवि (भवभूति) द्वारा रूपान्तरित की गई है तथा जिसका रूप अभिनयों द्वारा प्रदर्शित किया गया है, पण्डितगण परिचिन्तन करें ॥ २१ ॥

टिप्पणी—अभिनयैः = मनोगत भाव व्यक्त करने वाली शरीरचेष्टा आदि से। अभिनय का लक्षण साहित्यदर्पणकार ने इस प्रकार दिया है। 'भवेदभिनयोऽवस्थाऽनुकारः स चतुर्विधः। आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥' इस श्लोक में पूर्णोपमा अलङ्कार है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥ २१ ॥

(*निष्क्रान्ताः सर्वे।*)

(*सबका प्रस्थान।*)

इति श्रीभवभूतिविरचिते उत्तररामचरिते 'सम्मेलनं' नाम-सप्तमोऽङ्कः ॥ ७ ॥

श्री भवभूति-रचित उत्तररामचरित नाटक में 'सम्मेलन' नामक सातवाँ अङ्क समाप्त ॥ ७ ॥

इति श्रीतारिणीशशर्मकृतोत्तररामचरितेन्दुकलाख्यव्याख्यायां सप्तमाङ्कविवरणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

ॐ तत्सत् ब्रह्मार्पणमस्तु।

परिशिष्ट

गोरखपुर विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में पूछे गए 'उत्तररामचरित' के प्रश्न तथा उनके उत्तर

(१६६० से १६६२ तक)

१६६०

प्र० (१) सन्दर्भनिर्देशपुरस्सर निम्नलिखित का अनुवाद करो —

(क) भो भो ! सर्वमतिमात्र दोषाय यत्प्रबलवातावलिक्षोभगम्भीर गुडगुडायमानमेघमेदुरान्धकारनीरन्ध्रनिबद्धमेकवारविश्वग्रसनविकटविकरालकालकण्ठमुखकन्दरविवर्तमानमिव युगान्तनिद्रानिरुद्धसर्वद्वारनारायणोदरनिविष्टमिव भूतजात वेपते।

(ख) अहो न केवल दरविकसन्नीलोत्पलश्यामलोज्ज्वलेन देहबन्धेन कवलितारविन्दकेसरकषायकण्ठकलहंसनिनाददीर्घदीर्घेण स्वरेण च राम भद्रमनुहरति, ननु कठिनकमलगर्भपक्ष्मल शरीरस्पर्शोऽपि तादृश एव वत्सस्य। जात ! प्रेक्षे तावत्ते मुखम्।

उत्तर १ (क) 'दूराह्वान वधो युद्ध राज्यदेशादिविप्लव' इस नाटकीय नियम के अनुसार रगमच पर युद्ध का दृश्य दिखाना वर्जित है। अत 'उत्तर रामचरितम्' के छठे अक में विद्याधर दम्पती के सलाप द्वारा चन्द्रकेतु और लव के युद्ध की सूचना दी जाती है। विद्याधर युद्ध की भयकरता का वर्णन करते हुए अपनी पत्नी से कहता है—[इसके आगे उत्तर लिखने के लिए प्रस्तुत पुस्तक के पृष्ठ ३४२ पर अनुवाद तथा पाठभेद के लिए व्याख्या देखिए]

(ख) यह गद्य चतुर्थ अक में आया है। वाल्मीकि मुनि के आश्रम में जनक जी से मिलने के लिए अरुन्धती के साथ कौशल्या गई हैं। वहाँ लड़कों के साथ खेल-कूद करते हुए लव को देखकर उत्सुकतावश अरुन्धती और कौशल्या उस बारी-बारी से अपनी गोद में लेती हैं। उस समय

कौशल्या कहती हैं—[आगे पृष्ठ २६८ पर उक्त गद्य का अनुवाद देखिए पाठभेद के लिए सर्वत्र व्याख्या देखनी चाहिए।]

प्र० (२) निम्नलिखित पद्यों की व्याख्या करो और जहाँ आवश्यक हो वहाँ टिप्पणी दो :—

(क) नीलोत्खातमृणालकाण्डकवलच्छेदेषु सम्पादिताः
पुष्यत्पुष्करवासितस्य पयसो गण्डूषसङ्क्रान्तयः।
सेकः शीकरिणा करेण विहितः कामं विरामे पुनर्-
यत्स्नेहादनरालनालनलिनीपत्रातपत्रं धृतम् ॥

(ख) तुरगविचयव्यग्रानुर्वीभिदः सगराध्वरे
कपिलमहसाऽमर्षात्प्लुष्टान् पुरा प्रपितामहान्।
अगणिततनूपातं तप्त्वा तपांसि भगीरथो
भगवति ! तव स्पृष्टानद्भिश्चिराद्दुदतीधरत् ॥

उत्तर २ (क) पृष्ठ १७० पर १६ वें श्लोक की व्याख्या तथा टिप्पणी देखिए।

(ख) पृष्ठ ३६ पर २३ वें श्लोक की व्याख्या तथा टिप्पणी देखिए।

प्र० (३) अपनी संस्कृत में, निम्नलिखित पद्यों में से किसी एक का भावार्थ लिखो :—

(a) प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियमः
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीतः परिचयः।
पुरो वा पश्चाद्वा तदिदमविपर्यासितरसं
रहस्यं साधूनामनुपधि विशुद्धं विजयते ॥
व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः ॥

(b) नामनिर्देशपूर्वक उपर्युक्त रेखांकित शब्दों के समास लिखो।

उत्तर ३. (a) सज्जनानां चरित्रं सर्वथा विजयते, यतो हि तेषां व्यवहारः आह्लादकरः, वाक्संयमः सविनयो मधुरश्च, बुद्धिः प्रकृत्या कल्याणकरी,

परिचय' निर्दोष तथा पूर्वं पश्चाद्वा अनुरागमनुत्पद्ध्यत् मिलन निश्छल निर्मलं च भवति।

(b) प्रियप्राया—प्रियेण प्राया = तुल्या या सा प्रियप्राया बहुव्रीहिः समास. । अनुपधि—अविद्यमान उपधि = छलम् यस्मिन् तत् अनुपधि, बहुव्रीहिसमास । हिमरश्मौ—हिम = शीतल. रश्मि. = किरण यस्य स: हिमरश्मि, बहुव्रीहिसमास, तस्मिन् हिमरश्मौ।

प्र० (४) आवश्यक उद्धरण देते हुए लव का चरित्र चित्रण करो :—

उत्तर ४. देखिए भूमिका—प्रमुख पात्र—लव का चरित्र।

१९६१

प्र० (१) सन्दर्भनिर्देशपूर्वक निम्नलिखित पद्यों की व्याख्या करो —

(a) प्रियप्राया वृत्तिर्विनयमधुरो वाचि नियम.।
प्रकृत्या कल्याणी मतिरनवगीत परिचय।
पुरो वा पश्चाद्व तदिदमविपर्यासितरस।
रहस्य साधूनामनुपधि विशुद्ध विजयते॥

(b) अय हि शिशुरेकक समरभारभूरिस्फुरत्
करालकरकन्दलीकलितशस्त्रजालैर्बलै ।
कणत्कनकर्किङ्किणीझणझणायितस्यन्दनै-
रमन्दमददुर्दिनद्विरदवारिदैरावृत ॥

उत्तर १. (a) उत्तररामचरितस्य द्वितीयाङ्के वनदेवतागृहमागतमात्रेयी सन्तुष्टा तापसी वा प्रशंसन्ती कथयति—[इसके आगे पृष्ठ ८६ पर श्लोक २ की व्याख्या देखिए]

(b) उक्तपुस्तकस्य पञ्चमेऽङ्के चन्द्रकेतु स्वस्य सैनिकान् शरवर्षेण पीडयन्त लव दृष्ट्वा तस्य रणकौशलेन चकित सन् तस्य विषये सुमन्त्र कथयति—[इसके आगे पृष्ठ ३६४ पर श्लोक ५ की व्याख्या देखिए]

प्र० (२) निम्नलिखित गद्यों का अनुवाद करो और जहाँ आवश्यक हो वहाँ टिप्पणी दो —

(1) अयमविरलानोकहनिवहनिरन्तरस्निग्धनीलपरिसरारण्यपरिणद्ध-गोदावरीमुखरकन्दर सततमभिष्यन्दमानमेघमेदुरितनीलिमा जनस्थान-मध्यगो गिरिःप्रस्रवणो नाम।

(ii) हन्त भोः ! प्रलयवानोत्क्षोभगम्भीरगुलगुलायमानमेघमेदुरान्धकारनीरन्ध्रनद्धमिव एकवारविश्वग्रसनविकटविकरालकालमुखकन्दरविवर्तमानमिव युगान्तयोगनिद्रानिरुद्धसर्वद्वारं नारायणोदरनिविष्टमिव भूतं विपद्यते ।

उत्तर २ (i) पृष्ठ ४४ पर प्रकृत गद्य का अनुवाद, टिप्पणी तथा टिप्पणी में समास दरसाने के लिए व्याख्या भी देखिए ।

(ii) पृष्ठ ३४२ पर अनुवाद आदि देखिए ।

प्र० (३) (a) आवश्यक उद्धरण देते हुए सीता का चरित्र चित्रित करो :—

(b) निम्नलिखित शब्दों का अर्थ लिखो :—

प्रतिसूर्यकः प्रचलाकी, सान्तपनम्, तौर्यत्रिकम्, कौशिकः ।

उत्तर ३. (a) देखिए भूमिका—प्रमुख पात्र—सीता का चरित्र ।

(b) प्रतिसूर्यक = गिरगिट । प्रचलाकी = मोर । सान्तपनम् = दो दिनों में सम्पन्न होने वाला एक व्रत । इसमें पहिले दिन पञ्चगव्य और कुशोदक पर रहना पड़ता है और दूसरे दिन उपवास करना पड़ता है । तौर्यत्रिकम् = नृत्य, गीत और वाद्य—ये तीनों । कौशिकः = उल्लू ।

१९६२

प्र० (a) निम्नलिखित पद्यों की सन्दर्भ सहित व्याख्या करो :—

(a) यथेच्छं भोग्यं वो वनमिदमयं मे सुदिवसः
सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति ।
तरुच्छाया तोयं यदपि तपसो योग्यमशनं
फलं वा मूलं वा तदपि न पराधीनमिह वः ॥

(b) त्वं वह्निर्मुनयो वसिष्ठगृहिणी गङ्गा च यस्या विदु-
र्माहात्म्यं यदि वा रवेः कुलगुरुर्देवः स्वयं भास्करः ।
विद्यां वागिव यामसूत भवती शुद्धिं गतायाः पुर-
स्तस्यास्त्वं दुहितुस्तथा विशसनं किं दारुणेऽमृष्यथाः ॥

उत्तर १. (a) उत्तररामचरितस्य द्वितीयेऽङ्के तापस्याः स्वागतं कुर्वन्ती वनदेवता कथयति—[इसके आगे पृष्ठ ८८ पर इस श्लोक की व्याख्या देखिए]

(b) उत्तररामचरितस्य चतुर्थेऽङ्के सीतायाः निर्वासनरूप दुःखम् अनुस्मृत्य सीताजननीं धरित्रीमुपालभमानो जनकः कथयति—[इसके आगे पृष्ठ २४० पर इस श्लोक की व्याख्या देखिए]

प्र० (२) निम्नलिखित गद्यों का अनुवाद करो और जहाँ आवश्यक हो वहाँ टिप्पणी दो :—

(i) उक्तमेव भगवत्या भागीरथीदेव्या,—'वत्से ! देवयजनसम्भवे सीते ! अद्य खलु आयुष्मतो. कुशलवयोर्द्वादशजन्मसवत्सरस्य सख्यामङ्गलग्रन्थिरभिवर्तते । तदात्मन. पुराणश्वशुरमेतावतो मानवस्य राजर्षिवंशस्य प्रसवितारं सवितारमहतपाप्मान देव स्वहस्तावचितै' पुष्पैरुपतिष्ठस्व' ।

(ii) 'राजर्षे ! अनेनैव मन्युना अचिरपरित्यक्तरामभद्रमुखचन्द्रदर्शनां नार्हसि त्वं दुःखयितुमतिदु खितां देवीम् । रामभद्रस्यापि दैवदुर्नियोगः कोऽपि, यत् किल समन्तात् प्रवृत्तबीभत्सकिंवदन्तीकाः पौरजानपदा नाग्निपरिशुद्धिमप्यल्पका. प्रतियन्ति' ।

उत्तर २. (i) पृष्ठ १४६ पर इस गद्य का अनुवाद तथा टिप्पणी देखिए ।

(ii) पृष्ठ २४६ पर इस गद्य का अनुवाद देखिए । टिप्पणी में समास दरसाने के लिए व्याख्या देखिए ।

प्र० (३) (a) 'उत्तररामचरित' में बाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत अभिनय का वर्णन करो ।

(b) उत्तररामचरित के पहले अक का नाटकीय महत्त्व प्रस्तुत करते हुए अपने कथन की पुष्टि के लिए उपयुक्त उद्धरण दो ।

उत्तर ३. (a) देखिए भूमिका—२. उत्तररामचरित—कथावस्तु का सप्तम अंक ।

(b) 'उत्तररामचरितम्' का प्रथम अंक सम्पूर्ण नाटक की पूर्वपीठिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है । प्राय सभी प्रमुख पात्रों का नाम और भावी घटनाओं का सूचना सूत्र इस अक में आ जाता है । नाटक का मुख्य उद्देश्य (कार्य) है—राम की आदर्श शासन-व्यवस्था का स्थापन तथा सीता के उदात्त चरित्र का अभिमुखीकरण । वचन और क्रिया दोनों रूपों से नाटक के इस उद्देश्य का आरम्भ अत्यन्त मर्मस्पर्शी स्थिति में पहले अंक

में होता है। जामाता की यज्ञभूमि से वशिष्ठ ने राम को आदेश भिजवाया है—'युक्तः प्रजानामनुरञ्जने स्यास्तस्माद्यशो यत्परमं धनं वः ॥ ११ ॥'

राम इस आदेश को सुनकर तुरन्त कहते हैं—

'स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥ १२ ॥

और सीता समर्थन करती हैं—'अदो जत्र राहवकुलधुरन्धरो अज्जउत्तो' । शीघ्र ही 'जानकीमपि मुञ्चतः लोकस्य आराधनाय मे व्यथा नास्ति' की कसौटी राम के सामने आती है। दुर्मुख से सीता के लोकापवाद की बात सुनकर राम सीता का, गर्भवती सीता का, परित्याग सीता के अनजाने कर देते हैं। उनका हृदय विदीर्ण हो रहा है, किन्तु प्रजा-अनुरञ्जन का आदर्श उनके सामने है और वे सीता के प्रति विलाप करके ही सन्तोष कर रहे हैं—'छद्मना परिददामि मृत्यवे सौनिके गृहशकुन्तिकामिव ॥ ४५ ॥'

उनकी इस कष्टप्रद स्थिति में ही लवणासुर से सताए हुए यमुनातीरवासी तपस्वी अपनी रक्षा के लिए उनके पास उपस्थित होते हैं। सच में, प्रजारञ्जन का व्रत रखने वाले राम को अपने कष्ट और विलाप का अवसर कहाँ है? और राम उस व्यवस्था के लिए अपना शोक छोड़कर उठ खड़े होते हैं।

चित्रपट द्वारा राम के पूर्वार्ध जीवन के त्याग और विक्रम की एक झाँकी प्रस्तुत कर कवि उत्तरचरित के प्रजा अनुरञ्जन व्रत का चित्रण करने में विशेष सफल हो जाता है।

वशिष्ठ के प्रजा-अनुरञ्जन के सदेश और राम द्वारा प्रजा की प्रसन्नता के लिए जानकी को भी छोड़ने की प्रतिज्ञा में उद्देश्य के बीज और आरम्भ के संयोग से नाटक की मुख-सन्धि होती है।

श्लोकानुक्रमणिका